

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

अष्टम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध अध्याय—५० से ५६

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—४७ से ५३

उत्तरार्ध अध्याय—१ से ७

राजस-साधन उप-प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।

साकार ब्रह्म वादेक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)

श्रीमद्विद्वल्लेश प्रमुचरण

टिप्पणी— श्रीमद्विद्वल्लेश प्रमुचरण

लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज

प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना— प० भ० श्री लालूमट्टजी

कारिकार्थ— प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

सहायक ग्रन्थ—

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्या भूषण
जोधपुर (राजस्थान)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानघना भवन, चौपासनी मार्ग,

जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००

श्रीमद्वल्लभजयन्ती महोत्सव

वंशाख कृष्णा ११, वि.सं. २०३०

दिनाङ्क २६ अप्रैल, १९७३



॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजन बल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वात्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्रल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

प्रथम अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४७ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५० वां अध्याय

जरासन्ध से युद्ध और द्वारकापुरी का निर्माण

★

कारिका—उत्तरार्धे हरेर्लीला स्वतः सर्वात्मना कृता ।

यदर्थमवतीर्णोऽसौ सा निरूप्या विभागशः ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीमद्भागवत के उत्तरार्ध में भगवान् ने अपने आप ही अर्थात् भक्तों के अनुरोध के बिना ही जो लीलाएं की हैं और जिस सर्वोद्धार करने के लिए आपका प्राकट्य है, वे लीलाएं विभागपूर्वक निरूपण की गई हैं ॥१॥

कारिका—एषा निरोधलीलैव स्वसंसारपरा परम् ।

भगवांश्च तदीयाश्च तच्छास्त्रं चेति स त्रिधा ॥२॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध में की हुई लीलाएं भी निरोध लीलाएं ही हैं। यह शंका भी नहीं करनी चाहिए, कि जब प्रद्युम्न आदि ने भी इसमें लीलाएं की हैं तो वे निरोध लीलाएं कैसे होंगी ? वे भी निरोध लीलाएं ही हैं, क्योंकि जैसे बलराम, भीम, पार्थ के व्याज से आपने ही सब कुछ किया है, वैसे ही यहाँ भी अपने पुत्र आदि (संसार)

द्वारा भी लीलाएँ की हैं। भगवान्, उनके धर्म तथा शास्त्र इस भाँति भगवान् तीन प्रकार के हैं, धर्म भगवद्रूप ही है और शास्त्र, शिक्षा देने वाला होने से भगवान् का ज्ञान होने में हेतु है तथा भगवान् स्वयं षड्गुण सम्पन्न हैं। वैसे त्रिविध भगवान् की लीलाएँ निरोध करने वाली हैं। 'निरोधीस्यानुयन' में 'अस्य' पद से भगवान् की लीलाएँ निरोध करने वाली ही कही हैं, जिसमें किसी प्रकार विरोध नहीं है, क्योंकि प्रद्युम्नादि द्वारा की हुई लीलाएँ भी आपकी ही लीलाएँ हैं, यों समझना चाहिये ॥२॥

कारिका—सुदुर्दशाभिरध्यायैः प्रमाणं तस्य रूप्यते ।

तदीया एकाविंशत्या षड्भिः स च निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—तीदह अध्यायों से उसका प्रमाण निरूपित किया है। इक्कीस से उनके धर्म कहे हैं किन्तु वे छ से ही निरूपित किए हैं, क्योंकि षड्धर्मों में ही उन सबके भाव आ जाते हैं ॥३॥

कारिका—कृतिः प्रमाणं तु हरेः स्वतश्चान्यानुरोधतः ।

सप्तभिः सप्तभिः प्रोक्ता गुण्युक्तो हरिस्तथा ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् की लीला तथा प्रमाण अपने से तथा भक्तों के अनुरोध से हैं। षड् गुणों से हरि सात सात अध्यायों से कहे हैं अर्थात् एक एक अध्याय में एक एक गुण द्वारा की हुई लीला ६ अध्यायों में कही गई है और सातवें में धर्मो हरि की लीला कही है, इस प्रकार सात अध्याय हैं ॥४॥

कारिका—वाक्यात्तदीया विज्ञेयास्तस्यैव न तु शास्त्रतः ।

एकाविंशतिं सर्वं श्रुत्वा तद्वहुधोदितम् ॥५॥

कारिकार्थ—भगवान् के ही वाक्यों से उनके धर्म जानने चाहिये, न कि साधारण शास्त्र न्याय से, इसी कारण से ही उस प्रकरण के आरम्भ में नृग के प्रसंग से भगवान् के वाक्यों द्वारा ही धर्म ज्ञान का निरूपण किया है। वे सब भगवद्वाक्य काल के अतिक्रमण करने वाले होने से निरोध के सम्पादक हैं। काल इक्कीस प्रकार का है,

अतः यह भी इक्कीस प्रकार का है । इस कारण से भगवान् के धर्म इक्कीस अध्यायों से निरूपित किये हैं । भगवान् के वाक्य को सुनकर अन्धों ने बहुत प्रकार से वर्णन किया है, किन्तु मूल वही है ॥५॥

कारिका—षड्गुणैर्भगवान् रूप्यस्तेषु सर्व प्रतिष्ठितम् ।

तत्र तु प्रथमेऽध्याये स्वावतारप्रयोजनम् ॥६॥

कारिकार्थ—भगवान् का वर्णन षड्गुणों से किया है, कारण कि, उनमें ही सर्व अन्त गुण समाये हुए हैं । उसमें अपने अवतार का प्रयोजन पहले अध्याय में कहा है ॥६॥

कारिका — निरूप्य क्षात्रधर्मो जयोऽन्यश्च निरूप्यते ।

राजसानां साधने तु निरोधे भगवत्कृतिः ॥७॥

कारिकार्थ—क्षात्र धर्मानुसार जय का निरूपण करने के पश्चात् अन्य विषय का निरूपण किया गया है । राजसों के निरोध का साधन सर्वथा भगवान् की कृति ही है ॥७॥

कारिका—सर्वथा साधनमिति तदेवादौ निरूप्यते ।

विवाहपुत्रजन्मान्ता सा निरूप्या विशेषतः ॥८॥

कारिकार्थ—भगवान् की कृति ही सर्वथा साधन होने से वही पहले अध्याय में वर्णित है । भगवान् की वह कृति विवाह से लेकर पुत्र के जन्म तक विशेष प्रकार से निरूपण करने योग्य है ॥८॥

कारिका—अलौकिकं ततः स्थानं निरूप्यमिति रूप्यते ।

तस्योपद्रवनाशाय भ्रमोत्पादनमोरितम् ॥९॥

कारिकार्थ—जब भगवान् की कृति ही साधन है, तब अलौकिक स्थान का भी निरूपण करना चाहिए तथा उस स्थान में कोई उपद्रव न हो, इस लिए जरासन्ध को भ्रम पैदा करने की कथा दो श्लोकों में कही है ॥९॥

कारिका—निग्रहानुग्रहौ चैव प्रसङ्गात् सुनिरूपितौ ।

अन्यथा लौकिकी लीला कृष्णस्य स्यान्न चान्यथा ॥१०॥

कारिकार्थ—जरासन्ध का बन्धन और मुचुकन्द पर अनुग्रह ये दोनों भी प्रसंग से निरूपित किए गए हैं, जो, यों न करें तो कृष्ण की लीला लौकिकी न होकर अलौकिकी हो जाए ॥१०॥

कारिका—त्रिविधो हि क्षत्रियाणां विवाहः परिकीर्तितः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव विहितश्च स्वगृह्यतः ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—क्षत्रियों का विवाह तीन प्रकार से हो सकता है, गान्धर्वविधि से^१, राक्षसविधि से^२, और अपने गृह्य^३शास्त्रानुसार वैदिक विधि से ॥ ११ ॥

कारिका—पुत्रस्यापि कथा वाच्या ह्यन्येनापि समर्पिताम् ।

भार्यामाहुः क्षत्रियस्य तत्प्रसङ्गात्तथा परा ॥ १२ ॥

कारिकार्थ—पुत्र ने भी जो क्षात्र धर्म से विवाह किया, वह कथा कही है। शवर की दी हुई कन्या को भी उसको मारकर ले आये तथा यहाँ “परा” शब्द से यह कहा है कि स्वामी की पुत्री को समस्त राजाओं को जीत कर ले आये। वह प्रद्युम्न की पत्नी हुई, यह सर्व कृति क्षात्रधर्म के प्रसंग होने से की है ॥१२॥

कारिका—सत्यभामाविवाहान्ता कथेयं विनिरूपिता ।

त्रिविधं दुःखमादौ हि भवतानां विनिरूपितम् ॥ १३ ॥

कारिकार्थ—सत्यभामा के विवाह तक यह कथा निरूपित की है। भक्तों के त्रिविध दुःख का पहले ही दशम स्कन्ध के प्रथमाध्याय में वर्णन कर दिया है ॥ १३ ॥

कारिका—भूमेर्मातुर्वंष्णवानां वंकुण्ठादागतियंतः ।

द्वयमप्यत्र मथुरात्यागे हेतुनिरूप्यते ॥ १४ ॥

^१ प्रेम हो जाने से विवाह करना मध्यम है। ^२ राक्षस की भाँति जबरदस्ती ले जा कर विवाह करना अधम है। ^३ वैदिक विधि से विवाह करना यह उत्तम प्रकार का है। —अनुवादक

कारिकार्थ—तीन प्रकार के दुःख कौन से हैं ? वे बताते हैं । भूमि, माता और भक्तों का दुःख । इन दुःखों को मिटाने के लिए भगवान् को वैकुण्ठ से आना पड़ा है । फिर उनको भूमि तथा वंष्णवों के दुःखों के कारण मथुरा छोड़नी पड़ी । यदि मथुरा न छोड़ते तो ये दुःख दूर करने अशक्य थे, यह मथुरा छोड़ने का कारण कहा है ॥१४॥

कारिका—प्रमाणरक्षासिद्धिर्धर्मनिवार्य तुवृत्तयम् ।

निवार्यः सप्तदशधा ब्रह्माण्डे तु प्रजापतिः ॥ १५ ॥

कारिकार्थ—ब्रह्मा के दिए हुए जरासन्ध के वर की सिद्धि के कारण वे दो दुःख मिटाने कठिन हो जाते, अतः मथुरा का त्याग और उसको भी १७ बार छोड़ देना आवश्यक था तथा इससे आपने अलौकिकत्व छिपा कर लौकिक प्रकार से लीला की है, यह दिखा दिया है ॥ १५ ॥

कारिका—स सप्तदशधा प्रोक्तस्तन्निवृत्तावशयता ।

अतोऽत्र प्रथमं वाच्यं कृतिशक्यमनेकधा ॥ १६ ॥

उत्तरार्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्ततः परम् ।

द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः ॥ १७ ॥

कारिकार्थ—“यो वे सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञमन्वायतं वेद” इति इस श्रुति में प्रजापति को ब्रह्माण्ड सप्तदश “१७” प्रकार का कहा है, अतः जरासन्ध उसके वरदान के कारण १७ बार चढ़ाई कर आया, किन्तु वह नहीं मारा गया । अब यदि १८ वीं बार उसको यों ही भेज दें तो वह भगवान् का अलौकिकत्व प्रकट हो जाए । वह उत्तरार्ध में करना नहीं है, क्योंकि उत्तरार्द्ध भाग उसे कहते हैं जिसमें भगवान् ने भक्तों के अनुरोध से नहीं, किन्तु स्वतः लौकिक प्रकार से, अपनी इच्छा से, सर्व लीलाएं की हैं, इस लिए यहाँ पहले ही कृति से जो शक्य है, वह अनेक प्रकार से ४१ श्लोकों में कहा है । उसके बाद दो श्लोकों से अतिदेश कहा है । अनन्तर साढ़े पन्द्रह श्लोकों से दूसरा अतिदेश कहा है । इस अध्याय में इस प्रकार चरित्र का वर्णन हुआ है ॥ १६, १७ ॥

॥ कारिकार्थ सम्पूर्ण ॥

इस अध्याय से उत्तरार्ध का प्रारम्भ होता है। श्रीभागवतार्थ निबन्ध में आचार्य श्री ने आज्ञा की है कि "आलोकिके न भावेन यावद्धिभगवत्कृतः" भक्तानुरोध पूर्वक भगवान् ने जिस भाग में अलोकिक भाव प्रकट करते हुए लीलाएँ की हैं वह "पूर्वार्द्ध" भाग है और जिस भाग में "लोक धर्म पुरस्कृत्ययच्चकार कुरु ब्रह्मः" भगवान् ने भक्तों के अनुरोध बिना लोक धर्म को आगे कर अर्थात् जैसे राजा प्रकट रीति से अपनी इच्छा से स्वयं करता है वैसे आपने भी स्वतः सर्व लीला अपने आप जिस भाग में की है वह उत्तरार्द्ध भाग कहा जाता है।

आभास—भगवानविलष्टकर्मति निरूपयितुं प्रथमं कंसभार्ययोरुपद्रवहेतुमाह अस्ति प्राप्तीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् अविलष्टकर्मा हैं इसका निरूपण करने के लिए पहले उसका हेतु कसकी अति प्रिय स्त्रियों का उपद्रव करना है वह दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—अस्ति प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।

हेते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते ।

वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—हे भरतश्रेष्ठ 'अस्ति' और 'प्राप्ति' नाम की कंसकी दो रानियां पति के मरने से दुःख से पीड़ित हो अपने पिता जरासंध के घर गईं। दुःखित उन दोनों ने मगध के भूपति जरासन्ध अपने पिता को अपने वैधव्य का सर्व कारण निवेदन किया ॥ १, २ ॥

सुबोधिनी—उभयोः क्रियानामत्वमग्रे क्रिया-योगित्वाय प्रथमत एव तथा निरूपितम् । अस्तीति सर्वधात्वर्थः, क्रियासामान्यम् । प्राप्तिः सर्वक्रियाफलम् । भगवदिच्छया एते पुत्ररहिते अतिक्रुद्धे भगवत्सान्निध्यादेव भर्ता सह गमन-रहिते पितृगृहे गते । दिग्विजये पराजितः सोऽपि दुहितरावदादिति पुराणान्तरप्रसिद्धिः । चकारा-त्तत्सम्भृतिर्दास्यः सर्वाश्च । पितुर्गृहानीयतुः । आकारणं तत एव नापेक्षितम् । निमित्तं भर्तृ-मरणम् । भगवतोऽतिसमर्थस्याविलष्टकर्मत्वज्ञाप-नाय तयोर्गमनं प्रसिद्धमेव जातमित्याह स्मेति । नन्वेवं साधनफलरूपयोः कथं वैधव्यमिति चेत्,

तन्नाह कंसस्य महिष्याविति । महिषीत्वात् पराधीनत्वम् । तद्भोगातिशये प्रवृत्ते अपि भग-वदिच्छया तथाभूते । तद्विश्वासार्थं भरतर्षभेति । नाह तथोर्दुःखे लौकिकं किञ्चिदस्तीति भावः । गमनेऽपि न दुःखान्तरं हेतुः, किन्तु भर्तृहननमेव । गतयोः कृत्यमाह पित्रे इति । मगधराजायेति । प्राकृतदेशाधिपतित्वेन दोषोऽपि निरूपितः । दुर्जयत्वं निरूपयितुं जरासन्धायेति । दुहितृ-प्रियत्वं निरूपयितुं दुःखित इति । सर्वमाकाश-वाणोप्रभृति मरणात्तम्, आत्मनो धवाभाव-कारणम्, कृष्णचरितमिति यावत् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—दोनों रानियों का आगे क्रिया में योग देने के कारण से पहले ही उनका क्रिया नाम का निरूपण किया है। “अस्ति” पद सर्वधातु का अर्थ होने से सामान्य क्रिया वाचक है, अर्थात् साधन रूप है और “प्राप्ति” सर्व क्रिया का फलरूप है। भगवान् की इच्छा से दोनों को पुत्र नहीं थे, जिससे भी ये दोनों विशेष क्रोधयुक्त हुई थीं। भगवान् के होते ही पति के साथ जाने से रहित हो अर्थात् विधवा हो पीहर गईं। जरासन्ध ने दिग्विजय में पराजित होकर कंस को कन्याएं दी थीं, यों अन्य पुराण में कथा है श्लोक में “च” शब्द देने का आशय यह है कि वे अपना पोषण का सर्व पदार्थ तथा दासियाँ आदि सब अपने साथ मायके ले गई थीं, यद्यपि पिता का आमन्त्रण नहीं था, जिसकी इस समय अपेक्षा नहीं थी, कारण पति का देहान्त हुआ था। भगवान् अचल कर्मा सर्व समर्थ है जिससे उनके जाने का काव्य तो प्रसिद्ध हो गया “स्म” शब्द का यह आशय है कि साधन फल रूप ‘अस्ति’ तथा ‘प्राप्ति’ को वेधव्य क्यों प्राप्त हुआ? विधवा होने का कारण यह है, कि कंस की रानियाँ होने से पराधीन थीं, कंस विशेष भोग के लिए प्रवृत्त हुआ तो भी भगवदिच्छा से विधवाएं हो गईं। इस बात पर परीक्षित को विश्वास करना चाहिए, इसलिए (भरतर्षभ) परिश्रित का विशेषण दिया है। यहाँ उग दोनों के दुःख में लौकिक कुछ कारण नहीं है और जाने में भी कोई दूसरा दुःख का कारण नहीं है, किन्तु केवल भर्ता का मर जाना ही कारण है। वहाँ जाकर जो क्रिया उसका वर्णन करते हैं। पिता को अपने विधवा होने का सब आकाशवाणी से लेकर मरण तक का कारण बताने लगी वे पिता की प्यारी थीं, इसलिए इनको देख सर्व समाचार विदित कर जरासन्ध स्वयं भी दुःखित हुआ। यहाँ श्लोक में पिता के दो नाम वा विशेषण दिए हैं। (१) जरासन्ध, जिसका आशय है कि आपको कोई सरल रीति से जीत नहीं सकता है, अतः आपको प्रतिकार करना चाहिए। (२) मगधराज विशेषण से निषिद्ध देश के राजा होने से दोष का भी निरूपण किया गया है। सारांश यह है कि कन्याओं ने पिता को यह बताया कि हमारे विधवा होने का कारण श्रीकृष्ण का चरित्र ही है ॥१,२॥

आभास—पूर्व तेन कंसवधः श्रुत एव, परं मल्लक्रीडायां मञ्चाद् पतितो देवान्मृत इति । इदानीं हेतुपूर्वकं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा पयसा पुष्टः सर्प इव जात इत्याह स तदाऽपियमाकर्ण्येति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने पहले कंस का बध तो सुना ही था, किन्तु वह यों सुना था कि मल्ल क्रीड़ा देखते हुए उच्च आसन से गिर पड़ा, जिससे दैव के कारण मरगया अब तो वह कारण सहित भगवान् का सकल चरित्र श्रवण कर ऐसा क्रुद्ध हुआ जैसे दूध से पूष्ट सर्प होता है, जिसका वर्णन “स तदाऽप्रिय” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स तदाऽप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ।

अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् यह अप्रिय वार्ता सुनकर जरासन्ध शोक तथा क्रोध से भर गया और पृथ्वी को यादवों से शून्य करने के लिए महान् उद्यम करने लगा ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—छलेन मारणादमर्षः । मरणं : मोति मनसि विधाय, तदर्थं महान्तमेवोद्योगं
स्वप्रियम् । राजा हि दुःखशोकप्रतीकारं करोत्येव : कृतवान् । स हि महान् भवति, कृष्णस्य च दोषं
समर्थस्य तूष्णीम्भावो न युक्त इति । अयं दोषो : न पश्यति । आनुपूर्वीं तादृशी श्रूतेति । परमो
वस्तुतो वसुदेवस्य । तद्ब्रह्मार्थं सर्व एव यादवाः । ह्युद्यमः तद्वन्धूनामपि स्ववशीकरणमुपायैः ।
प्रवर्तिष्यन्त इति पृथिवीमयादवीमेव करिष्या- : सेनादिसम्पत्तिः स्पष्टैव ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—कंस कपट से मारा गया है, यह सुनकर तो जरासन्ध विरोध करने के लिए प्रस्तुत हुआ, मरना तो अप्रिय है ही, इसलिए वह शोकयुक्त भी हुआ, जरासन्ध राजा है, इसलिए उसको दुःख तथा शोक का प्रतीकार करना ही है, बदला लेने में समर्थ को मौन कर बैठना योग्य नहीं है, जरासन्ध विचार कुशल है। अतः उसने सुनी हुई सब बातों की सोच विचार कर समझ लिया कि इसमें कृष्ण का दोष नहीं है, दोष तो वसुदेव का है, अतः वसुदेव का ही वध करना चाहिए क्योंकि शास्त्र कहता है कि “जिवांसतनिधांसो यान्” मारने वाले को ही मारना चाहिए किन्तु उसकी रक्षा के लिए सर्व यादव तैयार होंगे। अतः मैं पृथ्वी पर एक भी यादव को जीता रहने न दूंगा, जो वसुदेव की रक्षा कर सके। जरासन्ध ने भगवान् को जो यादवपन के अभाव वाला समझा एवं यों मन में धारण कर उस कार्य की पूर्ति के लिए महान् उद्यम करने लगा; महान् उद्यम क्या करने लगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि उसके बन्धुओं को भी उपायों से अपने वश में लाना, अपने पास जो सेना है वह तो प्रकट ही है ॥ ३ ॥

आभास—तस्योद्यमस्य फलमाह अक्षौहिणीभिर्विशत्वेति ।

आभासार्थ—उसके उद्यम का फल “अक्षौहिणीभिः” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अक्षौहिणीभिर्विशत्या तिसृभिश्चाभिसंवृतः ।

यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—तेईस अक्षौहिणी सेना से यादवों की राजधानी मथुरा को चारों तरफ से घेर लिया ॥ ४ ॥

सुबोधिनी—अक्षोहिणीत्रितयं तस्य गृह-
स्थम् । विशतिरुद्यमेन सम्पादिता । पूर्वस्थितं
विशेषेण प्रवक्ष्यतीति चकारेण समुच्चयः,
पृथङ्निरूपणं च कृतम् । अभितः संवृत
इत्यैकमत्यमेकप्रभुत्वं चोक्तम् । यादवानां
जये स्थानग्रहणं मूलमिति मथुराग्रहणार्थं तां

न्यरुणत् । यतः सा राजधानी । सर्वतोदिश-
मिति तत्रत्यानां निर्गमनाभावाय । न्यरुणत्
आवृतवान्, अष्टदिक्वावरणम् । अनेन राज्ञा-
वेव व्याजान्तरेण समागत्यावरणं कृतवानिति
लक्ष्यते ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—तीन अक्षोहिणी सेना तो घर में स्थित थी शेष वीस अक्षोहिणी सेना उद्यम कर
इकट्ठी की है, पहले घर में स्थित को विशेष प्रकार से कहेगा और “च” कहा है, जिससे घर को
तथा बाहर से इकट्ठी की हुई का संग्रह बताया है और पृथक भी निरूपण किया है, श्लोक में
“अभिसंवृत” पद का आशय बताते हैं, कि इस पद से एकता तथा एक ही प्रभु है यह प्रकट कर
दिखाया है, मथुरा को ही पहले क्यों घेर लिया ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि जीत करने का मूल
तत्व यह है, कि जिन को जीतना हो उनकी राजधानी पहले उनसे छीन लेनी चाहिये इस लिए मथुरा
को पहले घेर लिया है कारण कि “मथुरा” ही उनकी राजधानी है ।

आगे दिशाओं में चारों तरफ घेरने का कारण यह है कि कोई भी वहाँ से निकल न सके, यों
समक्षा जाता है कि जरासन्ध ने रात को ही किसी मिष से आकर घेर डाला है ॥४॥

आभास—तदा भीतानां वार्ताकथनं व्यर्थमिति भगवतश्चरित्रमाह निरीक्ष्येति ।

आभासार्थ—डरे हुए की वार्ता करना व्यर्थ है अतः भगवान् का चरित्र “निरीक्ष्य” श्लोक
से कहते हैं—

श्लोक—निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ।

स्वपुरं तेना संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण सीमा का उल्लंघन न कर आते समुद्र के सदृश उसकी सेना,
उससे घिरी हुई अपनी पुरी तथा भय से व्याकुल अपने जन को देख कर - विचार
करने लगे ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—यतो भगवान् कालात्मा अव-
तीर्णः । तच्च समागत बलरूपम्, न तु स्नेहा-
र्यमन्यार्थं वो समागतम् । तस्य अमर्यादत्वं
चाह । वेत्तामतिक्रम्य समागच्छन्तं सागरमिव

दृष्टवान् । नन्वत्रिलोकमा भगवान्, यादव-
नयनार्थमागतो जरासन्धः यादवान् नयतु,
राजा वा विचारं करिष्यति, स्वयं किमित्येवं
कृतवानित्याशङ्क्याह स्वपुरं तेन संरुद्धमिति ।

मथुरा तु स्वनगरम्, न केवलं यादवपुरी-
मात्रम् । निरीक्ष्येति विधुः सम्बन्धः । एका
मोचनीया, अन्ये निर्भयाः कर्तव्याः, एकं च
मारणीयमिति । गुणानां कार्यमुपस्थितमिति
दर्शनम् । स्वजना भवताः, ते च भयाकुलाः ।

चकारात् तत्सम्बन्धिनोऽन्ये पुरवासिनः । बल-
स्यैकत्वमनायासेन मारणजापनाय । पुर्या-
स्त्वावश्यकत्वाय । स्वजने वसुदेवं ज्ञाप-
यितुम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—इस समय भगवान् दुष्टों के नाश करने के लिए काल रूप से प्रकट हुए हैं, वह (जरासन्ध) स्नेह करने के लिए वा अन्य किसी लौकिक आदि कार्य के लिए नहीं आया है किन्तु बलरूप होकर आया है, अर्थात् सेना लेकर लड़ने के लिए आया है उसका वह बल भी असीम है, जैसे समुद्र मर्यादा त्याग भयानक रूप से बढ़ता आता है, उसी प्रकार यह भी आया है । इस प्रकार वह यादवों को ले जाने के लिए आया होगा तो उनको ले जावे इसका विचार तो राजा को करना है, वह करेगा, कृष्ण तो अक्लिष्टकर्मा हैं फिर इस विलष्टकर्म के लिए विचार क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं, कि उनके विचार करने के तीन कारण हैं ।

(१) कृष्ण मथुरा को अपनी नगरी समझते हैं (यह केवल यादवों की नहीं है) जिसे उसने घेर रक्खा है ।

(२) उसकी सेना विशेष है, उसके साथ लड़ने की सामर्थ्य भी विशेष चाहिए वह यादवों में अपूर्ण है ।

(३) अपने भक्त भयभीत हैं, तथा श्लोक में (च) शब्द से भक्तातिरिक्त अन्य पुर वासी सम्बन्धी हैं वे भी डरे हुए हैं ।

(१) घिरी हुई अपनी नगरी को उससे छुड़ाना आवश्यक है ।

(२) भयभीत भक्त तथा नगर निवासियों को भी निर्भय करना है ।

(३) एक को मारना ही चाहिए ।

इस कहने का आशय यह है, कि यह कार्य, गुण रूपों का है । सेना का एकत्व दिखाने का भाव यह है, कि सारी सेना एक ही स्थान पर इकट्ठी होने से उसके मारने में किसी प्रकार का परिश्रम नहीं होता है, स्वजन शब्द कहने का भीतरी भाव है, कि पिता श्री वसुदेव भयभीत हैं कारण कि जरासन्ध ने वसुदेव को ही दोषी समझा है जिसके नाश के लिए चढ़ाई की है ॥ ५ ॥

आभास—तत्र भगवान् पदार्थद्वयस्योपस्थितत्वात् किं कर्तव्यमिति चिन्तां कृतवा-
नित्याह चिन्तयामासेति ।

आभासार्थ—भगवान् विचार करने लगे, कि भगवान् हैं इस लिए मैं दोनों तरह कर सकता हूँ अक्लिष्ट कर्मा होने से इसका, कंस की भाँति, नाश करूँ तो

स्वजनों का तिरस्कारादि सहन करना पड़ेगा या अक्लिष्ट कर्मा भगवद् धर्म को त्याग, कारण मालुम होने से, विषमता स्वीकार कर युद्धादिक करूँ इस प्रकार दो स्थिति उत्पन्न होने से मुझे क्या करना चाहिए ? जिसका वर्णन "चिन्तयामास" श्लोक में किया है —

श्लोक—चिन्तयामास भगवान् हरिः कारण मानुषः ।

तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६॥

श्लोकार्थ—कारण मानुष, हरि, भगवान् देश और काल के अनुसार अपने अवतार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अपने कर्तव्य का विचार करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—ननु किमेतत् द्वयं यदर्थं चिन्ते-
त्याशङ्क्याह हरिः कारणमानुष इति । भग-
वानित्युभयथापि करणे सामर्थ्यं भवतम् । किम-
क्लिष्टकर्मत्वान् कंसवदयं मारणीयः, तावत्
स्वजनाभिभवः सोढव्यः, आहोस्विदक्लिष्ट-
कर्मत्वं परित्यज्य वैषम्यभङ्गीकृत्य युद्धादिकं
कर्तव्यमिति । किं तावत्प्राप्तम् । स्वधर्मपरि-
त्यागोऽनर्चित इति हरित्वं दूरीकृत्य कार-
णार्थं व्याजेन मनुष्यो जात इति कंसवदेव
मारणीयः, अन्यथा व्याजकरणं व्यर्थं स्यात् ।
अक्लिष्टकर्मत्वरक्षार्थमेव मानुषभावेनावतीर्णः ।
तस्माद्युद्धं न कर्तव्यमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्त-
स्तु कर्तव्य इति । यतो हरिरयम्, न
भवतानां दुःखं सहते, स्वधर्मश्च कर्तव्यः,
सान्नाहिको हि षोडशवाधिको भवति, युद्धार्थ-
मागतेन च सह युद्धं कर्तव्यमिति । ननु स्वध-
र्मोऽन्यथा भविष्यतीति कथं क्लिष्टकरणमित्या-
शङ्क्य देशानुरोधेन करणं निरूपयति तद्-

शकालानुगुणं मिति । तस्य देशस्य तस्य च
कालस्य युद्धकरणमेवानुगुणम् । कदाचिदङ्गा-
नुरोधेनाप्यङ्गिनो धर्मा अन्यथा क्रियन्ते ।
यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमयेविरमणम्,
कृतान्तादेव विरमेदिति । यथा वा देशदोषेण
प्रधानयागस्यापि नाशः दक्षयज्ञः । तस्मात्
तस्मिन्देशे अभवताः स्थास्यन्तीति ; तदनुरोधेन
ते मारणीयाः, तेषां च मृत्युकाल उपस्थित
इति कालानुरोधोऽपि कर्तव्यः, अतः क्लिष्ट-
करणं तद्देशकालानुगुणं भवति । किञ्च,
स्वावतारस्य प्रयोजनमपि भवति । अवतारो
हि भक्तानामुद्धारार्थः । स च कालं वञ्च-
यित्वा, लौकिकवत् कृत्वा, भक्ता नेयाः । तत्र
क्लिष्टकरणमप्युक्तं भवति । अन्यथा कालो
भक्तेषु द्रोहं कुर्यात् कर्मादिभिः । ततो बहु-
कर्तव्यमापद्येत । अतः स्वावतारस्य प्रयोजनं
यस्मात् तादृशमपि विषमकरणमिति भगवत्-
श्चिन्ता युक्ता ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—कौनसी दो स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनके लिए भगवान् को चिन्ता हुई है ?
जिसके लिए कहते हैं, कि भगवान् हरि और कारण मानुष दोनों हैं भगवान् हैं इसलिए दोनों प्रकार
से कर सकते हैं तो क्या अक्लिष्ट कर्मा होने से कंसको भीति इसको मारना चाहिए ? यदि यों मारा

जाएगा तो स्वजनों का पराजय वा तिरस्कार सहन करना पड़ेगा अथवा अक्लिष्ट कर्मत्व का त्याग कर विषमता अंगीकार कर युद्धादिक करना चाहिए इन दोनों में से कौनसा पक्ष ग्रहण करना चाहिए ?

पूर्व पक्षी का मत कहते हैं—अपना धर्म त्याग करना अयोग्य है, इसलिए हरिपन को दूर कर कारणार्थ ही कपट से, मनुष्य रूप धारण किया है, अतः कंस की भाँति इसको भी मारना चाहिए, यों न करने से कपट से मानुष रूप धारण करना व्यर्थ होगा ।

आप अक्लिष्ट कर्मत्व रक्षार्थ ही मनुष्य रूप से अवतीर्ण हुए हैं इसी कारण से युद्ध नहीं करना चाहिए ।

अब उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त कहते हैं, युद्ध करना चाहिए, क्योंकि आप हरि हैं, अतः भक्तों का दुःख सहन नहीं कर सकते हैं अपने धर्म (भक्त :दुःख हरण) को पालन करना चाहिए एवं क्षात्र धर्म का भी पालन आवश्यक है, यदि कहा जाय कि क्षत्री जब १६ वर्ष का होता है तब उसको क्षात्र धर्म पालन करना है, अब आपको नहीं, इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह १६ वर्ष निर्बलों को साधारणतया कहा गया है, किन्तु जो पूर्ण समर्थ हैं वह क्षत्रिय तो १६ वर्ष पूर्व पहले भी क्षात्र धर्म का पालन कर सकता है, इसलिए जो युद्ध करने के वास्ते आवे उससे युद्ध करना ही चाहिए, यदि आप युद्ध करोगे तो, आपका अक्लिष्ट कर्मा धर्म नहीं रहेगा, इसके समाधान के लिए कहते हैं, कि देश के अनुरोध से युद्ध करना योग्य है, जिसका निरूपण करते हैं, “देशकालानुगुणं” देश तथा काल के अनुरूप युद्ध करना ही चाहिए, समय पर कभी अंग के अनुरोध से अर्थात् अंग के रक्षार्थ अंगी के धर्म बदलने पड़ते हैं, जैसे “यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमये विरमणम् कृतान्तादेव विरमेदिति” ।

अथवा देश दोष से प्रधान भाग का भी नाश किया जाता है जैसे दक्ष-यज्ञ में किया गया था,— उसी के कारण से उस देश में अभक्त आकर रहेंगे इसलिए उनको मारना ही चाहिए उनका मरण काल आ गया है, यों काल का अनुसरण भी करना चाहिए, अतः परिश्रम से कार्य करना देश काल के अनुसार होता ही है और अपने अवतार का प्रयोजन भी यही है, अवतार भक्तों के उद्धारार्थ ही लिया जाता है और वह काल का वञ्चन कर लौकिक की भाँति कर भक्तों को ले जाना अर्थात् भय से रक्षा करनी इसमें परिश्रम से कर्तव्य करना उपयोगी है, जो यों नहीं किया जाएगा तो काल कर्मादि द्वारा भक्तों से द्रोह करेगा, पश्चात् विशेष कर्तव्य करने पड़ेंगे अतः जिसके लिए अवतार धारण किया है, उस कार्य को सिद्धि के लिए विषम करना पड़े तो हानि है वा नहीं ? इसलिए भगवान् को विचार करना योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

आभास—चिन्तया निर्धारितं पक्षमाह हनिष्यामीति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—विचार करने के अनन्तर जो निर्णय किया उसका “हानिष्यामि” श्लोक से लेकर ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं —

श्लोक—हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि भारं समाहितम् ।
 मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥७॥
 अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ।
 मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥८॥
 एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय च ।
 संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥९॥
 अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्प्रियते मया ।
 विरामायान्धधर्मस्य काले प्रभदतः ववचित् ॥१०॥

श्लोकार्थ—अपना किया हुआ निश्चय कहते हैं कि इस समय तो जरासन्ध वशवर्ती राजाओं की जो भार रूप सेना लाया है उसका ही नाश करूँगा ॥७॥

प्यादल, घोड़े, रथ और गजयुक्त लाए हुए अनेक अक्षौहिणीयों को नाश करना है, मागध (जरासन्ध) को नहीं मारना है, क्योंकि जो यह जीवित रहेगा तो फिर उद्यम कर सेना इकठ्ठी कर लाएगा ॥८॥

मेरा यह अवतार भूमि से भार उतारने के लिए है, साधुजनों की रक्षा के वास्ते है और असाधुओं के नाश करने के लिए है ॥९॥

मैं अन्यावतार भी लेता हूँ वह केवल एक ही कार्य के लिए अर्थात् किसी प्रकार भी धर्म की रक्षा हो सके और अधर्म का निराकरण हो, ऐसे कार्य तो कभी किसी समय होते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—बलं हनिष्यामीति प्रतिज्ञा । युक्तश्चायमर्थः । लोके हि यदुपरि यो गच्छति, स तं न यार्यत इति नाम विरोधः । एतदिति प्रदर्शनेन बलस्यातिक्रमोऽपि सूचितः । बलेन समागत इति बलेनैव वधो युक्तो, न तु व्याजेन । पूर्वोक्तास्तु व्याजेन समागताः । अतस्तेषां व्याजेनैव हननं युक्तम् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति भगवतो व्रतरूपोऽपि धर्मः परिपालितो भवति ।

अनेन मारणवैषम्यबुद्धिरपि परिहृता भवति । मार्याणामेव तथा बुद्धिर्जातेति । एतत्सर्वमभिसन्धाय भगवान् हिशब्दमाह । किञ्च, सर्वभू-भारहरणार्थं विज्ञापिते कार्यान्तरमागच्छन्नपि तेषां कृपयापि तथा समागतः । अत आगमनकार्य-सिद्धचर्चमपि भारयिष्यामीत्याह भुवि भारमिति । एतद्भाररूपमेव बलम् । अत एव सर्वाधः पाताले स्थापितं तत्कालेन भुवि समाहितम् । सम्यगा-

हितत्वात् न कृत्रिमकालकर्मादिभिः दूरीकर्तुं शक्यते । ननु राज्ञो बलं धर्महेतुर्भवतीति तदधे प्राणिवधः अधर्मश्च स्यादिति चेत् ? तत्राह । मागधेन अधमदेशोद्भवेन समानीतमिति । नन्वेतावतां स्वामी महानेव भविष्यतीत्याशङ्क्याह वश्यानां सर्वभूजायामिति । तद्वश्या दुष्टा एव । तेऽपि तस्त्वभावापन्ना जाता इति । अनेन तद्वलं न ग्राह्यमित्यप्युक्तम् । दुष्टं भारात्मकमिति । तस्याजेयत्वज्ञापनायाह अक्षीहिणीभिः संख्यातमिति । समूहशो युद्धे भङ्गो भवेत् । सजातीया बहवोऽपि एकेन विजातीयेन हस्त्यादिना मार्यन्त इति । आदौ पञ्चभटा युद्धं कुर्वन्ति । तेषां पराजयशङ्कायां त्रयोऽश्ववाराः । तेषामपि पराजये एको रथी प्रवर्तते । तस्यापि तथात्वे षाष्टिहायनो गजः । एवमेकापि पत्तिः क्रमतः सन्निविष्टा जेतुमशक्या । तादृशमेतदित्याह । भट्टाश्वरथकुञ्जरैः कृत्वा पत्त्यङ्गलिगुणन्यायेन क्रमवृद्ध्या अक्षीहिणीसंज्ञापन्नाः । तेऽपि बहवः । अतोऽन्येषामशक्यत्वात् मयैव हन्तव्यं बलम् । अनेन साढंश्लोकेन बलस्यावशयवधार्थं दुष्टत्वं भारत्वं च निरूपितम् । ननु 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरो'ति न्यायेन मागध एव किं न हन्यते, एते च दीना मोचनीया इति चेत् ? तत्राह मागधस्त्विति । तुशब्दस्तेषां वधाभावं निराकरोति, भाररूपत्वात् । यद्यपि मागधोऽपि भाररूपः, तथापि श्वदाहककाष्ठदापकदोर्ध्वशवदन्तपर्यन्तं संरक्षणाय । अतो मागधो न हन्तव्यः । तदेवाह भूयः कर्ता बलीयममिति । बलानयनार्थं उद्यमं करिष्यति, अन्यथा बलं निलीय तिष्ठेत् भूयः भूतम् । समानयनार्थं वा अधिकः प्रयत्नो भवेत् । यतोऽयं मागधो दुष्टः । आमरणान्तं यत्नं करिष्यतीति ॥ ७ । ८ ॥

ननु कथं सर्वेषां वधार्थं प्रयत्नो ब्रह्मणः सर्वान्मनः तत्राह एतदर्थोऽवतारोऽयमिति । मन-

प्राया व्याधिप्राथा दैत्या इति तन्निराकरणे न सर्वात्मत्वं भज्यते । उच्छूनः स्वावयवोऽपि छिद्यत इति । अत एव भगवान् स्वयं पुरुषरूपं प्राप्य तत्र दोषरूपान् दैत्यान् हन्तुं स्वयमेवोषधरूप आविभूतः । तदाह एतदर्थोऽवतारोऽयमिति । वैषम्यलक्षणो हि दोषो लौकिकः । स यत्र दोषत्वं न भजते, स दोषो न भवति । अक्लिष्टकर्मत्वं तु पूर्वमेव परित्यज्य समागतमिति 'अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाये'ति न्यायेन न दूषणं भवति । स्वतश्चोद्यम्य न हन्यते, निष्कपटेन युद्धार्थं मागतं निष्कपटेन युद्धेन हन्तव्यमिति मे अवतारः । मे च भूः । धर्म्यो वधो दोषाय न भवतीति धर्मार्थमप्येतद्वधं करिष्यामीत्याह संरक्षणाय साधूनामिति । कृतत्वान्न करणम् । प्रकारान्तरेण साधुरक्षा कर्तव्येत्याशङ्क्याह अन्येषामपि वधायेति । चकराद्भक्तिस्थापनार्थम् । ततः कार्यचतुष्टयार्थमवतार इत्युक्तं भवति । भूभारहरणार्थं दुष्टनिराकरणार्थं भक्तिप्रवर्तनार्थं चेति । समप्रधानं चतुष्टयम्, नत्वेकमन्यार्थम् । भूभारनिराकरणं राजसम्, रक्षा सात्त्विकी, निग्रहः तामसः, भक्तिनिर्गुणेति । न हि दुष्टहनने भूभारो गच्छति, पुनरूपतिसंभवात् । हननार्थमेव प्रयत्ने तु भगवत्स्तात्पर्याद्धिता एव भवन्ति, न पुनरूपद्यत्ने, मुक्ताश्च भवन्ति । एवमेव सदक्षायामपि । असत्संसर्गात् सतामप्यसतापत्नी सर्ववधे अनिष्टमेव स्यात् । अतस्तेषां बुद्ध्यादिबाधकमेव दूरीकर्तव्यमिति सदक्षापि स्वतन्त्रैव । भक्तेरनुप्रवेशः स्पष्ट एव । तदाह अन्येषां वधाय चेति ॥ ८ ॥

साम्प्रतवेशस्य प्रयोजनचतुष्टयमुक्त्वा पक्षपातलक्षणो धर्मः पूर्वमपि मयि वर्तत इति सृष्ट्यादावेव तथाङ्गीकारात् न दोषायेति वक्तुं पूर्वमपि धर्मरक्षार्थं मयावताराः क्रियन्त इत्याह अन्योऽपि धर्मरक्षायामिति । एतद्व्यतिरिक्तानामवतारणा धर्मरक्षा अधर्मनिवृत्तिश्च फलम् । एतदेवाभि-

प्रेत्याह 'यदा यदा हि धर्मस्ये'ति । नत्वयमवतारो धर्मरक्षार्थः केवलः । अपिशब्दात्सोपि संगृह्यते । ततश्च षट् प्रयोजनानि भविष्यन्ति । अधर्मनिराकरणं धर्मरक्षा चेति । अत्रापि पूर्ववदुभयं प्रधानम् । अत एव 'संस्थापनाय धर्मस्येत्यपि वाक्यमविरुद्धम् । अत एव बुद्धावतारे केवलं धर्मरक्षैव प्रयोजनम्, कल्क्यवतारे अधर्मनिवृत्तिरेव, परशुरामावतारो दुष्टानग्रह एव, बलभद्र भूभारहरणमेव, पृथ्ववतारे सत्परिपालनमेव । एवं सर्वत्र यथायथमूह्यम् । सर्वाणि तु भगवत्येव । भक्तिश्च

स्वतन्त्रा अधिका । नन्वेतसर्वं कालकर्मादिभिरेव स्वतन्त्रतया आज्ञया वा सिध्यतु, किं विशेषावतारेणेत्याशङ्क्यामाहा काले प्रभवत इति । धर्माधर्मौ बवचिदेव काले प्रभवतः । अतो यदा अनपेक्षितः, तदा अवतीर्य निराकरणं स्थापनं वा कर्तव्यम्, कालस्तु जनक एवेति न तेन तन्निराकरणम्, नियतस्योभयशक्तिभावात् । तस्मादवश्यं वंघंय औन्नत्यकर्मत्वे च भवताद्यनुरोधेन कर्तव्यमिति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—सेना को नाश करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा की, यों प्रतिज्ञा करना योग्य ही है, क्योंकि लोकों में भी जो आक्रमण कर आता है, वह आक्रान्त से मारा जाता है, इस प्रकार करना कोई विरोध नहीं है, "एतत्" शब्द से यह भी बता दिया है, कि यह सेना आक्रमण कर आई है, वह आक्रमण बल से किया हुआ है, अतः बलपूर्वक ही इसका वध करना उचित है, न कि कपट से, पहले जो थे वे कपट से आए थे अतः उनका कपट से ही मारना योग्य था, यों करने से भगवान् का जो व्रत है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्ताथैव भजाम्यहम्" जो जिस प्रकार मेरी शरण आवे मेरा भजन करता है, मैं भी उसका उसी प्रकार भजन करता हूँ, वह भी सिद्ध हो जाता है, अर्थात् जो मुझे जीतने या मारने के लिए आता है तो मैं भी वही कार्य उसके साथ करता हूँ इस प्रकार व्रत पालन करने से नीति अनुसार वैषम्यबुद्धि भी नहीं रहती है, जो मारने के लिए आए हुए जनों की ही जैसी विषम बुद्धि होती है, यह सब विचार कर ही भगवान् ने "हि" शब्द कहा है और विशेषतः यह भी कहा है, कि सब देवादि ने भूभार को उतारने के लिए प्रार्थना की, अन्य कार्य होते हुए भी उन पर कृपा कर ही उस भूभार हरण रूप कार्य के लिए मैं प्रकट हुआ हूँ अतः जिस कार्य के लिए आया हूँ उस कार्य की सिद्धि के लिए इनको माहूँगा, कारण कि यह सेना भूमि पर भार रूप है, भार रूप होने से इसको सबसे नीचे पाताल में रखा था, वह समय पाकर पृथ्वी पर आ गई है, अच्छे प्रकार से दृढ़ हो कर स्थित हो गई है, साधारण काल कर्म से इस को दूर नहीं किया जा सकता है, अर्थात् अपने पापों से नष्ट हो जाएँगे, ऐसा नहीं है राजा की सेना धर्म का कारण है, क्योंकि राजा सेना की सहायता से प्रजा की चौरादि दुष्टों से रक्षा करता है, ऐसी सेना के नाश से एक प्राणी वध होगा और दूसरा अधर्म ही होगा ? इस शंका के परिहार में कहते हैं, कि यह सेना जो लाया है, वह इंजरासन्ध अधम देश में उत्पन्न हुआ है, इन अक्षोहिणी सेनाओं का स्वामी तो महान् हूँगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, क्योंकि जो जिसके आधीन होते हैं, वे भी वैसे ही हो जाते हैं अतः वे राजा लोग भी दुष्ट हैं जिससे उनके सैनिक भी दुष्ट हैं, इसलिए इसके बल की परवाह नहीं करनी चाहिए, दुष्ट भार रूप होते हैं, वह सेना अजेय है, यह बताने के लिए कहते हैं कि "अक्षोहिणीभिः संख्यातं" अनेक अक्षोहिणियाँ हैं और उनमें गिने हुए ही सब होते हैं अतः प्रसिद्ध भी हैं । प्रत्येक समूह का युद्ध में भङ्ग

होता है, जैसे कि लड़ाई इस प्रकार करते हैं बहुत सजातीय भी, एक ही विजातीय हस्ती आदि से मारे जाते हैं, पहले पाँच प्यादल लड़ते हैं, उनके हार जाने की शंका होने पर तीन बुड़ सवार आते हैं, उनको पराजित देख कर "रथी" युद्ध में आता है, उसके भी पराजय होने पर एक साठ वर्ष की आयु वाला गज आता है इस प्रकार के युद्ध से एक पैदल सेना को भी जीतना अशक्य है, प्यादल, घोड़े, रथ और हस्तिओं से युक्त पत्ति के अंग सहित त्रिगुण न्याय से, क्रम वृद्धि से वनी सेना अक्षो-हिणी कहलाती है, वह अक्षोहिणी एक नहीं है किन्तु बहुत हैं अतः दूसरों से उनका नाश होना अशक्य होने से ही यह सेना नष्ट करने जैसी है इस साद्ध श्लोक से सेना का वध आवश्यक है, क्योंकि वह दुष्ट तथा भार रूप है, यह निरूपण किया शास्त्र का सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य "प्रयोज्य रीति" न्याय से करना चाहिए अतः इस न्यायानुसार "मागध" को ही क्यों नहीं मारा जाना चाहिए ? ये दीन सैनिक तो छोड़ देने चाहिए, इस प्रकार कहने वाले को उत्तर देते हैं कि उसको क्यों अब नहीं मारता हैं उसका कारण यह है कि पहले तो यह सेना भार रूप है इसलिए भार को पहिले उतारना चाहिए, हालांकि जरासन्ध भी भार रूप है तो भी जैसे चिन्ता में लगे हुए दो लम्बे बाँसों में से एक को पहिले नहीं जलाया जाता है क्योंकि उसके जरिए शव तथा अन्य काष्ठ को सम्पूर्ण जला देने में मदद मिलती है अतः जब शव तथा अन्य काष्ठ आदि सम्पूर्ण जला देने में मदद मिलती है अतः जब शव तथा अन्य काष्ठ आदि सम्पूर्ण भस्म हो जाते हैं तब अन्त में उसका भी दाग किया जाता है वैसे ही अब मागध मारने योग्य नहीं है, कारण कि वह जीता रहेगा तो पृथ्वी पर जो भार रूप जो दुष्ट हैं उनको उद्यम कर जहाँ तहाँ से दूढ़ कर ले आएगा, इसके न रहने से वे दुष्ट भार रूप जहाँ कहीं छिप जावेंगे तो पता नहीं लगेगा और उनको लाने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, मागध दुष्ट है जब तक जीता रहेगा तब तक प्रयत्न करता रहेगा, जिससे सर्व दुष्ट हाथ आ जाएंगे और उनका सरल रीति से सफाया हो जायगा ॥ ७-८ ॥

जब कि सब की आत्मा ब्रह्म का सब को मारने के लिए प्रयत्न क्यों ? वा कैसे ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं कि "एतदर्थोवतारऽयम्" इनके वध के लिए ही यह अवतार है, कारण कि ये दैत्य हैं जिससे × मलप्राय और व्याधि+प्राय हैं, उनके नाश करने में सर्वात्मापन नष्ट नहीं होता है, व्याधि आदि से फूला हुआ अपनी देह का अंग भी काटा जाता है, इसलिए ही भगवान् स्वयं पुरुष रूप धारण कर उसमें दोष रूप दैत्यों को मिटाने के लिए आप स्वयं ही औषध रूप बने हैं, विषमता दोष लौकिक है, वहाँ जहाँ दोष रूप नहीं बनता है वहाँ वह दोष नहीं है, अक्लिष्टकर्मत्वगुण को तो यह वैसे ही छोड़ा हुआ है, इसलिए "अंगोऽकृतं ग्लानि भी दोष के लिए नहीं होती है" इस न्यायानुसार यों करने में कोई दूषण नहीं है, अपने आप उद्यम कर, नहीं मारे जाते हैं, विना कपट स्वयं युद्ध के लिए जो आया है, उसको उसी तरह निष्कपट युद्ध से ही मारना योग्य है, इसलिए मेरा यह अवतार है और 'भूमि' भेरीभवत है, धर्मरक्षार्थ जो वध किया जाता है वह दोषकारी नहीं है इसलिए धर्म की रक्षा के लिए भी इसका वध कर्हगा, अतः कहा है, कि

“संरक्षणाय साधूनां” मैंने साधुओं की रक्षा के लिए अवतार लिया है, यह कार्य होने से, साधन नहीं है जो उससे दोष होवे, दूसरी तरह साधुओं की रक्षा करनी चाहिए, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि दुष्टों के बध के लिए भी मैंने अवतार लिया है इलोक में “ज” शब्द से यह दिखाया है, कि भक्तिमार्ग की स्थापना के लिए भा अवतार धारण किया है, इससे यह बताया है, कि कार्यों का सिद्धि के लिए मेरा अवतार है (१) भूभार हरण, (२) साधु रक्षा (३) दुष्टों का नाश और भक्ति का प्रसार ये चारों ही समान प्रधान हैं, अर्थात् सर्वं मुख्य कार्य है न कि एक दूसरे के लिए करना है (१) भूभार उतारना राजस कार्य है, (२) साधुओं का रक्षा करना सात्विक कार्य है, (३) दुष्टों का निग्रह तामस कार्य है और भक्ति का कार्य निर्गुण कार्य है। केवल दुष्टों को साधारण रीति से मारने से पृथ्वी का भार नहीं उतरता है, क्योंकि दुष्ट फिर उत्पन्न हो सकते हैं, उनके हनन का ही प्रयत्न जो स्वयं भगवान् ने किया, उसमें भगवान् के अन्तःकरण का तात्पर्य यह था, कि मेरे हाथ से मरने के कारण वे मुक्त हो जाएंगे, फिर वे दैत्य उत्पन्न न होंगे, इस प्रकार साधुओं की रक्षा में भी समझना चाहिए। साधुओं की रक्षा के लिए भगवान् ने दो कार्य किए हैं (१) असाधुओं का नाश, क्योंकि असाधु होंगे तो उनके संसर्ग से कदाचित् साधुओं की वसत्तु बुद्धि हो जाएगी इसलिए असाधुओं का नाश किया, सब के बध करने से तो अनिष्ट होवे और दूसरा साधुओं का बुद्धि बदलने में जो बाधाएं आती है उनको दूर कर, बुद्धि शुद्ध एवं दृढ़ कर दो। अशुद्ध असद् बुद्धि में भक्ति का प्रवेश नहीं होता है, यह तो स्पष्ट ही है ॥ ६ ॥

इस अवतार के चार प्रयोजन बताकर भगवान् कहते हैं, कि पक्षपात लक्षण वाला धर्म पहले से ही मेरे में है, यह धर्म सृष्टि के आदि में ही मैंने स्वीकार कर लिया था अतः कोई योग्य कार्य पक्षपात से मैं करूँ तो मुझे दोष नहीं लगता है, इसको सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि मैंने पहले भी धर्म की रक्षा के वास्ते अवतार लिए हैं।

इस अवतार के सिवाय अन्य अवतार धारण करने का फल है, धर्म रक्षा और अधर्म को निवृत्त है। इसलिए गीता में “यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत” कहा है यह अवतार तो केवल धर्म रक्षा के लिए नहीं है “अपि” शब्द से धर्म रक्षा और अधर्म निवृत्ति कार्य का भी ग्रहण किया है, यों समझने पर इस अवतार के ६ प्रयोजन हैं यह निश्चय होगा। यहाँ भी पूर्व की भाँति दोनों मुख्य हैं, इसलिए ही “संस्थापनाय धर्मस्य” यह वाक्य भी विरुद्ध नहीं होगा, अतएव बुद्ध के अवतार में केवल धर्म की रक्षा प्रयोजन है, क्रियावतार में अधर्म को निवृत्ति ही प्रयोजन है। परशुराम के अवतार में दुष्टों का निग्रह प्रयोजन है, बलभद्र अवतार भूभार हरणार्थ ही है, पृथु का अवतार सत्य वा सत्पुरुषों का परिपालन ही प्रयोजन है, इस प्रकार सर्व अवतारों में योग्यतानुसार समझना चाहिए, सर्व तो भगवान् में ही है, भक्ति स्वतन्त्र तथा अधिक भगवान् में ही है ये सब तो काल कर्म आदि से स्वतन्त्र वा उनकी आज्ञा से स्वतः सिद्ध होते रहेंगे, फिर विशेष अवतार लेने की क्या आवश्यकता है? इसके समाधान के लिए कहते हैं कि, “काले प्रभवतः” धर्म और अधर्म कभी ही काल में पैदा होते हैं, अतः जब वे अपेक्षित नहीं हैं तब अवतार लेकर अधर्म का निराकरण और धर्म की स्थापना करनी पड़ती है, काल तो केवल उत्पन्न करने वाला है उससे निराकरण

नही हो सक्ता है, जो निश्चित् अर्थात् सोमा वाले में दोनों शक्तियों का अभाव होता है. इस कारण से विपमता तथा अकल्पित कर्मत्व दोनों का भक्तों के अनुरोध से करना ही चाहिए ॥१०॥

आभास—भगवद्ध्यानमात्रेण भूमिष्ठानां पदार्थानां दैत्यांशवासितत्वात् तेषां सज्जीकरणे विलम्बात् वैकुण्ठादेव साध्ये स्मृते स्वयमेव साधनमागतमित्याह एवं ध्यायतीति ।

आभासार्थ—भगवान् ने सोचा कि भूमि पर जितने युद्ध के साधन हैं उनमें दैत्यांश हैं, उनके तैयार करने में विलम्ब होगा, अतः वे साधन अलौकिक होने चाहिए यों विचार करते ही, वैकुण्ठ से स्वयं ही साधन आ गए, जिनका वर्णन “एवं ध्यायति” श्लोक में करते हैं—

श्लोक— एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात्सूर्यवचंसौ ।

रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥११॥

श्लोकार्थ—भगवान् के इस तरह विचार करते ही, आकाश से सूर्य की भांति प्रकाश वाले, सारथियों सहित तथा युद्ध की सामग्री के साथ तुरन्त दो रथ उतर आए ॥ ११ ॥

सुवोधिनी—सर्वे हि देवाः अधिकारन्यायेनापि भगवद्दशा इति ज्ञापयितुं गोविन्द इति । आकाशात्सर्वोपामलौकिकत्वज्ञापनाय । दृष्ट एवालौकिकज्ञानं भवतीति दर्शनाथं सूर्यसङ्काशत्वमाह सूर्यवचंसाविति । न हि सूर्यं कदाचिदुदितं न पश्यति । अनेन अविलष्टकर्मताप्युक्ता । स्वानां भयं च निवारितम् । अलौकिकरथागमनं दृष्ट्वापि यदि युद्धार्थं यतन्ते, तदा मृत्युं निश्चित्यैव यतन्त इति न

भगवद्दोषः कश्चन । यथा धनुर्भङ्गादिसामर्थ्यप्रदर्शनम्, तथैतदपि । सद्य एवोपस्थिताविति सिद्धावेव समागतौ, नतु लक्ष्मोवत् हविमण्यादिभावानेत्यतिरपेक्षते । यद्यप्यलौकिकरथस्य न सूताद्यपेक्षा, तथापि तदभावे शोभाय वा सूतः कर्तव्य इति प्राकृते स्थापिते तदनुरोधानुरोधाभ्यां कार्याभावः । अतः ससूतौ । युद्धादिसामग्री क्वचादिर्ध्वंजादिश्च परिच्छदशब्देनोच्यते ॥ ११ ॥

व्याख्यानार्थ—श्लोक में भगवान् का ‘गोविन्द’ नाम यह जताने के लिए दिया है, कि सर्वदेव अधिकार न्यायानुसार भगवान् के वश में हैं, आकाश से आए, यों कहने का आशय यह है, कि सब अलौकिक हैं यह ज्ञान हो जाए, “सूर्य सम प्रकाश वाले” कहने का भाव यह है, कि सब को वे देखने

में आवे क्यों कि देखने से ही ये अलौकिक हैं यह दृढ़ ज्ञान होता है। सूर्य उदय होता है तब सब देखते ही हैं, यों कहने से भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं यह भी सिद्ध कर दिखा दिया और अपने सम्बन्धियों का भय भी मिटा दिया, अलौकिक सामग्री सहित अलौकिक रथों का आना देख कर भी, यदि लड़ने का प्रयत्न करते हैं तो वे निश्चय से मृत्यु के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, इसलिए भगवान् का कोई दोष नहीं है, जैसे मथुरा में धनुर्भग आदि से अपना सामर्थ्य प्रकट दिखाया, तो भी समझे नहीं, अन्त में वे मृत्यु को ही प्राप्त हुए वैसे ही यहाँ भी होगा, तदज्ञान आए, उसका भाव यह है, कि तैयार ही थे वे आ गए, न कि जैसे लक्ष्मी को रुक्मिणी आदिभाव में आने में देरी हुई यद्यपि अलौकिक रथों को सूतादि की अपेक्षा नहीं है वैसे यहाँ नहीं है, तो भी उनके न होने से रथों की शोभा न होगी, इस लिए शोभार्थ सूत चाहिए, यह कार्य प्राकृत की भाँति किया गया, उनके अनुसरण अथवा अनुसरण बिना कार्य का अभाव ही, अतः कहा कि रथ सूतों सहित आए तथा कवच और ध्वजादि सामग्री भी उनमें धरी हुई थी ॥ ११ ॥

आभास—सायुध एव रथमारोहतीति पृथगायुधानामागमनमाह आयुधानि चेति ।

आभासार्थ—योद्धा आयुधों वाले रथ में ही बैठता है, अतः आयुधों के आगमन का “आयुधानि च” इस श्लोक में पृथक वर्णन करते हैं ।

श्लोक—आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया ।

दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथान्नवीत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—धनुष, खड्ग आदि दिव्य आयुध जो असल थे, वे अपने आप आ गए । भगवान् ने उनको देख कर बलरामजी से कहा ॥१२॥

सुबोधिनी--धनुः खड्गादीनि दिव्यानि शाङ्गप्रभृतीनि । भिन्नान्याकृतिमन्ति निषेधति पुराणानीति । केनचिन्नानीय दत्तानि, किन्तु यदृच्छया स्वयमेवागतानि । एवं सामग्री दृष्ट्वा कार्यपटके भूभारहरणस्योपस्थितत्वान् तदर्थमेव वलभद्रं प्रत्याह दृष्ट्वा

तानीति । यच्चूक्तं न करिष्यति, तथाप्यवतारान्यथानुपपत्त्या तथैव प्रेरिष्यामीत्यभिप्राय इत्याह हृषीकेश इति । सर्वेन्द्रियप्रेरकस्तथैव प्रेरिष्यतीति । सङ्कर्षणः सम्यक् भारमाकृष्य दूरीकर्तुं समर्थः ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—विष्णु के धनुष सहित अन्य धनुष, तलवार आदि अलौकिक शस्त्र किसी ने लाकर नहीं दिए किन्तु स्वयं आ गए । “पुराणानि” शब्द से कहने का आशय यह है, कि वे शस्त्र नवीन आकार वाले थे, किन्तु जो अलौकिक आकृति आगे थी, वह अब भी है । इस प्रकार आई हुई सामग्री को भगवान् देख कर विचार करने लगे कि हमारे अवतार कार्यों को सिद्ध करने के लिए हैं,

उनमें से अब भूभार के हूरण का कार्य सामने आया है। उस कार्य को पूरा करने के लिए बलराम जी का प्राकट्य है, अतः बलभद्र को कहने लगे। जो अपना कार्य जिसके लिए प्रकट हुए हैं वह न करेंगे, तो अवतार धारण करने की अन्य प्रकार उत्पत्ति नहीं है, इसलिए वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जैसे वे इस कार्य को करेंगे। भगवान् "हृषीकेश" हैं, अतः प्रेरक तो सब के आप ही हैं। इसीलिए जैसे कार्य कराने को इच्छा होता है, वैसी ही प्रेरणा करते हैं क्योंकि बलरामजी संकर्षण स्वरूप भी हैं, अतः पूर्ण रीति से भार को खेंचकर दूर फेंक देने में समर्थ है ॥१२॥

आभास—अथ विचारव्यतिरेकेण निर्धारितमेवाह पश्यायैति ।

आभासार्थ—भगवान् विशेष विचार से निर्णय किए हुए कर्तव्य को करने के लिए "पश्यायै" श्लोक में बलदेवजी को कहते हैं ।

श्लोक—पश्यायै व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावसां प्रभो ।

एव ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे आर्य ! हे प्रभो ! जिनके आप रक्षक हैं, उन यादवों पर वंसा दुःख आ पड़ा है, जिसका उपाय आपके सिवाय कोई नहीं कर सकता है। इसलिए आपके वास्ते प्यारे मुसल आदि शस्त्र भी आ गए हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—एकान्ते स्थिताबुभी । अतो यथा लोके परिज्ञानं न भवति, तथा शनैर्वचनानि लिभिः । आर्यैति सम्बोधनं कृतानुकरणत्वाभावाद्ब्रह्मव्यवज्ञापकम् । त्वत् एव अवनं वेषांते त्वावन्तः । अतो रक्षणां व्यसनं प्राप्तमिति तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम् । रक्षाप्यवश्यं कर्तव्येत्याह यदूनामिति । अप्रीकार्यं दुःखं व्यसनमित्युच्यते । यद्यपि पूर्वमेव विचारः

कर्तव्यः, तन्न कृतमित्यनौचित्यमपि ज्ञापनाह प्राप्तमिति । सामर्थ्यं तु वर्तते इत्याह प्रभो इति । अवताराणां गुणव्यवधानात् साधनानि बोधयति एष ते रथ आयात इति । भवदीय एवायं रथ इति साधने सन्देहाभावः । प्रियाणि च मुसलादीनि आयुधानि । चकारादपेक्षितं सर्वम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—दोनों भ्राता एकान्त में इस प्रकार खड़े हुए थे, जैसे जो सलाह को जाय उसका किसी को भी पता न पड़े। तीन श्लोक धीरे-धीरे कहने लगे। हे आर्य ! सम्बोधन इस आशय से दिया है, कि आपको किसी की भी नकल नहीं करनी है, किन्तु मेरे वचन आपको कर्तव्य के जताने वाले हैं। अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, आपका इस समय यह कर्तव्य है कि जो यादव हैं, इनकी रक्षा सदैव

आपसे ही होनी है, अतः अब भी होनी चाहिए। कारण कि, उन पर अभी ऐसा व्यसन अर्थात् बड़ी आपदा आ पड़ी है कि जिसका कोई प्रतिकार नहीं है। यद्यपि यह पहले विचार करना चाहिए था, वह न कर अनौचित्य ही किया है, किन्तु अकस्मात् अब वह प्राप्त हो गया है, तो भी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। कारण कि आप प्रभु हैं, जिसे आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य है। आप इस व्यसन-से इन की रक्षा करने में सर्वथा समर्थ हैं। अवतारों में गुणों से अन्तर पड़ता है, किन्तु साधन स्वतः प्राप्त हो गए हैं। देखिये, यह आपका आया हुआ रथ है, यह रथ आपका ही है इसलिए साधन में कोई संशय नहीं है। फिर जो आयुध आए हैं, वे आपके प्यारे मुसल आदि हैं। श्लोक में दिए गए “ब” का तात्पर्य बताते हैं, कि जिसकी भी युद्ध में अपेक्षा रहती है, वे सब हैं ॥१३॥

आभास—भूभारहरणं तस्यैव मुख्यमिति तमेव बोधयति यानमास्थायेति ।

आभासार्थ—भूभार हरण करना उसका ही कार्य है, ‘यानमास्थाय’ श्लोक से वह वर्णन करते हैं ।

श्लोक—यानमास्थाय जह्ये तव्यसनात् स्वान् समुद्धर ।

एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रथ पर बैठ कर इस सेना को नष्ट कर, अपने स्थानों को संकट से छुड़ाए। हे ईशः ! अपनने अवतार साधुओं के कल्याण के लिए धारण किया है ॥१४॥

सुबोधिनी—रथमास्थाय एतद्वलं जहि, रधारोहणे सर्वा शक्तिः प्रादुर्भविष्यतीति । विलम्बाभावायाह व्यसनात् स्वान् समुद्धरेति । आवश्यकत्वं स्पष्टम् । कार्यस्याप्यावश्यकता-माह एतदर्थं हि नौ जन्मेति । आवयोरजन्म एतदर्थम् । युक्तश्रावणार्थः । भूम्या प्राथित-मिति, अन्यथा जन्मैव न स्यात् । सर्वत्रानु-स्यूतं प्रयोजनमाह साधूनां शर्मकृदिति । नाधूनां सुखमस्माद्भवतीति सर्वैरेव प्रकारैः ते

मुखिनो भवन्तीति महतः आविर्भूतस्यैतदेव कृत्यम् । ईशेति सामर्थ्याम् । अन्यथापेक्षादोषो भविष्यतीति भावः । परिमितमेवेति प्रयासा-भावायाह त्रयोविशत्यनीकाख्यामिति । अनीक-शब्देनाज्ञीहिणी । अल्पसङ्ख्याशब्दनिर्देशः अनायासेन निराकरणार्थः । त्रयोविशत्यनी-कान्याख्या नाममात्रं यस्य । वस्तुतस्तु न किञ्चित्, तथापि निराकर्तव्यमेवेत्याह भूमे-भारमिति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—रथ में बैठ कर इस बल को नाश कर । यह विचार ही न करना कि शक्ति कहाँ से आएगी ? रथ में बैठने पर सर्वशक्ति उद्भूत हो जाएगी । विलम्ब मत करो, क्योंकि ये अपने

सम्बन्धी हैं। अतः शीघ्र ही इनका व्यसन से छुटकारा करो। यह कार्य आवश्यक है, इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह विषय स्पष्ट ही है, फिर भी आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अपन इसलिए अवतरित हुए हैं। यों कहना तो योग्य ही है, कारण कि द्रुमि ने प्रार्थना की थी, नहीं तो हम प्रकट ही नहीं होते। हमारे प्राकट्य में सर्व कार्य युंथे हुए हैं। साधुओं को भी सुख हमारे द्वारा ही प्राप्त होगा। सर्व प्रकार वे भी सुखे होंगे, महान् आत्माओं के प्राकट्य का यही कर्तव्य है। "ईश" शब्द से बलराम का सामर्थ्य प्रकट करते हैं। यों नहीं कहते तो उपेक्षा का दोष भगवान् को लगता। कुछ भी चिन्ता न करो, क्योंकि सेवा विशेष नहीं है, गिनी हुई है, केवल तेवीस अक्षोहिणी ही हैं। तात्पर्य यह है कि इनको नाश करने में किंचित भी परिश्रम न होगा। तेवीस अक्षोहिणी भी नाम माल की हैं। आपके सामने तो कुछ भी नहीं है, तो भी पृथ्वी पर भार रूप होने से इनका नाश करना ही चाहिए ॥१४॥

आभास—प्रकटतया कथने राजा निर्गच्छेत्, स्नेहाहसुदेवादयः प्रतिबन्ध कुर्युः,
अत एकान्ते तथा सम्मन्वय युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह एवं सम्मन्वयेति ।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण और बलराम एकान्त में परामर्श + कर युद्ध के लिए तैयार हुए। एकान्त में विचार करने का कारण यह था कि यदि पिता वसुदेवादि सुनेंगे तो रुकावट डालेंगे और यदि राजा सुन लेंगे तो वे युद्धार्थ निकल पड़ेंगे, अतः दोनों ने एकान्त में परामर्श कर स्वयं युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए।

श्लोक—त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेभारमपाकुरु ।

एवं सम्मन्वय दाशार्हो दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥१५॥

निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसावृतौ ।

शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥१६॥

ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्नासवेपथुः ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार दोनों भ्राताओं ने परस्पर सलाह कर, पहले कवचादि * धारण किए। अनन्तर अपने सुन्दर शस्त्रास्त्र लेकर रथ में बैठ कर लड़ाई करने के लिए प्रवृत्त हुए। साथ में स्वल्प सेना भी थी, पुर से बाहिर निकले और दारुक

के सारथि वाले श्रीकृष्ण ने अपने शंख को बजाया । जिसकी ध्वनि से शत्रु की सेना के हृदय में बास उत्पन्न हुआ जिससे वह कांपने लगी ॥ १५-१६-१ ॥

सुबोधिनी—यतो दाशाहौ सेवकप्रियो ।
 दक्षितो पूर्व दृढकवचौ । ततो रथिनी ।
 नतः पुरान्निर्यमनुः । ततः मुष्टु आयुध्रादधौ
 आयुध्रं गृहीत्वा युद्धार्थं प्रवृत्तौ । तावता पूर्व
 राजाज्ञाभावात् विचाराभावाच्च न सर्व
 बलमेकीभूतम्, अतोत्पेनेव बलेनावृत्तौ जाती ।
 तत्राप्यङ्गवैकल्यं प्रत्ययार्थः । आदौ पाञ्च-
 जन्यं वादितवानित्याह, सैनिकानामुद्योगोत्सा-
 हनिवृत्त्यर्थम् । 'यस्य ध्वनिर्दानवदपंहन्ता'
 इति । अन्तः प्रवेशाभावाय बहिर्निर्गम्य शङ्खं

दध्मां । यतो हृत्तिः । अन्यथा पुरस्थानां
 शङ्खा स्यात् । दारुकः सारथिर्मस्येति ।
 सङ्क्षेपणाश एवात्र विशेषाकारेण प्रवृत्त इति
 ज्ञापयितुम् । तृतीया प्रकरणे तस्याप्युपयोगः
 सूचनीयः, यथा द्वितीये अनिरुद्धे सान्त्वनम् ।
 अथ आयुधान्तराणामपि कार्यं भविष्यतीति
 ज्ञापयितुं कृतस्य नादस्य फलमाह ततोऽभू-
 दिति । शत्रुभूतानां सैन्यानां भाविमरणमदूरे
 प्रतिभातमिति हृदि विशेषेण त्रासो भयं
 जातम् । तेन कम्पश्च । शरीरेऽप्यर्थात् ।

व्याख्यानार्थ—पहले कवच धारण कर रथ में बैठे, फिर नगर से निकले और सुन्दर शस्त्र लेके युद्धार्थं प्रवृत्त हुए, क्योंकि दोनों सेवक प्रिय थे । जिस समय युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए उस समय सम्पूर्ण सेना आपके पास नहीं थी, कारण कि आपने राजा से सलाह न की थी । जिससे युद्ध में जाने के लिए सेना का राजा की आज्ञा न मिली थी । अतः अल्प सेनायुक्त थे, उसमें भी सेना में इतनी कमी, अपने स्वतन्त्र निश्चय करने के कारण हुई थी । शत्रु के सैनिकों के उद्यम तथा उत्साह को नाश करने के लिए भगवान् ने नगर से बाहिर निकल कर, जिसकी ध्वनि दानव दर्प नाश करने वाला है, वैसे पांचजन्य शङ्ख को बजाया, क्योंकि वे दुःख हर्ता हैं । यदि वह नगर के भीतर बजाते तो नगर निवासियों के मन में शङ्का उत्पन्न हो जाती । जिससे वे यों भी भ्रम में पड़ जाते, कि कदाचित् शत्रु की सेना नगर में घुस आई है । दारुक जिनका सारथि है वैसे भगवान् थे । यहाँ विशेष रूप से संकर्षण रूप में ही प्रवृत्त हुए हैं, यों जताने के लिए कि साधन प्रकरण में उसका 'संकर्षण' का उपयोग है । जैसे प्रमेय प्रकरण में अनिरुद्ध में सान्त्वन है । आगे अन्य आयुधों का भी कार्य होगा, यह बताने के लिए शंख बजाने से जो फल हुआ, उसका वर्णन करते हैं कि शत्रुओं के सैनिकों का मरण निकट ही है । इसलिए पहले ही उनके हृदय में ध्वनि से भय ही उत्पन्न नहीं हो गया है, किन्तु उससे शरीर में कंपन भी पैदा हो गई है ॥ १५-१६-१ ॥

आभास—एवं ज्ञात्वा चतुरो जरासन्धः भगवन्तं युद्धान्निवर्तयितुं किञ्चिदुक्त-
 वानित्याह तावाहेति ।

आभासार्थ—सेना की यह दशा जान कर चतुर जरासन्ध भगवान् की युद्ध से निवृत्ति करने के लिए, "तावाह" श्लोक में कुछ कहने लगा ।

श्लोक—तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥

न त्वया योद्धुमिच्छामि बालकेन विलज्जया ।

गुप्तेन हि स्वयाऽमन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥१८॥

श्लोकार्थ—इन दोनों को अच्छी तरह देख (जानकर) मागध कहने लगा । हे कृष्ण ! हे पुरुषों में अधम ! मैं तुम से युद्ध करना नहीं चाहता हूँ, क्योंकि तू बालक है । बालक से लड़ते हुए लज्जा आती है, एवं तू बन्धु की हत्या करने वाला तथा छिप कर रहने वाला है, इस लिए भी हे मन्द ! तुझ से लड़ना नहीं चाहता हूँ ॥ १७-१८ ।,

सुबोधिनी—ननु सदुत्तरेणैव भगवता सह युद्धमनुचितमिति चेद्वदेत्, तदा भगवान् युद्धं न कुर्यात्, स्वकार्यं च भवेत्, तत्परित्यज्य किमिति विषममुक्तवानित्याशङ्कामाह मागध इति । देशदोषात्तथा बुद्धिः । तौ वीक्ष्याहेति । तेजः स्वानुभावेन ज्ञात्वेत्येतदर्थम् । आदौ भगवता सह युद्धं न मन्यते, तदाह, हे कृष्णेति । त्रिधा सम्बोधनं करोति, आनन्द-चित्सद्वरूपः । कृष्ण आनन्दः, पुरुषश्चिद्रूपः । अधो मातीत्यधमः प्रपञ्चः सद्वरूपः । न हि सदानन्दरूपेण पुरुषार्थरूपेणात्मना स्वोपकारिणा कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षते । अत आह न त्वया योद्धुमिच्छामीति । किञ्च, बालकेनेति । बालानामपि कं सुखं यस्मात् । बाले बाले को वा । न हि ब्रह्माण्डकोटिविग्रहेण कार्यपक्षेपि योद्धुं शक्यते । किञ्च, विलज्जयेति । धाष्ट्येन यद्यपि युद्धं कर्तुं शक्यते, मरणेन मोक्षो भविष्यतीति, तथापि लोकलज्जयापि न युद्धमुचितम्, लोको हसिष्यति,

स्वामिना सह युध्यतीति । अतो विशिष्टलज्जयापि न योत्स्ये । अन्यत्र स्वशक्ति स्थापयसि चेत्, तथापि युद्धं न करिष्यामीत्याह गुप्तेन हीति । त्वया गुप्तः केन वा हन्तुं शक्यते । पराजयपक्षे त्वत्त एव मरणमुचितम्; न त्वन्यस्मात्, अपकीतिरपि भवेदिति । अतो युक्तमेव त्वद्रक्षितेन सहायुद्धम् । किञ्च, अमन्देति । अमो मोक्षः । न विद्यते मा माया यतीति । अमं ददातीत्यमन्द इति । न हि मोक्षदात्रा आराध्येन सह कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षति । अतो याहि मोक्षं दातुम् । नन्वहं यादव एव, न तु मोक्षदातेत्याशंक्याह बन्धुहन्त्रिति । यदि यादवः स्यात्, तर्हि बन्धुन् कंसादीन् किं हन्यात् ? अतो यादवमारकत्वात् अस्मत्स्वाम्येव, ननु यादव इत्यर्थः । यदापाततः प्रतिभात्यन्यथा, तदप्रकरणविरुद्धत्वात् निन्दापरवचनमुपेक्षणीयमेव । भ्रामकाणि परं वचनानि ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—यदि सौम्य रीति से कहें, कि भगवान् के साथ युद्ध मेरे लिए उचित नहीं है, तो भगवान् युद्ध न करें और उसका अपना कार्य भी सिद्ध हो जाए, किन्तु उसने सच्ची नीति छोड़ विषम रीति से यों कहा ? यों विषम प्रकार से कहने का कारण यह है, कि इसका जन्म अधम देश में

हुआ है। इसलिए इसको बुद्धि भी अश्रम ही है। उन दोनों को देख कर अपने मनोगत भाव के अनुसार तेज को समझ कर इस प्रकार इसलिए कहने लगा। पहले भगवान् से युद्ध करना स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि इनसे युद्ध नहीं चाहता है। इसलिए भगवान् के लिए तीन सम्बोधन करता है। अर्थात् भगवान् के लिए तीन गुण बतलाता है। (१) आनन्दगुण (२) चेतन्यगुण (३) सतगुण, इन गुणों को बतलाने के लिए तीन नाम १-कृष्ण २-पुरुष और ३-अश्रम कहे हैं।— १-कृष्ण नाम से कहा है, कि आप आनन्दरूप हैं। २-पुरुष नाम से कहा है कि आप चेतन्यरूप भी हैं तथा ३ अश्रम नाम से कहा है कि आप सद् रूप से प्रपञ्चरूप भी हैं। सदानन्दरूप, अपने उपकार करने वाले पुरुषार्थरूप आत्मा से कोई भी युद्ध करना नहीं चाहता है। इसीलिए जरासन्ध कहता है, कि तुझ से लड़ना नहीं चाहता है और फिर विशेषता यह है, कि आप बालकों को भी सुख देने वाले हैं, तथा आपके एक एक बाल में ब्रह्मा विराजमान हैं, अतः जिसके शरीर में कोटिश ब्रह्माण्ड हैं, उसके साथ कार्य के लिए भी कौन लड़ने की सामर्थ्य रखता है ? और बैसे से लड़ने में लज्जा भी आनी चाहिए, अतः आप से युद्ध करना उचित नहीं है। लोक हँसेगा कि यह स्वामी से लड़ता है, अतः विशिष्ट लज्जा से भी न लड़ूँगा। यदि आप कहो, कि ये मेरी शक्तियाँ मैं दूसरे में स्थापित कर देता हूँ, तब तो तू लड़ेगा ? तो क्या कहता है, कि तब भी नहीं लड़ूँगा, क्योंकि तू गुप्त अर्थात् अव्यक्त है, अव्यक्त से कौन लड़ सकता है ? उसको कौन मार सकता है ? परराज्य पक्ष में तुझ से ही मरना योग्य है न कि दूसरे से अपनी कीर्ति भी हो, अतः यह भी योग्य है कि तुझ से रक्षित जो मैं हूँ उससे आपको लड़ना ही नहीं चाहिए तथा अन्य भी विशेष कारण यह है कि आप "अश्रम" हैं अर्थात् जहाँ माया नहीं है, ऐसे मोक्ष को देने वाले हैं। मोक्ष देने वाला तो आराध्य है, उससे कोई भी लड़ना नहीं चाहता है, अतः अश्रम इस लड़ाई के कार्य को त्याग कर, जाके भवतों तथा ज्ञानियों को मोक्ष दान करे। यदि आप कहो, कि मैं तो यादव हूँ, मोक्षदाता नहीं हूँ, तो यह कहना मुझे भुलावे में डालने के लिए कहने हो, क्योंकि यदि आप यादव हो तो अपने सम्बन्धी कंस आदि को कंस मारा ? अतः यादवों को मारने से आप यादव नहीं हैं, किन्तु हमारे स्वामी ही हैं, जो अब आप दूसरे देखने में आते हो। ये वे वचन प्रकरण में विह्वल होने से उपेक्षणीय है, क्योंकि ये निन्दापरायण है, तथा शेष भ्रमित करने वाले वाक्य है ॥१९॥

आभास—एवं भगवन्तमयुद्धार्थं प्रार्थयित्वा तेनैव बलभद्रोपि निवृत्तो भविष्यतीति तं युद्धं याह्वयति त्वं त्विति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने भगवान् को इस प्रकार युद्ध से निवृत्त होने की जब प्रार्थना की, तब यह विचार उसके हृदय में उत्पन्न हुआ, कि इस प्रार्थना से कदाचित् बलरामजी भी निवृत्त ही जाए, अतः उनको "त्वं तु राम" इस श्लोक से लड़ने के लिए आह्वान करता है ।

श्लोक— त्वं तु राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्रह ।

हित्वा वा मच्छरैषिष्ठन्नं देहं स्वर्गाहि मां जहि ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राम ! यदि लडने की श्रद्धा हो तो लड़, धीरज धर, मेरे शरों से छिन्न देह को त्याग स्वर्ग को जाओ अथवा मुझे मार ।

सुबोधिनी- तशब्दः पूर्वप्राप्तार्थव्यावृत्त्यर्थः । अन्यथावयोर्द्व्युमाग्नं च नल्पमिति कथं रामं शृङ्खीयात् । तेन यादवा एव नस्य मारणीया इति सत्त्वव्यवहितानां सूतरामादेशिनां देहोमतीति यादवत्वं सिद्धमिति वसुदेववैरं नल्पत्वे पातनीयमिति वसुदेवे युद्धप्रतिप्रमवः । तत्रापि यदि श्रद्धेत्याह । अयं हि वसुदेवानुकल्पत्वेन द्विष्टो भवति । तथा सति यदि पितरि श्रद्धा, क्षत्रियत्वेन युद्धे वा, तदा युध्यस्व । आद्ययोर्द्व्यपि समानं बलम्, तथापि सेना महतीति तद् हृष्ट्वा कदाचिञ्चीतो भवेत् अत आह धैर्यमुद्रहेति । भगवद्वचतिरि-

क्तानामन्यधर्म. प्रवर्तते इति, अन्तर्बलमस्तीति धैर्यमस्त्येव, बहिरपि धैर्यं सम्पाद्येत्याह उदिति । ततो यद्बलविध्यनि तदनिश्रयेनाह हित्वेति । एकतरनिश्रये युद्धार्थं प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अतो मच्छरैः छिन्नं देहं हित्वा धैर्यमूत् धैर्येण जातं मुदं स्वर्गलक्षणां वह । अथवा मच्छरैः छिन्नं देहं पित्वेति । 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः' इति न्यायेन शरच्छादनं दूरीकृत्य मां जहि । अनेन प्रथममहमेव प्रहारं करिष्यामीति सूचितम् ॥१६॥

व्याख्यान— "तु" शब्द पढ़ने कच्ची हुई बात को निवारणार्थ है नहीं तो, हम दोनों को अथवा एक बन्धु को मारना बराबर ही है. तो राम को लडने के लिए क्यों आह्वान करता है ? इसका समाधान यह है कि इसको यादवों का नाश करना है, सत्व से व्यवहित अनिश्चयकर आवेश वालों का यह देह है इससे सिद्ध है कि राम यादव है, इसलिए राम का आह्वान किया है । वसुदेव का वैर उसके पत्र पर डालकर राम से लडना मानों वसुदेव से ही लडना है । इसलिए कहा है, कि यदि पिता में श्रद्धा अर्थात् भक्ति है, तो तु लड अथवा क्षत्रियग्न में श्रद्धा है, तो भी लड । अपने दोनों में शक्ति समान है, किन्तु मेरी सेना बहुत है । यदि वह देख कर डर गए हो तो डर मत धीरज और हिम्मत धारण कर. भगवान् मे जो धिन्न है, उनका धर्म अन्य होता है. बलरामजी में भीतर बल तो है ही जिससे धैर्य भी है. उसको बाहिर प्रकट कर, इसलिए वह धातु के आगे "उत्" उपसर्ग लगा कर "उद्रह" पद दिया है । लडने से जो होगा उसका निश्चय तो है ही नहीं । यदि किसी एक को जय वा पराजय का पूर्व ही निश्चय हो तो लडाई हो ही नहीं । अतः मेरे शरों से छेदी हुई देह का त्याग कर धैर्य करने से स्वर्ग की प्राप्ति के आनन्द को धारण करो, अथवा मेरे शरों से कटी हुई देह को त्याग विधि निषेध विशेषण में ही प्रयुक्त होते हैं । इस न्यायानुसार शरों का परदा हटा कर मुझे नष्ट कर, यों कहने से मागध ने यह बता दिया कि पहले मैं ही प्रहार करूंगा ॥१६॥

आभास— एवं बलभद्रं प्रति यत्स्वपौरुषं द्यापितम्, तदयुवतं मत्वा भगवान् निषेधति न वं शूरा इति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने जो बलरामजी के आगे अपनी सामर्थ्य की डींग हाँकी, वह उचित नहीं है। यों समझ भगवान् उसका “न वं शूरा” श्लोक में प्रतिवाद करते हैं।

श्रीभगवानुवाच -

श्लोक—न वं शूरा बिकृत्यन्ते दर्शयन्त्येव पोरुषम् ।

न गृह्णीमो वचो राज्ञातुरस्य मुमूर्षतः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे राजन् शूरवीर बकवाद नहीं करते हैं, किन्तु अपना पराक्रम कार्य करने से ही दिखाते हैं। हम आतुर तथा जिसकी मौत निकट आ गई है, उसके वचनों पर ध्यान नहीं देते हैं ॥२०॥

मुञ्जोधिनी—ये हि शूरास्ते स्वख्याति न वदन्ति, किन्तु पौरुषमेव दर्शयन्ति । यदप्युक्तं ‘न त्वया योद्धुमिच्छामी’ति, तत् तव वाक्यं न गृह्णीमः । अनेन तद्वाक्यमप्रमाणमित्युक्तम् । न हीस्वरेणामतं प्रमाणं भवति । तेन हि शङ्काद्वयेन युद्धं त्यक्तम्, मरणं भविष्यति, मोक्षे प्रतिबन्धो वा भविष्यतीति, तदुभयं न कर्तव्यम्, इदानीं न मारणीयः, मोक्षश्च देय इति । अत एव भगवान् सर्वस्वदानं कारित्वा मोक्षं दत्तवान् । अतो युक्तमुक्तं न गृह्णीमो वच इति । किञ्च, हे राजन् ! राज्ञां शूरसत्रियाणां युद्ध एव मुक्तिः । ‘द्वाविमो पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परित्राड् योगयुक्तश्च रणे चाग्निमुखो हतः’ इति

ब्राह्मणक्षत्रिययोः मोक्षप्रकारस्य प्रतिपादितत्वात् । तयोरेव च मोक्षोपदेशः ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन’ इत्यत्र निरूपितः । अतो मद्रक्षितेनापि त्वया युद्धं कर्तव्यम्, अहं तु त्वया सह युद्धं न करिष्यामि, बलभद्र एव करिष्यति, बलं पर मारणीयमिति भावः । अयमुपदेशाग्रे कार्यायः । अन्यथा भीमेनापि न युष्येत् । किञ्च, आतुरस्य वचनं न ग्राह्यम् । स हि स्वापथ्यमेव याचते । अनेन याचितं देयमिति पक्षो निवारितः । किञ्च, मुमूर्षतः मुमूर्षां प्राप्नुवतः । कुदन्तात् षष्ठी । स हि मोक्षं दूरीकृत्य वृथा मरणं वाञ्छति । तादृशं नाङ्गीकर्तव्यम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—जो सचमुच निश्चित शूरवीर होते हैं, वे अपनी प्रशंसा अपने आप नहीं करते हैं; परन्तु अपनी शूरवीरता दिखाते हैं। जो भी आपने कहा, कि मैं तुम से युद्ध नहीं करूँगा, वह आपका वचन ग्रहण नहीं करते हैं; सो कहने से भगवान् ने बता दिया कि पाण्डु का कटना प्रमाण रूप नहीं है। जिसकी ईश्वर नहीं मानते हैं, वह प्रमाण नहीं हो सकता है। इस शंकाद्वय से युद्ध छोड़ा, युद्ध से मरण होगा वा मुक्ति मिलेगी, ये दोनों अब नहीं करने हैं। अब नहीं मरना है और न मोक्ष देना है। इस कारण मे ही भगवान् ने पहले उससे सर्वस्व अर्पण कराने के अनन्तर ही मोक्ष दी। अतः भगवान् ने ये वचन उचित ही कहे हैं कि तेरा कहा हुआ वचन ग्रहण नहीं करूँगा।

किञ्च हे राजन् ! शूरवीर जो क्षत्रिय राजा हैं, उनकी युद्ध में मरने से ही मुक्ति होती है। जैसा कि शास्त्र में कहा है “द्वाविमो पुरुषोलोके सूर्यमण्डल भेदिनी परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो-
हतः” अर्था—लोक में योग युक्त सन्यासी, युद्ध में मरा हुआ शूरवीर, ये दोनों मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के मुक्ति का मार्ग निश्चित सिद्ध किया हुआ है। उन दोनों को ही मोक्ष का उपदेश है। “यस्य ब्रह्म च क्षतः” इस श्रुति में भी यही बात कही है। अतः नू मुझ से रक्षा किया हुआ है, तो तुझ से राम लड़ाई तो करेंगे ही। मैं तो तेरे साथ युद्ध न करूँगा, कारण कि तेरी इस बड़ी सेना को तो नष्ट करना ही है। यह उपदेश आगे के कार्य के लिए है: जो यों उपदेश न दे तो भीम मे भी न लड़े। बीमार का वचन कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह सदैव कुपथ्य रोग में हानि करने वाली वस्तु की ही याचना करता है, किन्तु उसको वह नहीं देनी चाहिए, क्योंकि उस वस्तु के देने से उसका रोग बढ़ेगा। इसी प्रकार यहाँ भी यदि आपका कहा हुआ किया जाए तो आपकी ही हानि होगी और जो मरने के समीप है, वह भी बुद्धि ग्न्य हो जाता है। जिससे वह मोक्ष को हटाकर केवल मारना ही चाहता है। इसलिए उसका कहा भी नहीं करना चाहिए ॥२०॥

आभास—एवमुपदिष्टः युद्धं स्वहितं मन्यमान, ससामग्रीको युद्धार्थमागत इत्याह जरासुत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के उपदेश से युद्ध करने में अपना हित समझ कर सारी लड़ाई की सामग्री सहित सेना को लेकर युद्ध के लिए आया। जिसका वर्णन जरासुत श्लोक से श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—जरासुतस्तावभिसृष्य माधवो महाबलौघेन बलीयसावृणोत् ।

ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे कि जरासन्ध ने समीप जाकर, अपनी बड़ी सेना से रामकृष्ण को उनकी सेना, सारथि सहित रथ, ध्वजा, घोड़ों को इस प्रकार घेर लिया जैसे पवन बादलों से सूर्य को और रेणु से अग्नि को घेर लेता है ॥२१॥

सुबोधिनी—मातुः पुत्रोऽयम् । तस्मापि सा जरा, सवनिव भिरूपान् करोति, कथमेनं त्यक्ष्यतीति । तस्मापि राक्षसी । तेन दुर्बुद्धिरप्ययं

ज्ञापितः । अन्यथा तदुपदेशमेव शृहीत्वा, मरणं निश्चित्य, तेनैव सह किं युद्धं कुर्यात् । तौ कृष्ण-रामावभिसृष्य सर्वत संवेष्टयित्वा महाबलौघेन

आवृणोत् । माधवाविति । मधुवंशोत्पन्नाविति भगवन्ताविति वा, धनं दास्यत इति वा, पित्रोः स्वबलं प्रदर्शनीयमिति वा । जेष्यामोति बुद्ध्या प्रवृत्त इति ज्ञापयितुं साधनाधिक्यमाह बलीयसा महाबलीधेनेति । महत्त्वं स्वरूपेण, तादृशानां बहुत्वमोघः अन्तस्सारं बलम् । एवं गुणत्रयस्य विद्यमानत्वात् आवरणं कृतवान् । भगवत्सहायं सर्वमेव स्वार्थं गृहीतवानित्याह ससंन्येति । सैन्य-

सहितौ, यानसहितौ, तत्र ध्वजवाजिसारथिभिः सहितौ । अनेनैवमुक्तं भवति, केचन सैन्ये लग्नाः, केचन रथे, केचन ध्वजयोः, केचनाश्वेषु, सूतयोरिति । एतयोरसम्भावितमावरणमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह सूर्यान्लाविति । न ह्यावरणं सूर्यं स्पृशति, अग्निं वा, परं पश्यतां चक्षुः प्रतिरोधकमेव । वायुस्थानीयो जरासन्धः, अत्राणि सूर्यावरकाणि, रेणवोग्नेः ॥२१॥,

व्याख्यार्थ—यह मागध माता का पुत्र है, उतमें भी यह माता साधारण माता जैसी नहीं है, किन्तु जरा होने से सब को बदसूरत कर देती है, तो इसको कैसे छोड़ेगी ? केवल जरा नहीं, किन्तु राक्षसी भी है। जिससे वह जो दुर्बुद्धि हुआ है, यह भी बता दिया है। यदि यह नहीं बताया जाता तो उसका उपदेश लेकर, मरने का निश्चय कर उसके साथ युद्ध कैसे करें।

जरासन्ध ने उन दोनों के समीप आ कर अपनी जबर्दस्त सेना से उनको चारों तरफ से घेर लिया। ये दोनों भ्राता मधुवंश में उत्पन्न हुए थे। इसलिए भगवान् अर्थात् षड्गुणसंयुक्त स्वरूप थे। अथवा लक्ष्मी के पति होने से धन देंगे, इसलिए मागध ने घेर लिया। अथवा माता पिता को अपनी शक्ति दिखानी थी, इसलिए घेरे में आ गए। जरासन्ध युद्ध में इसलिए तैयार हुआ कि उसकी बुद्धि में यह विचार था कि मैं जीतूंगा। कारण कि भेरे पास जीतने के लिए साधन बहुत हैं। वे दिखाते हैं ? 'बलीयसा महाबलीधेन' अर्थात् स्वरूप से ही उसका महत्त्व था, ऐसी का बहुत समूह था और उन में भीतर शक्ति भी थी। इस प्रकार वैसे तीन गुणों के विद्यमान होने से ही घेरा डाला था। यों घेरे डालने का कारण यह था, कि भगवान् की सहायता करने वाले सब साधन अपने काम के लिए आधीन हो जाए। अर्थात् सैन्य सहित, यान सहित और ध्वजा घोड़े सारथी सहित ये दोनों मेरे शरण में आजाएँ किन्तु वंसा हुआ नहीं। श्री शुकदेवजी यह दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि जैसे पवन से चलायमान मेघ से सूर्य का आवरण तो हो जाता है परन्तु सूर्य का स्पर्शमात्र भी नहीं कर सकता है और रेणु भी अग्नि को आच्छादित कर देती है किन्तु अग्नि को छू नहीं सकती है। सारांश यह कि मेघ और रेणु केवल देखने वालों की दृष्टि को रोकने वाले होते हैं। इसी प्रकार सैन्य सहित इसका घेरा भी उनके सैन्य स्पर्श भी नहीं कर सका केवल मनुष्यों की दृष्टि में ही यह घेरा देखने में आ रहा था। उनका आवरण करना मागध के लिए असम्भव था। वे तो कोई सैन्य व्यवस्था में लगे थे, कोई रथ की गति में कोई ध्वजाओं की स्थिति में और कोई घोड़ों की तीव्रता-वरोधक में लगे थे ॥२१॥

आभास—अतः स्वरूपे फलस्यायुवत्त्वात् हृष्टी तज्जातमित्याह सुपर्णताल-
ध्वजचिह्न ।

आभासार्थ—अतः जरासन्ध के घेरे का फल भगवत्स्वरूप में होना, अनुचित होने से केवल देखने में ही वह हुआ जिसका वर्णन “सुपर्ण” श्लोक से करते हैं—

श्लोक—सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथावलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।

स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रिताः संसुप्तुः शुचापिताः ॥२२॥

श्लोकार्थ—गरुड़ और तालकी ध्वजा से चिह्नित राम कृष्ण के रथों को युद्ध में न देख कर, पुरी के अट्टालिकाओं, महत्व और नगर के बड़े दरवाजों पर चढ़ी हुई नगर की स्त्रियाँ शोक से दुःखी हो मूर्च्छित हो गईं ॥२२॥

सुबोधिनी—सुपर्णध्वजो भगवद्रथः । ताल-
ध्वजो वनस्थः । सेनामध्ये पतिताविति रेणुभिः
विजातीयध्वजादिभिश्च व्यवधानात् अलक्षयन्तः
अपश्यन्तो जाताः । एको दुःखहर्ता, अपरा रमय-
तीति सुखदाता । उभयोरत्यावश्यकत्वात् तद-
दर्शने व्याकुलता उचितैव । स्त्रियश्च तत्र मुख्य-
तया द्रष्टुं समागता इति युद्धानभिज्ञत्वात् रसा-
न्तरपरिग्रहे स्ववैयर्थ्यं सूचयन्त्यः शोकेनापिता
जाता इत्याह स्त्रिय इति । पुरस्य अट्टालकाः

अत्युच्चा भवन्ति । हर्म्याणि राज्ञां गृहाः । पुर-
द्वार चात्युच्चम् । एतानि समाश्रित्यापि अलक्ष-
यन्त्यः सम्यक् सुप्तुः, मूर्च्छां प्राप्तवत्यः । ततो
जागरणे शुचा चापिताः । कृष्णो हि भगवान्
स्त्रीणामेवार्थं अवतीर्ण इति तद्बाधकत्वेनैव सैन्यं
मारितवान् । न त्वन्यथेति स्वरूपविचारसिद्धयर्थ-
मुक्तम् । अन्यथा सङ्कर्षणकार्यं भगवान् प्रविष्ट
इति भवेत् । तच्चैकादशो न पुनरुक्तम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—गरुड़ की ध्वजा वाला भगवान् का रथ और ताल की ध्वजा वाला राम का रथ ये दोनों रथ सेना के मध्य में आ गए, तथा धूलों से और विजातीय ध्वजादि से रूकावट होने के कारण नगर की नारियाँ उनको देख न सकीं एक रथ जो भगवान् का है वह दुःखहर्ता है और जो दूसरा राम का है वह आनन्द दाता है दोनों के दर्शन अत्यावश्यक है, अतः उनके दर्शन न होने से, स्त्रियों की व्याकुलता होना उचित ही है, वहाँ देखने वाली में मुख्य रूप से स्त्रियाँ ही दर्शक थीं किन्तु स्त्री होने से युद्ध का नमूना नहीं जानती थीं, इसलिए अन्य रस की प्राप्ति होने से अपना यहाँ आना अथवा जन्म व्यर्थ समझ शोक युक्त हो गईं शहर को अट्टालिकाओं बहुत ऊँची होती है, राज महल नगर के बड़े द्वार भी बहुत ऊँचे होते हैं उन पर बैठी हुई भी नगर की नारियाँ न

देख कर बहुत मूच्छित हो गईं जब कुछ द्रोश में आती तो शक्ति से घिर जाती थीं, क्योंकि भगवान् कृष्ण तो स्त्रियों के लिए ही प्रकट हुए हैं उन स्त्रियों की सेना के कारण ही भगवान् के दर्शन न हुए इसलिए सैन्य का नाश किया गया नहीं, कि अन्यथा स्वरूप के विचार की सिद्धि के लिए यों कहा है, यदि यों न कहा जाए तो लोक समझने लगे कि संकर्षण के कार्य में भगवान् प्रविष्ट हुए हैं और वह फिर एकादश में नहीं कहा है ॥२२॥

श्लोक— हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः शिलीमुखात्पुल्वणवर्षपीडितम् ।

स्वसैन्यमालोवय सुरासुराचितं व्यस्फूर्ज्यच्छाङ्गशरासनोत्तमम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—शत्रुओं की सेना रूप बादलों से गिरती हुई बाण रूपी तीखी वृष्टि से पीडित, अपनी सेना को देख भगवान् ने, देव तथा दैत्यों से पूजित अपने शाङ्ग धनुष का टंकार शब्द किया ॥२३॥

भुवोधिनी—अतः स्त्रीणां दुःखनिवृत्त्यर्थं भगवान् सैन्यं निहतवानित्याह हरिरिति । सूर्य-स्थानीयो हि भगवान् । तत्र मेघस्थानीयाः तदीयाः । अतस्तेषां निराकरणमनायासेनैव भविष्यतीति निरूपयितुं तेषां सेनामनुबदति परानीकपयोमुचामिति । शत्रूणामनीकमेव पयो-मुचः मेघाः । तेषां शिलीमुखान्येवोल्बणवर्षः । तेन पीडितं स्वसैन्यम् । अनेन महाशूरा अपि, अहन्धमाना अपि, यथा वृष्टी समागतायां सर्वं एव भीताः पलायन्ते, न हि वृष्टिः काञ्चिन्मारयति, मृगा वा भवन्ति केचन, तथापि महाशूरा अपि गजानमपि परित्यज्य पलायन्ते, तथा अत्र जात-मित्युपहासार्थं निरूपितम् । स्त्रीषु कृपा, तेषु च

हास्यरसमुत्पन्नमिति भावः । अत उभयोरपि हेनचिकीर्षया स्वशाङ्गं गृहीतवानित्याह सुरामु-राचितमिति । सुराणां हिताम्, अमुराणां मोक्षम्, द्वय दास्यतीति ज्ञात्वा शाङ्गं धृतवान्, विशेषेणा-स्फूर्ज्यत् । शाङ्गं ज्यानिनादः सुराणां चित्ते भयनिवतको भवतीति प्रथम सन्धेर्हानवारणार्थ-माशवासनमुक्तवान् । 'दृज्यानिनादश्रवणात् सुराणां चेतांसि निर्मुक्तभयानि सद्यो भवन्ति' इति वाक्यात् । शाङ्गं एव शरासनेषु भगवदीयेषु उक्तम् । अनेनाशनिबाणवर्षमिति तस्य द्वितीयं माहात्म्यमुक्तम् । भगवतः अनेकान्यपि धनुषि सन्तीति बोधितम् । शरासनपदेन देवतारूपत्वं प्रतिषिद्धम् । अन्यथा माहात्म्यमुक्तं न भवेत् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में कहते हैं, कि स्त्रियों को जो न देखने से दुःख हुआ था उसकी निवृत्ति के लिए भगवान् ने शत्रु की सेना को मारा भगवान् का नाम यहाँ हरि दिया है, जिससे दो आशय हैं, एक दुःखहर्ता है इसलिए स्त्रियों के दुःखों को मिटाने के लिए शत्रु सेना का नाश किया और जैसे सूर्य अन्धकार को मिटाता है वैसे ही यहाँ आप शत्रु सेना रूप अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य हैं, सूर्य के ताप से बादल आ जाते हैं वैसे यहाँ शत्रु सेना रूप बादलों ने आकर तीक्ष्ण

बाणों की वृष्टि से भगवान् की सेना को पीड़ित किया, जैसे वर्षा आने पर सब डर कर अपने-अपने घरों को भाग जाते हैं, यद्यपि वर्षा किसी को भी मारती नहीं है, कितनेक मर भी जाते हैं वैसे बाणों की वर्षा से भयभीत हुए बड़े-बड़े शूरवीर घायल न होने पर भी राजा को छोड़ कर भागने लगते हैं, यहाँ भी इस प्रकार होने लगा। यह उपहास के लिए कहा गया है स्त्रियों पर कृपा हुई जिससे उनमें हास्य रस उत्पन्न हुआ। भगवान् ने दोनों के हित के लिए अपना शाङ्ग धनुष ग्रहण किया,—वह धनुष देवता तथा दैत्यों से पूजित है, क्योंकि इस धनुष से देवताओं का भय निवृत्ति रूप हित होता है और दैत्यों को मोक्ष मिलता है भगवान् के अनेक धनुषों में “शाङ्ग” धनुष उत्तम है और जोर से उसकी टंकार की, टंकार इसलिए की, कि उससे देवों के चित्त में विश्वास हो जाए कि अब हमारा भय नष्ट होगा जैसे कि कहा है कि “शाङ्ग” धनुष के टंकार से देवता शीघ्र ही निर्भय हो जाते हैं, यों उत्तमता कहने का आशय यह है, कि इस धनुष से वज्रवृत्त शरों की तेज वर्षा होती है, यह उसका दूसरा माहात्म्य बताया है। इससे यह भी प्रकट कर दिखाया है, कि भगवान् के पाम अनेक धनुष हैं, ‘शरसन’ पद का भाव यह है, कि यह धनुष देवता रूप नहीं है यदि देवता रूप होता तो माहात्म्य नहीं कहते ॥२३॥

श्लोक—गृह्णन्निषङ्गादथ संदधच्छरान्विकृष्य मुञ्चन् शितबाणपूगान् ।
निघ्नन्त्रयाभ्कुञ्जरवाजिपत्नीनिरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—शरों को तरकश से निकाल, धनुष में जोड़ कर, धनुष को खेंच, जो आप तीक्ष्ण बाणों के समूह को फेंकते हैं तो उनसे रथ हाथी घोड़े और पैदल चलती सेना का निरन्तर नाश हो जाता, क्योंकि उस समय धनुष अलातचक्र की भांति कार्य करता हुआ दीखता था ॥२४॥

सुबोधिनी—इदानीं भगवतो युद्धचातुर्यंमाह गृह्णन्निषङ्गादिति । अतितेजस्विनां स्वागमेपि स्वशक्तिस्तिष्ठतीति क्रियाशक्तेर्व्यापकता नित्यत चोक्ता भवति । निषङ्गात् तूणीरात् शरान् गृह्णन्,

अथ तदनन्तरं तस्य योजनाप्रकारेण योजितवान् । ततो विकृष्य मुञ्चन्, ततः चतुरङ्गिणीं सेनां निघ्नन् । जात इति प्रत्येकं वा सम्बन्धः । चतुर्षां भगवत्कृतिः ।

व्याख्यार्थ—अब भगवान् का युद्ध में चातुर्य कैसा है वह वर्णन करते हैं विशेष तेजस्वियों की अपनी शक्ति अपने आगम-साधन-में भी रहती है इससे भगवान् को क्रिया शक्ति की नित्यता और व्यापकता कही है, तरकश से शरों को लेकर बाद में धनुष में जोड़ते थे फिर उससे खेंचकर फेंकते हुए उनसे चतुरङ्गिणी सेना को मारने लगे, इस प्रकार समस्त क्रिया से आपका सम्बन्ध रहा जिससे यह भगवान् की चतुर प्रकार की कृति है ।

कारिका—स्थानात् प्रच्यावनं पूर्वं साधने योजनं तथा ।

फलार्थं विनियोगश्च फलसिद्धिरिति क्रमात् ॥१॥

कारिकार्थ—पहले स्थान से (तरकस से शरों को निकालना) फिर उसी तरह साधन में (धनुष में उन शरों का जोड़ना) लगाना और फल के लिए उनका (शत्रु सेना का नाश कर विजय पाना) विनियोग करना, इस प्रकार करने से फल की मिद्धि की है ॥१॥

सुबोधिनी—मोचनसमयेपि ग्रहणमादत्तं चेत्, तदा क्रिया अपरिच्छन्ना भवति, नान्यथेत्यत आह निरन्तरमिति । अन्तराभावो यथा भवति तथेति । चतुर्णां विशेषणं । तदसंभावितं मन्वा दृष्टान्तमाह यद्ददलातचक्रमिति । अलातचक्रं परिभ्रममाणं सर्वत्र विद्यमानमिव मण्डलाकृति भाति, तदन्तरान्तमुमिति सम्बन्धः ।

यद्यपि भगवतः क्रियाशक्तौ न सन्देहः, तथापि स्वयमपि वक्ष्यति । लोके निरूपणे असंभावना मा भवत्विति दृष्टान्तमभ्याह । निष्कलादित्येकवचनेनाक्षयतूणीरता निरूपिता । अथेति भिन्नोपक्रमेण । अनेन शरेण एतावत् मारयिष्यामीति पूर्वं सङ्कल्पो निरूपितः । तदैव च निघ्नन् जातः, अन्यथा काकतालीयवत् भगवत्प्रवृत्तिरपि स्यात् । ततश्च न पराक्रमः सिद्धोदिति । एतावदथशब्देन निरूपितम् । सन्देघत् सम्यग् धनुषि योजयन् । शरानित्यस्त्रव्यावृत्त्यर्थम् । अन्यथा देवताया एव सामर्थ्यं भवेत् । शरानिति बहुवचनं सकृदपि बहूनां सन्धानं सूचयति । विकृष्य मुञ्चन्ति ।

मानुषक्रियैवात्र व्यापृता भगवता, न त्वलौकिकं किञ्चित्प्रकाशितमिति ज्ञापितम् । शितास्तीक्ष्णाः ते च बाणाश्च तेषां पूगः समूहो येषु । एकस्मिन् बाणे भगवत्क्रिया व्यापृतेति भगवता स मुक्त इति परिच्छेदे निवृत्ते सहस्ररूपः स एव जात इति बाणस्थानन्तत्वे प्रतिपादिते तेन मोचितशराणामपि अनन्तत्वं

फलप्यतीति तथोक्तम् । अन्यथा पुनरुक्तदोषः स्यात् । सन्धितानामेव विमोकस्य सिद्धत्वात् । नितरां घ्नन्ति सकृद् प्रहारेणैव प्राणवियोगः शरीरस्य शतघा खण्डाश्च प्रदक्षिताः । चतुरङ्गसेना सर्वैव मारिता इति ज्ञापयितुं गणनामाह । रथात् कुञ्जरात् वाजिनः पत्तयः पदातयः । पत्तीरिति स्त्रीप्रयोगः । एको वाणः एकां पत्तिमनेकां वा मारयतीति सूचयति । 'एकेभैकरथा अश्वा पत्तिः पञ्चपदातिके'ति । पत्तीनिति वा पाठः । शूराणां प्राणवियोगमात्रे न सामर्थ्यं सिध्यति । मर्मस्थानस्पर्शे अल्पप्रहारेणापि प्राणावियोगसम्भवात् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जिस समय शरों को फेंका जाता है, उस समय शरों को तरकस से लेने का कार्य भी होता था तब उस में अपरिच्छिन्नता रही है, यदि यों न होता तो क्रिया में परिच्छिन्नता होती इसलिए श्लोक में "निरन्तर" पद दिया है, जिस क्रिया में थोड़ा भी अन्तर न हो उसको निरन्तर की हुई क्रिया कहते हैं, इसलिए समस्त क्रियाएँ वर्तमान काल में ही हुई हैं, यों एक ही काल में सब

होना असम्भव है, इस प्रकार किसी के मन में शंका उत्पन्न होती उसको मिटाने के लिए दृष्टान्त देकर समझाते हैं "यद्वदलातचक्रम्" जैसे अलातचक्र जब घूमता है तब चारों तरफ एक ही समय घूमता हुआ दीखता है उसी भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिए। यद्यपि भगवान् की क्रियाशक्ति में किसी प्रकार सन्देह नहीं है, तो भी अपने आप भी कहेंगे, इस प्रकार निरूपण करने में लोक में असम्भावना न होवे इसलिए दृष्टान्त भी कहते हैं श्लोक में "निषङ्गस्" एक वचन दिया है जिस से जाना जाता है कि तरकस एक ही था किन्तु वह अक्षय शरों का निवास था अर्थात् उसमें अक्षय शर थे, "अथ" शब्द देकर यह बताया है, कि अब अलग विषय का प्रारम्भ करते हैं, इस शर से इतनों को मारूँगा इस प्रकार का संकल्प भगवान् पहले ही कर लेते थे बाद में शर फँकते थे, फँकते ही उनका नाश उस काल ही हो जाता, यदि यों न हो तो भगवान् की कृति भी काकतालीय न्याय के समान हो जाती, उससे कोई पराक्रम सिद्ध न होना चाहिए, किन्तु भगवान् की क्रिया की प्रवृत्ति का फल पराक्रम तो प्रत्यक्ष प्रकट है ही, इतना आशय "अथ" शब्द का निरूपण किया है। "सन्दधत्" शब्द का अर्थ है, अच्छे प्रकार से शरों को जोड़ते हुए "शरात्" शब्द कह कर बताया कि अस्त्र नहीं है किन्तु शस्त्र है यदि शस्त्र नहीं अस्त्र हो, तो देवता का ही सामर्थ्य हो जाए "शरात्" बहुवचन देकर यह सिद्ध किया है, कि एक ही काल में बहुत शरों को धनुष में जोड़ देते हैं "विकृष्य मुञ्चन्" इस पद से यह दिखाया है, कि यहाँ भगवान् ने मानुष क्रिया ही ग्रहण की है, कुछ भा अलौकिकता प्रकट नहीं की है, एक एक बाण भगवान् की क्रिया शक्ति से युक्त था, इस लिए वह एक को भी जब भगवान् फँकते थे तब उसका परिच्छेदपन निवृत्त हो कर वह सहस्र रूप हो जाता फिर उनका समूह होता था जिससे वे अनन्त होकर अनन्त शरीरों को मुक्ति कर देते थे, अन्यथा पुनश्चित्त दोष ही जाता, क्योंकि जोड़े हुए शरों को फँकना ही सिद्ध होने से। 'निधनत्' पद का भावार्थ है कि एक प्रहार से ही प्राण निकल जाते और शरीर के सँकड़ों टुकड़े हो जाते, चतुरंग, जितनी भी सेना थी वह सारी नष्ट कर दी गई, यों मालूम करने के लिए उसकी गणना करते हैं। रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सेना। एक बाण एक सेना को अथवा अनेकों को मारता है यह सूचित किया है जैसे कि कहा "एकेभैकेरथा अस्वापतिः पंचपदातिका" अर्थात् एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े और पांच प्यादे, इसकी भी एक प्रकार की सेना कहते हैं, शूरवीरों का सामर्थ्य केवल प्राण वियोग से सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ममस्थान पर अल्पप्रहार से भी प्राण निकल जाते हैं ॥२४॥

आभास—अथो भगवतः क्रियाशक्ति बोधयितुं बाणानां महत्कार्यमाह निर्भिन्न-कुम्भा इति ।

आभासार्थ—अतः भगवान् की क्रियाशक्ति का बोध कराने के लिए "निर्भिन्न-कुम्भाः" श्लोक में बाणों के महात् कार्य का वर्णन करते हैं—

श्लोक—निभिन्कुम्भाः करिणो निपेतुरनीकशोऽशवाः शरबवणकन्धराः ।

रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥२५॥

श्लोकार्थ—फाड़े हुए गण्डस्थल वाले हस्ती, बाणों से कटी हुई गरदन वाले अनेक घोड़े नष्ट हुए हैं घोड़े, ध्वजा, सूत और नायक जिनके वैसे रथ टूटी हुई भुजाएँ छगनी और ग्रीवा जिनकी वैसे प्यादे, ये सब रण के मैदान में गिर गये थे ।

सुबोधिनो—करिणो हस्तिनः नितरां खण्डशो निभिन्नाः । यद्यपि निभिन्नुकुम्भाः करिण एव भवन्ति, तथापि स्वतन्त्रः करो मेधातिथि षष्ठिहायनपरः करि शब्दः । अनीकशः अश्व एकैकेन शरेण वृक्णाः कन्धरामु केशाः सन्तीति तत्र बाणप्रचारो न भविष्यतीति कन्धरपदम् । रथाम्नु, हता अश्वध्वजाः सूता नायकाश्च येषां, तादृशा जाताः । नत्वेकमारणेन शिष्टं दैवान्मृतमिति । रथोऽपि

अवयवशः वृक्णः इति ज्ञातव्यम् अन्यथा निपेतुरिति क्रियासम्बन्धो न स्यात्, अन्यथा जाता इति क्रियान्तरं कल्प्यं प्रसज्येत । पदातयश्च निपेतुः । आघातेनापि पतन्तीति तेषां विशेषणमुच्यते । छिन्नाः भुजाः ऊरवः कन्धराश्च येषाम् । उह स्थूला वा कन्धरा । नाभेरथो बाणप्रहारस्थ निषिद्धत्वात् । अनेन शिरश्लेढः अयदुक्तः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—हस्ती अतिशय टुकड़े-टुकड़े हो गए, हालांकि फाड़े हुए गण्डस्थल वाले 'करि' ही होते हैं, तो भी जिनकी सूँड स्वतन्त्र हो जाती है वे हस्ती साठ वर्ष के होते हैं, यहाँ 'करि' शब्द वैसे हाथियों के लिए दिया है अनेक घोड़े एक-एक शर से नाश को प्राप्त हुए, यहाँ "कन्धरा" पद इस लिए दिया है, कि उसके ऊपर केश होते हैं केशों पर बाण का प्रहार असर न करेगा बाण के प्रहार का असर तो ग्रीवा पर ही होगा अतः "कन्धरा" शब्द उचित ही है, रथ तो सरे हुए घोड़े वाले, नष्ट हुई ध्वजा वाले और सूतनायक भी जिनके मृत हुए हैं वैसे हो गए, यों भी न समझना चाहिए कि एक के मरने से शेष देव से मरा, रथ भी समग्र अवयवों सहित नष्ट हो गया यों जानना चाहिए जो यों नहीं माना जाएगा तो "निपेतुः" क्रिया का सम्बन्ध सब के साथ न हो सकेगा, यदि "निपेतुः" क्रिया का सम्बन्ध न समझा जाएगा तो दूसरी क्रिया "जाताः" की कल्पना करनी पड़ेगी, अतः "निपेतुः" क्रिया सब के साथ सम्बन्ध वाली है यह ही युक्त है इसलिए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि "पदातयश्चनिपेतुः" इस वाक्य में "च" शब्द देकर सर्व के साथ

* साठ वर्ष के हस्तियो के गण्डस्थल ढीले पड़ते हैं जिससे सूँड उनके सटी हुई नहीं रहती है अतः वह सूँड स्वतन्त्र कहीं जा सकती है—अनुवादक

सम्बन्ध बताया है, यदि कोई कहे, कि चोट लगने से भी गिर पड़ते हैं तो इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि चोट से गिरे होते तो उनकी भुजाएँ, छातियाँ, ग्रीवाएँ अलग-अलग छिन्न होकर गिरती नहीं, युद्ध शास्त्र में नाभि से नीचे शरीर में बाण के प्रहार का निषेध है। इससे ऊपर के भाग का टूटना ही कहा है ॥२५॥

आभास—एवं चतुरङ्गसेनामारणमुक्त्वा तस्याधिबन्धुं वक्तुं तेन जाता रुधिर-
वीर्यंग्यति संचिद्यमानेति सार्धाभ्याम् ।

आभाषार्थ—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना को मृत्यु कह कर अब उसकी आघकता दिखाने के लिए उससे उत्पन्न रुधिर की नदी का “संचिद्यमान” श्लोक से लेकर २॥ श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक—संचिद्यमानद्विषपदेभवाजिनामङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ।

भुजाहृषः पूरुषशोर्गकच्छपा हतद्विपद्वीप ह्यग्रहाकुलाः ॥२६॥

करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरंगाद्युधगुल्मसंकुला ।

अच्छुरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाशमशर्कराः ॥२७॥

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ।

श्लोकार्थ—मनुष्य, हस्ती तथा घोड़ों के कष्ट हुए अंगों से सँकड़ों रुधिर की नदियाँ बहने लगी, जिनमें भुजाएँ साँप जैसी दीखती थीं मनुष्यों के सिर कछुओं के समान नजर आते थे, मरे हुए हाथी टापू से और घोड़े मगर से दृष्टि में आते थे हस्त ही बड़ी मछली के समान दीखते थे अथवा हस्त तथा छाती ही मछलियाँ थीं, मनुष्यों के केश ही शेवाल + या धनुष तरंग थे, शस्त्र झाड़ी थी, ढाले भँवर थे और अमूल्य बड़ी-बड़ी मणियों के उत्तम आभूषण पत्थर तथा पँवारे से नजर आते थे युद्ध में बहती हुई इस रुधिर की नदियों को देख डरपोक तो घबराते थे और शूरवीर परस्पर प्रसन्न होते थे ॥ २६, २७, २७॥ ॥

मुद्रांघ्रिनी—चतुरंगेषु त्रय एव रुधिरवन्तः, एकं दाहमयम् । अतस्त्रैन् गणयति । द्विपदाः मनुष्याः, इभाः हस्तितो वाजिनश्च, तेषामङ्गं छिन्नं प्रसूता । शतशः अमृगापगा जाताः । अनेन मृगानां निर्भयत्व सूचितम् । अन्यथा भयेन रुधिरशोष एव स्यात् । विजातीया अपि एकैकप्रकृतिका जाता इत्यपि । अङ्गपद तु तेषां हनने जाते देवकृतां रुधिरवृष्टिं व्यावर्तयति । प्रशब्देन मरणानन्तरमपि संस्कारेणापि भयाभावः सूच्यते । अन्योन्यं प्रवाहमेतानात् पूर्वं नामान्तरमप्यापन्नाः पश्चादनेकानि नामानि प्राप्नुवन्तीति शस्प्रत्ययः । अमृगापगा रुधिररन्ध्रः । ननु नदीत्वं कुतः, नहि प्रवाहमात्रेण नदीत्वं भवति, अन्यथा वर्षाकाले जगदेव नदी स्यादित्याशङ्क्य नदीसमानाकृतित्वसिद्धयर्थं वर्णयति भुजाहय इति । भुजा एवाहयः सर्पा यत्र । पूषषशा;र्षणैव कच्छपा यत्र । एतत्सात्त्विकम् । हता ये द्विपास्त एव द्वे प्रपायाः । द्विगता आपो यत्रेति । तस्मिन् द्वीपे छिन्ना ये हयाः अश्वास्त एव हि प्रहा प्राहाः । तैराकुलाः । द्वंषा एव तामसा नदीत्वख्यापकाः । तथापि तत्र प्रवाहेण गच्छतां हयावयवानामारोहावरोही द्वंषाधिकव्यायमेव निरूपितौ ।

आगन्तुका एवैते नदीधर्माः, न तु सहजा इति । साधारणान् वर्णयति करोरुमीना इति । करा एव उरु अधिका मोना यत्र । करा ऊरवश्च मोना इति वा । मध्यच्छेदे शिष्टो भग्नः ऊरुशब्देन ग्राह्यः । उरुशब्द एव वा । नराणां केशा एव शंवालाणि शंवाला यत्र । धतूंब्येव तरगाः । मोनाः सात्त्विकाः । तरङ्गास्तामसाः इति । त्रयं पूर्वेण वा । नरके शान्तास्तयः । आयुधान्येव तूणीगदीनि गुल्माः, तैः सङ्कुलाः । अत एव धनुस्तरङ्गाश्च ताः आयुधगुल्मसंकुला इति कर्मधारयः । अचक्षुरिकान्येव आवर्ताः । तंभयानकाः । अचक्षुरिकाश्चक्राणि चर्मणि वा । अनेनातिगाम्भीर्यं नद्याः प्रदर्शितम् । महामणिप्रवेका महामण्युत्तमाः, तद्युक्तान्याभरणान्येव शर्करा यासाम् । पुरातननदीस्थाने कदाचित्पतितं रुधिरं जलेन सहितं तथा जातमिति शङ्का व्यावर्तयति प्रवर्तिता इति । नूतनतया प्रवर्तिताः । पूर्वस्माद्दलक्ष्यमाह भोरुभयावहा इति । भोरुणामेव भयावहाः । मनस्विनां तु हर्षकरीः । अन्येषां तु साधारणा यथावद्वर्णिताः । परस्परमिति समयुद्धे । अन्धाययुद्धे तु जयशोलानां प्रायेण हर्षो भवतीति नाशयमेतत् ।

व्याख्यार्थ—सेना के चार अङ्गों में से तीन रुधिर वाले हैं, एक काण्ड का होने से रुधिर शून्य है, अतः यहाँ तीन ही गिने हैं, मनुष्य, हाथ; और घोड़े उन तीनों के कटे हुए अङ्गों से संकड़ों खून को नदियाँ निकली, इससे अर्थात् इतनी खून की नदियों के निकलने से यह बताया कि यह सेना डरपोक नहीं थी, यदि डरपोक होती तो मरे हुए सैन्यों से खून का नदियाँ न निकलती थी भय से खून सूख जाता है, ये, विजातीय होते हुए भी, एक ही प्रकृति वाले हो गए, सेना के टूटे हुवे अङ्गों से खून का नदियाँ बही, इस वाक्य में अङ्ग पद कहने का आशय यह है, कि कोई भी न समझे कि इनके मरने पर देवों न रुधिर का वृष्टि का है, अर्थात् न रुधिर की नदियाँ इनके अङ्गों से ही निकली हैं ॥ प्रसूताः ॥ पद में ॥ प्रा ॥ अक्षर देने का; यह आशय है कि मरने के बाद भी इनके हृदय में संस्कार का भाव नहीं रहा है, ॥ शतशः ॥ पद में शन् ॥ प्रत्यय देने का भाव बताते हैं कि परस्पर प्रवाह के मिलने में पहले दूमरे नाम वाला होने हुए भी; पश्चात् अतः नाम की धारण किया है । ये नदियाँ

जल को नहीं थीं किन्तु रुधिर की थी, शंका होती है कि इस रक्त प्रवाह को नदी कैसे कहा जाता है, केवल प्रवाह से नदी नहीं बनती है, सिद्धि प्रवाह को नदी कहा जाता है तो वर्षा, काल में जगत हो नदी रूप हो जाएगी ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, कि ये नदियाँ सहज नदियाँ नहीं हैं किन्तु नदी समान आकृति वाला प्रवाह होने से नदियाँ कहलाती हैं, जिसको सिद्धि के लिए वर्णन करते हैं, कि नदियों में जो जो दृश्य देखे जाते वे सब इन में भो हैं जैसे कि-भुजाएँ ही सर्प हैं, पुरुषों के मस्तक कछुवे हैं ये सात्विक हैं हस्ति टापू है उसमें मरे हुए घोड़े मगरमच्छ है, उनसे व्याकूल हुए हैं, टापू ही तामस है वे नदीपन को प्रसिद्ध करने हैं, तो भाँ वहाँ के प्रवाह से बढ़कर जाते हुए घोड़ों के अवयवों का जो चढ़ना और उतरना अर्थात् नोचे ऊपर होना टापुओं की अधिकता दिखाने के लिए ही वर्णन किया है, अतः ये नदी के जो धर्म हैं वे आगन्तुक हैं सहज नदियाँ हैं, नदी पे साधारण धर्मों का वर्णन करते हैं-हस्त जिनमें बड़े मत्स्य हैं, अथवा हस्त तथा छातियाँ ही बड़े मत्स्य हैं, बीच के भाग को काटने पर जो शेष भाग रहता है उसको ॥उच्छ॥ जानना, मनुष्य के केश सँवार है, मनुष्य ही तरंग हैं, मछलियाँ सात्विक हैं तरंग तामस हैं, अथवा उर के साथ जो तीन है उनको लेना चाहिए, नरक में तीन ही शान्त हैं, भाथे आदि आयुध ही मकड़ी है, उनसे विरो हुई है, इस लिए ही ॥धनुस्तरंगायुधगुलमसंकुला॥ पद का इस प्रकार कर्मधारय समास किया है, ॥धनुस्तरंगश्चताः आयुधगुलमसंकुला॥ ठालें ही भँवर है उनसे ये नदियाँ भयानक दिखती है और इससे नदी को अतिशय गम्भीरता भी दिखाई है, उत्तम मणियों से युक्त आभूषण ही जिन नदियों में पत्थर वा पवारे हैं यदि कोई कहे कि यह रुधिर की नदी बँसी तब हुई है जब वह रुधिर प्राचीन नदी में गिरा है उस नदी के जल से मिलने पर इनना ज्यादा हो गया है जो नदी सा प्रतीत होता है अन्यथा नहीं होता, इस शंका के मिटाने के लिए श्लोक में ॥प्रवर्तिता॥ पद दिया है जिसका भावार्थ है कि यह रुधिर की नदी नवीन प्रवृत्त हुई है अर्थात् पहले की नदी के जल से मिलकर प्रवृत्त नहीं हुई है, अगली प्राचीन से इस नदी की विलक्षणता बताते हैं, कि डरपीकों को डराने वाली है वह पुरानी जल की नदी डराती नहीं है, वीरों में तो हर्ष पैदा करती है दूसरों के लिए तो साधारण है, जैसी वर्णन की है बँसी ही देखते हैं उनको न भय होता है और न प्रसन्नता होती है ॥परस्परम्॥ का तात्पर्य है कि समान युद्ध में जय होने पर आपस में योद्धे प्रसन्न होते ही हैं किन्तु अन्याय की लड़ाई में तो जीतने वालों को बहुत करके प्रसन्नता होती है इस में कोई आश्चर्य नहीं है ॥ २६, २७, २७ ॥

आभाष— एवं भगवत्कृतं सपर्यवसानं युद्धमुक्त्वा बलभद्रकृतमाह विनिघ्नतारो-
निति ।

आभासाथ— इस प्रकार भगवान् के किए हुए युद्ध का सम्पूर्ण वर्णन कर अब
“विनिघ्नतारो” श्लोक से बलभद्र कृत कहते हैं ।

श्लोक— विनिघ्नतारोन्मुसलेन दुर्मदान्संकर्षणेनापरिभेयतेजसा ॥२८॥

श्लोकार्थ—अमित तेज वाले बलभद्रजो ने दुर्मदवाले वंरियों को मूसल से मार कर रुधिर की नदियाँ बहा दी ॥२८॥

<p>मुवाधिनी - अरयः कथञ्चित् हन्तव्याः । भगवन्स्वरयो न सन्तीति बलभद्रे तदुक्तम् । हलेनाकृष्य मुसलेन विनिघ्नता सङ्कर्षणेन सह । भगवान् गृह्णात् निषङ्गदित्यादि जात इति पूर्व- णवान् यः । अथवा । अरोन् विनिघ्नता सङ्कर्षणेन कृत्वा नद्यः प्रवतिता इति । हनने हेतुः दुर्मदा-</p>	<p>निति । दुष्टो मदो येषां उद्भृत्तिकरणरूपः । सङ्क- र्षणपदेनैव तेषामाकर्षणं निरूपितम् । सामर्थ्यं हेतुमाह । अपरिमेयं तेजो यस्येति । अन्तर्बल- मस्त्येव, बहिस्तेजोपि । कस्याप्येतावदिति मानु- मशक्यम् ॥२८॥</p>
--	---

व्याख्यार्थ शत्रुओं को कैसे ही मारना चाहिए, भगवान् के तो कोई शत्रु है ही नहीं इसलिए यह कार्य बलभद्र ने किया, बलभद्र संकर्षण है इसलिए उनमें खंचने को शक्ति है जिससे उसने शत्रुओं को मूसल से खंच लड़ाई में मारने के लिए खड़ा किया उस (संकर्षण) के साथ भगवान् भा तरकश से शत्रुओं को निकाल अपना कार्य करते थे, अथवा शत्रुओं को नाश करते हुए संकर्षण ने इन रुधिर की नदियों को बहने में प्रवृत्त किया, शत्रुओं के मरने का कारण यह था, कि वे दुष्ट मद वाले हो गये थे, जिससे वे उलटे कार्य कर पृथ्वी के भार भूत हो गए थे, बलरामजो को सामर्थ्य में कारण कहते हैं, कि असौम तेज वाले हैं भीतर तो बन है ही किन्तु बाहर भी तेज प्रकट कर दिखाया है, किसी का भी इतना बल व तेज नहीं है इसलिए भी नापा नहीं जाता है ॥२८॥

आभास—एवमुक्तं युद्धमुपसंहरति बलमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कही हुई युद्ध को समाप्ति करते हैं, जिसका वर्णन "बलं तदंगार्णवं" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बलं तदङ्गार्णवं वदुर्गभरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ।
 क्षयं प्रगीतं वसुदेवपुत्रयोर्विक्रीडितं तज्जगदौशयोः परम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अश्व आदि अंग रूप अर्णवों से दुर्ग में तथा भयानक जरासन्ध से पालित, अपार अन्तवाली सेना को वसुदेव के पुत्र ने क्षण में नाश किया वह कार्य उनकी विशेष क्रोड़ा ही है, क्योंकि वे जगत् के ईश हैं ।

मुवाधिनी—शीघ्रमुपसंहारे ततोऽपि महत्त्वं दुर्ग भरवं भयानकं च । अनेन स्वरूपतो माहा-
 भवतीति बलमिति । अङ्गै रश्वादिभिः अर्णवरूपैः । त्थमुक्तं वनस्य । दुरन्ताः पाला यस्येति बलस्य

रक्षकाः । सङ्गे समागताः राजानः दुरन्ताः ।
न हि तेषामन्तं कश्चित्कुर्वन् शक्तः । ततोऽपि
माहात्म्यमाह मगधेन्द्रपालितमिति । जरासन्धेन
पालितम् । इन्द्रपदेन सर्वतो बलस्य समृद्धता
द्योतिता । एतादृशमपि क्षणमध्ये क्षयं प्रणीतम् ।
एतदपि वसुदेवपुत्रयोः क्रीडितम् । यद्यपि वसुदेव-
पुत्रत्वेन नाट्यं कृतम् । तथा सति पुत्रत्वनि-
र्वाहाय प्रयासोऽपि बाललीलायामिव प्रकाश-

नीयः । तथापि न प्रकाशितम्, किन्तु क्रीडयैव
सर्वं मारितमिति । एव करणे वेतुमाह जगदीश-
योरिति । सर्वजगत एव ईश्वरयोः । नहीश्वरः
सदैकरूपो भवति । कदाचिदभिनय करोतीति
सर्वदा अभिनयमेव करिष्यति । परमित्यनेन
विशेषक्रीडायामप्यनादरः, ततोऽप्यल्पमिति सूच-
नार्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में दिखलाते हैं कि शीघ्र ही युद्ध की समाप्ति कर दिखाई, जिससे भगवान् का आगे से भी विशेष महत्व प्रकट हुआ है, सेना का स्वरूप से माहात्म्य बताते हैं, कि वह बल अश्व आदि अंगों से समुद्र रूप बन गया है जिससे जाने में कठिन और भयानक है मगध के संग में आए हुए राजा ऐसे हैं जिनका कोई अन्त पा नहीं सकता है उनसे यह सेना रक्षित है उससे भी विशेष सेना का माहात्म्य इससे है, जो जरासन्ध से पाली हुई है जरासन्ध को मगध देश का इन्द्र कह कर यह प्रकट किया है, कि सेना सर्व प्रकार से समृद्ध है वसी सेना को क्षण में नष्ट कर दिया, नष्ट करने में वसुदेव के पुत्र को कोई परिश्रम न हुआ, क्योंकि यह तो उनके लिए बाल क्रीड़ा ही थी, जो वसुदेव के पुत्रपन से यह खेल ही किया है, तो भी पुत्रत्व के निर्वाह के लिए, बाल लीला की भाँति प्रयत्न भी प्रकट करना योग्य है तो भी प्रकट नहीं किया, किन्तु सर्व को क्रीड़ा से ही माया है यों करने का कारण बताते हैं, कि सारे जगत् के ईश्वर हैं, ईश्वर सदा एक रूप नहीं होते हैं, कभी खेल भी करते हैं इस प्रकार सदा हम खेल ही करेंगे । “परं” पद से यह बताया है कि विशेष क्रीड़ा में भी आदर नहीं है, इस कारण से भी थोड़े समय में सर्व क्रीड़ा कर विशेष क्रीड़ा में भी अनादर सूचित किया है ॥२६॥

आभास—ननु किमित्येषा कथा वर्णिता विशेषाकारेण, सामान्यत एवैतद्वक्तव्यम्, जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधं कृतवानिति, अल्पे हि पौरुषत्वेन युद्धं वर्णनीयम्, न तु भगवतीति चेत्, सत्यम्, इत्याह स्थित्युद्भवान्तमिति ।

आभार्थ—यह युद्ध का वर्णन विशेष रूप से क्यों किया ? साधारण रीति से ही करना चाहिए था, जैसा कि जरासन्ध की लाई हुई सेना को बहुत प्रकार से बध किया इस प्रकार थोड़े में ही पुरुषार्थ न दिखा कर युद्ध का वर्णन करना चाहिए, न कि भगवद् रूप में इतना विस्तार करना था, यदि यों कहते हो तो, सत्य है, इस प्रकार की शंका का समाधान “स्थित्युद्भवान्त” श्लोक में करते हैं ।

पलोक—स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।

न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥

श्लोकार्थ—जो अनन्त गुण वाले भगवान् हैं वह लीला से ही त्रिलोकी को उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं उन्होंने शत्रु पक्ष को दण्ड दिया इससे कुछ भी आश्चर्य नहीं है, तो भी मनुष्यावतार धारण करने के कारण यह कथा विस्तार से वर्णन की गई है ॥३०॥

सुबोधिनी—यस्त्वनन्तः सर्वतः परिच्छेदरहितः, स्वस्वविचारे क्रियमाणे । गुणविचारे त्वाह अनन्तगुण इति । अनन्ताः कोटिब्रह्माण्डेषु यावन्तः पदार्थाः तावद्गुणो भगवान् । ततोप्यधिक इति मुख्यः सिद्धान्तः । काश्चिद्गुणाः प्रकटीकरोति । क्रियाविचारे त्वाह । भुवनत्रयस्य स्थित्युद्भवप्रलय स्वस्य लीलाःमात्रेण समीहत इति । तत्र कियदिदं बलम् । अतः तस्यैतन्न चित्रम् । तथापि तस्य परपक्षनिग्रहो वर्ण्यते

भक्तिस्थापनार्थम् । नन्वीश्वरे परपक्षनिग्रहव्यतिरेकेणापि महत्त्वादेव भक्तिर्भविष्यति, किं निग्रहवर्णनेनेत्याशङ्क्याह मर्त्यानुविधस्येति । भगवान् मर्त्यानुविधानं करोति । तथा सति कदाचिद्भक्तपक्षपात न कुर्यात्, अन्यधर्माभिनवेशादिति । तत्रापि चेत् भक्तपक्षपात कुर्यात्, तदा निःसन्दिग्धं भक्तिमार्गः प्रवर्तेति । अत एव वर्ण्यते विशेषाकारेणेति ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—रूप के विचार करने से ज्ञात होता है, कि भगवान् चारों ओर परिच्छेद रहित होने से अनन्त हैं, तथा उनके गुणों का विचार करने से भी मात्स्य होता है कि उनके गुण भी अनन्त हैं कोटि ब्रह्माण्डों में जितने पदार्थ हैं उतने गुणों वाले भगवान् हे किन्तु उनसे भी अधिक असौम्य गुण भगवान् के हैं यह ही मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त है भगवान्, कुछ गुणों को प्रकट करते हैं, भगवान् की क्रिया शक्ति का विचार करते हुए जाना जाता है कि वह अपनी लीला मात्र से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं, जो इतना कार्य लीला मात्र से कर सकते हैं, उनके लिए यह सेना कितनी है ? अर्थात् कुछ नहीं है, अतः भगवान् इस सेना का निग्रह करें, यह अचम्भे की बात नहीं है, तो भी उनमें जो शत्रु पक्ष का नाश किया है, इसका इतना विशेष वर्णन भक्ति की स्थापना करने के लिए किया गया है इस पर वादी कहता है कि शत्रु पक्ष का नाश करने के सिवाय भी महत्त्व होने से ईश्वर में स्वतः भक्ति होगी ही, तो सेना के मारने के वर्णन करने को क्या आवश्यकता है ? जिस का उत्तर देते हैं कि भगवान् ने अवगमनुष्य नाट्य किया है अतः मनुष्य को भाँति ही सर्व लीला कर दिखानी है यों करने से कभी भक्त का पक्षपात नहीं करना चाहिए, क्योंकि यों करने से अन्य धर्म का अभिनवेश होगा, वहाँ भी यदि पक्षपात करें, तब निश्चय भक्ति मार्ग प्रवृत्त होगा ही अतः विशेष रूप से वर्णन किया है ॥३०॥

आभास—एवं दूषणं परिहृत्य जरासन्धेन बलभद्रं प्रति यदुक्तं तद्बलभद्रः कृतवानित्याह जग्राह विरथमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विशेष वर्णन करने में जो दूषण दिए उनको मिटाकर अब जरासन्ध ने जो बलभद्र को कहा, बलभद्रजी ने उसके कहने से जो कुछ किया, उसका वर्णन “जग्राह विरथं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् ।

हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥

श्लोकार्थ—सेना नष्ट हो जाने से जिसके केवल प्राण ही बचे हैं ऐसे महाबली रथहीन, व्याद्रे बने हुए, जरासन्ध को, जैसे सिंह अपने पराक्रम से दूसरे सिंह को पकड़ता है वैसे ही बलरामजी ने उसे हाथों से ही पकड़ लिया ॥ ३१ ॥

मुवोधिनी—तस्य रथोऽपि छिन्नः । केवलं च वलं तस्य निरूपितम् । तर्हि देवगत्या गृहीत पदारिखण्डः । यद्यपि शरीरेणापि महाबलः, इति चेत्, तत्राह ओजसेति । तर्हि पाशादिभिर्भृत् तथापि तं जग्राह । विरथो हन्तव्यो न भवतीति हंतो भविष्यतीति चेत्, तत्राह सिंहः सिंहमिवेति । वद्धा गृहे नेय इति बन्धनार्थं गृहीतवान् । यतोऽयं हस्ताभ्यामेव निगृह्य स गृहोतः, न तु हलादिना रामः सर्वेषां रमणार्थं प्रवृत्तः । सः हन्तुमप्यशक्य आकृष्टः । तस्य मोचकाभावमाह । हतमनीकं इति तस्य नामाह । महाबलमिति च देवं मानुषं यस्य, अवशिष्टा असवो यस्येति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—उस (जरासन्ध) का रथ भी टूट गया था अतः पैदल चल रहा था यद्यपि शरीर से महाबलवान् था, तो भी उसको बलरामजी ने पकड़ लिया पकड़ा क्यों ? मारा क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि युद्ध शास्त्र की रीति के अनुसार जिसका रथ नष्ट हो गया हो उसको मारना नहीं चाहिए इस लिए मारा नहीं और बान्ध कर घर ले आना था, इस लिए पकड़ा था क्योंकि वह राम होने से सर्व को रमण कराने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, उसको मारना भी कठिन था, कारण कि वह महाबलवान् था अर्थात् उस में दो बल थे (१) देव बल और दूसरा मानुष बल, तब तो बलरामजी ने भी उसे देव गति से पकड़ा होगा ? यदि यों कहें तो, उत्तर में कहते हैं, कि नहीं, उन्होंने अपने बल से ही पकड़ा है तो बरुणादि पाशों के द्वारा पकड़ा होगा ? इस के उत्तर में भी कहते हैं कि नहीं, जैसे सिंह सिंह को पकड़ता है वैसे हाथों से ही पकड़ लिया, हलादि से भी खींचकर नहीं पकड़ा, क्या उसको किसी ने छुड़ाया भी नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उसको छुड़ाने वाला कोई वचा ही नहीं था सारी सेना नष्ट हो गई थी, केवल इसके ही प्राण बचे थे अर्थात् यह एक ही वचा था ॥३१॥

आभास—ग्रहणानन्तरं परोपकारार्थमागतो न बन्धनीय इति बध्यमानं भगवान् निवारयामासेति आह बध्यमानमिति ।

आभासाथ - पकड़े जाने के अनन्तर भगवान् ने बान्धने वाले बलराम को कहा कि इस को मत बान्धो क्योंकि परोपकार के लिए आए हुए को बान्धना नहीं चाहिए इस का वर्णन "बध्यमानं" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बध्यमानं हताराति पार्श्वारुणमानुषः ।

वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यच्चिकीर्षया ॥ ३२ ।

श्लोकार्थ - शत्रुओं का नाश करने वाले जरासन्ध को बहण और मनुष्यों के पार्श्वों से जब बलरामजी बान्धने लगे तब श्रीकृष्ण भगवान् ने निषेध किया, कारण कि उसके द्वारा अन्य कार्य भी कराने को भगवान् की इच्छा थी ॥ ३२ ॥

मुवोधिनी—महतां बन्धनमनुचितमिति तं विजिनष्टि हतारातिमिति । हता अरातयो येन । अनेन जनुभूयस्त्वान् तेषां च दुष्टत्वात् तत्पुत्र भविष्यतीत्यपि मोक्षने तदभावो हेतुरुक्तः । केवल-बन्धनानि तत्र न समर्थानिति पार्श्वबद्धः । ते आकृष्टाः निग्रहेहेतवो भवन्ति । तत्रापि वारुण्यमा-नुषैश्च । जरादीनां मोक्षनाभावाय वारुणाः पाशाः, मनुष्याणामर्थं मानुषाः । एतादृशमपि स्वार्थं न ज्ञातं परमशत्रुं वारयामास, बन्धनं न कर्तव्य-

मिति । ननु कथमेव भूभारहृतां तं मोचयतीति चेत्, तत्राह गोविन्द इति । सिंहात्रलोकनन्यायेन पूर्वस्त्रीणां स्मृतवान् । अतस्तेनापि काचित्स्त्रीला सेस्थतीति तं मोचितवान् । ननु कामिति दुष्टो मुच्यते, तत्राह तेन कार्यच्चिकीर्षयेति । निरोधो हि कर्तव्यः, एतदभावे सर्वे भगवत्परा राजसाः सात्त्विकाश्च न भविष्यन्तीति तदर्थमयं रक्षितः । अक्लिष्टकर्मत्वाय च ॥ ३२ ।

व्याख्यार्थ—महान् पुरुष को बान्धना अयोग्य है उसको महता सिद्ध करने के लिए उसका बन्धन करते हैं, इसने बहुत जनुओं को मारा है इसके जनु बहुत हैं और वे दुष्ट हैं यदि इसको आप बान्धोगे तो वे दुष्ट सुखी होंगे, अतः दुष्ट प्रमन्न न हों उनलिए इसको छोड़ दो जिससे वे दुष्ट सुखी न हों यह महाबली है इसको बान्धने के लिए केवल रज्जु आदि बन्धन समर्थ नहीं हैं किन्तु पार्श्वों से बान्धना चाहिए, उनको आकर्षण करने से वे निग्रह के कारण बन्ध जावेंगे वे पाश भी वारुण तथा मानुष्य होने चाहिए । जरादिकों के बन्धन में पड़े रहने के लिए वारुण पाश चाहिए और मनुष्यों के लिए मानुष्य पाश चाहिए ? ऐसे भी अपने हाथों में आए हुए परम जनु को बन्धन से छुड़ाने के लिए बलरामजी को कहने लगे कि इसका बन्धन नहीं करना चाहिए । भूमि से भार उतारने वाले भगवान् यों उसको कैसे छुड़ाते हैं ? इसके समाधान के लिए कहते हैं कि वे "गोविन्द" हैं, अतः "सिंहात्रलोका-

कन" माया से आगे करने वाली लीला को याद करने लगे, जिससे यह विचार उत्पन्न हुआ, कि यह होगा तो आगे कनो लीला 'द्वारिका लीला' सिद्ध हो सकेंगी, इसलिए उसको छुड़ाया, अरे यह दुष्ट है, ऐसे ही क्यों छुड़ाते है, वहाँ कहते है कि उसके द्वारा आगे भी कार्य करने की इच्छा है, और निरोध भी करना है इसके न होने से, सब सात्विक राजस भगवत्परायण न होंगे इस कार्य को सिद्ध करने के लिए इसको रक्षा की है और आप 'अक्लिष्टकर्मा' हैं, उसके सार्थक होने के लिए भी ॥ ३२ ॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह स मुक्त इति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह "स मुक्तो" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः ।

तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभिः ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—बड़े ही शूरवीर जरासन्ध को जब त्रैलोक्यनाथों ने मुक्त किया तब वह लज्जा के कारण घर जाने का विचार छोड़ तपस्या का संकल्प कर, उसको करने के लिए जब जाने लगा, तब मार्ग में राजाओं ने उसे लौटाया । ३३ ।

<p>सुवोधिनी—अन्ये यादवा पुनर्वन्धन करिष्यन्तीत्याशङ्कघाह लोकनाथाभ्यामिति । त्रैलोक्यनाथाभ्यां मुक्तं को वा बद्धुं शक्तः । द्विवचनं विभक्तसामर्थ्यं सर्वमेव मोचने नियुक्तमिति सूचितम् । ननु तादृशः त्यक्तोपि भ्रियेतेति कथं कर्मसिद्धिरिति चेत् ? सत्यम् । व्रीडितः । अतः हेतुः वीरसंमत इति । वीरेषु अयमतिवीर इति</p>	<p>समतः । ततः मानुषपराक्रमस्य हतत्वात् अलौकिकं पराक्रमं साधयितुं तपसे कृतसङ्कल्पो जातः । ततस्तपःकरणार्थं गच्छत् पथि राजभिर्वारितः, ये राजानो भारभूताः । अनेन भगवच्चरित्रमलौकिकमित्युक्तम् । येषामुपकारं करोति तस्यैव, येषां त्वपकारं करिष्यति तं गृह्णाति इति ॥ ३३ ॥</p>
--	--

व्याख्यार्थ—दूसरे यादव फिर बन्ध लेंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए ही "लोकनाथाभ्यां" पद दिया। अर्थात् जो कार्य त्रैलोक्यनाथों ने किया है उसको कौन अन्यथा कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि जिसको इन्होंने छोड़ दिया उसको बन्धन में कंई नहीं डाल सकता है । द्विवचन से पृथक् करने अर्थात् मुक्त करने की सब सामर्थ्य मुक्त करने में लगा दी है यह सूचित किया है जिससे अन्य कंई भी बन्धन में नहीं डाल सकता है, यदि वैसा छोड़ा हुआ भी मर जावे तो, कर्मों की सिद्धि कैसे होगी ? यदि यों कहो तो सत्य है, क्योंकि लज्जित हुए गण हैं, लज्जित क्यों हुआ ? इसलिए, कि वीरों में मान पाया हुआ है अर्थात् बड़ा शूरवीर है अतः हार जाने से लज्जित हुआ है । तो क्या

किया ? इस पर कहते हैं कि उसने सोचा कि मेरा मानुष पराक्रम नष्ट हो गया है, अब अलौकिक पराक्रम सिद्ध करना चाहिए. अतः उसकी सिद्धि के लिए सकल्प कर, तपस्या के लिए जाने लगा तो मार्ग में राजाओं ने समझा कर लौटाया। कौन से राजा थे ? तो कहते हैं जो दुष्ट राजा लोग भूमि पर भार रूप ये इसने जाना जा सकता है. कि भगवान् के चरित्र अलौकिक है, जिनका उपकार करना है उन्होंने तो छोड़ दिया, जिनको बुराई करेगा उन्होंने उसका स्वीकार किया ॥३॥

आभा—तेषां बोधेने करणान्याह वाक्यैरिति ।

आभासार्थ — उनको समझाने के साधन “वाक्यैः” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि ।

स्वकर्मबन्धनः प्राप्तो यदुभित्ते पराभवः ॥३४॥

श्लोकार्थ—मार्ग में जाते हुए राजाओं ने धर्म तथा नीति के वचनों से समझाया कि आपकी जो यादवों से हार हुई है वह केवल कर्म बन्धन से हुई है, इसमें लाज करने का कोई कारण नहीं है ॥३४॥

सुवोधिनी—त्रिविधा हि बोधकाः । तत्र सात्त्विकानां वचनं पवित्रार्थपदैरिति पवित्रार्थानि पदानि येषु वाक्येषु । वाक्यैरिति त्रिष्वपि सम्बन्धते । नयनैः प्राकृतैरपि । भगवानीश्वरः सर्वात्मा, तत्र पराजयो भाग्यमेवेति पवित्रार्थपदानि । नीतिवाक्यानि तु स्वदेशे न भवति, विचारश्च न कृतः । अकस्माच्छुद्धे पलायनमुचितमेवेति राजसाः । अतो नीतिविरुद्धं न कर्तव्यमित्युपदेशपरैः । प्राकृतास्तु बहूनामेव महतामपि पराजयो जायत इति प्राकृतवचनैः बोधमुक्तवन्तः । एते

त्रिविधा अपि दृष्टन्यायेनैवोक्तवन्तो, नादृष्टन्यायेन । अन्ये पुनरन्तरङ्गाः अदृष्टप्रकारेण बोधयामासुरित्याह स्वकर्मबन्धन इति । त्वया हि बहवो जिताः, तत्कर्मफलं च भोक्तव्यम्, अन्यथा प्रकारान्तरेण दुष्टैः सह पराजयो भवेत्, यतः स्वकर्मणा बन्धनं यस्य तादृशः पराभवः । अपिशब्दात् सर्वे चतुर्धा व्यस्तैः समस्तैश्च बोधयामासुरित्यर्थः । यदुभिः सह पराभव इति । युक्तमेवैतत् । यतो ज्येष्ठो यदुरित्यपि जापितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—जान देने वाले तीन प्रकार के हैं उनमें पहले सात्त्विकों के वचन ये हैं “पवित्रार्थ पदैः” पवित्र अर्थ वाले पर जिनमें हो ऐसे वाक्यों से समझाने लगे सात्त्विकों ने वाक्यों में कहा कि राम कृष्ण मनुष्य नहीं है किन्तु ईश्वर तथा सर्वात्मा है, उन से पराजय होना कोई आश्चर्य नहीं है, समझलो कि भाग्य में यों ही होना था ।

जब दूसरे राजस "नयतेः वाक्येः" से नीतिवाक्यों से समझाने लगे जहाँ लड़ाई की, वह अपना देश नहीं था और पूर्ण विचार भी नहीं, अचानक युद्ध कर लिया, अतः ऐसे युद्ध में पलायन करना उचित नहीं है इसमें लज्जा किस कारण की है लज्जा करनी नहीं चाहिए अतः कोई कार्य नीति विरुद्ध नहीं करना चाहिए ।

प्राकृत समझाने लगे कि पराजय में क्या है ? बड़े-बड़े राजा लोगों की तथा महान् शूरवीरों की भी पराजय हो ही जाती है इसमें लाज करनी वृथा है. इन तीन प्रकार वालों ने जो कुछ कहा वह दृष्ट न्याय से ही अर्थात् देख कर जो अनुभव किया तदनुसार ही उपदेश दिया है ।

दूसरे जो अन्तरंग है वे अदृष्ट न्याय से समझाने लगे "स्वकर्म बन्धन." यह सर्व अपने कर्म का ही फल है आपने भी बहुत राजाओं को जीता है उसका फल भोगना ही चाहिए अन्यथा दूसरे प्रकार से दुष्टों के साथ पराजय तो होवे ही, क्योंकि अपने कर्म का फल ही पराभव मिला है श्लोक में "अपि" शब्द कहा है जिसका भावार्थ है कि सबने पृथक् एवं मिलकर चार प्रकार से जरासन्ध राजा को समझाया कि यादवों से पराजय होना योग्य ही है कारण कि यदुराजा बड़ा है बड़े के बश से पराजय होनी ही चाहिए और उसमें लाज नहीं करनी चाहिए ॥३४॥

श्लोक—हतेषु सर्वानीषेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा ।

उपेक्षितो भगवता मागधान्दुर्मना ययौ ॥३५॥

श्लोकार्थ—सब सेना के मरने के अनन्तर जब भगवान् ने उपेक्षा कर दी तब जरासन्ध उदास हो मगध देश गया ॥३५॥

सुबोधिनी—ततो यज्जातं तदाह । हतेषु नृपः देवामानुषसहायः सूचितः । तदा बोधना-
सर्वानीकेष्वपि, तथापि सर्वैः पुरस्कृत इति राज- नन्तरं दृष्टसामग्र्यां च सत्यां पश्चादगत इत्याह
चिह्नानि प्राप्य स्वदेशान् गतः जरासन्धः । यतो तदेति ।

व्याख्यार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह कहते हैं सर्व सेना के मर जाने पर भी सब राजाओं ने उसका आदर किया जिससे राज चिन्ह धारण कर अपने देश का जरासन्ध गया क्योंकि राजा था इससे देव और मनुष्यों ने सहायता को यह सूचित होता है । राजाओं द्वारा समझाने से देखा कि अब भी लड़ने के लिए सामग्री है यों समझने के बाद देश को गया ।

कारिका—निकटे सम्भृतिं कृत्वा प्रयत्नभवचनेः सह ।

गच्छन् पुनर्भगवता निगृह्यतो भविष्यति ॥

कारिकार्थ—थोड़े ही समय में सेना का भरण पोषण कर सेना तैयार करली सेना को लेकर गर्व के वचन कहते हुए तथा युद्ध के लिए मथुरापुरी जाते हुए फिर भगवान् पकड़ लेंगे ।

<p>सुवोचिनी—इत्याहशङ्क्याह उपेक्षितो भगव- लेति । भगवतः स्थाने यद्यप्युक्तम्, यद्यपि भग- वत्त्वाच्च जानाति, तथापि तानि बन्धनान्यना- द्व्योपेक्षामेव कृतवान् । भगवत्त्वादप्रिनकार्यमेव</p>	<p>विचारयति, न तु नीतिविरोधम् । उपेक्षया सुतरां दुर्मना जातः । तत्रे अवगतेऽपि मागध- त्वान्न शरणमागतः । नापि तूष्णीं स्थास्यति । मागधत्वादेव मागधान् ययौ ॥३५॥</p>
--	--

व्याख्यार्थ—जरासन्ध ने यद्यपि अभिमान के ऐसे शब्द भगवान् की सीमा में ही कहे, भगवान् होने से वे यों ही समझते हैं, तो भी भगवान् ने उन वचनों का आदर न कर उसकी उपेक्षा की, कारण कि भगवान् होने से आगे हमें क्या करना है उसका ही विचार करते हैं । अतः उपेक्षा की, यों करना नीति के विरुद्ध भी नहीं है, भगवान् ने उपेक्षा की, अतः अतिशय उदास होने लगा, यद्यपि इसका आशय समझा, तो भी शरण न आया, कारण कि मागध देश में उत्पन्न होने से उसकी वंशी नीच बुद्धि हो गई थी और नाच बुद्धि वाला होने से चुप करके भी न बैठेगा मागध होने से मागध देश को ही गया ॥३५॥

आभास—तस्य स्वगृहप्राप्तिमुक्त्वा भगवतोऽपि परमवैभवेन मथुराप्रवेशमाह मुकुन्दोऽपीति पञ्चभिः ।

आभासार्थ—उसका अपने घर जाने का वर्णन कर भगवान् ने भी परम वैभव से मथुरा में प्रवेश किया, जिसका वर्णन पाँच श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः ।

विकीर्यमाणः कुसुमेस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥३६॥

श्लोकार्थ—मुक्ति देने वाले भगवान् ने भी शत्रुओं की सेना रूप बड़े समूह को पार कर अपनी अक्षत सेना को साथ में लेकर, देवताओं ने फूलों की वर्षा की थी जिससे मार्ग फूलों से छाया हुआ था तथा देवता अनुमोदन कर रहे थे उस समय, मथुरा में प्रवेश किया ॥३६॥

सुवोधिनी—न क्षत बल यस्य । एकोपि न हतः । यद्यपि मोक्षदाता तानपि मारयित्वा मुक्ति दद्यात्, जरासन्धं वा मोचयेत् । न हि भगवान् जयहेतुः, किन्तु मोक्षहेतुः । लोनाः केचन पुनरायास्पन्तीति शङ्काभावात्थमाह । निरस्तीर्णं नितरासुतोर्णः अखिलरूप एवार्णवो येन । अर्णवो

हि नान्यत्र समायाति । महत्त्वेन पौरुषं पुनरागमनाभावश्च निरूपितः । ततः कुमुदः त्रिकीर्यमाणः, त्रिदशैरनुमोदितो जातः । अन्यथा अनन्तवधे तदधिष्ठातृदेवानां दुःखं भवेदत्याशङ्क्यते । देवार्थमेतत्कृतमित्यपि सूचितम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—जिनकी सेना का एक भी सैनिक घायल न हुआ था वैसे मुक्ति दाता भगवान् उनको भी मारकर मुक्ति दे, वा जरासन्ध को छोड़ा दे, भगवान् को जय के कारण नहीं है, किन्तु माक्ष के कारण हैं, कितनेक सैनिक छिप गए होंगे, वे फिर लड़ने आ गए ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहने है, कि शत्रु सेना रूप समुद्र को अतिशय पार कर लिया है, अर्थात् कोई सैनिक छिपा नहीं है क्योंकि समुद्र दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता है अतिशय पार करने का कहने से भगवान् का महत्त्वं तथा पौरुष भी दिखा दिया, जिससे यह भी निरूपण कर दिया कि अब जो सेना आई इनमें से कोई शेष वचा नहीं, जो फिर आ सके । पश्चात् जिस मार्ग पर पुष्प विखरे हुए, उस मार्ग से पशरते हुए देवों से भी अनुमोदित हुए । यदि देवता अनुमोदन नहीं करते, तो यह शंका उत्पन्न होती कि अनन्त वध के कारण उनके अधिष्ठाता देवों को दुःख हुआ है, जिससे उन्होंने अनुमोदन नहीं किया है, किन्तु अनुमोदन से यह शंका भी मिट गई इससे यह भी सूचित किया, कि यह कार्य देवों के लिए ही किया गया है ॥३६॥

आभास—ततो मानुषैरप्यनुमोदित इत्याह मथुरैरित ।

आभासार्थ—पश्चात् मनुष्यों ने भी अनुमोदन किया जिसका वर्णन “मथुरं” इन दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—मथुरैरुपसंगम्य विज्वरं मुदितात्मभिः ।

उपगोयमानविजयः सूतमागधबन्दिभिः ॥३७॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्वाण्यनेकशः ।

वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥३८॥

श्लोकार्थ—सन्ताप रहित होने से, आनन्दित अन्तःकरण वाले मथुरा निवासो मृत मगध और बन्दीजनों के साथ मिल कर आपकी विजय गान गाने लगे । उस

समय शंख और नौबत बजने लगी तथा वीणा, वेणु और मृदंग बजाए जाने लगे जिस समय भगवान् ने नगर में प्रवेश किया ॥३७, ३८॥

सुवोधिनी—दुर्गमुद्ध टय सर्व समागताः । तमनो जाताः । ततः सूतमागधबन्दिभिः उपगीय-
यतो विज्वराः मरणशङ्कारद्रिताः । ज्वरो हि मानविजयो जातः । शङ्खदुन्दुभयश्च नेदुः । ततः
समागत एव मरणशङ्कामुत्पद्यति । तेषां स एव शनैः गमनसूचनाय । वीणावेणुमृदङ्गान्यपि वादि-
ज्वरः प्राप्त इति । कालदेहादिधमस्तु पूर्वमेव तानि । यतः प्रभुः पुरं प्रविशतीति । लौकिकमेत-
निवारिताः । चिञ्च, वहिर्दुर्घ्याप मुदिता- दिति सूचितम् ॥३७-३८॥

व्याख्यानार्थ—किले का फाटक खोल कर सब आए क्योंकि मरने को जो मनमें शंका थी वह मिट गई, जिस शंका से ही ज्वर आ गया था, शंका मिटते ही ज्वर भी उतर गया उनके काल और देह आदि के धर्म का तो पहले ही निवारण कर दिया था अतः शंका के मिटने से बुद्धि खिल गई, जिससे बाहर प्रसन्न अन्तःकरण देखने में आने लगे पश्चान् सूत मागध और बन्दीजनों ने भगवान् की विजय का गान गाया गङ्गा तथा नौबत बजने लगी अनन्तर प्रभु धीरे-धीरे पधार रहे हैं, इसकी सूचना देने के लिए वीणा, वेणु और मृदङ्ग भी बजाने लगे क्योंकि प्रभु पुर में प्रवेश करते हैं यह लौकिक है यों सूचन किया ॥३७, ३८॥

आभास—अन्तः पुरं वर्णयति सिक्तमार्गानितिद्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मथुरा पुरी के भीतरी भाग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलंकृताम् ।

निर्घृष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥३९॥

निचीयमानो नारीभिर्माल्यवध्यक्षताङ्कुरैः ।

निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥४०॥

श्लोकार्थ—नगर के सर्व मार्ग सुगंधि पदार्थों से युक्त जल से सीषि हुए हैं, सर्व जनता हर्ष में मगन हो रही है, नगर पताकाओं से सुशोभित है, वेद के मन्त्रों की ध्वनी जोर से हो रही है अद्भुत प्रकार के तोरण बन्धे हुए हैं, ऐसी पुरी में प्रवेश करते समय, नारियों ने दही, अक्षत, पुष्प और अंकुर भगवान् के ऊपर बरसाए तथा प्रीति से प्रफुल्लित नेत्रों द्वारा स्नेह सहित उनका दर्शन किया ॥३९, ४०॥

सुबोधिनी—सिक्ताः सर्वे मार्गा यस्याम्. गन्धो-
दकः मेकः । हृष्टा जना यस्याम् । पताकाभिः
जयलेखाङ्कितभिरलङ्कृतामिति । अधो मध्ये
उपरि च शोभा निरूपिता । नितरां घृष्टा ब्रह्मघो-
षेण वेदपाठेनेति । प्रत्यागाशिषो मन्त्राः प्रवेशे
पठनीया इति पुरप्रवेशे तदर्थमेव ब्राह्मणैः ब्रह्म-
घोषः पठितः । वैश्यानां विशेषचेष्टामाह । कौतु-
कैरावद्धानि तोरणानि यस्यामिति । सर्वाभिरैव

नारीभिः माल्यादिभिः विक्रयमाणो जातः ।
दध्यक्षताः विकीर्णाः । यवाङ्कुराश्च । एवं तासां
क्रिया भगवनि निरूपिता त्रिविधा । ज्ञानमपि
तथा निरूपयति निरीक्ष्यमाण इति । स्नेहो बन्धु-
भावेन । प्रीतिः पुरुषभावेन । उत्कण्ठा कामभावे-
नेति । एवं त्रिस्वभावैर्लौचनेर्निरीक्ष्यमाणो जातः ।
स्नेहः पृथक् कृतो लौकिकदोषाभावाय ॥ ४० ॥

व्याख्यानार्थ—जिम पुरी के सर्वे मार्ग मुगन्धित जल से सिञ्चित हैं, समस्त जन हर्षित हैं जय
जय शब्दों से अंकित पताकाओं से अलंकृत पुरी है, इससे यह बताया है, कि नीचे का, मध्य का और
ऊपर का तीनों भाग उसके शोभायुक्त हैं । प्रवेश के समय आशीर्वाद के मंत्र पढ़ने चाहिए, अतः
ब्राह्मण वेद के मंत्रों का घोष कर रहे थे ।

व्यापारियों ने जो विशेष नगर को सजाया था उसका वर्णन करते हैं, उन्होंने आश्चर्य से
डालने वाले अजीब तोरण लगाए थे । नगर की नारियों ने भी भगवान् का दधि, अक्षत, पुष्प अ कुरों
से सत्कार किया अर्थात् पुष्प आदि सौमंगल्य सूचक पदार्थों की भगवान् के ऊपर वृष्टि की । यों
क्रिया करने से उन्होंने भगवान् का तीन प्रकार से सत्कार किया, उसी प्रकार ज्ञान का भी निरूपण
करते हैं, तीन प्रकार के अपने भाव वाले नेत्रों से भगवान् के दर्शन किए (१) बन्धुभाव से दर्शन कर
स्नेह प्रदर्शित किया, (२) पुरुष भाव से दर्शन कर प्रीति प्रकट की और (३) कामना भाव से दर्शन
कर उत्कण्ठा दिखाई है, स्नेह प्रथक् कह कर लौकिक दोष उस में नहीं है यह सिद्ध कर दिखाया है
॥ ३६, ४० ॥

**आभास—ततः प्राप्तघनस्य राजन्येव विनियोगं वदन् स्वस्य तदाज्ञया युद्धादि-
करणं सूचयति, तद्दुःखाभावाय, आयोधनगतमिति ।**

आभासार्थ—लड़ाई से प्राप्त घन को राजा में ही विनियोग करते हुए उसकी आज्ञा
से युद्धादि करना सूचित करते हैं उसके दुःख के अभाव को मिटाने के लिए जिसका
वर्णन “आयोधनगत” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ।

यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्राविशत्प्रभुः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—लड़ाई के मैदान में जो वीरों के आभूषण रूप अनन्त धन पड़ा था, वह सब लाकर भगवान् ने यदुराज के आगे धरा, क्योंकि प्रभु हैं ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—आयोधनं युद्धभूमिः, तत्र योधै-
रानीतं द्रव्यमाभरणादिप्रकारेण । अनन्तं बहुवै । प्रकर्षेण व्रीधितवान् । रक्षास्थापनादिकं तु स्व-
बहुव एव हवा इति । अनन्तत्वे हेतुमाह वीरभूष- कृत्यमेवेति निवेदनमात्रं राज्ञे निरूपितम् । प्रभु-
णमिति । यावदाहतं तत्सर्वं यदुराजाय प्रादिशत् ॥ ४१ ॥ त्वात् न सह गतानां यथेष्टं द्रव्यविनियोगः

व्याख्यान—संस्कृत में युद्धभूमि को आयोधन कहा गया है, वहाँ योद्धाओं से जो आभरणादि का. से. ध. त. लाया गया, वह असीम था. कारण कि सैनिक बहुत थे., उनके मरने से उनके आभूषण रणभूमि में पड़े थे जिससे वे आभूषण भी बहुत थे, वहाँ जो भी पड़े हुए थे वे सब लाए गए थे, वे सब यदुराज को भेंट किए. रक्षा आदि करने का कार्य तो आप ही करते थे, इसलिए निवेदन मात्र ही राजा को किया, यों निरूपण किया, प्रभु होने से साथ में युद्ध के लिए जो चले थे उनको अपनी इच्छा से द्रव्य का विनियोग नहीं किया ॥ ४१ ॥

आभास—एवमेकप्रकारेण भगवतो जयं निरूप्य जयान्तरेष्ववीमं प्रकारमतिद्विशति ।
एवं सप्तदशकृत्व इति ।

आभासार्थ—यों एक प्रकार भगवान् की जयका वर्णन कर अन्य जयों में भी यही प्रकार दिखाते हैं, वैसे १७ बार युद्ध हुआ यह “एवं सप्तदश” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणोबलः ।

युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितः ॥ ४२ ॥

अक्षिष्वंस्तद्वलं सर्वं वृष्णयः कृष्यतेजसा ।

श्लोकार्थ—मागध के राजा ने इसी प्रकार उतनी ही अक्षौहिणी सेना सत्तह बार ला कर कृष्ण से पालित यादवों से युद्ध किया, यादवों ने श्रीकृष्ण के तेज से सारी सेना को मार डाला ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी—अनेनापि सह सप्तदश । एकः प्रतीत्या सर्वदा क्लेश एव भवेत्, किन्तु कृष्ण-
सप्तदशधा आवृत्त इति सर्वसाम्यत्वाय कृत्वयु- रक्षितैर्यदुभिः सह युयुधे । अत एव च तदबलम-
चप्रत्ययः । देशदोषात् न विवेक उत्पद्यते इति क्षिष्वन् । न केवलं रक्षार्थमेव भगवद्विनियोगः,
मागध इत्युक्तम् । सम्पत्तिस्तु राजत्वात् । अन्यः किन्तु निराकरणार्थमपीत्याह कृष्णतेजसेति ।
तापि भगवान् न स्वयं युयुधे । तथा सति लोक-

व्याख्यान—इसके साथ भी सत्रह वार लड़े एक युद्ध को सत्रह वार आवृत्ति हुई, सब समर एक सरीखे हो थे, यह जताने के लिए “कृत्व” पद पर सुच् प्रत्यय दिया है, दूसरी लड़ाईओं में भी भगवान् स्वयं नहीं लड़े हैं, यों होवे तो, लोक प्रतीति से सर्वदा क्लेश ही होवे, इस प्रकार का क्लेश न हो तदर्थ ही कृष्ण से रक्षित यादवों के साथ ही लड़ाई की है, इस कारण से ही जरासन्ध की सेना मारी गई, यह कार्य कृष्ण के तेज द्वारा ही हुआ, श्रीकृष्ण का तेज यादवों में केवल रक्षा के लिए नहीं प्रकटा है, किन्तु शत्रु बल के निराकरण के लिए भी उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

आभास—पुनः पुनः तस्यापि गमनं वावयैरधिकैरावेशेन चेति वक्तुमाह हतेष्विति ।

गमामार्थ—जगसन्ध फिर फिर आते तो गृथक् प्रकार से ही आते थे जैसे कि कभी विशेष बड़बड़ाता था कभी बहुत आवेश से आता था, यह वर्णन करने के लिए “हतेषु” श्लोक कहते हैं—

श्लोक—हतेषु र्ष्वेवनीकेषु त्यक्तस्यादरिभिर्नृपः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—जब अपनी सेना मर गई तब जरासन्ध शत्रुओं से त्यागा हुआ चला गया ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—यतो नृपः । राज्ये हृते हि स | निवर्तत इत्यर्थः ।
निवृत्तो भवेत् । तद्भगवान् न करोतीति स ।

व्याख्यान—राज्य जीता जाए तो राजा भी जीता गया यों माना जाता है । उसको वन्दी बनाया जाता है, भगवान् यों नहीं करते हैं इसलिए वह लोट जाता है, क्योंकि नृप है मनुष्यों का पालन करता है ॥ ४३ ॥

आभास—ब्रह्माण्डे हि प्रजापतिरध्यक्षः, सा कालात्मा यज्ञात्मा च, स सप्तदशो भवति, स पराजित एव । अतः परं प्रमाणरूपाः ब्राह्मणा अवशिष्यन्ते । शिवश्च वेद-रूपः । उभयबलमाश्रित्य अष्टादशे पर्याये समागमिष्यतीत्याह अष्टादशम इति ।

आभासार्थ—ब्रह्माण्ड का अध्यक्ष प्रजापति है, वह काल रूप तथा यज्ञरूप है, वह सत्रह प्रकार का होता है, उसका पराजय हो ही गया, इसके बाद प्रमाणरूप ब्राह्मण

बचते हैं शिव वेद रूप है, इन दोनों के बल का आश्रय ले कर अठारवीं बार आया, जिसका वर्णन “अष्टादशम” श्लोक में करते हैं-

श्लोक — अष्टादशमसंग्राम आगामिनि तदन्तरा ।

नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥

हरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।

त्रैलोक्ये चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वात्मसंमितान् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—अठारवीं बार भी जरासन्ध आने वाला था, उसके ‘बीचमें’ पहले ही नारदजी का भेजा हुआ वीर यवन देखने में आया, उसने तीन करोड़ म्लेच्छों के साथ आकर मथुरापुरी को घेर लिया, तीन लोक में इसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था अर्थात् इसके साथ लड़ने वाला नहीं था. इसने सुना था कि मेरे जैसे शूरवीर तो यादव ही हैं अतः उनसे लड़ने के लिए घेरा डाला ॥ ४४, ४५ ॥

सुबोधिनी—एवं पुराणान्तरे कथा । बहुधा सर्वैः संप्राथिताऽपि सप्तदशे पर्याये पराजितः पत-स्तप्तुं गतः । तत्र समाराधितः शिवः । पश्चात् प्रसन्नान् शिवेन ब्राह्मणसमाराधनार्थं निरूपितः । ब्रह्मण्यः कृष्णो न ब्राह्मणवाक्यमन्यथा करिष्य-तीति । ततः स्वनगरीं समागत्य ब्राह्मणानाहूय सिंहासने उपवेशितवान् । ततः प्रीतैर्ब्राह्मणैः पुन-स्तस्मै सिंहासनं दत्त्वा वरोपि दत्तः, ‘शतु जेष्य-सो’ति । ‘अजेयश्च त्रैलोक्यस्य भविष्यसो’ति । एतत् ज्ञात्वा नारदः मध्ये कालयवनं च प्रेषित-वान् । सोऽपि सर्वयादवनिराकरणार्थं प्रतिज्ञां चक्रे । स चेत्पश्चादागच्छेत्, द्वारकां गच्छेदिति । तस्य तत्र निराकरणं मर्यादापालकेनाशक्यमिति उभयमेकहेलया निर्वहति । मध्ये देवगुह्यकर्ता नारदो यवनं प्रेषितवान् । स हि वृद्धगर्गस्य पुत्रः ।

महायवनो ह्यप्रज आसीत् । तेन पुत्रार्थं प्रार्थितो वृद्धगर्गः तद्भार्यायां पुत्रमधात् । ‘अजेयश्च तव पुत्रो भविष्यती’त्याह । ततः कालान्तरे यदुस-भायां स एव वृद्धगर्गो यदुभिरुपहसितः स्वपुत्रं प्रार्थितवान् ‘यादवा मारणीया’ इति । एवं वरे सिद्धे नारदेन तेषु प्रविष्ट एवं सन्धिकालोऽयम्, शीघ्रं गम्यतामिति तं प्रेषितवान् । तदाह । आगामिनि अष्टादशमे सङ्ग्रामे तदन्तरा नारदेन प्रेषितो यवनः वीरत्वाद्युद्धरसाभिनिविष्टः प्रत्य-दृश्यत प्रतिकूलतया समागतो दृष्टः । तस्य प्रति-कूलतामाह हरोधेति । स्वयं समागत्य म्लेच्छको-टिभिः मथुरां हरोध । तत्र कारणमाह त्रैलोक्ये अप्रतिद्वन्द्वः । अकारादनुभावेनापि । वृष्णींश्च आत्मसंमितान् तुल्यान् श्रुत्वा नारदात् तदसह-मानो हरोधेति सम्बन्धः ॥ ४४, ४५ ॥

व्याख्यार्थ—अन्य किसी पुराण में कथा है, कि अठारवीं बार हार जाने के बाद जरासन्ध को बहुतो ने प्रार्थना की, कि फिर राजधानी में चल कर राज्य करो और फिर तैयारी करो, किन्तु वह प्रार्थना रबीकार न कर तपस्या करने चला गया, वहाँ शिवजी की अच्छी तरह आराधना की,

जिससे शंकर भगवान् प्रसन्न हुए, प्रसन्न हो के जरासन्ध को कहने लगे कि ब्राह्मणों की सेवा करो, ब्राह्मण प्रसन्न हो कर जो कुछ तुझे वरदान देंगे उसको कृष्ण अन्यथा नहीं करेंगे क्यों कि वह ब्रह्मण्य है, ये श्री शंकर भगवान् के वचन शिरोधार्य कर अपनी नगरी में आ के जरासन्ध ने ब्राह्मणों को बुलाया और उनको सिंह'सन पर बैठाया, जिससे ब्राह्मणों ने प्रसन्न हो कर राज्य लौटा कर इन को दिया और वर भी दिया, "शत्रु को तू जीतेगा" तथा 'तीन लोक में तू अजय होगा इस प्रकार जब वर प्राप्त किया, तब इसकी खबर नारदजी को पड़ गई, जिससे नारदजी ने उसके आने से पहले ही, कालयवन को मथुरा को विजय करने के लिए भेज दिया, क्योंकि उसने भी यादवों को नाश करने की प्रतिज्ञा की थी, यदि अब वह न आवे तो उसको यादव नाशार्थ द्वारका जाना पड़ेगा, वहाँ इसका निराकरण हो नहीं सकेगा, क्योंकि वहाँ कृष्ण मर्यादा पालक रूप में विराजेंगे, अतः अब यहाँ दोनों का एक ही से कार्य पूर्ण करें, इस विचार से देवताओं के गुप्त कार्य को सिद्ध करने वाले नारदजी ने यवन को बीच में ही भेज दिया । क्योंकि वह यवन वृद्धगर्ग का पुत्र है, महायवन का पुत्र नहीं था, उसने पुत्र प्राप्ति के लिए वृद्धगर्ग को प्रार्थना की उसकी स्त्री में पुत्र को धारण कराया, और यह वरदान दिया कि यह पुत्र किसी से भी जीता नहीं जाएगा, किसी समय यादवों की सभा में उस वृद्धगर्ग का यादवों ने उपहास किया, जिससे वृद्धगर्ग ने अपने पुत्र कालयवन को प्रार्थना की, कि "यादव मारने योग्य हैं" अर्थात् यादवों का तू नाश कर इस प्रकार कालयवन की यादवों से शत्रुता हुई, नारदजी उसमें प्रविष्ट हो कर अर्थात् उनके पास जाकर यह बीच का समय है अतः आपको उनकी पराजय करने का अच्छा अवसर है शीघ्र जाओ, यों कहकर उसको रवाना किया । अठारवीं बार होने वाली लड़ाई के बीच में, ही नारदजी से भेजा हुआ यवन शूरवीर होने से, युद्ध के रसपान करने की इच्छा वाला था देखा गया कि वह प्रतिकूल हो कर लड़ने के लिए आया है वह प्रतिकूल है यह कैसे जाना, तो कहते हैं स्वयं भाकर करोड़ों म्लेच्छों से मथुरा को घेर लिया, कारण कि तीन लोक में उसके समान कोई योद्धा नहीं है जो उससे लड़ सके "च" शब्द से बताया है, कि प्रभाव से भी वह बड़ा वीर देखने में आता था, और नारदजी से सुना था कि यादव आप जैसे शूरवीर हैं इस बात को सहन न कर सके, इस लिए भी अपना शौर्य प्रकट दिखाने के लिए मथुरापुरी को घेर लिया ॥ ४४. ४५ ॥

आभास—तदा भगवान् तत्स्थानपरित्यागार्थं निरोधं चिन्तयामासेत्याह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—तब भगवान् उस स्थान का परित्याग ही हेतु, जिसका वैसे निरोध का, चिन्तन करने लगे जिसका वर्णन "तं दृष्ट्वा" आधे श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तं दृष्ट्वाचिन्तयत्कृष्णः संकर्षणसहायवान् ।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण उसको देखकर सहायता करने वाले संकर्षण से मिल विचार करने लगे ॥ ४५॥ ॥

सुविधिनी—इदं तु प्रकटचिन्तनम् । अतो गूढाभिप्रायेणैव चिन्तयति । अभिप्रायस्तु स्थानात् परित्याजनीयाः ये निरोद्धव्याः यथा बृहद्भवात् निष्कासिताः, तथा मथुरातोऽपि निष्कासनीयाः । यदि देशान्तरं न गच्छेयुः, तदा निहृद्धा एव न भवेयुः, लोके तथा दर्शनात् । अतो भगवानेतान-

न्यत्र नेतुं विचारयति । तत्संमतिव्यतिरेकेण नयने मन्त्रभेदः स्यादिति मर्मज्ञान बलभद्रेण सह मन्त्रयामास । यतोऽयं कृष्णः, निरोधार्यमेव प्रवृत्तः । अन्यथा सदानन्दः तेषां न भवेत्, बहिर्भ्रित्तत्वादिति । संकर्षण एव सहायो यस्येति । अतस्तेन सह चिन्तनम् ।

व्याख्यार्थ—यह विचार तो प्रकट रीति से करते हैं इस कारण से गूढ अभिप्राय से ही विचार करते हैं, वह अभिप्राय है मथुरापुरी से इनको निकालना है कारण, इनका निरोध करना है जैसे निरोधार्य बृहद्भन से निहालना वैसे इनकी यहाँ से निकालना चाहिए, जो दूसरे देश नहीं जायेंगे तो इनका निरोध सिद्ध न होगा, लोक में यों ही देखा जाता है, अतः भगवान् इनको दूसरे स्थान पर ले जाना चाहते हैं, इसलिए विचार करते हैं मर्म को जानने वाले बलभद्रजी से सलाह करने लगे, क्योंकि इनके साथ विचार करन के सिवाय, ले जाने का पता सब को लग जायगा, जो हितकारक नहीं है। ऐसा क्यों करते हैं? इस के उत्तर में कहते हैं, यह कृष्ण निरोध करने के लिए ही प्रकट हैं, निरोध न होगा तो, यह उनका सदानन्द नहीं रहेगा, अर्थात् निरोध के सिवाय, भक्त सदैव आनन्द में मग्न नहीं रहेंगे, क्योंकि उनका चित्त बाहिर झर उधर फिरता रहेगा, संकर्षण से परामर्श क्यों किया? दूसरे किसी से क्यों नहीं किया, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि वह संकर्षण ही आपके सहायक हैं दूसरा कोई नहीं, अतः उसके साथ ही विचार किया ॥ ४५॥ ॥

आभास चिन्तनवाक्यान्याह अहो इत्यादिसार्धः त्रिभिः ।

आभासार्थ—“अहोयदूनां” श्लोक से ३॥ श्लोकों से परामर्श के वचन कहते हैं ।

श्लोक—अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महात् ॥४६॥

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः ।

मागधाऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति ॥४७॥

आवयोर्धुध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः ।

बन्धून्हनिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ॥४८॥

तस्माद्यद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् ।

तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण विचार कर संकर्षणजी को कहने लगे, आश्चर्य है कि यादवों को यह दुःख दोनों तरफ से अचानक कैसे प्राप्त हुआ ? आज तो महाबली यवन ने हमको घेर लिया है और जरासन्ध भी आज, कल या परसों आ जायगा उस समय हम यवन से लड़ते रहेंगे, उसको छोड़ कर जरासन्ध से लड़ना भी नहीं हो सकेगा, अतः वैसी दशा में आया हुआ वह चतुर मागध हमारे वसुदेवादि को मारेगा, अथवा उनको बान्ध कर अपने देश को ले जायगा तो उनको छुड़ाने के लिए फिर बहुत परिश्रम करना पड़ेगा इस कारण से, आज ही ऐसा दुर्ग बनाया जाए जिसमें मनुष्य जा नहीं सके अपने यादवों को लेकर ऐसे किले में आज ही पहुँचा कर आज ही यवन को मारेंगे ॥४६--४६॥

सुबोधिनी—अहो इत्याश्रयं । कथमयमकस्मादागत इति, कथं वा सन्धिकालं ज्ञातवानिति । यदूनां वृजिनं दुःखमुभयतोऽपि प्राप्तमिति प्रतिज्ञा । तां निरूपयति । महान् यवनोऽयमद्य निरुन्ध इति । अस्मानिति तैः सहाभेदः कार्यार्थं निरूपितः । स्वरूपतोप महान् महाबलश्च । अथ महाबल इति उभयोर्ब्राह्मणवाक्यं बलमिति सूचितम् । यावज्जरासन्धो नायाति, तावदनेननं निरुद्धा इति । तर्हि जरासन्धस्थाने अयमेव जातः, को विशेष इति चेत्, तत्राह मागध इति । मागधोऽप्ययं वायास्यति । तर्हि तद्बुद्धिः प्रेरणीया, यथाद्य नायास्यतीति चेत्, तत्राह श्वो वा समागमिष्यतीति । तर्हान्त्यामो वक्तव्यः, श्वोऽपि नानेतव्यः, तत्राह परश्व इति । तर्हि कालो वक्तव्य इत्याशङ्क्य व्यधिक्रमपर्ययि कोऽपि वक्तुं न युक्त इति वाशब्दं प्रयुक्तवान् । किमद्य श्वो वञ्चनेन आगमिष्यतीत्यत्र तु न सन्देहः । अत उपाय एव कर्तव्य इत्यर्थः । तर्हि उभावपि मारणीयाविति चेत्, तत्राह आवयोर्ध्वयोरिति । उभावजेभ्यो, अतः प्रधानपरिहारेण केवलबलहनने विलम्बो भवतीति

यवनेन सह आवयोर्ध्वयतोः सतोः, प्रकान्तस्य त्यागागोगान्, यदि मध्ये जरासन्धः चतुरः समागच्छेत, तदा अस्मानन्यत्रासक्तान् विद्याय बन्धून् वसुदेवादीन् हनिष्यति । स्वपूरं वा बद्ध्वा नेष्यति । पश्चान्मोचनार्थं बहू कर्तव्यं पनेत । मारयितमशक्य एवेत्याह बलीति । एवं सति यत्कर्तव्यं तदाह तस्मादिति । द्विपदानं मनःपत्रमत्रयं दुर्गमं दुर्गं विधास्याम इति । नन्वेतावदलौकिकं यः करोति स तामेव अथमन्यथा न करोति, किमिति स्थानं न्याजयतीति चेत् ? मैवम् । द्वारकादिनिर्माणे न काचिन्मर्यादा बाध्यते अन्यत्र तु ब्राह्मणवाक्यानि बाध्यन्ते । एतदर्थमेव द्वारकानिर्माणमिति न तत्र ब्राह्मणवाक्यं प्रभविष्यति । सर्वत्राधिकप्रयत्नः साधारण्यं निराकरोतीति । अत्र एव पूर्वं बलीति पदम् अत्र च द्विपदमिति । अतो ब्राह्मणा अपि द्विपदा एवेति तेषामपि स दुर्ग एव । पश्चान्निर्भये स्थाने ज्ञातुं वसुदेवादीन् समाधाय यवनं घातयामहे, तदा विलम्बो न वाधक इति । अन्यथा भवत्यन्यत्र गते मुचुकुन्दगृह्यायाम्, वसुदेवादयो भीताः खेदं प्राप्नुयुः ॥४७॥

व्याख्यार्थ—आश्चर्य है कैसे यह अचानक आ गया और इसको इस संधिकाल * का ज्ञान कैसे हुआ यादवों को दोनों तरफ से सकट प्राप्त हुआ है, इस अपने पक्ष का संकर्षण के आगे निरूपण करते हैं। इस महान् यवन ने हम लोगों को आज घेर लिया है "हम लोगों को" कह कर यह बताया है कि हमारा यादवों के साथ कार्य के लिए अभेद है वह यवन स्वरूप से भी महान् है और बलवान् है 'अद्यमहाबल' कह कर यह सिद्ध किया है कि जरासन्ध तथा यवन दोनों महाबली हैं. कारण कि दोनों को ब्राह्मणों के आशीर्वाद से बल प्राप्त है, जरासन्ध नहीं आया है तो इसने ही पहले रोक लिया है अर्थात् घेरे में ले लिया है, यदि यों है तो जरासन्ध के स्थान पर इसको समझ कर इससे युद्ध कर इसको नाश करदो तो पता पड़ जाएगा. कौन विशेष है, इसके उत्तर में कहते हैं कि मागध भी आज ही आजाएगा जो यों है तो उसकी बुद्धि में ऐसी प्रेरणाकर दो जैसे आज न आ सके यों करेंगे तब कल वा परसों तो अवश्य आ जाएगा, तो उसके आने का निश्चित समय कहिये ? तो कहते हैं कि तीन से अधिक कोई नहीं बता सकता है इसलिए "वा" शब्द कहा है, अच्छा यदि आज, कल परसों वा कभी ठगी से आएगा इसमें संशय नहीं है, तो उसका उपाय ही करना चाहिए ? यदि कहो कि दोनों मारने योग्य हैं, इस पर कहते हैं कि दोनों जीतने जैसे नहीं है, अतः मुख्य को छोड़कर केवल सेना को मारने में समय लगता है, तथा हम यवन से लड़ाई में लगे रहे उस समय वह चतुर आ जाय और हमको यवन से लड़ाई में तत्पर देखे तो उसको हम छोड़ भी नहीं सकते, यह ऐसा अवसर देख हमको छोड़ वसुदेवादि बान्धवों को मारेगा अथवा उनको बान्धकर अपनी नगरी में ले जाएगा तो पीछे छुड़ाने में बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, जरासन्ध भी बली होने से मारा नहीं जा सकता है जब यों है तब क्या करना चाहिए ? वह कर्तव्य बताते हैं, जहाँ मनुष्य नहीं जा सके वंसा दुर्ग बनाएँगे जब ऐसा अलौकिक दुर्ग जो बना सकता है। तब वह उनको ही अभ्यथा क्यों नहीं करता है ? क्यों अपना देश छुड़ता है ? किसी प्रकार को मर्यादा का बाध नहीं होता है उनको निर्बल बनाने में ब्राह्मणों में मर्यादा बाध करती है जैसा कि दी हुई आशीर्वाद का उल्लंघन न करना पड़ेगा इसलिए ही द्वारका बनाने का सुयोग्य विचार किया है जिसमें ब्राह्मण वाक्य उल्लंघन न होगा तथा उस कार्य पर ब्राह्मणों के वचनों का प्रभाव भी न होगा. सब ठिकाने अधिक प्रयत्न, साधारण श्रम का निराकरण करता है।

"बली" शब्द पहले आया है और इसलिए यहाँ "द्विपद" देकर यह बताया है, कि जो भी दो पैर वाले यादवों के नाश के लिए आना चाहेंगे वे नहीं आ सकेंगे भले वे ब्राह्मण भी हों, दुर्ग बता के अनन्तर उसमें वसुदेव आदि जातिवालों का वहाँ अच्छी तरह बिठावेंगे यों करने के बाद निश्चिन्त हो के यवन को मारेंगे इसमें बिलम्ब बाधक न होगा नहीं तो मुचुकन्द की गुफा में भगवान् के जाने पर वसुदेवादि डरकर दुःखी होंगे ॥४६—४७॥

आभास—एवं निर्धारिते मन्त्रे यदासीत्, तदाह इति संमन्वेति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार परामर्श करने से जो सलाह निश्चित हुई उसका वर्णन “इति संमन्वय” श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—इति संमन्वय दाशार्हो दुर्गं द्वादशयोजनम् ।

अन्तःसमुद्रे नगरं कृष्णोद्भुतमचीकरत् ॥५०॥

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।

रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिमित्तम् ॥५१॥

सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।

हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः ॥५२॥

राजतारकुटैः कोष्ठैर्मकुम्भैरलंकृतैः ।

रत्नकूटैर्गृहैर्ममहामरकतस्थलैः ॥५३॥

वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम् ।

चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ॥५४॥

श्लोकार्थ—ऐसी सलाह कर भक्त रक्षक श्रीकृष्ण ने समुद्र के मध्य में बारह योजन में अद्भुत किला रूप नगर तैयार किया ॥५०॥

जहाँ भगवान् ने सर्व प्रकार की कारीगरी की थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन होता था, वस्तु शास्त्रों के अनुसार राजमार्ग, चौहट, गलियाँ इस प्रकार बनाई थी जो आने जाने में अड़चन न होवे तथा किसी मकान की वायु धूप आदि न रुके ॥५१॥

जहाँ देवता सम्बन्धी वृक्ष लताओं सहित उद्यान तथा उपवनों से सुशोभित घर एवं मार्ग थे, अति ऊँची स्फाटिक मणियों से निमित्त अटारियाँ तथा दुर्ग के फाटक आकाश को छूते हुए सोने के सींगों से युक्त कलशों से सुशोभित थे ॥५२॥

चाँदी और पीतल से बने कोठे सोने के कलशों से लस रहे थे, अमूल्य मरकत मणि के स्थल वाले सुवर्ण से बने घरों के शिखर माणिक आदि रत्नों से बनाये गए थे ॥५३॥

चारों तरफ लोकपाल तथा दुर्गा आदि देवों के स्थान थे और मध्य में भगवान् का मन्दिर सुशोभित था सारी नगरी के घर पर छज्जे भी लगा दिए थे। वह दुर्ग चारों वर्णों के मनुष्यों से भरा पड़ा था ॥५४॥

सुबोधिनो—वतो दशाहो भक्तप्रदकः । अनेन क्लिष्टकरणदोषोऽपि परिहृतः । ननु कालादिभिरनिमित्तं कथं निर्मास्यति, तथा सति कालादयो वा कथं न प्रतिवन्द्यं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह तद्दुर्गमेव करिष्यति । जलादिदुर्गाः प्रसिद्धाः । अतो नालौकिकं करिष्यति । किञ्च, कालहितमपि करिष्यतीत्याह द्वादशयोजनमिति । द्वादशात्मा हि कालः । प्रतिपञ्चतया वा करिष्यति । अलौकिकत्वाच्चतुरस्रं तत् । सवपेक्षया विशेषं वक्तुं तत्रत्यं गुणत्रयमाह । अन्तःसमुद्र इति समुद्रमध्ये । न सा पृथिव्यां तिष्ठति, किन्तु भूमिवत् नगर्यन्तरीक्षे समुद्रमध्ये जलोपरि तिष्ठति । अन्यथा नीचे स्थिता भवेत् । तत्र वैलक्षण्यं संभविष्यतीति तन्निराकरणार्थं नगरमिति । तत्रापि विशेषः अद्भुतमिति । कृष्ण इति । सदानन्दः । तेन कृतं स्थानं तत्प्रापकं भविष्यतीति ज्ञापितम् । अचीकरदिति । स्वयमेव चकार । विश्वकर्मणा कृतमित्येके, त्वाष्ट्रमिति पदात् । वस्तुतस्तु विश्वकर्मणो यावन्नपुण्यम्, तावदत्र भगवतैव निर्मितमिति । स हि जले कर्तुं न शक्नुयात् । अन्यथा इतो भगवति ऋमेण षड्गुणेष्वपि गतेषु सप्तमे दिवसे तं न प्लावयेत् समुद्रः, विश्वकर्मणो विद्यमानत्वात् । अस्तु वा विश्वकर्मणा कारितमिति । अचीकरद्विश्वकर्मणैर्गतिं कारण वा ।

यत्र नगरे त्वाष्ट्रं विज्ञानमनेकचातुर्ययुक्तं दृश्यते । शिल्पे नपुण्यं यस्मात् विज्ञानादिति ज्ञानप्रमायां हेतुरुक्तः । किञ्च, रथ्याचत्थरवी थीभिः सहितम् । यथावास्तु वास्तुशास्त्रसहितम् ।

विशेषेण निर्मितम्, चित्रादिरहितेपि सामान्यनिर्माणेपि वैशिष्ट्ययुक्तम् । दैविकं लौकिकं शास्त्रीयं च ज्ञानं तस्मिन् नगरनिर्माणे प्रतिष्ठितमिति वर्णनावधित्वं निरूपितम् ।

विशेषतो वर्णयति । सुरदुर्गाः पारिजातादयः । ते उद्यानेषु यत्र । उद्यान पुष्पप्रधानम् । उपवनं फलप्रधानम्, तैरन्वितमिति सर्वत उभयेषां सवन्ध उक्तः । अन्तर्नगरे वैशिष्ट्यमाह हेमशुङ्गं दिविस्पृभि रिति । एकविंशतिगृहोपरि सुवर्णशृङ्गाणि सुवर्णकलशस्य परितः स्थापितानि । अत एव दिवं स्पृशन्ति । तत्र निदानप्रस्तरानाह स्फाटिकेति । स्फाटिकैरेव निमिताः अट्टालाः गोपुराणि च ।

दुर्गत्वादनसङ्ग्रहार्थं रजतरारकूटेश्च निर्मितानि कोष्ठानि रजतारकूटशब्दादण् । हेमकुम्भैश्च सर्वतः अलङ्कृतम् । घृतदध्याद्यर्थं राजतानि कोष्ठानि । अनर्थं तु पैत्तलनिमित्तानि । सर्वधातुपलक्षणमारकूटपदम् आद्यन्त्योः रजतसुवर्णयोरुपादानात् । उपरिशीभातिशयमुक्त्वा मध्ये शोभामाह रत्नघूटैर्गृहैर्हेमैरिति । सर्वत्र गृहाः रत्ननिमित्तपदकवत् सोवर्णाः । भूमिश्च मरकतशिलाभिः निमितेत्याह । महामारकतानि स्थलानि येष्विति ॥५३॥

अनुपयुक्ता अपि धर्मसाधकाः कौतुकसाधकाश्च गृहाः सन्तीत्याह । चास्तोष्यतीनां चास्तुदेवताधिपतीनामिन्द्रादीनाम् । वस्तून्यस्मिन्निति वास्तुदेवता भूमिः, तस्याः पतयः सर्वे लोक-

पालाः । चकारात् दुर्गादीनामपि । अनेन मध्ये भगवतः परित आशापालानां गृहा इत्युक्तं भवतिः बलभीभिरिति सर्वत्र छजानिर्माणम् । अनेनाग्रे निर्माणक्रिया कापि नापेक्षितेति सूचितम् । किञ्च, चातुर्वर्ष्यजनाकीर्णम् । चातुर्वर्ष्यजनैः पूर्वमेवाकीर्णम्, । तेन ते भगवत्कृता एव जना

निरूपिताः । अन्यथा इतो गतानां बंधामिव पततो भवेत् । ते होदानीमपि तिष्ठन्ति । अतस्तत्सन्निधानेन सर्वथा विद्यमानत्वसाम्यात् भगवद्गृहमाह यदुदेवगृहेण उल्लसदिति । मध्ये भगवद्गृहम्, चतुर्दिक्षु वर्णचतुष्टयानाम् । आकीर्णमिति । किर्मीरितत्वं निरूपितम् ॥५४॥

व्याख्यानार्थ— भगवान् को समुद्र के मध्य में दुर्ग अर्थात् द्वारकापुरी बनाने में श्रम हुआ होगा ? आप अक्लिष्टकर्मा है फिर वेंसा परिश्रम वाला कर्म क्यों किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि “दाशाहो” भक्तुरक्षक हैं अर्थात् भक्तों की रक्षा के लिए आप सब कुछ करने में हिचकते नहीं हैं, उनके वास्ते जो भी कार्य चाहें वह बलेशदायी हो तो भी करते हैं किन्तु इससे उनको कुछ भी क्लिष्टता मालूम नहीं होती है अतः इसके बनाने से उनको क्लिष्ट करने का दोष स्पर्श भी नहीं करता है जो कालादिक नहीं बनाते हैं उसको आप कैसे बनाएंगे यदि उनके सिवाय आप बनाते हैं तो कालादिक क्यों प्रतिबन्धक न होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए ही “नगर” बनाना न कहकर “दुर्ग” बनाना कहा है, जलादि दुर्ग तो प्रसिद्ध ही हैं अतः अलौकिक नहीं करेंगे इसके बनने से काल का भी हित करेंगे इस लिए कहा, कि वह दुर्ग वारह योजन का होगा, क्योंकि “काल” “द्वादशात्मक” है अथवा प्रतिपक्षता से करेंगे अलौकिक होने से वह चौकाना बना था, वह दुर्ग सबसे विशेष उत्तम है यह बताने के लिए उसके तीन गुण कहते हैं (१) समुद्र के मध्य में है, जिससे यह पृथ्वी पर तैरी हुई नहीं है किन्तु पृथ्वी की भाँति अन्तरिक्ष में अर्थात् समुद्र के मध्य में जल के ऊपर है। नहीं तो नीचे चली जाए उसमें कुछ विलक्षणता होगी ऐसी शंका मिटाने के लिए दुर्ग को “नगरी” भी कहा है उसमें भी विशेष यह है कि वह “अद्भुत” है, अद्भुत क्यों और कैसे है ? इस पर कहते हैं कि इसके निर्माता कृष्ण हैं जो सदानन्द स्वरूप हैं उनका बनाया हुआ स्थान उनसे मिलाने वाला होगा श्लोक में “अचीकरत्” पद दे कर कहा है कि स्वयं ने बनाया है कोई कहते हैं कि “त्वाष्ट्” पद से समझा जाता है कि यह विश्वकर्मा की बनाई हुई नगरी है सचमुच तो विश्वकर्मा जैसे इसमें निपुणता दीखती है जिससे यह शंका उत्पन्न होती है किन्तु भगवान् ने ही यहाँ बनाई है क्योंकि विश्वकर्मा जल में ही बना सकता है । जो भगवान् ने नहीं बनाई होती तो, भगवान् के पधारने से उनके गुण भी क्रम से पधारने लगे जिसे ही समुद्र ने सातवें दिन उसको डूबो दिया । यदि विश्वकर्मा की बनाई हुई होती तो विश्वकर्मा के विद्यमान होने से समुद्र न डूबता अथवा मान लिया जावे कि विश्वकर्मा द्वारा बनाई गई है तो भी विश्वकर्मा केवल “करण” है अर्थात् बनाई भगवान् ने है विश्वकर्मा केवल करण था जैसे कर्ता कुम्हार है चाक आदि उपकरण होते हैं ।

जिस नगरी में अनेक चतुराई वाला त्वष्टा का विज्ञान दीखता है जिस विज्ञान से कारीगरी में निपुणता का ज्ञान होता है और जहाँ बड़े-बड़े मार्ग तथा चौराहे हैं, वास्तु शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बनाई हुई है, वह चित्रकला के न होते हुए भी, सामान्य प्रकार से बने होने पर भी उत्तमता

तथा विनक्षणात्ता से युक्त थी उस नगर के निर्माण में दैविक लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञान काम में लाया गया है इन तीन प्रकार के ज्ञान से यह बताया है, कि इससे विशेष वर्णन हो नहीं सकता है, अर्थात् इससे उत्तम नगर नहीं बन सकता है।

विशेष प्रकार से वर्णन करने हैं, जिस नगर के उद्यानो में सुगन्धित पुष्प वाले पारिजात आदि देव वृक्ष लगे हैं, पुष्प ही जिसमें विशेष हो, उसको उद्यान कहा जाता है तथा उपवन थे जिनमें फलों के पेड़ अधिक लगे हुए थे, नगरो के चारों ओर उवन थे जिनसे नगरो को विशेष शोभा हो रही थी।

नगर के भीतर गृहों की शोभा का वर्णन करते हैं इक्कीस भार वाले गृहों के ऊपर जो सोने के कलश रखे गए थे उनके चारों ओर सोने के शृंग लगाए गए थे जो आकाश को स्पर्श कर रहे थे, अब जिन पत्थरों से अटारियाँ और नगर के फाटक बने थे उन पत्थरों को कहन है कि "स्फाटिकेरे-वनिमिताः" वे स्फाटिक प्रस्तरो (क्विलोर) से बनाए गए थे।

दुर्ग या इसलिए अन्न आदि पदार्थों के रखने के लिए बड़े बड़े पात्रों की आवश्यकता थी, उन का वर्णन करते हैं कि चाँदी तथा पीतल आदि के बड़े बड़े कोठ बनाए गए थे और वे सोने के घड़ों से अलंकृत किए गए थे घृत और दधि आदि स्निग्ध पदार्थों के रखने के लिए चाँदी के कोठे बने हुए थे, अन्न के लिए पीतल के कोठे बने थे "आर कूट" शब्द सब धातुओं को बताने वाला शब्द समझना चाहिए, आदि और अन्त में चाँदी तथा सोना ही उपादान से काम में लिया गया था. ऊपर की शोभा का वर्णन कर बीच की शोभा का वर्णन करते हैं। सारी नगरो में जो घर बने हुए थे वे जैसे रत्नों से जड़ित पदक सोने का बना हुआ होता है वैसे सोने के बने हुए घर थे जिन पर रत्न जड़े हुहे थे। घरों की भूम पर मरकत मणियों के फरश बान्धे गए थे ॥१३॥

लौकिक प्रकार से जो घर उपयोग में आने वाले नहीं थे तो भी वे धर्म को सिद्ध करने वाले थे, क्योंकि वे इन्द्र आदि लोकपालों के थे, श्लोक में "च" शब्द इस आशय से दिया है कि दुर्गा आदि के भी घर थे इन घरों के बीच में भगवान् का घर था ये देवों के घर, भगवान् के घर के चारों तरफ थे, लोकपालों के घर इस लिए बनाए गए थे कि वे भूमि के पति हैं।

सब घरों में छज्जे भी लगा दिए गए थे छज्जों का काम घर के सर्व प्रकार तैयार होने के बाद अन्त में किया जाता है, जिससे मालुम होता है कि निर्माण का सर्व कार्य पूर्ण हो गया है शेष कुछ भी कार्य करना रहा नहीं है यहाँ से जाने वाले मनुष्यों से पहले ही उसमें चारों वर्ण के जन का

भूमि पतियों के मित्राय प्रसन्न नहीं होता है, जहाँ पतियों का समादर होता है, वहाँ पृथ्वी प्रसन्न हो कर अपने बोगरुन में दिवा धान्यादि वस्तुओं को विशेष रूप से अन्न हितार्थ प्रकट करती है—

चारों दिशाओं में विस्तार हो रहा था, इससे सिद्ध है, कि वे जन भगवान् के ही प्रकट किए हुए हैं, यों न होता तो यहां से जाने वाले जनों का बन्दनीयों की भाँति पात हो जावे अतः उनके सामीप्य से सर्वता विद्यमान के तत्व से समानता होने के कारण वे जन निश्चय से अब भी हैं अतः यह नगर भगवान् के धन से विशेष शोभायमान था चारों दिशाओं में चारों वर्णों के घर थे और नगर के मध्य में भगवान् का घर था जैसे अनेक रंगों से चित्रित वस्त्र शोभा देता है वैसे ही यह नगरी अनेक प्रकार के घर तथा जनों से सुशोभित दीखती थी ॥५४॥

आभास— एवं भगवता स्थाने निर्मिते, विशेषतो निर्माणे कृते, पारिजातादीनाम-
नम्यत्वप्रतिष्ठा गमिष्यतीति लोकपालाः सर्वे स्वस्वसमृद्धिं प्रेषितवन्त इत्याह सुधर्मा-
मिति त्रिभिः ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् ने जब द्वारका निर्माण कर दिया, तब विशेष निर्माण के लिए पारिजातादि वृक्षों की विशेष प्रतिष्ठा होगी अतः सर्व लोकपाल अपनी अपनी सम्पादाएँ भेजने लगे, जिनका वर्णन “सुधर्मा” से तीन श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक— सुधर्मा पारिजातं च महेंद्रः प्राहिणोद्धरेः ।
यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥५५॥
श्यामं कर्णान्वरुणो हयान् शुक्लमनोजवान् ।
अष्टौ निधिपतिः कोशाल्लोकपालो निजोदयान् ॥५६॥
यद्यद्भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।
सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरो भूमिगते नृप ॥५७॥

श्लकार्थ— इन्द्र ने भगवान् के लिए सुधर्मा सभा तथा पारिजात वृक्ष भेजे, जिस सभा में बंठने वालों को मृत्यु के धर्म जरा आदि किसी प्रकार का दुःख नहीं देते हैं ॥५५॥

वरुण ने श्वेत वर्ण वाले अश्व जिनके केवल एक कान काला था, चलने में मन जैसे वेग वाले थे वे भेजे, निधिपति (कुर्बेर) ने आठ कोश भेजे और लोकपालों ने अपने भंडार भेज दिए ॥५६॥

भगवान् ने इन्द्र आदि देवों को जो कुछ वे अपने धर्म से प्राप्त नहीं कर सकते वे पदार्थ कृपा कर दिए हैं, उनके पास जो कुछ पदार्थ है वे वास्तव में भगवान् के ही हैं अतः जब भगवान् भूमि पर प्रकट होते हैं तब देव वे पदार्थ भगवान् को समर्पण कर सदंभ के लिए अपने पास रहे, यह सिद्ध करते हैं ॥५७॥

सुबोधिनी—यदग्रे पारिजातहरणम्, तन्म-
तान्तरभाषया निरूपितम्, तदग्रे विस्तरेण
वक्ष्यामः । सुधर्मा देवसभा । नवरत्ननिर्मा-
नेव भूमिरूपा काचित् देवता सुधर्मैत्युच्यते ।
यतोपवेशनमात्रेणैव धर्मो धर्मफलं च भव-
तीति । चकारादन्येऽपि सुरद्रुमाः । इन्द्रः
सिंहासनादिकं च प्रस्थापितवानिति उभयो-
र्माहात्म्यं वर्णयति यत्र चेति । यत्र सुधर्मा-
याम्, चकारात् पारिजाता धर्मश्च । अनेन
समीपे विद्यमानः सर्वदा नियतमरणधर्मापि
तः स्वाभाविकैः मरत्यधर्मैः न युज्यते । अनेन
पूर्वदोषपरिहारोऽप्युक्तः । गुणास्तु सुधर्मापदे-
नोक्ताः । अन्यामपि सम्भृतिमाह श्यामेक-
कणार्पिति । एकः कर्णः श्यामः दक्षिणः ।
शिष्टः सर्वोऽपि कुन्दसन्निभः । उच्चैःश्रवस
एतद्वैलक्षण्यम् । अयं स्वर्गः कर्म चेति उभय-
बोधनार्थं प्रवृत्तिशास्त्रस्थाने श्यामता निरु-
पिता । ते चांशवाः सैन्धवा एवेति शापयितुं
वरुणेन प्रस्थापितमित्युक्तम् । अन्यत्र वर्णा-
न्तरसम्भावना स्यादिति तन्निरुक्त्यर्थं शुक्ला
इति । जव एव तेषां श्लाघ्य इति शुक्लाश्च

ते मनोजवाश्चेत्युक्तम् । शुक्ले जवाभावमा-
शङ्क्य समास उक्तः । निधिपतिस्त्वादष्टौ
निधीन् प्रेषितवानिति गम्यते । अष्टौ लोह-
पालाश्च कोशान् भण्डारवस्तूनि । निजस्य
स्वस्य स्वस्य अभ्युदयाश्च । ननु स्वयमनेक-
सुकृतेन प्राप्तं भोगसाधनमधिकारज्ञापकं च
किमिति दत्तवन्त इत्याकाङ्क्षायामाह यद्यद्ग-
वता दत्तमिति । न हि तानि वस्तूनि स्वध-
र्मोपाजितानि, किन्तु भगवता दत्तानि । यत-
स्तदाधिपत्यम्, ईश्वरेणैव ह्याधिपत्यं दीयते ।
तथापि प्रतिदाने को हेतुरिति चेत्, तत्राह
स्वसिद्धय इति । स्वस्य सिद्धये । अधिकारो
होश्वरेच्छयैव भवति । सा च ज्ञातुमशक्येति
यथा तन्नियतं भवति, तयोपायः कर्तव्यः,
तद्भवति दान एवाक्षयं भवति । अतः स्वस्य
धनस्य अधिकारस्य वा सिद्धये सम्यङ्निष्प-
त्यर्थं सर्वं प्रत्यर्पयामासुः । ननु भगवता तत्कथं
ग्राह्यमिति चेत्, तत्राह हरी भूमिगत इति ।
भूमिरपि दत्ता ब्रह्मणे मनवे वा । पुनर्भ-
क्तौद्वारार्थं स्वयमप्यागतः । तन्त्यायेन सर्वा-
मपि समुद्धिं भक्तैभ्यो दातुं प्रदर्श-
यितुं वा अपेक्षेतेति प्रत्यर्पणमुचितम् । एतद-
भिज्ञानाय नृपेति सम्बोधनम् ॥५८-५९-६०॥

व्याख्यानार्थ—आगे जो पारिजात लेजाने की कथा की है वह मतान्तर भाषा से कही है, उसको आगे विस्तार से कहेंगे नवरत्नों से निर्मित जैसी भूमि रूप किसी देवता को "सुधर्मा" नाम से कहा जाता है जहाँ केवल बंठने से ही धर्म का फल होता है, अतः "सुधर्मा" शब्द से "देवसभा" समझा जाता है "च" कह कर यह बताया है कि पारिजात के सिवाय दूसरे भी देवद्रुम लाए गए थे ।

इन्द्र ने सिंहासन आदि सामान भी भेजा था अब दोनों के माहात्म्य का वर्णन करते हैं जिस धर्म सभा में पारिजात और धर्म भी है, यह "च" शब्द से समझा जाता है इससे क्या लाभ है, वह

वताते हैं कि इनके पास रहने से जो निश्चय से मरने वाले हैं, उनको वह स्वाभाविक मृत्यु धर्म भी कुछ नहीं कर सकता है। अर्थात् मार नहीं सकता है, इससे प्रथम कहे हुए धर्मों के दोष का परिहार भी कह दिया है और गुण तो "सुधर्मा" पद से बता दिए हैं, दूसरी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं एक दक्षिण कर्ण श्याम था शेष सब शरीर कुन्द पुष्प के समान शुक्ल प्रकाश वाला है इन अश्वों को उच्चैश्चवा घोड़े से यह ही विलक्षणता है, स्वर्ग और कर्म दोनों प्रकार काम आने वाले ये अश्व हैं, वे अश्व सेन्धव (सिन्धु समुद्र से उत्पन्न हुए हैं) ही हैं वा वात को जताने के लिए कहा है कि ये वरुण देव ने भेजे हैं, इनका वाम श्याम कर्ण प्रकृत शास्त्र रूप होने से स्वर्ग कहा है और दक्षिण कर्ण स्वर्ग का साधन रूप कर्म है, श्याम कर्ण के विवाह अन्यत्र किसी भी दूसरे वर्ण की सम्भावना न हो इसलिए "शुक्ल" शब्द दे दिया है अर्थात् अन्य अग श्वेत थे "शुक्लमनोजवान्" यह पद समास इस लिए दिया है कि होने से भी वे शोध गामो थे निधियों के पति होने से आठों लोकपालों ने भण्डार में जो अन्न आदि वस्तुएं चाहिए वे भेजी थीं और अपने-अपने जो भी अम्युदय हुए थे वे सर्व अर्पण किए थे ।

लोकपालों ने अनेक पुण्यों से प्राप्त भोग साधन जिनसे उनके अधिकार का पता लगता था वे क्यों दिए ? इस शंका का निवारण करने के लिए कहते हैं, कि उनने जो वस्तुएं दीं वे उनने अपने धर्म से इकट्ठी नहीं की थी, परमेश्वर ने दी थी । अतः उन पर वास्तविक आधिपत्य परमात्मा का है उनको अधिकार भी भगवान् ने ही दिया था जब मिला तब फिर लौटाने में क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "स्वासिद्धये" अपने मित्रि के लिए अधिकार ईश्वर को इच्छा से ही मिलता है वह इच्छा जानी नहीं जाती, अतः वह उपाय करना चाहिए जिससे वह अधिकारादि निश्चित हो जाए, वह अक्षय तब होता है जब भगवान् को अर्पण किया जाता है अतः अपने धन का और अधिकार का अक्षयपन हो तदर्थ सर्व प्रत्यर्पण किया है, दो हुई वस्तु भगवान् ने कैसे जो ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि भगवान् इसीलिए लेते हैं कि भगवान् को वे वस्तुएं भक्तों को देनी हैं, भक्तों के लिए भगवान् सब कुछ करते हैं जैसे भगवान् स्वयं वैकुण्ठादि में विराजते हैं और भूमि ब्रह्मा तथा मनु को दे दी है, तो भी आप भक्तोद्धार के लिए भूमि का ग्रहण कर आप भूमि पर प्रकट होते हैं, इस न्याय से सर्व समृद्धि भक्तों को देने के लिए वा दिखाने के लिए भगवान् को अपेक्षित होती है, अतः लोकपालों का प्रत्यर्पण उचित है, इस को जताने के लिए "वृष" सम्बोधन दिया है ॥ ५५-५६-५७ ॥

आभास—यदर्थमेतन्ननिर्माणं तवाह तन्नोति ।

बाभासार्थ—जिसके लिए इसका निर्माण हुआ वह "तन्न" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तन्न योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः ।

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ॥

निर्जग म पुरद्वारात्पद्ममाली निरायुधः ॥५८॥

श्लोकार्थ—प्रजापालक बलरामजी से पगमर्श कर दुःखहर्ता पद्मों की माला पहिने हुए भगवान् कृष्ण बिना शस्त्र, नगर के बाहिर निकले और सर्व मनुष्यों को योग प्रभाव से लेकर द्वारका में पहुँचा कर आप लौट आए ॥५८॥

सुबोधिनी—अणिमा यो हि योगस्य सहज-फलानि । इदं तु वक्ष्यमाणं योगस्यानुभावस्य फलम् । यथा स्थितान् शयानान् सवनिव तेषां दुःखनिराकरणार्थं तत्र द्वारकायां नीत्वा स्वयं पुनरागतः । नत्तत्यप्रजानां देशवासिनां दुःख-निवृत्त्यर्थं बलभद्रं निरूप्य प्रजापालने अङ्गीकृते तेन प्रजापालने वस्तुतोपि रामेण रत्युत्पादकेन कृष्णः स्वयं सदानन्दः नातः परमज्ञ मथुरायां श्रेयमिति ज्ञापयन्निव साधनानुमतिं गृहीत्वा

फलरूपः ततो निवृत्त इत्याह 'नर्जगमेति । नितरां गमन नित्यसन्निधिरूपेणापि ततो निर्गत इति ज्ञापयितुम् । नित्यक्रियारूपेण तु वर्तते इति न काप्यनुपपत्तिः । पुरद्वारादित निर्गमनं सर्वज-नीन भवति त । निर्गच्छता भगवता द्वयं ज्ञापि-तमिति विशेषणद्वयमाह पद्ममाली निरायुध इति । ततः कीर्तिनीता, रक्षा तु कृतेति । एव निर्गम नस्य प्रयोजनमग्रे स्पष्टं भविष्यति ॥५८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धे

उत्तरार्धे प्रथमाध्यायविवरणम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—अणिमा आदि सिद्धियां जो योग का सहज फल है, यह जो यहाँ फल कहा जाता है, वह योग की सामर्थ्य का फल है जैसे ही सोये पड़े थे वैसे ही उच सबको वहाँ पहुँचाकर आप लौट आए वहाँ लेजाने का कारण उनके दुःख का मिटाना था यहाँ रहने से वे संकट से दुःखी होते थे ।

वहाँ को प्रजाओं के दुःख निवृत्ति के लिए बलभद्र को कहा रति के उत्पादक, उसने वह स्वीकार किया । कृष्ण भी स्वयं सदानन्द हैं । इसके अनन्तर यहाँ मथुरा में रहना नहीं चाहिए मानों यों जनाते हुए बलरामजी से साधन की अनुमति ले फल रूप कृष्ण मथुरा से पधारे । यद्यपि मथुरा में आपकी सदैव स्थिति है, तो भी आप पधारे किन्तु नित्य क्रिया रूप से तो यहाँ विराजते हैं । अतः इसमें किसी प्रकार अनुपति (असंगत) नहीं है नगर के द्वार से बाहिर जाना प्रसिद्ध ही है, भगवान् ने पधारते समय दो बात बताई (१) पद्मों की माला धारण कर पधारे, जिससे यह बताया कि हमने साथ कीर्ति भी ली है ।

और (२) शस्त्रों के बिना जाते हुए भी रक्षा * की है । इस प्रकार निकलने का प्रयोजन आगे स्पष्ट होगा ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धानुसार ५० वाँ अध्याय- उत्तरार्ध १ अध्याय
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुवोधिनी (संस्कृत टीका) का राजस-साधन
अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय श्री सुवोधिनी अनुसार ४७ वाँ अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित, सम्पूर्ण ।

* इस प्रकरण की लीला प्रद्युम्न स्वरूप से की है, अतः बन्धुओं की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण किए हैं, किन्तु अब जो रक्षा की है, वह 'स्थानदान से' की है अर्थात् द्वारका में पहुँच कर रक्षा की है अतः आग बिना शस्त्र के पधारे है ।

राग मारू

श्याम बलराम जब कंस मारयो ।

सुनि जरासन्ध वृत्तान्त अस मुता से युद्धहित कटक अपनो हंकारयो ॥

जोरि दल प्रबल सो चलयो मथुरापुरी सुनयो भगवान जब निकट आयो ।

तब दुहुँ वीर दल साजिके अपनो नगरते निरुसि रणभूमि छायो ॥

दुहुँ दिशि सुभट बाँके निकट अति जुरे मनो दोड दिशि घटा उमड़ि आई ।

सूर प्रभु सिंहध्वनि करत जोधा सकल जहाँ तहँ करन लागे लराई ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

श्री गोपीजन बल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्दल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

द्वितीय अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४८ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५१ वां अध्याय

कालयवन का भस्म होना तथा मुचुकुन्द की कथा

★

कारिका—निग्रहं प्रथमेऽध्याये निरूप्य हरिणा कृतम् ।

द्वितीयेऽनुग्रहं प्राह मुचुकुन्दाय तत्कृतम् ॥१॥

कारिकार्थ—पहले अध्याय में हरि ने जो चिग्रह किया उसका निरूपण कर, दूसरे अध्याय में मुचुकुन्द पर किए हुए अनुग्रह को कहते हैं ॥१॥

कारिका—तामसी हननाख्या हि राजसी नगरोद्यमा ।

सात्त्विकी नयनाख्या च निर्गुणा निर्गमस्तथा ॥२॥

कारिकार्थ—हनन रूप लीला तामसी है, नगर रचना रूप उद्यम लीला राजसी है मथुरा वासियों को लेजाने की लीला सात्त्विकी है और मथुरा से निर्गमन की लीला निर्गुण है ॥२॥

कारिका—निर्गुणस्थ निमित्तत्वं न तु कर्तृत्वमीर्यते ।

प्रबोधो भग्नं चैव संवादश्च यथाक्रमात् ॥३॥

स्तुतिश्च निर्गुणा प्रोक्ता तदग्रं हि फलिष्यति ।

अतो निर्गुणलीलात्र द्वितीये विनिरूप्यते ।

क्रिया भगवतो द्वेषा गुणेषु स्वे यतः स्थिता ॥४॥

कारिकार्थ—निर्गुण स्वरूप निमित्त मात्र है न कि कर्ता है, जगना^१, मरण^२, संवाद^३, तथा स्तुति^४ है, वह निर्गुण है जिसका फल पीछे^५ होगा इस कारण^६ से दूसरे अध्याय^७ में निर्गुण लीला का विशेष निरूपण है, भगवान् की क्रिया लीला दो प्रकार की है क्योंकि लीला गुणों^८ में रहनी है अर्थात् गुणों द्वारा होती है, लीला अपने स्वरूप^९ में स्थिति है अर्थात् धर्मी स्वरूप से की जाती है ॥३-४॥

कारिका सम्पूर्ण

आभास—पूर्वाध्यायान्ते तत्त्वान् परित्यज्य केवलं तं व्यामोहयितुं कीर्तिमेयीं वनमालां बिभ्रत् निर्गत इत्युक्तम्, कालयवनस्य मुक्त्यर्थं नारदोपदेशं गृहीतवतः साक्षात्कारः । ततस्तदनुसरणम्, ततो दृष्ट्या ज्ञानरूपेण ज्ञानाग्निना संघातनाशश्च निरूप्यते । निर्गुणक्रियाया मोक्षपर्यवसानात् । परं तस्य काल एव मुक्तिरिति निरूपयितुं द्वादशभिर्निरूप्यते तं बिलोक्षयेति ।

आभासार्थ—प्रथम अध्याय के अन्त में कहा गया कि भगवान् बिना आयुधों^{१०} के केवल कमल माला धारण कर मथुरा से पधारे, यों भगवान् ने क्रिया, उसका भावार्थ यह है, कि भगवान् के आयुध तत्त्वरूप हैं, अतः वे यहाँ ही छोड़ गए, जिससे वह मोहिते हो, कि यह ऐसे निर्भय हैं, जो बिना आयुधों के गमन कर रहे हैं और इससे भगवान् को कीर्ति सम्पादित की, जिसका चिन्ह कमल माला धारण की थी, नारद से उपदिष्ट कालयवन को मोक्ष देने के लिए उसे दर्शन दिया, पश्चात् उसका अनुसरण करना, अनन्तर दृष्टि से एवं ज्ञान रूप ज्ञानाग्नि से उसके संघात के नाश का निरूपण

१-मुचुकुन्द का जागना, २-यव का मरण, ३-भगवान् और मुचुकुन्द का वातालाप, ४-मुचुकुन्द की दो हुई भगवान् की स्तुति, ५-मुचुकुन्द की मुक्ति जन्मान्तर में होगी, ६-विशेष लीला न होने से पहले अध्याय का अर्थ चारों लीला में है, ७-दूसरे अध्याय का अर्थ निर्गुण लीला है क्योंकि मोक्ष लक्षण फल मिलेगा ।

(८) सगुण लीला, (९) निर्गुण लीला, (१०) हथियारो

किया गया है। निगुण-क्रिया का फल मोक्ष होता है, किन्तु वह फल उसकी समय आने पर प्राप्त होगा इसका निरूपण 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—तं विलोक्य विरिक्तान्तमुज्जिह्वानमिवोडुपम् ।

दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि, अतिशय सुन्दर श्याम स्वरूप पीले रेशमी चस्त्रों वाले उन श्रीकृष्ण को विशेष प्रकार वाले दूज के चन्द्र के समान बाहिर निकलते हुए देख कर उन्हें पकड़ने की इच्छा से पीछे दौड़ने लगा, छठे श्लोक से अन्वय है ॥ १ ॥

सुबोधिनी—तं विलोक्य वासुदेवोऽयमिति निश्चिन्त्य, तं जिपृक्षु रन्वधावदिति षष्ठेन संबन्धः । तत्रादौ त्रिभिस्तदृष्टं रूपं वर्णयति । पञ्चदशकलापूर्णमिव तावद्भ्रूविशेषणैः । अतः प्रथमतः चन्द्रदृष्टान्तेनैव निरूपयति । विशेषेण निष्क्रान्तम्, यथा उदयादेः श्वन्द्रः, न तु राहोमुखात्, नापि मेघेभ्यः । तथा भगवानपि न मारयितुं, नापि भयमुत्पादयितुं, भयेन वेति तदाह उज्जिह्वानमिति । प्रथमदर्शनापेक्षया द्विनोयदर्शने अधिककान्तियुक्तः प्रतीयत इति । ननु विशेषकान्तिप्रदर्शनं किमर्थमित्याशङ्क्याह उडुपमिवेति । चन्द्रो हि नक्षत्राणां रक्षकः । यदि तत्तन्नक्षत्रे न गच्छेत्, गत्वा वा तं न प्रकाशयेत्, स्वरूपतः फलतश्च, नदा नक्षत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात् । तथा भगवान् नारदादीनां रक्षार्थं तदुपदिष्टेषु स्वानुभावं ह्यपयितुं प्रतिक्षणं रूपवैशिष्ट्यं प्रकाशितवानित्यर्थः । किञ्च, तस्मिन् दृष्टे युद्धार्थं समागतानां क्रोधः

कदाचिद्भवेत्, ततश्चासन्मत्या मोक्षो न भवेदिति भगवान्स्वरूपं सुन्दरत्वेनैव प्रकाशितवानित्याह दर्शनीयतममिति । दर्शनीयोऽतिसुन्दरः । अत्याश्रयं हि परस्मै प्रदर्शयते । स्वस्यापि पुनः पुनर्दृष्टव्यो भवति । श्याममिति । रसात्मकता निरूपिता । सर्ववेदयुक्तत्वमाह पीतकौशेयवाससमिति । नगनान् मुक्तिरिति वैदिकः सिद्धान्तः । 'आद्यन्तमध्ये बद्धो हि वेदेनामृतमश्नुत' इति ।

कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः ।

पीतवर्णं कौशेयं वासो यस्येति । वेदो यज्ञो देवाश्च पदत्रयेण परिगृहीताः । छन्दोमयं पीतमिति । कौशेयं क्षीमम् । 'सौम्यं वै क्षीम' इति श्रुतेः । सर्वदैवत्यं वास इति च । अन्यथा पीताम्बरमित्येव ब्रूयात् । भगवदीय हि न प्राकृत-प्रकृतिकं भवतीति विशेषणवैयर्थ्यं च ॥१॥

व्याख्यार्थ—उसको देख कर यह निश्चय किया कि यह वासुदेव है, उनको पकड़ने के लिए पीछे दौड़ने लगा । देखे हुए स्वरूप का तीन से वर्णन करते हैं, पन्द्रह कलाओं से पूर्ण की तरह, उतने ही विशेषण देकर वर्णन करेंगे । अतः पहले चन्द्रमा के दृष्टान्त से वर्णन करते हैं, जैसे राहु के मुख से वा

बादलों से नहीं, किन्तु उदयाचल से जो चन्द्रमा उदय होता है वह सर्व का आनन्द देता है, वैसे ही भगवान् भी मारने के लिए नहीं, न भय पैदा करने के लिए और न स्वयं भय से प्रकट हुए हैं, किन्तु आनन्द-दानार्थं प्राविर्भूत हुए हैं इस लिए "उज्ज्वहान" पद दिया है। चन्द्रमा पहले दिन से दूसरे दिन विशेष प्रकाश वा ना प्रतीत होता है, विशेष प्रकाश किस लिए ? इसका उत्तर देते हैं, कि चन्द्रमा नक्षत्रों का रक्षक है, यदि प्रत्येक नक्षत्र के प्रकाश द्वारा न पहुँचे और उस प्रकाश से उनको प्रकाशित न करे, स्वरूप और फल से विमुख करदे, तो नक्षत्रों का जन्म ही व्यर्थ हो जावे, वैसे ही भगवान् नारद आदि भक्तों की बात रखने के लिए उन्होंने जिसको उपदेश दिया है उसके आगे अपना प्रभाव प्रकट करने के लिए हरेक क्षण में अपने रूप को विशेषता प्रकट करने लगे। उनके देखने पर युद्ध के लिए आए हुए शत्रुओं का, कदाचित् क्रोध आ जाय तो असन्मति होने से, मोक्ष रुक जाएगा, इसीलिए भगवान् ने अपना स्वरूप अतः सुन्दर बनाके दर्शन दिया, जिससे उनको न क्रोध आवे और न उनको असन्मति हो, तथा आगे विशेष सौन्दर्य से शत्रु को बहुत आश्चर्य में डाल देते हैं, अपने को भी बार बार देखने योग्य होता है क्योंकि गीता ही आपका (श्याम) स्वरूप है, श्याम शब्द से अपने स्वरूप की रसात्मकता बताई, जैसे श्याम मेघ रसपूर्ण होते हैं, "पीत कौशेयवाससम्" पद से यह बताया है कि वेद, यज्ञ और देव ये तीनों मेरे भीतर हैं, कारण कि श्रुति कहती है कि 'आद्यन्तमध्ये बद्धो' वेदेनामृतमश्नुत" जो मनुष्य ऊपर, मध्य और नीचे वस्त्रयुक्त हैं वह वेद से अमृत पान कर सकता है, जो नग्न है उनका मोक्ष नहीं होता है, जैसे कि वेद में कहा है "कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः" नीचे का वस्त्र शिखा और उपवीत ये तीन बन्धन हैं, ये जिनको हैं उनका वेद वचनानुसार मोक्ष होता है, अतः भगवान् ने पीत रंग से वेद को, पटवस्त्र से यज्ञ को और निम्न वस्त्र बान्धन से देवताओं को धारण कर रखा है, यदि इन तीनों को धारण न किया हो तो "पीताम्बर" धारण किया है यों कहते थे, भगवदीय पदार्थ भी प्राकृतिक प्रकृति के नहीं होते हैं यह ही विशेषण का सामर्थ्य है ॥१॥

आभास—एवं धर्मरूपतां निरूप्य अर्थरूपतामाह श्रीवत्सवक्षसमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के धर्मरूपता का वर्णन कर अब अर्थरूपता का वर्णन "श्रीवत्स" श्लोक से करते हैं—

श्लोक— श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुवत्तकन्धरम् ।

पृथुदीर्घवतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥२॥

शुक्रार्थ—छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए देदीप्यमान कौस्तुभ मणि को कण्ठ में धारण किए हुवे मोटी और लम्बी चार भुजाओं वाले और नवीन कमल जैसे लाल नेत्र वाले "उन (भगवान्) को देखकर ।।२।।

सुबोधिनी—श्रीवत्सी वक्षसि यस्येति । दक्षिणावर्तरोमरेखायां सुवर्णरेखावत्तजोविशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते । वक्षसि जीवः सान्निहित इति तत्रैव भगवता अर्थः स्थापितः सुतराम् । दक्षिणस्तनो धर्मो भवतीति धर्मप्रतिष्ठित एवार्थो भगवता परिगृहीतः । अत एव तत्र जीवप्रतिष्ठा म ह । भ्राजत्कौस्तुभेन मुक्ता कण्ठरा यस्येति । 'पुरुषः काममय' इति कामस्तन्निरूपणेन निरूपितः । मोक्षस्तु स्वनेत्र दीयत इति प्रसङ्गादन्यदानमपि

चतुर्भुजत्वेन निरूपयति पृथुदीर्घेति । पृथ्वो दीर्घाः चत्वारो भुजा यस्येति । कृपया ज्ञानमपि प्रयच्छतीति ज्ञापनार्थमाह नवकाञ्चारुणक्षणमिति । नवकमलवदरुणे ईक्षणे यस्य । नूतनत्वेन कालाग्रासः, कङ्कत्वेन सात्त्विकता, अरुणत्वेन राजसता च, ईक्षणस्य निरूपिता । तेन सरसा सदया ज्ञानदृष्टिर्भगवदोया भक्ति तावयतीति पञ्चमोऽपि पुरुषार्थो निरूपितः ॥

व्याख्यार्थ—श्री अंग में दक्षिण तरफ वाली रोमों की रेखा में जो सुवर्ण की रेखा सकल विशेष तेज दृग्गोचर होती है उसको "श्रीवत्स" कहते हैं वह जिसकी छाती पर शोभायमान है, जीव छाती के निकट स्थित है, अतः भगवान् ने 'अर्थ' अतिशय कर वहाँ ही पर धारण किया है दक्षिण स्तन धर्म है, इसलिए धर्म में स्थित ही अर्थ भगवान् ने ग्रहण किया है अतएव वहाँ जीव की स्थिति कहते हैं, देदीप्यमान कौस्तुभमणि को कण्ठ में धारण कर यह दिखाया है कि मैंने "काम" को भी धारण किया है, कारण कि श्रुति कहती है, कि 'पुरुषकाममयः' इस श्रुति को चरितार्थ कर दिखाया है मोक्ष तो अपने आप ही देते हैं शेष अन्य दान भी प्रसंग आने पर देते हैं जिसको "चतुर्भुज" होने से निरूपण करते हैं कि आपकी चार भुजाएँ मोटी और लम्बी हैं, कृपा कर ज्ञान भी देते हैं, इसको जताने के लिए कहा है, कि आपके नेत्र नवीन कमल सदृश लाल हैं, नेत्रों की नवीनता से यह कहा है कि जिस पर आपकी कृपा दृष्टि पड़ती है उसको, काल अपना ग्रास नहीं बना सकता है, कमलपत्र से सात्त्विकता प्रकट की है अरुणपत्र से राजसता आविर्भूत की है, इससे यह कहा है, कि रस और दया से युक्त भगवान् को ज्ञान दृष्टि जिस पर पड़ती है, उसकी भक्ति सिद्ध हो जाती है अर्थात् वह जीव भक्त बन जाता है, इस प्रकार पाँचवा पुरुषार्थ भी निरूपण किया है ।।२।।

आभास—प्रार्थनाबसर इति ह्यापयति नित्यप्रमुदितमिति ।

आभासार्थ—यह प्रार्थना का अवसर है यह "नित्यप्रमुदित" श्लोक से प्रकट करते हैं--

श्लोक—नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।

मुखारविन्द विभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३॥

श्लोकार्थ—नित्य आनन्दयुक्त, शोभायुक्त, सुन्दर कपोल वाले, मनोहर मन्द मुखवयान वाले, चमकीले मकर कुण्डलों वाले मुखारविन्द को धारण किए हुए उनको देखकर ॥३॥

सुबोधिनी—एवं सर्वपुरुषार्थदातारं भगवन्तं निरूप्य, मुखारविन्दमपि पञ्चभिविषेणै, विशिष्टं पञ्चपर्ववियारूपं स्वतन्त्रभक्तिमार्गत्वेन निरूपयन्नाह श्रीमदिति । मुखारविन्दं विभ्राण-मिति भगवद्विषेणम् । स मार्गो भगवतैव स्थाप्यत इति उद्घापयितुम् । तदपि श्रीयुक्तं भवति परमसुन्दरम् । भगवानिव । सुष्ठु कपोले पश्येति ।

प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रकारेणापि रसानुभवस्थानयुक्तम् । शुचि शुद्धं स्मितं यस्मिन्निति । सेवनार्थमेव समीचीनं मोहं संपादयति, नान्यथेति निरूपितम् । स्फुरन्ती मकरसदृशे कुण्डले यस्येति । वह्निर्निर्गमने श्रासार्थं स्थापिताविव मकरस्तुत्यौ वेदो निरूपितौ । मोक्षदत्तस्या गच्छन् भगवन्मार्गं भक्तिमार्गं च स्थापयतीति निरूपितम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सर्व पुरुषार्थों के देने वाले भगवान् का निरूपण कर, पाँच विशेषणों से युक्त पंचपर्वी विद्यारूप मुखारविन्द को भी स्वतन्त्र भक्तिमार्गपने से निरूपण करते हुए कहते हैं, कि वह स्वतन्त्र भक्तिमार्ग भगवान् ही स्थापन करते हैं, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि भगवान् का स्वतन्त्र भक्ति रूप मुखारविन्द भगवान् जैसा ही परम सुन्दर है उस मुखारविन्द के कपोल ऐसे सुन्दर हैं, जिनसे प्रवृत्ति निवृत्ति प्रकार से भी रसके आस्वादन का अनुभव किया जाता है. और उसको शुद्ध मनोहर मुखवयान भगवत्सेवन के लिए उपयोगी मोह उत्पन्न करती है अन्य प्रकार का मोह नहीं करती है, उस मुखारविन्द के कर्णस्थानों में भगवान् ने मकराकृति कुण्डल धारण किए हैं जो चमक रहे हैं जिसका आशय यह है, कि जो भक्ति मार्ग से बाहर निकलेंगे अर्थात् भक्ति मार्ग का त्याग करेंगे उनको यह वेद रूप मकर ग्रस लेंगे अर्थात् वे काल के आघोन हो जायेंगे, भगवान् मोक्षार्थ पधारते हुए भगवन्मार्ग तथा भक्ति मार्ग को भी स्थापना करते हैं, यों निरूपण किया है ॥३॥

आभास—एतादृशो भगवानेव भवतीति नारदशिक्षया ज्ञातवानित्याह वामुदेवो ह्ययमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के तो भगवान् ही होते हैं यों नारद की शिक्षा से समझ लिया, जिसका वर्णन "वामुदेवो" श्लोक में करता है—

श्लोक—वासुदेवो ह्ययमिति पुमाम् श्रीवत्सलाञ्छनः ।

चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री वत्स के चिन्ह वाले हैं, चतुर्भुज रूप हैं, कमल जैसे नेत्र वाले हे, वनमाला भी धारण की है और अत्यन्त रमणीय हैं तथा पुरुष हैं अतः यह ही वासुदेव है ॥४॥

सुबोधिनी—सत्त्वे भाविर्भूतः मोक्षदाता वा अयमेव वासुदेव इति निश्चयं कृतवान् । कथं निश्चय इत्याशङ्क्य असाधारणानि षड्गुणरूपाणि षड्विशेषणान्याह । इतीति निश्चयार्थः । यतः पुमान्, न तु प्रकृतिः । दिव्यदृष्ट्या पश्यतीति सर्वजगतः प्राकृतत्वं, भगवतः पुरुषत्वं च, दृष्टवान् । अनेनैश्वर्यमपि निरूपितम् । 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणी'ति वाक्यात् तेषां पुरुषरूपत्वं न वाधकम्, प्रत्युत मूलस्य पुरुषत्वे तेषां पुरुषरूपत्वमुपपद्यत इति साधकत्वमेव । श्रीवत्सो लाञ्छनं यस्येति । क्रियाशक्तिः पूर्णा वीर्यन्वेन निरूपिता ।

भगवत्येव सा यतः । ततो यशो निरूपयन् सर्व-पुरुषार्थदातृत्वे तद्भवतीति चतुर्भुजत्वमाह । ततो दृष्टयैव तापहारकत्वं भक्तिप्रदत्वेन निरूपयन् श्रियं निरूपयति अरविन्दाक्ष इति । रत्नव्यतिरिक्तान् सर्वानिव द्यति खण्डयति । महातेजस्विनमेव स्थापयतीति तादृशमभि निरूपयन् श्रियं भक्ति च निरूपितवान् । वनमाला अन्तः प्रवेश्य ज्ञानवतिष्ठतीति ज्ञाननिरूपणेन पूर्णता निरूपिता । अतिसुन्दरः सर्वथा कल्मषाभावात् । देशपरित्याग एव हि वैराग्यमिति । अतः कारणात् वासुदेव इति निश्चयः ॥४॥

व्याख्यार्थ—सतो गुण में आविर्भूत अथवा मोक्ष दाता यह ही वासुदेव हैं, यों निश्चय किया, निश्चय कैसे किया ? वह बताते हैं कि असाधारण जो छः गुण हैं उनको सिद्ध करने के लिए छः विशेषण कहते हैं । इति पद यहाँ निश्चय अर्थ में दिया है, क्योंकि पुरुष हैं, न कि प्रकृति है दिव्य दृष्टि से देखा, कि सारा जगत् प्राकृत है, एक यह भगवान् ही अप्राकृत पुरुष रूप हैं, यों कह कर भगवान् का 'ऐश्वर्य' धर्म प्रकट किया है "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि" अर्थ विष्णु के तीन रूप हैं, इस श्रुति के अनुसार उनके पुरुष रूप में किसी प्रकार वाद्य नहीं है, वल्कि मूल में पुरुष रूप होने से इनका पुरुष रूप बन सकता है, यों साधकता है ही, जिसको श्रीवत्स का चिन्ह है जिससे पूर्ण क्रिया शक्ति दिखाई और इससे "वीर्य" धर्म कहा क्योंकि वह क्रिया शक्ति भगवान् में ही है, अनन्तर सर्व पुरुषार्थ दातापन होने से ही "यश" होता है उसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि चतुर्भुज हैं अतः चारभुजाओं से चार पुरुषार्थ सिद्ध करते हैं स्वस्वरूप से पाँचवां भक्ति पुरुषार्थ का भी कृपया दान करते हैं, अनन्तर "अरविन्दाक्ष" कमल नेत्र कहने से यह बताया है कि आपकी दृष्टि से कमलवत् विरह ताप का नाश कर भक्ति प्रद हैं, इससे आपका (श्री) गुण दर्शाया है, अरविन्दाक्ष का अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं, कि आपके नेत्र रवि (सूर्य) के सिवाय सर्व को खण्डन करने वाले हैं महातेजस्वी का ही स्थापन करते हैं, यों कह कर यह बताया है, कि नेत्र "श्री" और भक्ति देने वाले हैं वन माला धारण कर

यह बताया है, कि आप ज्ञान की भाँति अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर स्थिति करते हैं, इसमें आपकी पूर्णता प्रकट है, अर्थात् सुन्दर है, इससे आप में किसी प्रकार का कल्मष नहीं है, यह सिद्ध किया है देश का परित्याग ही "वेराग्य" है। इस प्रकार बड़ गुण सयुक्त होने से निश्चय है कि ये ही वासुदेव हैं ॥ ५ ॥

श्लोक—लक्षणैर्नारदप्रोवर्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।

निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥५॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने जो लक्षण कहे थे वे इसमें ही (इनमें) हैं, अतः यह कोई दूसरे नहीं है, बिना आयुधों के पैदल जा रहे हैं इसलिए मैं भी इनसे बिना आयुध लिए लड़ूँगा ॥५॥

बुधोद्दिनी—किञ्च, लक्षणैरिति । नारदोक्तैः वासुदेवादयो भवितुं नार्हति । पुराणान्तरादत्र कथानुसंधेया । गतो हि नारदः कालयवनमाह । यादवाः त्वत्सदृशाः इति, परं कृष्णो रक्षकः स च सर्वथा जातुमेवाशक्यः कुतो जय्यः । कथमशक्य इत्यकाङ्क्षायां दूतनान्दनेकानि रूपाणि संपादयतीत्युक्त्वाह त त्वं न ज्ञास्यसीति । ततो विशेषपजिज्ञासायां लक्षणानि निरूपितवान् । स एकाकी निरायुधः अयुध्यमानः सर्वाभरणभूषितः पदातिनिर्गमिष्यतीति । तं यः सायुधः

अश्वाद्यारूढोनुगच्छेत्, तं पापं प्रसर्पदिति । कालयवनस्यापि स्वपापादेव भयं, नान्यत् इति निरूपितम् । अतोऽस्मिन्नारदोक्तलक्षणानि वर्तन्त इति वासुदेवश्च । तर्हि किं कारुष्यसीत्याशङ्क्यामाह निरायुध इति । प्रतोऽयं निरायुधः पद्भ्यां च चलन् गच्छति, अतोऽहमपि निरायुध एव गमिष्यामि, पद्भ्यामेव चलन्, ततो योत्स्ये मल्लप्रकारेण । अनेन सह युद्धार्थमेव यतः समागतमिति । अहनपि निरायुधः, अयमपीति ॥५॥

व्याख्यानार्थ—नारदजी के कहे हुए लक्षणों से निश्चित है कि यह ही वासुदेव है, अन्य हो नहीं सकते हैं, दूसरे किसी पुराण की कथा यहाँ विचार में लानी चाहिए, नारद ने आकर कालयवन को कहा, कि यद्यपि यादव तेरे समान हैं, किन्तु उनका रक्षक कृष्ण है और वह पहचानना कठिन है तब जय कैसे होगी ? वह क्यों नहीं पहचाना जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह अनेक नवीन रूप धारण करते हैं, अतः तू उनको जान नहीं सकेगा तब कालयवन ने उनके जानने को विशेष इच्छा प्रकट की तब नारदजी ने भगवान् के लक्षणों को कहा, कि वे अकेले बिना आयुध लिए पैदल जाते होंगे और सर्व आभरणों से भूषित होंगे तथा लड़ाई भी नहीं करते होंगे, जो घोड़े पर चढ़े हथियार ले उनके पीछे जाएगा, उसको पाप लगेगा यह सुनकर कालयवन को भी अपने आप

से ही भय था, न दूसरे से, यह कथा वहाँ कही है, अतः इनमें नारदजी के कहे हुए लक्षण हैं, जैसे विना आयुध सर्वाभरण भूषित है और उड़ते भी नहीं है तथा पैदल जा रहे हैं, तब क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया, कि जब ये निरायुध पैदल जा रहे हैं तो मैं भी विना आयुधों के पैदल जा के इनके साथ मल्ल युद्ध से लड़ूँगा, क्योंकि मैं इनके साथ लड़ने के लिए ही आया हूँ। मैं भी विना आयुधों के हूँ और ये भी वैसे ही हैं ॥१॥

श्लोक — इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।

अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥६॥

श्लोकार्थ — कालयवन इस प्रकार निश्चय कर, विमुख होकर भागते हुए उन कृष्ण को पकड़ने के लिए पीछे दौड़ने लगा जिनको योगी भी नहीं पकड़ सकते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—इतीति । एवं निश्चित्य पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवत् । नारदो हि हितप्रश्ने उक्तवान् । यथा भगवान् करोति, तथा कर्तव्यमिति, तदा ते जयः जीवन च भविष्यतीति । तदनेनान्यथाबुद्धम् । भगवान् पराङ्मुखः, अयं भगवत्सम्मुखो भूत्वा सर्पणं कृतवानिति । वावयाजाने हैतुमाह यवन इति । जातिदोषात् न ज्ञातवानित्यर्थः । यदि गच्छति भगवति

तूष्णीमय तिष्ठेत्, बलभद्रेण वा युद्धं कुर्यात्, तदा जयो भवेदपि, भगवांश्च सम्मुखमागच्छेत्, तथागमने प्रयोजनाभावात्, अतः पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवन्तं जिघृक्षुः सन्स्वयमन्वधावत् । ननु जिघृक्षया गमनमुचितमेवेत्यशङ्क्याह यागिनामपि दुरापमिति । अत्र प्रमाणं तमिति । तथैव प्रसिद्धम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार निश्चय कर विमुख भी भगवान् के पीछे तेज दौड़ने लगा, नारदजी ने तो इसकी कल्याण होने का मार्ग बताया था कि जैसे भगवान् करे वैसे तू भी करता तब तेरी जय होगी तथा जीवन भी होगा, वह उनका कहना उसने अन्य प्रकार समझा, भगवान् विमुख थे और यह भगवान् के सम्मुख होकर दौड़ने लगा नारदजी का कथन इसने यत्र जाति दोष होने से, पूरा न समझा, भगवान् के जाने पर, यह चुप होकर खड़ा रह जाता उनके पीछे दौड़ता नहीं, तो अथवा बलभद्रजी से युद्ध करता तो इसकी जीत भी होती और भगवान् सम्मुख भी आ जाते हैं, वैसे जाने के लिए कोई प्रयोजन नहीं था, विमुख भगवान् के भी पीछे दौड़ा, क्योंकि उनको पकड़ने का इमकी इच्छा थी, पकड़ने के लिए पीछे तेजी से जाना तो योग्य ही था इस पर कहते हैं, योग्य नहीं था. कारण कि जिनको पकड़ने के लिए अघ्नता से जा रहा था, उनको योगी भी नहीं पहुँचते हैं तो इसकी क्या शक्ति है, कि उनको पकड़ ले इसमें प्रमाण क्या इसलिए श्लोक में “तं” शब्द देकर यह बताया है कि यह तो प्रसिद्ध ही है ॥६॥

आभास—ननु कियद्दूरं गत्वा अप्राप्तौ कथं न निवृत्त इति चेत्, तत्राह हस्तप्राप्तमिवेति ।

आभासार्थं—कितनीक दूर जाने पर लौटकर क्यों न आया ? इसका उत्तर “हस्तप्राप्तमिवा” श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ।

नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्विकन्दरम् ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् पद-पद पर यों दिखाते थे, कि अभी पकड़ में आया, यों करते हुए उसको ऐसे दूर ले गए जैसे वह यवनेश पर्वत की कन्दरा में पहुँच गया ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—स हि हरिणा नीतः । तद्दि वञ्चयतीति कथं न ज्ञातवान्, तत्राह । पदे पदे हस्तप्राप्तमात्मानं भगवन्तं मन्यमान इति । हस्त-मात्रगमनानन्तरं भगवान् प्राप्य इति स जानन् गतः । नहि कश्चिद्दस्तात्तादुदासिनो भवति । अत आकांक्षा न निवृत्ता । यदा हि प्राणी क्रियया आत्मानं प्राप्स्यामीति मन्यते, स हि भ्रान्त एव भवति । ननु भगवता वा किमर्थं नीत इति चेत्, तत्राह हरिणेति । स हि हरिः । तस्याप्यविद्या हर्तव्या, मुचुकुन्दस्य च निद्रेति । भगवान् हि यः स्वात्मानमनुसरति, तन्नोपेक्षत इति, पदे पदे

तथा बुद्धिमुत्पादितवान् । तदाह दर्शयनेति । पदे पदे आत्मानं हस्तप्राप्तं दर्शयता । उभयत्रा-पीदं वाक्यं युज्यते । अतो गन्तुर्नेतुश्च इच्छाया अनिवृत्तत्वात् दूरं नीतः । ततः अद्रेः कन्दरा यत्र तत्स्थानमपि नीतः । नन्वेतावत्यपि दूरे अप्राप्तिश्चेत्, तदा नीतिशास्त्रविचारेणापि ‘शिथिल-श्च सुबद्धाश्चे’ति न्यायेन कथं न निवृत्त इति चेत्, तत्राह यवनेश इति । दुष्टानां स्वामी न नीतिज्ञः । मथुरातो दशयोजनान्ते धवलपुरमिति प्रसिद्धमिदानीम्, पूर्वं तु आसीत् मुचुकुन्दगुहा ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—कालयवन लौटा क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि उसको निश्चय हरि स्वयं ले गए, उसने क्यों नहीं समझा, कि मुझे ठगते हैं इस पर इसको यह ठगने को बात समझ में ही नहीं आई, क्योंकि इसने देखा कि दूर नहीं है, अभी पकड़ लेता हूँ, यों समझ कर जाने लगा, कोई भी इस प्रकार समझे कि केवल हाथ जितना फासला है, तो कोई उदासिन हो कर लौटता नहीं है, इसलिए चाह मिटी नहीं, जब मनुष्य समझता है, कि यों क्रिया करने से भगवान् को पा लूंगा तब समझना चाहिए ऐसा समझने वाला विलकुल भूला हुआ है, भला भगवान् इसको क्यों ले जा रहे थे ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे सब की अविद्या का हरण करने वाले हैं, जिससे आप का नाम यहाँ “हरि” कहा है इसको भी अविद्या नष्ट करनी है और मुचुकुन्द की निद्रा भी हरण

करनी थी, आप भगवान् हैं, अतः जो आपके पीछे चलता है उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं, इस प्रकार पद पद में उसमें जान पैदा करने लगे, कैसे ? तो कहते हैं कि पद पद में अपने को हाथ में आया यों दिखा कर ज्ञान देने लगे, यह वाक्य दोनों तरफ लग सकता है, अतः यवन पकड़ने की इच्छा से पीछे जा रहा था उसकी इच्छा थी, कि मैं इनको पकड़ लूँ वह इच्छा इसकी पूर्ण नहीं हुई थी, वैसे नेजाने वाले भगवान् को, इच्छा थी कि इसको उसके द्वार में ले चलूँ जहाँ मुचुकुन्द सोया हुआ है, इस प्रकार दोनों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुई थी इस लिए भगवान् इसको दूर लेजा रहे थे, अतः वह पर्वत की गुफा जहाँ इसका स्थान था वहाँ वे गए इतनी दूर ले जाने पर भी जब पकड़ में नहीं आए तब नीति शास्त्र के 'शियल और सुबुद्ध' इस न्यायानुसार क्यों नहीं लौटाया ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि "यवनेशः" दुष्टों का स्वामी है, अतः नीति नहीं जानता है। मथुरा से चालीस कोस पर, अद प्रसिद्ध धवल "घोल" पुर नगर जहाँ है वहाँ पहले वहाँ मुचुकुन्द की गुफा थी ॥.॥

आभाम—क्रियया प्राप्त्यभावमाशङ्क्य, जपादिनेव वचनाद्भगवान् प्राप्तव्य इति मत्वा, मध्ये वचनमप्युक्तवानित्याह पलायनं यदुकुल इति ।

आभासार्थ—जब पीछे जाने की क्रिया से भगवान् नहीं प्राप्त हुए तब जय आदि की भाँति वचनों से भगवान् को प्राप्त करना चाहिए यों मान कर, बीच-बीच में वचन भी कहने लगा वे वचन "पलायनं" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।

इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥८॥

श्लोकार्थ—यदुकुल में आविर्भूत आपको इस प्रकार भागना योग्य नहीं है, ऐसे तिरस्कार के वचन कहता हुआ पीछे जा रहा था, परन्तु उनको पा न सका, कारण कि इसके पाप अभी तक नाश नहीं हुए हैं ॥८॥

सुबोधिनी—यदुहि धर्मात्मा । अन्यथा अस्मत्सदृशत्वेन कथमुक्तो भवेत् । तादृशवशे जातस्य सर्वागम्यस्यापि अवतारधर्मानुसरण-मुचितमिति पलायनमनुचितमित्यर्थः । ननु भगवान् कथमेतद्वाक्यं न गृहीतवान्, तत्र-ह इति क्षिपन्ननुगत इति । स हि न यथार्थतया

वदति, किन्तु तिरस्कारार्थं वदतीति । यदुकुले तस्य श्रद्धाभावात् किं तस्याग्रे यदुकुलप्रतिष्ठा-रक्षणेनेति युक्तमेव भगवत्स्तद्वाक्यानङ्गी-करणम् । अत एव नैनं प्राप । अन्यथा भगव-दनुगमने भगवान् प्रातः स्यात् । तेन वचनेन पापमपि जातमित्याह अहताशुभ इति । यतः

अशुभमपि न निवृत्तम्, अतो न प्राप । पूर्वाशुभ- वा । वाक्प्रजनितपापेन पृष्ठउस्ताडितः न भगवन्तं
मिति केचित् । तद्भगवद्दर्शनेनानुगमनेन च प्रापेत्यर्थः ॥८॥
निवर्त्यत एवेत्युपेक्षणोपमम् । आहतः अशुभेनेति

व्याख्यार्थ—यदु धर्मात्मा थे, यदि धर्मात्मा न हुए होते तो, हमारे सरोखे उनको थोड़ा कैसे कहे, वैसे धर्मिष्ठवंश में पैदा हुए और सबसे अगम्य का भी अवतार धर्म का अनुसरण करना योग्य है किन्तु भागना अयोग्य है, जब यवन ने यह वचन कहे तब भगवान् ने इन वचनों को क्यों नहीं माने ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह यवन यह वचन बोलता हुआ पीछे जा रहा था, भगवान् ने इस लिए नहीं माना, कि ये वचन तिरस्कार करने के लिए बोल रहा था, अतः वे वचन मानने के योग्य नहीं थे, उसकी यदुकुल में श्रद्धा नहीं थी, इस लिए उसके आगे यदुकुल को प्रतिष्ठा रखने से क्या लाभ ? अतः भगवान् ने उसके वचन अंगीकार नहीं किए वह योग्य हो किया है, इसलिए वह भगवान् को पा न सका, नहीं तो भगवान् के अनुसरण करने से, भगवान् मिलही जावे उस वचन से इसको पाप भी लगा इस लिए कहा कि "अहताशुभः" इसके पाप नष्ट नहीं हुए जिससे, भगवान् को प्राप्त न कर सका, कोई कहते हैं कि अगले अशुभ थे इस लिए प्राप्त नशुं कर सका यदि वे पाप पूर्वजन्म के होते तो भगवान् के दर्शन और अनुगमन करने से मिट जाते अतः इस सिद्धान्त की उपेक्षा करनी चाहिए अथवा अशुभ से नष्ट हुआ यों अर्थ करना चाहिए कहे हुए वचनों से उत्पन्न पाप में पीछे से ताड़ित हुआ इस लिए ही भगवान् को प्राप्त हुआ ॥८॥

आभास—भगवान् पुनर्वराहो हिरण्याक्षवाक्यमिव सर्वसमर्थोऽपि, कार्यगौरवं मन्य-
मानोऽपि, न निवृत्त इत्याह एव क्षिप्तोऽपीति ।

आभासार्थ—फिर वराहावतार में हिरण्याक्ष के वाक्यों की भाँति यहाँ सर्व समर्थ होते हुए भी भगवान् कार्य गौरव मानते हुए न लौटे जिसका वर्णन "एवं क्षिप्तोऽपि" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एवं क्षिप्तोऽपि भगवान्प्राविशद्गिगिकन्दरम् ।

सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं दृशे नरम् ॥९॥

श्लोकार्थ—ऐसे तिरस्कृत होते हुए भी भगवान् गिरि की कन्दरा में प्रविष्ट हुए वह भी अन्दर गया, वहाँ दूसरे सोए हुए पुरुष को देखा ।

सुबोधिनी—‘वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृत’ इति वधानुकल्पमेव कर्तुं गिरिकन्दरं प्राविशत् । एतावानेव भगवद्वापारः निर्गुणो हि फले निमित्तमिति ज्ञापयितुं निरूपितः । तद्भगवति फलितमित्याह सोऽपि प्रविष्ट इति । यदा भगवान् गिरिकन्दरं प्राविशत्, तदा सोऽपि प्रविष्टः । प्रवेशानन्तरं तस्य भ्रमो जात इत्याह तत्तान्यं शयान नर ददृश इति । नरत्वमेव तत्र प्रतीतम् नत्वन्यद्वलक्षण्यम् । यद्यपि ससामग्रीकः शेते, तथापि पूर्वमेव शयनार्थं सामग्री प्रेषयित्वा पश्चादागत्य शयनं कृतवानिति तस्य बुद्धिः ॥६॥

व्याख्यार्थ—यदि कोई भक्त का द्रोह करे, तो उसको वध जैसा सामान्य दण्ड देना चाहिए, यदि भगवान् का द्रोह करे तो वध का दण्ड देना चाहिए अथवा भगवान् का द्रोह करे तो वध जैसा सामान्य दण्ड देना चाहिए और भक्त का द्रोह करे तो वध का दण्ड देना चाहिए इस वाक्य के अनुसार “वधानुकल्प” वध से कुछ कम दण्ड—ही करने के लिए पर्वत की गुफा में प्रवेश कर गए, इस प्रकार ही निर्गुण भगवान् की क्रिया फल में निमित्त कारण है, यों जताने के लिए निरूपण किया है, अर्थात् भगवान् गुफा में गए उसका फल जो वध होना था, वह फल यवन को मिला क्योंकि यवन भी गुफा में गया, जाने के बाद उसको भ्रम हुआ, क्या भ्रम हुआ ‘भ्रम यह हुआ, कि उसने वहाँ एक दूसरे पुरुष को सोया हुआ देखा, उसको वहाँ केवल पुरुषपने की ही प्रतीति हुई। उसमें जो विलक्षणता थी उसको प्रतीत न हुई, यद्यपि वह पुरुष सकल सामग्री महित सो रहा था किन्तु इसकी बुद्धि यों हुई कि अपनी मकल सामग्री पहले ही भेज दी है क्योंकि इनको सोना था ऐसा उसकी बुद्धि में भ्रम हुआ ॥६॥

आभास—ननु भगवान् शयनार्थं चेदागतः, तदा तवागमनमनुचितमिति सुतराम-तिक्रमोऽनुचित इत्याशङ्क्य, तस्य भ्रान्तस्याभिप्रायमाह नन्वसाविति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् सोने के लिए ही आए हैं तो तेरा आना योग्य नहीं है, इस लिए अतिक्रम करना अयोग्य है ऐसी शंका कर उस भूले हुए का अभिप्राय “नन्वसौ” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—नन्वसौ दूरमानोय शेते मामिह साधुवत् ।

इति मत्वाच्युतं सूढस्तं पदा समताडयत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—कालयवन मन में कहने लगा, कि यह मुझे इतना दूर लाकर आप साधु की भाँति सो रहे हैं अच्युत को यों समझ उस पुरुष को लात मारीं ॥१०॥

सुबोधिनी—स्वयमागच्छतु नाम. कथं नोक्त-
वान् शयनायं गच्छामीति, युद्धं वा न करिष्या-
मीति । यो हि यमनुधावति, तस्यानिषेधे 'अप्रति-
षिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन दूरे गत्वा युद्धं
करिष्यतीत्यभिप्रायो भवति । निकटे सहायो
बलवान् भवतीति । तस्मादेवं भ्रमं जनयत्वा
एतावद्दूरमानीय, युद्धमप्यकृत्वा, साधुवत् शेते ।
यो हि वञ्चयति, स न साधुः । असाधोरनिद्राण-
स्योत्थापनं न दोषायति दुर्बुद्धिः शयान भगवन्तं

मत्वा पदा समताडयत् । पादयोर्व्यथा जनितेति,
महान्श्रातिक्रमो भवत्विति । शयानोद्बोधनं पाद-
ताडनमतिक्रमार्थमच्युतबुद्धिश्चेति त्रयो दोषाः ।
ननु महानयं महत्श्रोपदेशं प्राप्य कथमेवं दुर्बुद्धि-
जात इति चेत्, तत्राह मूढ इति । स्वभावतो
मूढः । अच्युत इति तद्बुद्ध्या ताडितत्वान्महतोऽपि
पादप्रहारे न राज्ञः कश्चिदपकारो जात इति सूचि-
तम् ॥१०॥

व्याख्यान—यवन कहने लगा. आप आजाते, मुझे क्यों ले आए ? कह देते, कि मैं सोने के लिए
जा रहा हूँ और लड़ूंगा नहीं, जो कोई किसी के पीछे दौड़ता है तो उसको आने के लिये यदि रोकान न
जाए तो समझा जाता है, कि इसको आने में सम्मति है, यह वहाँ दूर चल कर लड़ाई करेगा ऐसा
इसका अभिप्राय है यों समझा जाता है, क्योंकि वहाँ निकट में वह शत्रु बलवान् और उसकी सहायता
करने वाले भी हैं दूर कोई नहीं होगा इस प्रकार भ्रम पैदा कर इतना दूर लाकर अब आप युद्ध भी
न कर, साधु की भाँति सो रहे हैं जो इस प्रकार ठगते हैं वह साधु नहीं हैं. असाधु को और जो नीन्द
में नहीं है, उसको जगाने में कोई दोष नहीं है, इस प्रकार को दुर्बुद्धि से उस सोए हुए को भगवान्
समझ कर लात लगा दी, पादों के लगने से व्यथा हुई और महान् अतिक्रम है, सोए हुए को जगाना,
लात मारना, अतिक्रम के लिए, अच्युत को बुद्धि. ये तीनों ही दोष हैं यह कालयवन महान् है और
महान् नारदजी का इसको उपदेश मिला है फिर इसको बुद्धि ऐसी कैसे हुई ? इसका उत्तर में कहा है,
कि "मूढ" स्वभाव से मूख है; यह अच्युत है इस बुद्धि से लात मारी जिससे राजा का कुछ भी उप-
कार न हुआ ॥१६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह स उत्थायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह "स उत्थाय" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मीत्य लोचने ।

दिशो विलोकयन्पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ॥११॥

श्लोकार्थ—बहुत दिनों से सोया हुआ, वह उठकर धीरे धीरे आँखों को खोल कर
चारों तरफ देखने हुए वाजु में खड़े हुए को देखा ॥११॥

सुबोधिनी — पादप्रहारेण चिरं सुप्तोप्युत्थाय
सर्वा दिशो विलोकयन् पार्श्वे तं कालयवन-
मद्राक्षीत् । स तु प्रथमतः तत्प्रतिकूलां दिशं

दृष्टवान्, ततः क्रमेण दृष्टिं प्रसारयन् द्वितीय-
पार्श्वे अवस्थितमुत्थितं पश्चाद्दृशे ॥११॥

व्याख्यार्थ—बहुत समय से सोया हुआ भी लात मारने से जगकर सब दिशाओं को देखते हुए
समीप में उस कालयवन को देखा वह तो पहले ही उसके प्रतिकूल दिशा को देख रहा था, पश्चात्
क्रम से दृष्टि को फैलाते हुए दूसरी तरफ जैसे स्थित था, वैसे उसको पश्चात् उठा हुआ देखा ॥१४॥

आभास—ततः कोऽयमिति प्रश्नात्पूर्वमेव दर्शनमात्रेणैव स भस्मसाज्जात इत्याह
स तावत्तस्य दृष्टस्येति ।

आभाषार्थ—पश्चात् वह कौन है ? इस प्रकार पूछने से पहले ही केवल दर्शन
होते ही यवन भस्म हो गया इसका वर्णन “स तावत्” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—स तावत्तस्य दृष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।

देहेजेनाग्नि दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! क्रोधित हुए उसके दृष्टि पड़ने से, उस कालयवन की देह
से अग्नि प्रकट हुई जिससे जल कर वह क्षण में भस्म हो गया ॥१२॥

सुबोधिनी—निरपराधस्ताडित इति तस्य
क्रोधः । अतो दृष्टस्य तस्य दृष्टिपातेन निमि-
त्तेन कालयवनदेहस्थित एवाग्निः काष्ठस्थितो
वह्निर्वह्निस्पर्शनेव प्रादुर्भूतः । ततो देहेजेनैवा-

ग्निना दग्धः सत् क्षणमात्रेणैव भस्मसादभवत् ।
बहिःस्थितोऽग्निः दवानल इवाल्पमेव दहेत्,
पलायनं वा कुर्यात् । अन्तःस्थितोऽग्निरिति
सर्वव्यापारं दूरीकृत्य भस्मसादेव कृतवान् ॥१२

व्याख्यार्थ—बिना अपराध के उस सोए हुए को लात मारी, इसलिए वह क्रुद्ध हुआ, क्रोधित
हुए उसकी दृष्टि पड़ने से कालयवन की देह में ही स्थित अग्नि जैसे काष्ठ में स्थित अग्नि के स्पर्श से
प्रकट होनी है, वैसे ही प्रकट हो गई, पश्चात् देह से उद्भूत अग्नि से जल कर क्षण में राख हो
गया, बाहिर की अग्नि वन की अग्नि की भाँति थोड़ा ही जलावे, वा भाग जावे, भीतर की अग्नि
ने तो सर्व प्रकार के व्यापार को दूर कर भस्म ही कर दिया ॥१२॥

आभास—प्रकृते भगवता यवनोऽयं यथाकथञ्चिन्मारित इति विवक्षितत्वाद्दिशेषं न कथयिष्यतीत्याशङ्क्य सावधानं च शृणोतीति ख्यापयितुं राजा तं पृच्छति को नामेति ।

आभासार्थ—चालू प्रसंग में भगवान् ने इस यवन को किसी प्रकार मारा, यों विवक्षित होते हुए भी विशेष न कहेंगे यों शंकित हो कर और सावधानता से सुनता है इसको प्रसिद्ध करने के लिए राजा उसका प्रश्न “को नाम” श्लोक से करता है ।

राजोवाच—

श्लोक—को नाम स पुमान्ब्रह्मन्कस्य किवीर्य एव च ।

कस्माद्गुहां गतः शिष्ये किंतेजो यवनादननः ॥१३॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित कहने लगा कि हे ब्रह्मन् उस पुरुष का नाम क्या था ? किस वंश का था ? उसका पराक्रम कैसा था ? जिससे कालयवन को भस्म कर डाला, वह गुफा में किस लिए जा कर सो रहा था ?

सुवोधिनी प्रसिद्धया अज्ञानं वारयति । अन्ये पञ्चार्था ज्ञातव्याः ।
'अन्य'मिति पुल्लिङ्गात् पुंस्त्वं ज्ञातमेव ।

व्याख्या—प्रसिद्धि से अज्ञान का निवारण करते हैं नवें श्लोक में “अन्यं” शब्द पुल्लिङ्ग देकर वता दिया कि यह पुरुष है, यों तो जान लिया है, शेष पांच अर्थ जानने हैं वे पांच अर्थ कारिका में कहते हैं ।

कारिका—मापसंबन्धरूपाणि निमित्तं शयने तथा ।

दाहकत्वं दृष्टिमात्राद्ब्रह्मविज्जःस्यते परः ॥१॥

कारिकार्थ—(१) नाम, (२) सम्बन्ध, (३) रूप, (४) सोने का कारण और (५) देखने से ही जलना ये पाँच अर्थ जानने हैं । श्लोक में “ब्रह्मन्” विशेषण देकर यह कहा है कि पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी सब जानते हैं अतः परीक्षित शुक्रदेवजी को कहता है, कि आप यह सब मुझे बताओ ॥१॥

सुवोधिनी—कस्य संबन्धी, किं वीर्यं यस्य, | यस्येति किं तेजाः । यतो यवनादना जातः ।
 अन्यथा एकाकी सिंहादिसम्भाविते देशे कथं | अग्निसूर्यादीनामपि नैवंविधं तेजः सम्भवति ।
 शयीत । कस्माद्वा हेतोः उत्तमस्थानेषु विद्यमानेषु | यवनपदेन तस्यापि महत्त्वमुक्तम् । विशेषतो वक्त-
 गुहां गतः शेते । किं वा तस्य तेजः । किं तेजो | व्यैवैषा कथेति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—किसका यह सम्बन्धी है ? इसका पराक्रम क्या है ? यदि विशेष पराक्रम न होता तो अकेला जिस प्रदेश में सिंह आदि हिंसक पशुओं के आने की संभावना है, वैसे प्रदेश में कैसे आकर सोवे ? अथवा उत्तम स्थानों के होते हुए भी गुफा में किस कारण से सोता है ? उसका तेज कैसा है ? कैसे तेज वाला है ? जिस तेज से यवन जनकर भस्म हो गया अग्नि सूर्य आदि का तेज भी ऐसा नहीं होता है, और जिसको जलाया है वह भी “महान्” है इस लिए ही उसको “यवन” कहा है इस लिए यह कथा मुझे विशेष रूप से कहनी चाहिए ॥१३॥

आभास - एतदर्थमेव भगवानागत इति तस्य विशेषमाह स इक्ष्वाकुकुल इति सप्तभिः ।

आभासार्थ—भगवान् इसीलिए ही आए है इससे उसका विशेष वर्णन “स इक्ष्वाकुकुले” श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—स इक्ष्वाकुकुले जातो मांधातृनयो महान् ।

मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—वह इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न, मानधाता राजा का पुत्र था, ब्राह्मणों का भक्त और सत्य ही जिसकी लड़ाई है वैसे मुचुकुन्द नाम वाला बड़ा प्रसिद्ध हुआ था ॥१४॥

सुवोधिनी—भगवत्त्वमग्रे तस्य भविष्यतीति | तोऽपि महान् । कुलोत्कर्षः पितुरुत्कर्षः स्वरूपोत्कर्ष-
 भगवत्कथं वैषेति ज्ञापयितुं च । अन्यथा भगवद्द्व्य- | पेश्रोक्तः । तस्य नामोत्कर्षमाह मुचुकुन्द इति
 त्तिरिक्तकथा न श्रोतव्येति क्षोतृणां विरक्तिः | ख्यात इति । तस्य वैदिकं सहजं च धर्ममाह ब्रह्म-
 स्यात् । इक्ष्वाकोः कुले जातः । मनोः पुत्राणां | ण्यः सत्यसङ्गर इति । ब्राह्मणानां हितश्चेत्सर्वोऽपि
 मध्ये मुख्य इक्ष्वाकुः मान्धाता चायोनिजः, केवल- | वैदिको धर्मः सेत्स्यति । सत्यः सङ्गरो युद्धं यस्य
 पुसवनजलाज्जातः । अप्राकृतबीजोऽपि स्वरूप- | ॥१४॥

व्यायार्थ—यह भगवत्कथा ही है यह जताने के लिए कहा है कि उसका भगवत्व आगे प्रकट होगा, यदि यों न कहते तो श्रोता समझते कि यह भगवत्कथा नहीं है तो इससे उनकी विरक्ति हो जाती, इक्ष्वाकु के कुल में जन्मा है, मनु के पुत्रों में मुख्य इक्ष्वाकु है, मान्धाता तो योनि से उत्पन्न नहीं केवल पुंसवन के संस्कृत जल से उत्पन्न हुआ है, अलौकिक बीज से जन्म होने के कारण से भी तथा स्वरूप से महान् हैं कुल, पिता और स्वरूप इन दोनों से मान्धाता महान् होने से ही विशेष उत्कर्ष वाला है, अब चौथा उसके नाम का उत्कर्ष कहते हैं कि वह मुचुकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ उसमें वैदिक धर्म स्वाभाविक था वह कहते हैं कि १-ब्रह्मण्यः, ब्राह्मणों का हितकारी था, उनका हित हुआ तो सम्पूर्ण वैदिक धर्म सिद्ध होगा, सत्यसंगरः सत्य ही जिसका युद्ध है, अर्थात् सत्यकार्यों को रक्षा के लिए लड़ाई करता था ॥१४॥

श्लोक—स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।

असुरेभ्यः परिव्रतस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—दैत्यों से डरे हुए, इन्द्र आदि देवों ने अपनी रक्षा के लिए उससे प्रार्थना की थी, अतः उसने उनकी रक्षा बहुत समय तक की ॥१५॥

सुबोधिनो—एव षड्गुणयुक्त इति इन्द्राद्यै-
रात्मरक्षणे स याचितः । अनेन भगवत्तुल्यत्वेन
निरूपिता । स्वरूपतो लोकतः कार्यतश्च गुणाना-
मुत्कर्षो निरूपितः । संसाराद्गीताः महापुरुषमिव
प्रार्थितवन्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह-असुरेभ्यः
परिव्रतस्तैरिति । ये हि देवानपि मारयन्ति, तानपि

मारयित्वा, रक्षां कृतवानित्याह तद्रक्षामिति ।
दैत्यानां पलायने पुनरागमनशङ्का भवतीति चिर-
कालं रक्षामकरोत् । यावदिन्द्रादयोऽतिपुष्टाः ।
क्षत्रियस्यायमेव धर्मः यज्ञादेरप्यधिक उक्तः
॥१५॥

व्याख्यानार्थ— इस प्रकार वह षड्गुण युक्त था, अतः इन्द्र आदि देवों ने अपनी रक्षा के लिए उसको प्रार्थना की, इससे उसकी भगवान् में समानता दिखाई, स्वरूप से लोक से, और कार्य से गुणों का उत्कर्ष दिखाया, संसार से भयभीत मनुष्य जैसे पुरुषोत्तम को प्रार्थना करते हैं, वैसे ही देवों ने भी की होगी इस पर कहते हैं कि नहीं, वे तो असुरों से डरे हुए थे, जो असुर, देवा को भी मारते हैं उनको भी मार कर देवों की रक्षा की, दैत्य हार कर भाग गए किन्तु फिर न आ जावें, इस शंका से, बहुत समय तक उनको रक्षा करता रहा, तब तक रक्षा की, जब तक इन्द्रादि देव शक्तिमान् न बने थे उनके शक्तिमान् हो जाने के अनन्तर अपने स्थान पर लौट आया, क्षत्रियों का रक्षा करना ही धर्म है यज्ञादि से भी विशेष है ॥१५॥

आभास—सा च रक्षा पर्वसानपरा जातेति रक्षाया अर्वाधित्वं निरूपयन्नाह लब्ध्वा गुहमिति ।

आभासार्थ—वह रक्षा हृद वाली—समाप्तिवाली—हुई, यों रक्षा की अवधि का निरूपण “लब्ध्वा गुहं” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।

राजन्विरमतां कृच्छ्राद्भवःस्रः परिपालनात् ॥१६

श्लोकार्थ—वे देवता अपनी रक्षा करने वाले कार्तिकेय को प्राप्त कर मुचुकुन्द को कहने लगे कि हे राजन् ! आप हमारे पालनरूप कष्ट से अब विराम करिए ॥१६॥

सुबोधिनी—कार्तिकेयश्च दुत्पन्नः, पश्चात्तार- संतुष्टा इति भिन्नप्रक्रमः । तेषां वाक्यान्याह कादयो हता इति तस्य सेनापतित्वे जाते पश्चाद्धि- राजन्निति । क्रियमाणमादौ व्यावर्तयन्त । रामं प्रार्थयामासुः । अनेनास्य रयिन्शयेन नोऽस्माकं परिपालनरूपात् कृच्छ्रात् विरमता- स्वार्थाभावः सूचितः । अथ स्वस्थाः सन्तः भिन्न- मिति । यद्यपि स्वर्गं स्थितः, तथापि भोगाभावात् प्रक्रमेण राजानमब्रुवन् । पूर्वं भीताः, इदानीं सर्वदा युद्धकरणाच्च क्लेश एव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—कार्तिकेय उत्पन्न हुए, पश्चात् तारक आदि मारे, तब वे सेनापति हो गए, यों होने के अनन्तर, देवता राजा को विराम करने की प्रार्थना करने लगे इससे इसका “रयिन्शय से” स्वार्थ का अभाव सूचित किया, पश्चात् स्वस्थ अर्थात् शक्तिमान् एवं संतुष्ट होने पर अन्य प्रकार से राजा को कहने लगे, पहले डरे हुए थे, अब प्रसन्न हैं अतः यह कहने का पृथक् नमूना है, उनके वचन कहते हैं, हे राजन् ! हमारे पालनरूप कष्ट से अब विराम पाओ यह कहकर पहले यह बताया, कि आप जो अब तक हमारी रक्षा के लिए कष्ट कर रहे हो उस कष्ट का त्याग कर अब आराम कीजिए, यदि कहो, कि मैं तो स्वर्ग में बैठे हैं जो सुख का स्थान है, तो उसके लिए कहते हैं, कि यद्यपि स्वर्ग में स्थित हो तो भी आप भोग तो भोगते नहीं क्योंकि सर्वदा युद्ध करने से कष्ट ही उठा रहे हो ॥१६॥

आभास—न केवलं देहक्लेशः अस्मत्परिपालने, किन्तु सर्वस्वमपि तव नष्टमित्याहुः नरलोकं परित्यज्येति द्वाभ्याम् ।

अभासार्थ—आपको हमारी रक्षा करने से केवल देह का वलेश नहीं हुआ है, किन्तु आपका सर्वस्व भी नाश हो गया है, जिसका वर्णन “नरलोक परित्यज्य” दो श्लोको में करते हैं ।

श्लोक—नरलोकं परित्यज्य राज्यं च हृतकण्टकम् ।

अस्मान्पालयती वीर कानारते सर्वं उज्जिताः ॥१७॥

सुना महिष्यो भवता ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः ।

प्रजाश्च तुल्यकालीना नाधुना सन्ति कालिताः ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य छोड़, हमारी रक्षा करने हेतु आपने सर्व कामनाएँ छोड़ दीं ॥१७॥

इतना समय आप हमारी रक्षा करते रहे, पीछे पृथ्वी पर आपके पुत्र, रानियाँ, वन्धु, हाथी, मन्त्री और उस समय की जो प्रजा थी वे सब काल के घास हो गए हैं अब एक भी शेष नहीं रहा है ॥१८॥

सुवोधिनी—भोगो भोगसाधनानि च गतानीति । जन्मभूमिः सहजा च सर्वेषां सुखदा । अतो नरलोकपरित्यागोऽपि दुःखहेतुर्भवति । हृतकण्टकं च राज्यमिति । शूरत्वात् अज्येष्ठत्वेऽपि एतदधीनमेव राज्यमित्यस्मिन्नेव भोगः प्रतिष्ठितः । एवं सर्वथाऽनिषिद्धं भोगं परित्यज्य अस्मानेव पालयतः ते सर्वं एव कामा उज्जिताः त्वया सर्वेऽपि कामास्त्यक्ताः । तत्र हेतुः वीरेति । वीररसप्रधानः नान्यं कामं सुखत्वेन मन्यत इति । एतत्कीर्तनं महानुपकारः त्वयास्मासु कृत इति

ज्ञापनार्थम् । देहिका अपि निवृत्ता इत्याह सुता महिष्य इति । दिवसस्य स्वर्गं वर्षात्मकत्वात् तस्य कालाज्ञानम्, यथा ब्रह्मसभायां गतस्य रैवतस्य । अतो ज्ञापयन्ति । महिष्यः स्त्रियः, ज्ञातयो भ्रात्रादयः, आमात्याः सेवकप्रभवः, मन्त्रिणश्च । एते राज्यसंवन्धिना उभये तुल्यकालीनाः । प्रजा मित्वाणि । अधुना ते तत्र न सन्ति, यतः कालिताः कालेन भक्षिताः । अनेन तत्र गन्तव्यमिति शङ्का निवर्तिता ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भोग और भाग के सर्व साधन गए, जन्म भूमि सबको स्वाभाविक सुख देने वाली है, अतः उस भूमि का त्याग भी दुःख का कारण है, तथा राज्य त्याग भी दुःखदायी है, फिर भी निष्कण्टक होने से विशेष दुःखद है, शूरवीर होने से बड़ा नहीं था, तो भी राज्य इसके आधीन था जिससे उसका भोग यही करता था, जिसका निषेध नहीं है वैसे राज्यों के भाग सर्व प्रकार त्याग कर हमारा ही पालन करते हुए आपको सर्व ही कामनाएँ छूट गईं, क्यों छोड़ी ? क्योंकि

“वीरः” वीर था, वीर पुरुष को युद्ध में जो रस प्राप्त होता है उसकी ही वह कामना करता है, अन्य सब कामनाएँ सुखरूप नहीं समझता हैं, यों कहने का तात्पर्य यह है, कि आपने हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। आपके देह सम्बन्धी सुख भी इस कारण से गए हैं, आपको काल का ज्ञान हुआ ही नहीं, क्योंकि स्वर्ग में एक दिन (यहाँ के) एक वर्ष के समान होता है, जैसे ब्रह्म सभा में गए हुए रेवत को कालका ज्ञान नहीं हुआ था, वैसे ही आपको भी युद्ध रस में मग्न होने से, कालका ज्ञान न हुआ। इतने समय में हमारे राज्य में क्या हुआ ? उसका पता ही नहीं है। अब देवता बताते हैं, सिद्धियाँ, भाई बन्धु, अमात्य से लेकर सर्व सेवक और मन्त्री गण तथा प्रजा एवं मित्र, ये सब राज्य सम्बन्धी सामान काल के थे, अर्थात् जब आप यहाँ आए तब ये सब थे, अब वे वहाँ नहीं हैं, क्योंकि काल ने उनका भक्षण कर लिया है इससे यह मन में विचार लाना व्यर्थ है, कि अब मैं अपने राज्य को जाऊँ ॥१७, १८॥

आभास—तर्हि भवद्भिः कथं तेषां रक्षा न कृता, देवा ह्यायुषः प्रभवो भवन्तो-
त्याशङ्क्याह कालो बलीयानिति ।

आभासाथं—यदि यों हुआ तो आपने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? देव आयु देने वाले होते हैं, यदि यों शंका करते तो उसका उत्तर “कालो” इस श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—कालो बलीयान्वलिनां भगवानोश्वरोऽव्ययः ।

प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥१९॥

श्लोकार्थ—जैसे ग्वाल, पशुओं को खेलाता हुआ ले जाता है वैसे ही बलियों में बलवान्, ईश्वर, अव्यय, भगवान् काल भी क्रीडा करते हुए प्रजाओं को ग्रस लेते हैं ॥ १९ ॥

सुबोधिनो—बलिनां वाय्वासन्यगुणानां मध्ये । ततोऽपि बलीयान् । तत्र हेतुर्भगवानिति । ननु धर्म क्रियमाणे अक्लिष्टकर्मा भगवान् भक्षितवानित्याशङ्क्याह ईश्वर इति । नहीश्वरे नियमोऽस्ति । तर्हि भगवान् भक्त्यय कथमेव कृतवानित्याशङ्क्याह अव्यय इति । अक्षरात्मा सः । न तु पुरुषोत्तमात्मा । तेन न तस्य भक्त-

पक्षपातः । पक्षयानेऽपि अव्ययमेव पदं दास्यतीति पुत्रादीन् दूरोकृतवान् । तस्यायमेव स्वभाव इत्याह । क्रीडन्नपि प्रजाः कालयत इति । स हि यतस्तत विंक्षणात् स्वस्मिन्नानयति, स्वगृहे रोधयति । तस्मिन् दोषबुद्धिर्भविष्यतीति दृष्टान्तमाहः पशुपालो यथा पशूनि । बहिःस्थिताः पशवोपि व्याघ्रादिभिर्हन्त्यन्त इति । तथा कालो-

ऽपि बहुकालं वहिःस्थिताः उत्पथा भविष्यन्तीति | गताः ॥१६॥
वहिनं स्थापयति । अतः अशक्यप्रतिकारात् |

व्याख्यानार्थ—वायु और आसन्य प्राण जो बलवान् गुण वाले हैं उनसे भी यह काल बलवान् हैं, उसमें कारण बताते हैं— १-भगवान् है, धर्म का कार्य करते हुए भी अक्लिष्ट कर्मी भगवान् ने हमारे जनों का कैसे भक्षण किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “ईश्वरः”, ईश्वर है, इसलिए उसके लिए कोई नियम नहीं है, तो भी भगवान् के भक्त को यह दशा कैसे को है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ‘अव्ययः’ अक्षर स्वरूप हैं, जिससे वह दया नहीं करता है, दया करना पुरुषोत्तम स्वरूप का कार्य है, इससे अक्षर स्वरूप भक्त का पक्षपात नहीं करता है, यदि पक्षपात करेगा, तो अन्य प्रकार से करेगा, जैसे कि पुत्र आदिकों का झंझट छुड़ा कर अव्यय पद देगा, उस अक्षर स्वरूप का यह ही स्वभाव है, खेलते हुए, प्रजाओं को निगल जाते हैं, वह जहाँ तहाँ से विक्रियों को अपने में ला कर अपने घर में रहते हैं, यों करने से उनमें दोष बुद्धि होगी, इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे ग्वाला अपने पशुओं को व्याघ्रादि पशुओं से बचाने के लिए ले जाकर, गोष्ठ में रखता है, वैसे ही काल भी, क्योंकि वह समझता है, कि संसार में बहुत रहने से विपरीत पथ पर चलने लगेंगे, इसलिए इनको बाहिर संसार में रहना अच्छा नहीं है, अतः उनका कोई उपाय नहीं था, इसलिए वह ले गया ॥१६॥

आभास—तस्य मनःसन्तोषार्थं वरं वरयेत्याहुः ।

आभासार्थ—उसके मन के सन्तोषार्थं कहते हैं, कि “वरंवरय” वर मांग लो ।

श्लोक—वरं वरय भद्रं ते ऋते कैवल्यमात्मनः ।

एक एवेश्वरस्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥२०॥

श्लोकार्थ—आपका कल्याण हो, हमसे मोक्ष के सिवाय अन्य वर मांग लो क्योंकि मोक्ष देने में एक ही भगवान् अव्यय विष्णु समर्थ हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—ननु कालश्चेन्मामपि ग्रहीष्यति, तदा कि वरेणेत्याशङ्क्य अप्राथितमपि कालाग्रासं तुभ्यं दास्याम इति सूचयन्त आहुः भद्रं त इति । ते भद्रमेव, न कालाग्रासोऽनिच्छत इत्यर्थं । तद्दि-कालजयानन्तरं मोक्षो दीयतामित्याशङ्क्याहुः ऋते कैवल्यमिति ।

वयं हि संघातस्वामिनो देवास्तत्त्वांशाः । अतोऽस्माकं नात्मन्यधिकारः । कैवल्यं चात्मनः, देहादेस्तु कैवल्यमपुरुषार्थत्वादाप्रार्थ्यम् । यद्यप्याधिदेविकाश्चेत्सर्वे निवृत्ता भवेयुः, तदा केवलता सिध्यतीति, कैवल्यमपि देवाधीनमेव, प्राणिनां दुःखनिवृत्तिरभिप्रेता, न परमा-

नन्दप्राप्तिः आत्मलानान्न परं विद्यत' इत्यादिश्रुतिभिश्च सिद्धत्वाच्चात्मनः प्राप्ताप्राप्त-विवेकेन स्मृतिन्यायेन कैवल्यमपि देवाधीन भवति । तथापि भगवदाज्ञया प्रवृत्तिस्वभावा एवैते, प्रवृत्तावेव यथाभिलषितं दातुं समर्थाः । नतु स्वतो निवृत्तो । तथा सतीश्वरस्यापराधो भवेत् । भगवदानन्दो वा रूढ्या कैवल्यं आनन्दाभिव्यक्तिर्वा । अतः कैवल्यव्यतिरिक्तं प्रार्थनीयम् । आत्मपदाच्चात्महितातिरिक्तं च प्रार्थनीयमिति सूचितम् । तर्हि कैवल्यसिद्धिः कथमित्याशङ्क्य तत्प्रभुं निदिशन्ति एक एवेति । तस्या म-कैवल्यस्य एक एव प्रभुः । सर्वं सर्वेभ्यो दत्त्वा आत्मार्थं तत्स्थापितवानिति । यतो भगवान्,

स्वतः सिद्धान्यैश्वर्यादीनीति । ननु तमसः परस्तात्पुरुषोत्तमो विद्यमानः अनधिकारित्वात् कथमात्मार्थं तत्स्थापितवान् । तथा सति कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याशङ्क्याह विष्णुरिति । स एवात्र मोक्षं दातुं विष्णुरिति प्रसिद्धः । ततो विष्णोर्भगवत्त्वमधिकाररूपत्वं भगवत्त्वं चेति द्रष्टुमुक्तम् । तेन कानातिक्रमोऽपि भवतीति सूचयितुमाहुः अव्यय इति । स व्यपरहितः । अतः तस्य निरपेक्षतापि सूचिता । अनेन पालनाधिकारेऽपि निवृत्तिमपि कारयिष्यतीति बोधितम् । तेन देवानां कैवल्यदाने तस्य च कैवल्यदाने हेतुरप्युक्तः । अनुक्तमप्यज्ञापेक्षितमर्थाद्भुक्तं ज्ञातव्यम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यदि काल वैसा समय है, तो वह मुझें भी ले लेगा, तो फिर वर लेने से क्या लाभ ? यद्यपि आप मांगते नहीं हो, तो भी हम आपको वर देगे जिससे काल आपको ले न सके, इस ही सूचना देने के लिए पहले कहते हैं कि, आप का भला हो, अर्थात् इच्छा के बिना आपको काल नहीं लेगा यदि यों काल की जय करली है, तो अब मोक्ष दीजिए, इस प्रकार मुचुकुन्द कहे, तो प्रथम ही कह देते हैं, कि मोक्ष के सिवाय अन्य वर मांग लो, कारण कि, हम देवता तत्वांश हैं, अतः संघात (देह) के स्वामी हैं, इस लिए हमारा आत्मा (जीव) पर अधिकार नहीं है, मोक्ष तो जीव का होता है, देहादिका मोक्ष तो पुरुषार्थ नहीं है, अतः उसके लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए यद्यपि सब आधिदैविक जब निवृत्त हो जावे, तब मोक्ष सिद्ध होता है, इस लिए मोक्ष भी देवाधीन है, इससे प्राणियों को दुख की निवृत्ति अभिलषित होती है, परमानन्द अभिप्रेत नहीं होता है, 'आत्मान्नाभान्न परं विद्यते' इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है कि आत्मा का, प्राप्त, अप्राप्त विवेक से तथा स्मृति न्याय से कैवल्य भी देवाधीन है, तो भी भगवान् की आज्ञा से, ये देवता प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं प्रवृत्ति मार्ग की कोई भी इच्छित वस्तु देने में समर्थ है, न कि अपने आप निवृत्त में समर्थ हैं, यदि यों करे तो भगवान् के अपराधी बनेंगे ।

अतः भगवदानन्द अथवा रूढि से कैवल्य, अर्थात् आनन्द की अभिव्यक्ति "प्राकट्य" इस के अतिरिक्त जो चाहिए वह मांगिए "आत्म" पद से यह सूचित किया है, कि आत्मा के हित के सिवाय अर्थात् मुक्ति के सिवाय अन्य मांगिए, आप देव भी यदि यों कहते हो, तो फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, उस मोक्ष के देने वाला एक ही भगवान् है अन्य सब देने की शक्ति अन्वों को दे दी है, किन्तु केवल मोक्ष देना अपने हाथ में रखा है, क्योंकि वे भगवान् हैं,

उनके सर्वा ऐश्वर्य आदि बड़-गुण स्वतः सिद्ध हैं, पुरुषोत्तम तो तमस् से परे हैं, अनधिकारित्व से वह अपने पास कंसे रख लिए ? यदि मोक्ष उनके हाथ में है, तो फिर मोक्ष किसी का भी न होगा, कारण कि, वहाँ तक कोई पहुँच न सकेगा, इस शका का समाधान करते हैं कि "विष्णु" वह ही यहाँ मोक्ष देने के लिए "विष्णु" स्वरूप तथा नाम से प्रसिद्ध है, उससे विष्णु का भगवत्त्व तथा मोक्षाधिकारित्व दोनों कहा गया है, अर्थात् विष्णु मोक्षदाता तथा षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् भी हैं, इससे कालका अतिक्रम भी होता है, इसकी सूचना देने के लिए 'अव्यय' कहा है अर्थात् वह व्यय रहित हैं इससे उनकी निरपेक्षता भी बताई है और यह भी बता दिया कि पालन करने के अधिकार समय में मोक्ष भी कराएँगे, इससे देवता "कैवल्य" नहीं दे सकते हैं और विष्णु मोक्ष दे सकते हैं उसका हेतु भी कह दिया जो कुछ नहीं कहा है, वह भी यदि अपेक्षित हो तो समझ लेना चाहिए कि वह भी कहा गया है ॥२०॥

आभास—तत्र स विष्णुः कथं प्राप्तव्य इत्याशङ्कयाम्, सोऽवतरिष्यति मोक्षमेव दातुम्, तत्रा तस्य अनुवृत्तौ तदाज्ञाकरणे वा मुक्तिर्भविष्यतीति प्रतिवचनेः कदा अवतरिष्यतीति पुनर्जिज्ञासायाम्, अष्टाविंशतितमे ध्रुगे अवतरिष्यतीत्यभिज्ञाय, तावत्पर्यन्तं तूष्णींस्थितौ कामादयः क्षुत्पिपासादयश्च बाधका भविष्यन्तीति, समाधावप्येतद्दुःखमिति, सुषुप्तिसमाध्योः तुल्यश्चानन्दानुभव इति, फलदाता विष्णुरेवेति योगावीनामप्रयोजकत्वात्, प्रयत्नाधिक्येन क्लेशसम्भवाच्च, सुषुप्तिमेव प्रार्थयामास । ततो देवाः स्वकीयां निद्रां ददुः । ते ह्यस्वप्नाः । अर्थात्सुषुप्तिरेव भवतीति वरत्वेन निद्रां प्राप्य, तत्र विघ्नकर्ता दर्शनमात्रेणैव भस्मसाद्भविष्यतीत्यपि वरं प्राप्य अष्टाविंशतिध्रुगपर्यन्तं निद्रां कृतवानित्याह अशयिष्येति ।

आभासार्थ—सुषुक्रुन्द ने यह शंका की, कि वह विष्णु कंसे प्राप्त करना चाहिए जिसके उत्तर में देवताओं ने कहा, कि वह मोक्ष देने के लिए अवतार लेंगे जब आप उनकी आज्ञा पालन करोगे, वा उनका अनुसरण करोगे तब मुक्ति होगी, यों जब देवों ने कहा, तब पूछा कि कब अवतार लेंगे ? जिसके जवाब में कहा, कि २८ युग में अवतार लेंगे, यह सुन कर अचम्भे में पड़ कर कहा, कि तब तक चुपकर बैठने पर

+ अनधिकारित्व का तात्पर्य यह है कि मोक्ष आदि सर्व तमस् के अन्दर है आप उससे परे हैं अतः यहाँ के कार्य आपके करने के नहीं हैं ।

काम आदि तथा क्षुधा और प्यास बाधा करेगी, समाधि में यह दुःख होता है सुषुप्ति और समाधिका आनन्द समान है फल का देने वाले तो विष्णु हैं योग आदि तो अप्रयोजक हैं, विशेष प्रयत्न करने में क्लेश अधिक होता है, यह विचार कर देवों को “सुषुप्ति” देने की प्रार्थना की, पश्चात् देवों ने अपनी निद्रा इसको दे दी, वे देवता स्वप्न रहित होते हैं, अर्थात् वह निद्रा स्वप्न रहित होने से “सुषुप्ति” है, इस प्रकार वैमी निद्रा को वर में प्राप्त कर दूसरा वर भी उसके साथ यह प्राप्त किया कि यदि कोई निद्रा में रुकावट करेगा, तो केवल आपको दृष्टि पड़ने पर वह भस्म हो जाएगा इस प्रकार वर प्राप्त कर २८ युग तक निद्रा लेने लगे जिसका वर्णन “एवमुक्तः श्लोक मे करते हैं ।

श्लोक—एत्रमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः ।

अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब देवों ने कहा तब उनको नमस्कार कर गुफा में जाकरनींद में सो गया ॥२१॥

सुवीधिनी—गुहायां शीतवाताद्युपद्रवाभा- / वात् तत्राविष्टः अशयिष्ट निद्रां कृतवान् ॥२१॥

ध्याख्यार्थ—ठंड तथा वायु का उपद्रव गुफा में नहीं होगा, इस लिए गुफा में जा कर नींद लेने लगा । २१॥

आभास—एवं प्रासङ्गिकमुक्तवा प्रस्तुतमाह यवन इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रासंगिक कह कर, अब प्रारम्भ किए हुए विषय को “यवने” श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—यवने भस्मसाञ्जीते भगवान्सात्वतर्षभः ॥

आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥२२॥

श्लोकार्थ—कालयवन के भस्म हो जाने के अनन्तर, सात्वतों (भवतों) के स्वामी भगवान् ने बुद्धिमान् मुचुकुन्द को दर्शन दिया ॥२२॥

सुवोधिनी—देवानामभिवन्दनं तत्प्रत्याशया स्थितत्वं भगवन्माहात्म्यश्रवणेन श्रद्धा चेति गुणत्रयं तस्य दृष्ट्वा, भक्तहितमपि प्रसङ्गात्तत्कृतं ज्ञात्वा, यवने भस्मसाधौते, भगवान् सर्वज्ञः सर्वसमर्थश्च सात्वतानामृषभः स्वामी तादृशाय चेत् कृपां न कुर्यात्, तदा भक्तानां दुःखमपि भवेदिति भक्तहितकारित्वं स्वतन्त्रत्वं चावलम्बितवानित्याशयेनाह सात्वतर्षभ इति । तत्र प्रथमं हितचर्यामाह आत्मानं दर्शयामासेति । ननु प्राकृताय सर्वसाधनं परित्यज्य निद्राणाय

कथमात्मानं दर्शितवानित्याशङ्क्याह मुचुकुन्दा-येति । सर्वत्र उकारः दोषाभावसूचकः । मकारः पुरुष आनन्दः, मुदं (मुद्) वा परमानन्दः । चुशब्देन निर्दुष्टं चैतन्यम् । कुशब्देन निर्दुष्टः । सच्चिदानन्दरूपं पूर्वं ज्ञानादिद्वारा लोकेभ्यो दत्तवानिति तादृशाय स्वरूपं प्रदर्शनीयमेव । ज्ञापनं नापेक्ष्यत इति, विहृद्धं वा न मंस्यत इत्यत आह धीमत इति । स हि बुद्धिमान् । पूर्वोपदेश-मपि स्मरतीत्यपि सूचितम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—देवों का अभिवादन, उनके प्रति आशा से स्थित रहता और भगवान् के माहात्म्य श्रवण से उत्पन्न हुई श्रद्धा, उसके ये तीन गुण देख कर और प्रसंग से उसका वि या हुआ भक्तों का कार्य भी जान कर. तथा यवन भी भस्म हो गया, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, भक्तों के स्वामी भगवान् ऐसे पर भी यदि कृपा न करे तो भक्त दु खी होने लगे, इसलिए भगवान् ने भक्त हितकारीपन तथा स्वतन्त्रता का आश्रय लिया, इस आशय को प्रकट करने के लिए आपको यहाँ "सात्वतर्षभ" कहा है. इनमें मे जो प्रथम हित किया उसका वर्णन करते हैं. "आत्मानं दर्शयामास" अपने दर्शन दिए, शंका होती है, कि प्राकृत पुरुष को जिसने कोई साधन दर्शन के लिए नहीं किए हैं केवल नींद ले रहा है, वैसे को कैसे दर्शन दिए ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं, कि वह "मुचुकुन्द" है, जिसके नाम में जो सर्वत्र उपकार है, वह प्रकट करता है कि वह निर्दोष है, पहला अक्षर "मु" आनन्द प्रकट है, तथा मु से द जोड़ने से "मुद" होता है अर्थात् परमानन्द है "चु" शब्द से जताता है कि दोष रहित चैतन्य है और "कु" शब्द से बताया है, कि सदंश भी निर्दोष है, पहले इसने सच्चिदानन्द रूप ज्ञान आदि द्वारा लोकों को दिया है अतः ऐसे को अपना स्वरूप दिखाना ही चाहिए यहाँ केवल ज्ञापन की अपेक्षा नहीं है यों भी नहीं है कि वह इस दर्शन से विहृद्ध मानेगा क्योंकि बुद्धिमान है, पहला मिला हुआ उपदेश भी इसको स्मरण है, यह बुद्धिमान कह कर सूचित किया है ॥ २२ ॥

आभास—ततो यज्जासं तदाह तमालोवयेति चतुर्धमः ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह "तमालोवय" श्लोक से ४ श्लोकों में करते है--

श्लोक—तमालोवय घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥२३॥

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।

चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२४॥

प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् ।

अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—मेघ के समान श्यामवर्ण, पीले रेशमी वस्त्र, धारण किए हुए छातो पर श्रोत्रंसे धारण किए हुए देशीप्यमान कौस्तुभमणि से विराजित, चतुर्भुज वैजयन्ती माला से सुन्दर, मनोहर, प्रसन्न मुखारविन्द चमकते मकराकृति कुण्डलों से युक्त त्रिलोकी को देख योग्य स्नेह युक्त मन्दहास सहित ईक्षण करने वाले अति मनोहर अवस्था वाले मत्तसिंह के समान उदार पराक्रम वाले, उनको देख कर (पूछने लगा) ॥२३, २४, २५॥

सुबोधिनी—तमालोक्य पर्यपृच्छदिति चतुर्थन संबन्धः । तस्य कालातिक्रमेण मोक्षसिद्धयर्थं भगवन्तं वर्णयति त्रयोदशधा, तावद्विधिविशेषणैः । घनश्याममित्यादिभिः । केवलरसात्मकत्वे दुःखसहितसुखं न पुरुषार्थत्वादेतं घनश्यामता निरूपिता । मेघवत् श्यामः, स हि तापहारको भगवान् फलरूपो निर्दिष्टः । संसारं निवर्तयन् कर्म च सफलं कुर्वन् परमानन्ददाता । पीतकौशेयवासमिति व्याख्यातम् । एवं प्रमेयप्रमाणरूपं निरूप्य तेनैव मोक्षधर्मो सूचयित्वा अर्थकामावाह श्रीवत्सयुक्तं वक्षो यस्य, भ्राजत्कीर्त्तुभेन विराजितश्च ॥२३॥

एवं चतुर्विधपुरुषार्थरूपं निरूप्य तदातृत्वमप्याह चतुर्भुजमिति । सेवमानेभ्यः तान् प्रयच्छतीति । प्रथमतः प्रवृत्तिसिद्धयर्थं कीर्त्तेरुपयोगमाह वैजयन्त्या मालया रोचमानमिति । कीर्त्या रूच्यत्वादकः । वैजयन्तापदेन कीर्त्तेः सानुभावत्वमुक्तम् । एव सोपपात्तकं सर्वपुरुषार्थदातृत्वं

निरूप्य भक्तिदातृत्वमाह । चारु प्रसन्नं वदनं यस्य । अत्रापि चारुत्वं मनोहरत्वम्, प्रसादः फलसाधकः, साधनफलसहिता भक्तिरत्र निरूपिता । स्फुरन्मकरकुण्डलमिति । पूर्ववत्तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रे अङ्गभूते निरूपिते ॥२४॥

एवं शास्त्रीयोत्कर्षमुक्त्वा लोकोत्कर्षमाह प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्येति । लोको हि दृष्टमेव मन्यते, लोकिः, त्रिलोकस्यापि स एव प्रेक्षणीय इति नान्यः केनचित्स्वीकर्तव्यः । तेषां दृष्ट्या प्रवृत्तौ भलसिद्धिमाह सानुरागस्मितेक्षणमिति । अनुरागपूर्वकं स्मितपूर्वकमीक्षणं यस्येति । अनुरागेति सकलं (सफलं) काम्यं कर्म, स्मितमित्यल्पमोहा भक्तिः । ईक्षणं ज्ञानम् । तेन वितयमपि भगवान् प्रयच्छतीति सूचितम् । पुरुषाणामेवं साधनफलान्युक्त्वा स्त्रीणामाह अपीच्यवयसमिति । प्रियः स्त्रीणामपीच्य इति परमप्रीतिविषयं वयो यस्य । तेन तासां प्रवृत्तिरुक्ता । फलमाह तत्तमृगेन्द्रोदारविक्रममिति ।

मत्तो यो मृगेन्द्रः सिंहः । न हि सिंहाक्रान्तं सिंह-
गृहं कश्चित्प्रवेष्टुमर्हति । न केवलं संबन्धमात्रेण
पाति, किन्तु उदारः यथेष्टं मनःपूतिपर्यन्तं विक्रमः ।

पराक्रमः तासामभीष्टो यस्य । उदारत्वात् मोक्ष-
पर्यवसायित्वमपि सूचितम् ॥२५॥

व्याख्यार्य—उनको देख कर पूछने लगा, यों चतुर्भुज श्लोक से सम्बन्ध हैं उसके काल के अतिक्रमण से मोक्ष की सिद्धि के लिए तेरह प्रकार से भगवान् का वर्णन करता है अतः तेरह विशेषण हैं १—मेघ के समान श्याम केवल श्याम न कह करके मेघ के समान श्याम कहने का आशय यह है, कि वह ही ताप को मिटाते हैं क्रिया के फल को देने वाले हैं और आनन्द दे तुष्टि करने वाले हैं यों कह कर बताया कि यह तीन गुण सहित रस रूप भगवान्, फल रूप हैं केवल रसात्मक दुःख सहित, सुख रूप होने से, पुरुषार्थ नहीं है, अतः धनश्याम कहा है, तथा भगवान् ने पीले, रेश्मी वस्त्र पहिने हैं जिसका भाव है, कि आप १—संसार से निवृत्त करते हैं, २—कर्म सफल करते हैं और ३—परमानन्द देते हैं, इस प्रकार इन विशेषणों से प्रमाण तथा प्रमेय का निरूपण कर, उससे ही मोक्ष तथा धर्म को सूचित किया है, अब दो विशेषणों से 'अर्थ' और 'काम' कहते हैं, जिसका वक्षस्थल श्रीबत्सयुक्त है, इससे, 'अर्थ' कहा और चमकती कौस्तुभमणि से विराजित हैं इससे 'काम' कहा ॥ २३ ॥

इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थों का निरूपण कर उनके दाता भी आप है इसका वर्णन "चतुर्भुज" श्लोक से करते हैं ।

जो भक्त आपकी सेवा करते हैं, उनको वे पुरुषार्थ देते हैं, पहले प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए आप वैजयन्ती माला से सुन्दर हुए हैं यह माला कीतिरूप है, जिस कीर्ति से अपने में भक्तों को खिच (प्रेम) बढाते हैं, वैजयन्ती पद से कीर्तिका सानुभाव पन + कहा है, इस प्रकार इस विशेषण ने ही पूर्वक मूर्ति से सर्व पुरुषार्थ दाता भगवान् है निरूपण कर अब पञ्चम पुरुषार्थ भक्ति के दाता भी आप है इस लिए 'चाष' "प्रसन्नवदन" विशेषण दिए हैं, मनोहर और प्रसन्नवदन वाले हैं, 'मनोहर' से साधना बताई और 'प्रसन्न वदन' से फलरूप कृपा बताई है अर्थात् आप साधन फल सहित भक्तिदाता हैं, कर्म में मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं जिनसे बताया कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्र पूर्व की भक्ति भक्ति के अङ्गभूत हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार नव विशेषणों से दो श्लोकों में शास्त्रीय उत्कर्ष कहकर अब "प्रेक्षणीय" श्लोक में लौकिक उत्कर्ष बताते हैं ।

+ मनोगत भावों को प्रकट करने वाले भाव को "अनुभाव" कहते हैं वैसे भाव से युक्त भाव, "सानुभाव" है अर्थात् भगवान् वैजयन्ती माला पहन कीर्ति द्वारा अपने भाव के प्रति प्रकट करते हैं ।

लोक तो प्रत्यक्ष देखे हुए को ही मानते हैं, वह लौकिक है तीन लोकों में यदि कोई सबसे सुन्दर रूप देखने योग्य है तो यह एक ही है, कोई दूसरा भी दर्शनीय है, वंसा कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता है ।

उनकी दृष्टि से ही प्रवृत्ति में फल की सिद्धि होती है इसको बताने के लिए "सानुरागस्मिते-क्षणम्" विशेषण दिया है, अनुराग और मन्द मुसक्यान वाला ईक्षण (अवलोकन) है, इससे यह सिद्ध किया, कि अनुराग से काम्यकर्म को सफलता करते हैं, मन्दमुसक्यान से अल्प मोहवाली भक्ति देते हैं और ईक्षण से ज्ञान प्रदान करते हैं, इससे यह बताया कि तीन "कर्म, ज्ञान और भक्ति" का दान भी भगवान् ही करते हैं इस प्रकार पुरुषो का साधन और फल भगवान् ही है यह कहकर अब स्त्रियों के भी आप ही हैं वह बताते हैं, क्योंकि आपके शरीर की अवस्था अत्यन्त सुन्दर होने से परम प्रीति का विषय है, इससे उनकी प्रवृत्ति कही, अर्थात् इस प्रकार की सुन्दरता देख स्त्रियों के मन की प्रवृत्ति भी भगवान् की तरफ होती है, मद युक्त सिंह जैसे उदार पराक्रम वाले हैं, सिंह जिस गुहा में बैठ जाता है उसमें अन्य कोई जा नहीं सकता है, किन्तु आपका पराक्रम उदार है, जिससे आप केवल सम्बन्ध मात्र से पालन नहीं करते हैं, किञ्च जब तक उनके मन की इच्छा की पूर्ति हो तबतक वह पराक्रम करते हो रहे हैं यह ही स्त्रियों को अभीष्ट (प्रिय) है, उदार कहने से यह बताया है कि माक्ष को कामना हो तो वह भी आप पूर्ण करते हैं ॥२५॥

आभास—एवं वैदिकलौकिकैः सर्वैरेव विशेषेण मृग्यः भगवानेक एव फलसाधनः रूप इति तादृशं दृष्ट्वा, प्रपत्यर्थं संवादेन परिचयं कृत्वा, पश्चाद्भजनीय इति प्रथमतः पृच्छति पर्यपृच्छति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सब वैदिक लौकिक उपायों से, फल तथा साधन रूप एक ही भगवान् को विशेष प्रकार से खोजना चाहिए जैसे भगवान् के दर्शन कर, उनकी शरण लेने के लिए संवाद द्वारा परिचय प्राप्त कर अनन्तर भजन करना चाहिए इसलिए पहले "पर्यपृच्छत्" इस श्लोक में पूछता है ।

श्लोक—पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धषितः ।

शङ्कितः शनकं राजा दुर्घर्षमिव तेजसा ॥२६॥

श्लोकार्थ—उनके तेज से पराभूत, महाबुद्धि मुष्कुन्द शङ्कित होवे से, तेज से मानो पहचानने में जो नही आते हैं, गैसों से पूछने लगा ॥२६॥

सुबोधिनी—नन्वेवंभावः कथं वर्णयते, अज्ञा-
त्वव लौकिकन्यायेन कथं न पृष्टवानित्याशङ्क्याह
महाबुद्धिरिति । महती तस्य बुद्धिरिति चतुरः ।
एतदर्थमेव सुषुप्ति साधयित्वा स्थितः । किञ्च ।
तेजसा तस्य धषितः । भगवत्तेजसा पराहतः ।
स ह्यात्मानं जानाति, इन्द्रादिभ्योऽप्यधिकतेज-
स्विनम् । स चेतम्य तेजसा तिरस्कृतः, तदा
कथं (न) जानीयादयं पुरुषोत्तम इति ।
तस्मात्परिचयार्थं प्रश्नः । ननु प्रश्नोऽपि शङ्कां
प्राप्तवानेव । तथापि समागतो भगवानित्यल्पं

धाष्ट्यं भवत्वभ्य शनैरपृच्छत् । किञ्च । राजा
नीतिमपि जानाति । महंश्च राजसगुणोऽपि तस्य
धाष्ट्यं सहाय इति केचित् । तेजसा दुर्धर्षमि-
वेति । भगवन्तं दृष्ट्वा राजत्वेऽपि ततो जसा
दुर्धर्ष इति शनैरेवोक्तवान्, विज्ञापनापूर्वकम् ।
आयुधानि सेवकाः सामग्री च न दृष्टेति ।
स्वयमपि राजेति इवेत्युक्तम् । अन्वया-
पादयोरेव पतेत् । भगवान् वा
तथा सन्देहविषयमात्मानं प्रकाशितवानितीव-
शब्दः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार का भाव कैसे वर्णन किया जाता है ? जैसे लोक में अनजान बनकर
सामने वाले से उसकी पहचान के लिए पूछते हैं वैसे क्यों नहीं पूछा ? इस शङ्का का समाधान
करते हुए कहते हैं, कि यह बुद्धिमान है अर्थात् बहुत चतुर है इस कारण से सुषुप्ति को सिद्ध कर
इतना समय स्थित रहा है, परन्तु भगवान् के तेज से परास्त हूँ गया है, इन्द्र आदि देवों से भी
अधिक तेज वाले परमात्मा को जानता है, यदि वह उसके तेज से तिरस्कृत हो गया है, तो कैसे न
जाने, कि यह पुरुषोत्तम है, फिर भी शङ्कित होने से प्रश्न करने लगा । भगवान् स प्रश्न करना यह
भी बीटाई है, अतः पुरुषोत्तम से पूछता है, आप कौन हैं ? यों पूछना बन ही नहीं सकता है, इस
पर कहते हैं कि हिचकिचाता हुआ धीरे धीरे पूछने लगा, भगवान् पधारें हैं, इसलिए थोड़ी बीटाई
कर धीरे धीरे पूछा और राजनीति भी जानता है, आप राजा होने से महान् हैं, इसलिए उसकी
बीटाई करने में राजस गुणों ने भी सहायता की है इस प्रकार का आशय कोई कहते हैं । भगवान्
का दर्शन कर राजा होते भी उनके तेज से दब गया अतः धीरे धीरे विनय पूर्वक प्रार्थना रूप से
पूछने लगा, आयुध, सेवक एवं अन्य सामग्री कुछ नहीं देखो मुचुकुन्द स्वयं भी राजा है, इसलिए
श्लोक में "इव" पद दिया है । यदि राजा न होता तो भगवान् के चरणों में पड़ता, अथवा 'इव'
का भावार्थ यह है, कि भगवान् ने अपने को सन्देह का विषय बनाके प्रकाशित किया है ॥२६॥

आभास—प्रश्नमाह को भवः निर्मित अष्टभिः ।

प्राप्तासात्थं—को भवान्-श्लोक से आठ श्लोकों में प्रश्न कहते हैं ।

मुचुकुन्द उवाच—

श्लोक—को भवानिह संप्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।

पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युस्कण्टके ॥२७॥

श्लोकार्थ—आप कौन हैं ? पर्वतों से गहरे अरण्यों में कैसे आए हैं ? कमल के पत्तों के समान कोमल पाँवों से, जबर्दस्त कांटों में क्यों घूम रहे हैं ? ॥२७॥

सुबोधिनी—भगवतोऽपि स्ववृत्तान्तकथनार्थम् । अष्टैश्वर्यं भगवति सिद्धम् । तथा सति विशेषाज्ञाने प्रतिपात्तरयुक्तेति, स्वयं च फलार्थी न भवतोत्यष्टभिः प्रश्नः । प्रश्नत्रयं निरूपयति, स्वरूपक्रियाप्रकाराणाम् । तत्र विरोधरूपापनार्थम् । एतादृशं रूपं सहजं भवत्येव, कृत्रिममन्येषामपि भवतीति की भवानिति स्वरूपप्रश्नः । अस्तु वा विशेषः । एतादृशे विपिने अरण्ये, तत्रापि गिरि-

संबन्धेन गह्वरे स्थाने, कथं संप्राप्त इति क्रियाप्रयोजनः प्रश्नः । पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यामिति प्रकारप्रश्नः । इयं हि भूमिरसंस्कृतेति उरुणि कण्टकानि भवन्ति । पलाशपलादपि कोमलाभ्यां पद्भ्यां तादृशस्थाने विचलनं महत्कार्यव्यतिरेकेण न भवतीति किं तादृशं महत्कार्यमिति प्रकारप्रयोजनप्रश्नः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—प्रश्न क्यों करता हूँ, उन कारणों को कहता है, यदि कारण न कहे, तो कृत्रिमता को शंका होवे. भगवान् भी अपना वृत्तान्त कहे, इसलिए मुचुकुन्द अपना वृत्तान्त भी कहता है, आठ ऐश्वर्य भगवान् में सिद्ध हैं यों होने पर विशेष अज्ञान में हेतु पूर्वक युक्ति देना उचित नहीं है और वह स्वयं फल की चाहना वाला नहीं है इसीलिए आठ श्लोकों से प्रश्न करता है, उनमें से यहाँ तीन प्रश्नों को कहता है १-स्वरूप का २-क्रिया का और ३-प्रकार का "नमूने का" वहाँ विरोध प्रसिद्ध करने के लिए वंसा रूप स्वाभाविक होता ही है, कृत्रिम (बनावटी) दूसरों का भी होता है, इसलिए पूछना पड़ा, कि आप कौन हैं ? यह स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न है अथवा विशेष हो. पर्वतों के सम्बन्ध से गहरे वन (अरण्य) में कैसे आए हैं ? यह क्रिया के प्रयोजन का प्रश्न है, तथा तीसरा नमूने का प्रश्न है, कि कमल के पत्ते जैसे कोमल पाँवों से, बहुत कांटों वाली भूमि पर घूम रहे हैं, यह आपका क्या प्रकार है ? यह भूमि साफ नहीं की गई है जिससे यहाँ बड़े बड़े कांटे बिखरे पड़े हैं उन पर ऐसे कोमल पाँवों से घूमना, यह कोई घूमने का ढंग है ? कमल के पत्तों से भी कोमल पाँवों से ऐसे विकट दुःख देने वाली भूमि पर सिवाय किसी महात् कार्य के नहीं चला जाता है, तो बताइए वंसा कौनसा महात् कार्य आपको यहाँ करना है ? यों प्रकार के प्रयोजन का प्रश्न किया है ॥२७॥

आभास - प्रश्ने हेतून् वदति अन्वया कृत्रिमत्वमाशङ्क्येतेति । स्ववृत्तान्तमपि कथयति । तर्केण जानीहोत्याशङ्कायां तर्कानाह किरिचित्तजस्विनामिति द्वयेन ।

अभासार्थ—यदि कहो, कि इस बात को तर्क से जानलो, तो इसलिए "किं स्वित्तजस्विना" दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—किं स्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान्वा विभावसुः ।

सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥२८॥

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।

यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदोपः प्रभया यथा ॥२९॥

श्लोकार्थं—क्या आप तेजस्विओं का तेज भगवान् अग्नि हैं अथवा सूर्य चन्द्रमा महेन्द्र वा कोई लोक पाल हैं ? जैसे दीपक अपनी प्रभा से गुहा के अन्धकार को नाश करता है वैसे ही हृदय रूप गुहा के अज्ञान रूप अन्धकार को नाश करते हैं अतः तीन देवोत्तमों में आप श्रेष्ठपुरुष हैं ॥२८, २९॥

सुबोधिनी—आदावहमेव द्वितर्कं । सर्वेषामेव तेजस्विनां तेजः एतुः भूतमेतदिति । अथवा । यत्पूर्वं कारणत्वेन तेजः मृष्टं 'तत्तजोऽसृजते' त्ति, तद्वा तेजो भगवान् । जगत्कारणत्वात् तस्य भगवत्त्वम्, तेनाप्यापः सृष्टा इति । अथवा । त्वं विश्वात्रसुरग्निः मूर्तीभूतः । सर्वैस्वापि तेजसः एकीभावे कारणाज्ञानात् द्वितीयः पक्षः । ततो मूलभूतस्य अत्रागमनासम्भवात् तदधिष्ठातृदेवताप्रश्नः । एवमाधिभौतिकादिभेदेन विकल्पत्रयम् । त्रितयमप्येतत् राजसमिति । सात्त्विकं त्रितयमाह सूर्यः सोमो महेन्द्रो वेनि । एक एव सूर्यो देवतेति 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे'ति ध्येयः सदा सवितुमण्डलमध्यवर्तो नारायण' इति च सूक्ष्मं भवितुमर्हति । चतुर्भुजत्वदर्शनात् । ततोऽपि शीतरश्मिरमृतमयः सुन्दर इति सोमः । ततोऽप्ये-श्वर्यदर्शनात्महेन्द्रो भक्तिमयपि । एतं सात्त्विक-भेदानुक्त्वा मनुष्याकृतिमिव पश्यन् तृतीयं गुणं कल्पयन्निव तन्नोत्तमं सम्भावनया निरूपयति अपरो वा लोकपाल इति । (अग्नि) वायुररुणा-दीनामन्यतमः । ते हि लोकरक्षार्थं परिभ्रमन्ति । वेत्यस्य पक्षस्थानादरे । एतं कार्यकारणरूपाणि सम्भावयित्वा तान् पूर्वपक्षे निधाय परमकारण-

रूपं पुरुषोत्तमं तं सम्भावयति मन्ये त्वामिति । देवानामपि देवानां ब्रह्मविष्णुशिवाणां मध्ये पुरुष-र्षभं विष्णुं त्वां मन्ये । तेषां वा पुरुषर्षभः । तेषां पुरुषः स्वराट् नारायणः । तस्याप्यवधः पुरुषो-त्तम इति वा । श्रद्धयैव कल्पयतीत्याशङ्क्य तत्र साधिकामन्यथानुपपत्तिमाह यद्बाधस इति । गुहान्धकारः न केनापि दूरीकृतः, उत्पत्तिशिष्टः सः । यो हि व्यवधायकं न मन्यते, तेन दूरीकृतुं शक्यः । अतः पूर्वोक्तानां भगवत्तेजःसहितानामपि नात्र पराक्रमः । मूर्तीभूतानां तु बहुधा समाग-तानां गुहाध्वान्तिराकरणं न दृष्टमिति, य एवा-स्माभिनं दृष्टः पूर्वम्, स भगवान् भवितुमर्हतीति निश्चोयते । किञ्च । प्रदोपोऽप्यग्निभंगवत्सहितो प्येगंविधप्रभायुक्तो न भवति । एकैव हि तत्र भगवच्छक्तिः । दीपे तु शक्तिद्वयम् । अतएव कारीष, दारुमयाच्च दीपस्य प्रभा महती, स्नेहा-ग्निस्थानाग्निसंयोगः । 'वतिका अग्निस्थानं अग्ने-स्तृषाधान'मिति श्रुतेः । 'एतद्वा अग्नेस्तेजो यद्द त'मिति घृतमपि तथा । अग्निश्च तत्र संयुक्त इति । अतस्तस्य प्रभा कल्पात्प्रभास्यापि सर्व-गृहव्यापिनो भवति । तथा भवत्तेजः गुहाशयन्तर-स्थानं यत्कदापि न दृष्टं तद्दर्शयतीति पुरुषोत्तम

एव भवितुमर्हसि । उत्कृष्टप्रभा व्यवहार्या दृष्टान्त- | प्रकृष्टो दीपः, यतः स्वया प्रभया ध्वान्तं वाधस
त्वेनाभिमतेति दीपो दृष्टान्तः । अथवा । त्वमेव | इति । अदृष्टपूर्वत्वेन पुरुषोत्तमत्वसिद्धिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—आदि में, मैं ही आश्चर्य में पड़ गया हूँ, इस लिए तक से प्रश्न कर रहा हूँ, क्या यह सर्व तेजस्विओं का तेज एकत्रित हुआ है ? अथवा "तत्तजो ङ्स्टजत" इस श्रुति में कहे हुए प्रथम कारणरूप से उत्पन्न तेज है ? अथवा यह तेज भगवान् है, कारण कि, वह जगत् के कारण होने से उसमें भगवत्त्व है, उससे भी "आप"—जल" उत्पन्न हुए अथवा आप मूर्तिमान् अग्नि हैं, सर्व तेज के एकी भाव होने में जो कारण है उसके अज्ञान से दूसरा पक्ष कहा है, मूलभूत स्वरूप का यहाँ पधारना असम्भव है अतः उसके अधिष्ठाता देव का प्रश्न करता है, आधिभौतिक आदि भेद से तीन विकल्प होते हैं, ये तीन भो राजस हैं, अब सात्विक तीन कहते हैं, सूर्य, सोम वा महेन्द्र हो ? एक ही सूर्य देवता है जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि "सूर्य आत्मा जगतः १-तस्थुषश्च" ध्येयः सदा सवितुमण्डल^१ मध्यवर्ती नारायणः" इस लिए आप सूर्य हो सकते हैं, कारण कि आपकी किरणें शीत एवं अमृत मय हैं. इससे आप सोम हो अथवा उससे भी ऐश्वर्य के दर्शन होने से आप महेन्द्र होंगे, इस प्रकार सात्विक भेदों को कह कर आपकी मनुष्य जैसी आकृति देख तीसरे गुण का मानों कल्पना कर कहता है कि मनुष्यों में भी उत्तम मनुष्य की सम्भावना होने से लोकपाल हो वा वायु-वरुणादि लोकपालों में से कोई एक हो, कारण कि वे लोक रक्षा के लिए फिरते रहते हैं, "वा" पद से इस पक्ष में भी अरुचि प्रकट करता है, इस प्रकार कार्य कारण रूपों को वनाकर कहा और उनको पूर्व पक्ष में धर कर परम कारण रूप उस पुरुषोत्तम की सम्भावना करता हुआ कहता है, कि देवों के भी जो देव ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं उनमें से आपको विष्णु समझता हूँ, अथवा उनमें से भी श्रेष्ठ नारायण वा उस स्वराट् नारायण से भी उत्तम पुरुषोत्तम हो, यों समझता हूँ ।

यदि कोई कहे कि यह आपकी कल्पना केवल श्रद्धा के कारण है, तो उसके उत्तर में कहता है कि नहीं, मैंने जो कहा है वह केवल श्रद्धा से नहीं कहा है, किन्तु उपपत्ति से कहा है, जैसे कि अन्तःकरण रूप गुहा का अज्ञानान्धकार इनके सिवाय अन्य कोई भी दूर करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह अज्ञानान्धकार संसार को बढ़ाने वाला है, अतः जिसको कोई आच्छादन नहीं कर सकता है वह ही इस अन्धकार को दूर कर सकता है, इस कारण से, भगवान् के तेज वाले भी जो आगे कहे गए हैं, उनका पराक्रम भी यहाँ काम नहीं करता है, बहुधा जो मूर्तिमान् हो कर आते हैं, वे तो इस गुहा के अज्ञानान्धकार को नाश करते हैं, ऐसा देखने में नहीं आया है, अतः जो हसने पहले कभी नहीं देखा है वह "भगवान्" ही हो सकते हैं यों निश्चय किया जाता है और विशेषता यह है कि, जलती हुई एवं भगवत्तेजसहित अग्नि भी इस प्रकार की प्रभा से युक्त नहीं होती है, अग्नि में एक

१—चेतना और जड़ की आत्मा सूर्य है २—सवितुमण्डल के मध्य में विराजमान सदा ध्यान करने योग्य हैं ।

ही भगवत् शक्ति है, और दीप में दो शक्तियाँ हैं। दीप की प्रभा विशेष है कारण कि घृत वर्तिका (दीवे की बत्ती) और अग्नि इन तीनों का संयोग होने से यों श्रुतियों में भी कहा है इस दीप को पतली सील पट की प्रभा समस्त गृह में प्रकाश फैलाती है वैसे ही आप (भगवान्) का तेज अन्तः-कारण रूप गुहा में जो कभी नहीं देखा अब देखा, वह बताता है, कि आप पुरुषोत्तम ही हैं, उत्तम प्रभा व्यवहार योग्य है, दृष्टान्त से सिद्ध करने के लिए दीप का दृष्टान्त दिया है, किन्तु आप ही सबसे उत्तम दीप हैं जो अपने प्रभा से अज्ञान का वाघ करते हो, प्रथम कभी दर्शन नहीं हुए है इसलिए आप पुरुषोत्तम ही हैं, यह निश्चय से सिद्ध है ॥२६॥

आभास—तर्हि ज्ञात्वा कथं प्रश्न इति चेत्, तत्राह शुश्रूषतामिति ।

आभासार्थ—जान कर भी प्रश्न क्यों करते हो ? यदि यों कहते हो तो “शुश्रूषतां” श्लोक में इसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—शुश्रूषातामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव ।

स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे नर श्रेष्ठ ! सुनने की इच्छा वाले हमको अपना जन्म, कर्म और गोत्र कहना यदि पसन्द हो तो कहिए. हम इसलिए सुनना चाहते हैं, कि हमने जैसा समझा है, वंसा तो झूठा नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनो—व्यलीकं सन्देहः, तद्रहितं यथा भवति तथा श्रोतुमिच्छामाकम् । असमानत्वान्न स, भाष्यस्त्वमित्याशङ्क्याह नरपुङ्गवेति । नरा-कृतिर्दृश्यत इति । संव्यवहार्यां नरा इति वयमपि संव्यवहार्याः । नराकृतिर्वं च सदेतुकं प्रतिभा-तति विशेषान् पृच्छति स्वजन्म कर्म गोत्रं वेति ।

स्वस्य जन्म किरूपं, कथं प्रादुर्भूत इति कारण-प्रश्नः । कर्मति प्रयोजनप्रश्नः । गोत्रमिति कस्मि-न्वंशे प्रादुर्भाव इति वंशप्रश्नः । वेति अन्यदपि वक्तव्यमित्यभिप्रायसूचकम् । एवं गुणत्रयस्व-भावभिव पृष्ट्वा स्वस्य नियोजकत्वाभावायाह कथ्यतां यदि रोचत इति ॥३०॥

व्याख्यान—आपका जन्म, कर्म और गोत्र जैसा सत्य है वैसा सुनने की हमारी इच्छा है, यों आप न समझना कि मैं असमान होने से भाषण के योग्य नहीं हैं आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हो, क्योंकि आपकी आकृति नर के समान दीखती है, मनुष्य मनुष्य से ही संभाषण के व्यवहार के योग्य है, अतः हम मनुष्य हैं, इसलिए हमसे आप भाषण कर सकते हैं, आपका मनुष्यत्व हेतु वाला भासता है इसलिए प्रकारों को पूछा जाता है ? आपका जन्म, अर्थात् क्या रूप है और कैसे प्रकटे, यह कारण

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :

सीताराम पुस्तकालय

विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007

प्रश्न है, कर्म, इससे प्रयोजन प्रश्न किया है, अर्थात् किस लिए प्रकटे हैं, गोलं, किस वंश में प्रकट हुए हो, यह वंश ज्ञान का प्रश्न है, “वा” शब्द से यह सूचित किया है कि अन्य भी कहने योग्य हो तो वह भी कहना, इस प्रकार तीन गुण के स्वभाव की भाँति पूछ कर, बताते हैं कि मैं आपका नियोरजक नहीं हूँ अर्थात् आपको आज्ञा करने वाला नहीं हूँ अतः यदि आपको इच्छा (इच्छा) हो तो कहिए ॥३०॥

आभास—नरत्वेऽपि तुल्या एव संभाष्या इत्याशङ्क्य स्वजन्मकर्मगोत्राणि निरूपयति त्रिभिः ।

आभासार्थ—मनुष्य होने पर समानों से ही भाषण किया जाता है, इसका उत्तर देते हुए अपना जन्म, कर्म तथा गोल “वयं च” श्लोक से तीन श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—वयं च पुरुषव्याघ्र ऐश्वकाः क्षत्रबन्धवः ।

मुचुकुन्द इति ख्यातो योवनाशवात्मजः प्रभो ॥३१॥

चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहृतेन्द्रियः ।

शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना ॥३२॥

सोपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ।

अनन्तरं भवान् श्रीमाल्लक्षितोऽमत्रशासनः ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषसिंह ! हम इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय हैं: प्रभु ! मैं योवनाशव का पुत्र और मुचुकुन्द नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥३१॥

बहुत जागरण से मैं थक गया था और निद्रा से इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थी, जिस कारण से इस निर्जन वन में खूब सोया, किन्तु किसी ने अब मुझे जगा दिया ॥३२॥

उसके अपने पाप ने ही उसको निश्चय भस्म कर छोड़ा, इसके पश्चात् शत्रुओं को नाश करने वाले आप श्रीमान् के दर्शन हुए ॥३३॥

मुबोधिनो—वयचेति । चकारोऽधेविशेषे । वयमपि नात्यन्तं हीना असम्भाष्याः । किन्त्वेष्ववाकाः इक्ष्वाकुषु जनपदेषु आविर्भूताः । जनपदशब्दादत्यञ् दांडिनायनेति निपातनादुकारलोपः । अतो देशेन कुलेन च प्रसिद्धरुक्ता । पुरुषध्याघ्रेति । पुरुषध्रेष्ठो मन्यत इति लौकिकन्यायेनापि विश्वासायंमुक्तम् । क्षत्रबन्धव इति गवपरिहारः । पितृपितामहयोः स्वस्य च नामाह मुचुकुन्द इति ख्यात इति । प्रसिद्धिरपि सत्कीर्तिमत्त्वेन निरूपिता । युवताश्वः पितामहः, यौवनाश्वो मान्धाता पिता, तस्यात्मज इरोरसः । प्रभो इति सवाधनं नियन्तरि अन्यथाकथनाभावाय । तादृशस्यात्रागमने हेतुं वदन् स्वपौरुषमपि ख्यापयति चिरप्रजागर इति । बहुकालं देवरक्षार्थं चिरप्रजागरो जातः । ततः श्रमोऽपि जातः । ततो निद्रयोपहतानो न्द्रयाणि च जातानि । अतो निद्रोपभोगार्थं विजनेऽस्मिन् स्थाने शये यथा न

केनापि उल्थाप्यत । अयं देवदत्तनिद्रया शयनकरोमिति न कथयति । तथा सति ध्यानतपः-प्रभृति सर्वं पारित्यज्य तामस्यत्रस्था किमत्यङ्गीकृतेत्युपालभ्यः स्यात् । तदर्थं स्वखेदमेव वर्णयति । अतः कामं यथेष्टं शये । अत्रापि कश्चिदागत्योत्थानं कारितवानित्याह केनाप्युत्थापितोऽधुनेति । स्वापराधशान्त्यर्थं यदज्ञानकथनम् । तस्य च दण्डो मया न कृतः । किन्तु स्वपापेनैव जात इत्याह तोऽपि भस्मीकृत इति । आत्मोऽप्येनैव स्वकृतेनैव पापेन । न शयानं प्रबोधयेदिति निषेधोऽस्ति ननु भस्मीकृतः । नूनमिति नात्र कोऽप्यभ्युपगच्छ इति निरूपितम् । तदनन्तमेव भवद्दर्शनं जातमित्यतोऽपि हेतोः न ममापराधः । अन्यथा तव दर्शनं न स्यात् । एतदर्थमेव पूनर्भगवन्तं वर्णयति श्रीमानिति । सर्वसौन्दर्ययुक्तः लक्ष्मीवांश्च । अमित्रशासन इति । शत्रुमारकस्त्वमेवेति त्वयैवायं प्रायेण मारितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—“च” शब्द अर्थ विशेष में है, हम भी अत्यन्तहीन नहीं हैं जो भाषण के योग्य न हों, किन्तु इक्ष्वाकु के देश तथा कुल में उत्पन्न हुए हैं, इस इक्ष्वाकुवंश के क्षेत्रिय नाम से प्रसिद्ध हैं, आप पुरुषसिंह अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ हैं अतः लौकिक न्याय से भी आप विश्वास करोगे, “क्षत्रबन्धवः” पद देने का भाव यह है, कि मुचुकुन्द ने अपनी नम्रता दिखाई, कुल वा क्षत्रियत्व का गर्व प्रकट न किया, पिता, पितामह और अपना नाम कहा, युवताश्व पिता का नाम मान्धाता पितामह का और मुचुकुन्द अपना नाम बताया, तथा “ख्यातः” प्रसिद्ध है यों कहने से सत्कीर्ति वाले हम हैं यह दिखा दिया क्योंकि प्रसिद्धि सत्कीर्ति से ही होती है “आत्मज” पद से “ओरस+” पुत्र हैं यह कहा है, “प्रभो” सम्बोधन देने से यह बताया कि नियन्ता अर्थात् स्वामी के सामने कभी झूठ नहीं बोला जाता है, वैसे मैं किस कारण यहाँ आया हूँ वह भी बताया है कि मैंने कितना पुरुषार्थ किया है उसका भी इस कहने से आप समझ जाएंगे, देवताओं की रक्षा बहुत दिन रात करते हुए अतिशय जागरण करना पड़ा जिससे थकावट भी हुई तथा नींद से आँखें भी भर गई इसलिए नींद लेने के लिए इस शून्य स्थान में आकर सो गया जिससे कोई उठावे नहीं, यह बात नहीं कहा कि निद्रा देवों ने दी है जिससे इतनी नींद ली है, यों प्रकट करें ता यह उपालम्भ मिले, कि ध्यान, तप आदि त्याग कर

यह तामसो अवस्था क्यों लो ? इसलिए वह कहीं नहीं, इस वास्ते अपना खेद ही प्रकट करता है कि इजनी मन पंसन्द नौंद लेली, किन्तु न जाने ऐसी नौंद से किसी ने आके अब जगा दिया, मेरा उसने अपराध किया किन्तु मुझे गुस्ता नहीं आया क्योंकि मैंने समझा इसने यह कार्य अज्ञान से किया है, इसलिए मैंने उसे दण्ड नहीं दिया, किन्तु अपने पाप से ही वह स्वयं भस्म हो गया, वह कौन सा पाप था जिससे भस्म हुआ ? शास्त्र में कहा है "शयानं न प्रबोधयेत्" सोये हुए को जगाना नहीं चाहिए, इस शास्त्राज्ञोत्प्लवन रूप पाप से भस्म हुआ है, इसमें मेरा कोई भी अपराध नहीं है, मेरा दोष होता तो आपके दर्शन न होते, इसलिए भगवान् का वर्णन करता है, कि आप समस्त सौन्दर्य से युक्त और लक्ष्मीवान हो तथा शत्रुओं का मारने वाले आप ही हैं इसलिए आपने ही बहुत करके इसको मारा है ॥३१-३२-३३॥

आभास—तर्हि यथैतावन्नर्णातम्, तथा जन्मकर्माण्यपि योगबलेनेव कथं न निर्णायन्त इत्याशङ्क्याह तेजसा तेऽविषह्येणेति ।

आभासार्थ—तो जैसे इतना निर्णय किया वैसे जन्म और कर्मों का भी योग बल से क्यों नहीं निर्णय करते हैं ? इसका उत्तर "तेजसा तेऽविषह्येण" श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।

हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—आपके असह्य तेज से विशेष समय वा अच्छे प्रकार से बार बार आपको देख नहीं सकते हैं, कारण कि आपके इस तेज से हमारा बल नष्ट हो गया है, आप दंष्टारियों में मान देने योग्य हो ॥३४॥

<p>सुबोधिनो—अविषह्येण निकटेऽपि स्थातुम- शक्येन ते तेजसा भूरि पुनः पुनः द्रष्टुमपि न शक्नुमः । तस्य निदानजिज्ञासा दूरापास्तेति । अन्तर्दृष्ट्या द्रष्टव्यमित्याशङ्क्याह हतौजस इति । हे महाभाग ते तेजसैव हतं ओजः मनःशक्तिर्य- ेषाम् । अतो दूरापास्तेव योगेन चिन्तनकथा ।</p>	<p>अन्यज्ज्ञातमस्तु न वा, द्वयं ज्ञायत इत्याह । हे महाभाग देहिनां च त्वं माननीय इति । वैलोक्यादाधिकं भाग्यं दृश्यते । अत एव देह- ग्रहणमात्रेणैव अवश्यमिष्टमपेक्षितमिति सर्वेष्ट- पूरकः त्वं सर्वेषामेव माननीयः पूज्यः सेव्य- श्चेत्यर्थः ॥३४॥</p>
---	---

व्याख्यान—आपका ऐसा असह्य तेज है, जिसके पास में खड़ा रहना भी जब अशक्य है, तब बार-बार कैसे देखा जा सकेगा ? अर्थात् ऐसे तेज के कारण जब हम आपको देख नहीं सकते

हैं, तो आप कौन हो ? इत्यादि का कारण कैसे जान सकेंगे, यदि यों नहीं देख सकते हो तो अन्तर की दृष्टि से देखिए, इसके उत्तर में कहते हैं, कि है महाभाग ! आपके तेज से जब मन को शक्ति नष्ट हो गई है तब योग से उसका चिन्तन करना तो दूर हो रह गया, दूसरा कुछ जानता नहीं, किन्तु दो बात जो जानी हैं, १ - देहधारियों से तो आप मान देने योग्य हो, अर्थात् देह धारी आपका सम्मान करें यह उनका कर्तव्य है। २—आपका “भाग्य” तो न लोगों से अधिक है, अतएव केवल देह के ग्रहण से ही, यह समझ में आता है, कि अवश्य कुछ “इष्ट” की अपेक्षा है, सबकी इष्टपूर्ति करने वाले आप को ही सब मान देते हैं, पूजते हैं तथा सेवन करते हैं, क्योंकि आप ही मान्य, पूज्य ओर सेव्य हैं ॥३४॥

आभास—एवं तस्य विज्ञापितमाकर्ण्य तदर्थमिव समागत इति तत्रोत्तरमुक्त्वा-
नित्याह एवं संभाषित इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसकी प्रार्थना सुनकर इसलिए ही आया है, यों उत्तर दिया जिसका वर्णन “एवं संभाषितो” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं संभाषितो राजा भगवान्भूतभावनः ।

प्रत्याह प्रहसन्वाप्या मेघनादगम्भीरया ॥३५॥

श्लोकार्थ—भूत भावन भगवान् से जब राजा ने इस प्रकार प्रश्न किए तब हँसते हुए भगवान् मेघ नाद के समान गम्भीर आवाज से कहने लगे ॥३५॥

सुबोधिनो—सम्यक् भाषितः । राजति सोऽपि महान्, राजप्रश्ने चावश्यमुत्तर देवमिति निरूपितम् । भगवांश्च निरूपित एवोत्तरे तस्य कृतार्थता भविष्यतीति जानाति । अतस्तथोत्तरं दत्तवान् । यद्यपि प्रकारान्तरेणापि तदुद्धारं कर्तुं

शक्तः, तथापि तत्कृपयापि तथोक्तवानित्याह भूतभावन इति । प्रहसन्निति विशेषेण मोहितवान् । तर्हाहितकारी स्वादित्याशङ्क्याह मेघनादादपि अधिकगम्भीरया सर्वथा तापनाशिकया ॥३५॥

व्याख्यार्थ—राजा ने श्रेष्ठ रीति से प्रश्न किए वह भी महान् है, अतः राजा के प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना चाहिए, इससे यह निरूपण किया । मुचुकुन्द ने भगवान् के जन्मादि का तो निरूपण किया ही है किन्तु भगवान् इसका उत्तर देकर समर्थन करेंगे तब उसकी सफलता होगी, यों वह समझता है, अतः वैसा उत्तर दिया यद्यपि अन्य दङ्ग से भी उद्धार के करने में प्रभु समर्थ हैं, तो भी उस पर कृपा है इसलिए वैसा कहा, क्योंकि आप भूतभावन हैं, हँसने का कारण मुचुकुन्द

को विशेष मोहित करना था, यदि मोहित करते हैं तो शत्रु हुए, क्योंकि हँसकर अहित कर रहे हैं, इसके उत्तर में कहते हैं, कि नहीं, उसके ताप (दुःख) को नाश करने वाले हैं, इसलिए मेघों के नाद के समान गंभीर वाणी से बोले हैं अर्थात् जैसे मेघ गर्जते हुए मेघ ताप नाश करते हैं वैसे ही आप भी इस वाणी मात्र से ताप नाश करते हैं ॥३५॥

आभास—भगवद्वाक्याभ्याह—जन्मेति अर्धाधिकाष्टमिः ।

आभासार्थ—भगवान् के वचन “जन्म-कर्म” श्लोक से आठ श्लोकों में कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—जन्मकर्माभिधानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।

न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि—हे अङ्ग ! मेरे जन्म, कर्म और नाम हजारों हैं अर्थात् अनन्त हैं इसलिए इनकी गिनती मैं भी करने में असमर्थ नहीं हूँ यह निश्चय है ॥३६॥

सुवोधिनी—तदुक्तं भगवानर्धमेव फलं तस्य दास्यामिति ज्ञापितवानिति । आदौ यत्नेन पृष्टं ‘जन्मकर्माभिधानानि वदे’ति, तत्र कानि वक्तव्यानात्याकाङ्क्षाभिव ददन् आदौ जन्मनामसङ्ख्यातत्वमाह मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्तीति । नन्विदानीन्तनेषु पृष्टेषु किमिति व्यंघकरणमुत्तरं दत्तवान्, ततश्चायं प्रतारक एव, न भगवानिति शङ्का च स्यादिति चेत् । सत्यम् । भगवान् प्रथमतः स्वरूपे ज्ञाते जन्मकर्माभिधानानि ज्ञातव्यानीति मन्यते । अतः स्वरूपं वदन् स्वभावं जन्मान्याह । ब्रह्मेति स्वरूपं वक्तव्यम् । तस्य कथं जन्मेत्याकाङ्क्षायां

भक्तिप्रतिपादकोऽपि स भवतीति भक्तिसिद्धयर्थं कर्माणि करिष्यन् भक्तिपरिपालनार्थं कर्माणि च करिष्यन् बहून्येवावतरणानि करोतीति वक्तव्यम् । तस्मिन्ननुक्ते तस्य बोधनार्थमुक्तमप्यनुक्तं स्यात् । अतः सुष्कृतं मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्तीति । अङ्गस्यप्रतारणाय संबोधनम् । सन्तीत्यनेन सर्वेषामेव विद्यमानता निरूपिता । सर्वद्वीपेषु विद्यमानानां वा सहस्रत्वमुच्यते । तर्हि भक्तिसाधकत्वात्तानि कथयेत्याशङ्क्याह न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमिति । आनुपूर्व्येण संख्यातुं मयापि न शक्यन्ते ॥३६॥

व्याख्यानार्थ - भगवान् ने ८ श्लोकों में आठ प्रश्नों का उत्तर देकर फल दान करने के लिए आधा श्लोक कहा, जिसका तात्पर्य यह है, कि भगवान् ने जता दिया, कि उसको आधा हो फल होगा। पहले जो यत्न से पूछा कि अपने जन्म, कर्म और नाम कहां, वहाँ कौन से कहने चाहिए ऐसी आशंका होने पर प्रथम उनके सङ्ख्या के विषय में कहते हैं कि मेरे जन्म, कर्म और नाम हजारों हैं अर्थात् अगणित हैं, आपके जन्म आदि पूछें हैं फिर आप उल्टा क्रम विरुद्ध उत्तर क्यों देते हैं? इससे तो यों समझ में आएगा कि यह छली-हैं, भगवान् तो नहीं हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि, सत्य है पहले भगवान् स्वरूप का ज्ञान होने पर, जन्म, कर्म और नाम जानने चाहिए, ऐसा मानते हैं, अतः स्वरूप का वर्णन करते हुए, स्वभाव प्रकट करने के लिए जन्म कहते हैं "ब्रह्म" है, यह स्वरूप कहना चाहिए, यदि ब्रह्म है तो उनके जन्म कैसे होंगे? इस शंका के समाधान के लिए कहते हैं कि, भक्ति का प्रतिपादन करने वाले भो वे हो हैं, अतः भक्तिकः सिद्धि करने के लिए कर्म करते हुए और भक्तों को पालना के वास्ते कर्म करते हुए बहुत ही अवतार धारण करते हैं इस प्रकार कहना चाहिए, यों यदि न कहा जाएगा तो उनके ज्ञान के लिए कहा हुआ भी न कहने के समान होगा। अतः सुन्दर कहा है, कि मेरे जन्म कर्म आदि अनेक हैं। "अङ्ग" यह सम्बोधन देकर उसको कहा है कि तुमसे कष्ट नहीं करता है 'सन्ति' क्रिया देकर यह सिद्ध किया है, मेरे सर्व अवतार अब हो विद्यमान हैं, सब द्वीपों में वे विराजमान हैं, वे अनेक ही हैं, यदि हैं तो वे भक्ति को सिद्ध करने वाले होने से कहने चाहिए, उनको कहिए, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि उनकी गणना करना असम्भव है, पूरी गणना मैं भी नहीं कर सकता हूँ ॥३६॥

आभास - तदेवाऽख्यतात्वेनोपपादयति, अज्ञानव्यावृत्त्यर्थम्, क्वचिद्रजांसोति ।

आभासार्थ—अज्ञान मिटाने के लिए "क्वचिद्रजांसि" श्लोक से अज्ञान मिटाने के लिए उसका असंख्यापन प्रतिपादन करते हैं ।

श्लोक—क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः ।

गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥३७॥

श्लोकार्थ—बहुत जन्म लेकर कदाचित् पृथ्वी के रजःकण गिने जा सकें किन्तु मेरे गुण, कर्म, नाम और जन्म कोई नहीं गिन सकता है ॥३७॥

सुवोधिनी—कदाचित्पार्थिवान्यपि रजांसि कश्चिद्विममे । अहं वा । उरुजन्मभिरपि विमानं संभवत्यन्यस्य । यद्येक एव ब्रह्मपर्यायेण सर्वेषु ब्रह्माण्डेष्ववतरति, तदा तत्रत्यानां परमाणुनां सृज्योपयोगित्वेन गणनां करोति । अन्यथा अद्य-वस्था स्यात् । ततश्च ब्रह्मणा गणयितुं शक्याः । मयापि सृष्ट्यादौ ज्ञानपूर्वकं सृजामीति गणितुं

शक्या एव । कचिदिति । सृष्टिविशेषे । गुणकर्माभिधानानि मदीयानि तु कदाचिदपि गणयितुमशक्यानि । एकस्मिन् जन्मनि कोटिशः कर्माणि नामानि च भवन्ति । एकस्मिन् दिवसे ब्रह्माण्ड-कोटिषु द्वीपादिदेशविशेषेषु कोटिशो जन्मानि भवन्ति । अतः अपरिमितत्वात् जन्मादीनां परिगणनाभावो युक्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—किसा समय कोई, अथवा मैं पृथ्वी के रजःकण गिन सकूँ बहुत जन्म लेकर भी उसकी गणना सम्भव हो सकती है, यदि एक ही भगवान्, ब्रह्म के पर्याय से सब ब्रह्माण्डों में अवतार लेते हैं, तब वहाँ की रचना के योग्य परमाणुओं की गणना करते हैं, यदि न करें तो व्यवस्था नष्ट हो जावे, इस कारण से ब्रह्म उनको गिन सकते हैं तथा मैं भी आदि में सृष्टि की ज्ञान पूर्वक रचना करता हूँ, इस लिए वे गिने जा सकते हो हैं, किन्तु वह गणना कभी विशेष सृष्टि के समय में हो सकती है, अन्यथा नहीं, किन्तु मेरे गुण, कर्म और नाम तो कभी भी नहीं गिने जा सकते हैं, कारण कि, एक ही जन्म में, करोड़ कर्म तथा नाम बताते हैं एक ही दिन में करोड़ों ब्रह्माण्डों में विशेष अलग २ द्वीपों के देशों में करोड़ों जन्म होते हैं, अतः अनगिनत होने से उनकी गिनती नहीं हो सकती है ॥३७॥

आभास - बहुभिर्मिलितैर्गणना भविष्यतीत्याशङ्क्याह कालत्रयोपपन्नानिति ।

आभासार्थ—बहुत मिल कर गणना कर लेंगे, जिसका उत्तर “कालत्रयोपपन्नानि” श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप ।

अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! तीन काल में युक्ति युक्त मेरे जन्म और कर्म गिनते हुए बड़े बड़े ऋषि भी अन्त पा नहीं सकते हैं ॥३८॥

सुवोधिनी—भूतान्येव बहूनि वर्तन्ते, भवि- चिन्तः, एकदा एकस्मिन् देशे एकं देहं गृह्णाति, प्याणि च । म इति ब्रह्मणः । जीवो हि परि- म देहः शतवर्षाणि तिष्ठति । भगवतस्तु देहाभा-

वात्स्वरूपं यथासुखं प्रदर्शयतीति एकस्मिन्नापि
क्षणं बहुभिर्बहुधा दृश्यते इति अनेकरूपाणि
भवन्ति । चलने च मायाजवनिकायाः स्थलान्तरे
उद्गमस्य भिन्नत्वाच्चलनमात्रेणैवानेकानि
रूपाणि भवन्ति । स ह्याकाशशरीरः सर्वतःपाणि-
पादान्तर्वेन, मूर्त्यानन्त्यात् अनन्तरूपत्वं युक्त-

मेव । अत आह भगवान् । कालत्रयोपपन्तानि
मदीयानि अनुक्रमन्तः आनुपूर्व्येण गणनां कुर्वाणाः
अन्तं न गच्छन्तीति । नृपे त संबोधनं महत्त्वेन
वञ्चनाभावात् । तत्रापि कालत्रयस्य योग्यानीति
कर्मणामानन्त्यम् । कालत्रयस्य उपमर्दनसमर्थानि
नामानीति कालत्रये उपपन्नान्यनन्तान्येव ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भूत बहुत द्रों हैं और बहुत होंगे, 'में' पद का तात्पर्य है ब्रह्म के, क्योंकि जोव
परिच्छिन्न हैं अतः एक ही काल तथा देश में एक देह धारण कर सकता है, वह देह सौ वर्ष तक
रहती है भगवान् तो देह रहित होने से इच्छानुकूल मुखपूर्वक स्वरूप दिखाते हैं, एक ही क्षण
में बहुत प्रकार से दर्शन करते हैं, इस प्रकार अनेक रूपा होते हैं आपको मायारूप पड़ने के चलते
रहने से दूसरे स्थल में उत्पन्न होने की गिनता से केवल चलने से ही अनेक होजाने है । उनका
(भगवान् क) शरीर आकाश है, सब स्थान पर उनके पाणिपाद प्राप्त है, अतः मूर्ति की अनन्तता
होने से आपका अनन्त रूप होना योग्य ही है, इस लिए कहा है, कि "भगवान्" हैं । मेरे ये
जन्म तीन काल में उपयोगी हैं, आदि से लेकर यदि गणना की जाए तो अन्त हो न आवे, हे
नृप ! यह संबोधन दो बात प्रकट करने के लिए दिया है १- आप महान् हैं, यह बताने के लिए
दूसरा आप से हम वञ्चना नहीं करते हैं यह जताने के वास्ते, इसमें भी मेरे काम तीनों कालों
के योग्य हैं इससे कर्मों की अनन्तता सिद्ध की है, मेरे नाम तीनों कालों का उपमर्दन करने में समर्थ
हैं, इस लिए तीनों कालों में योग्य हैं और अनन्त ही हैं ॥३८॥

आभास — एवं त्रिभिः स्वस्य ब्रह्मत्वं निरूप्य धर्माणामपि ब्रह्मत्वेनानन्त्यमुक्त्वा
अवकतव्यत्वमुपपाद्य तथापि राजकृपया राज्ञो दुर्ज्ञेयमपि वक्ष्यामीत्यमिप्रायेणाह
तथापीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार तीन श्लोकों से अपने ब्रह्मत्व का निरूपण कर, और
धर्म भी ब्रह्म रूप होते हुए अनन्त हैं, यों भी कह कर यह बताया कि वे बताने नहीं
चाहिए तो भी राजा पर कृपा है अतः जो दुर्ज्ञेय हैं वह भी राजा को कहेंगा इस
अभिप्राय से "तथापि" श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तथाप्यद्यतनान्यङ्गं शृणुष्व गदतो मम ।

त्रिज्ञापितो चिरञ्चयेन पुराहं धर्मगुप्तये ।

भूमेर्मारामाणां नामसुराणां क्षयाय च ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग तो भी अब के जन्म नाम आदि मैं कह रहा हूँ वे सुन, पहले ब्रह्मा ने धर्म की रक्षा और पृथ्वी पर भार रूप असुरों के नाश के लिए मुझे प्रार्थना की थी ॥३६॥

सुबोधिनी—अद्यतनानि जन्मकर्माभिधानानि शृणुष्व । यद्यपि त्वां प्रति न वक्ष्यामि, तथापि मे गदतः सतः त्वया सावधानतया श्रोतव्यम् । आदौ जन्महेतुमाह । स एव पृष्ठ इति । पुरा विरञ्चयेन विज्ञापितः ब्रह्मणा प्रार्थितः सन् धर्म-
रक्षा कर्तव्येति । भूमेर्भारयमाणानामसुराणां क्षयार्थं च । अनेन द्वयं गृहीतम् । भूमिभारहरणमसुराणां क्षयश्चेति । चकाराङ्गक्तिसिद्धयर्थं च ॥३६॥

व्याख्यार्थ—अब के मेरे जन्म, कर्म और नाम सुन ले यद्यपि तुमको नहीं कह रहा हूँ, तो भी कहते हुए मुझे, तू सावधान हो कर सुनले, प्रथम जन्म का कारण कहते हैं, क्योंकि वह ही पूछा है, पहले ब्रह्मा ने प्रार्थना की थी, कि आपको धर्म की रक्षा करनी चाहिए, और पृथ्वी पर भार बने हुए असुरों के नाश के लिए भी प्रार्थना की थी, इससे हमने दोनों प्रार्थनाएँ स्वीकार कर ली (१) भूमि का भार उतारना और (२) असुरों का नाश करना, यों करने से धर्म की रक्षा हो जाएगी तथा 'च' से यह बताया कि भक्ति की सिद्धि के लिए भी जन्म धारण किया है ॥३६॥

श्लोक—अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः ।

वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—यदुकुल में आनक-दुन्दुभि के गृह में, मैं प्रकट हुआ हूँ, मुझे वसुदेव का पुत्र होने से "वासुदेव" नाम से बुलाते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—यदुकुले इति गोवमुक्तम् । आनकदुन्दुभेर्गृह इति विशेषोऽप्युक्तः । नामाह वदन्ति वासुदेवेति । सन्त्येव वह्नि नामानि, एकस्यापि नाम्नः बहून्त्येव निर्वचनानि सन्ति, तथापि एकं नाम एकप्रकारनिर्वचनं लोका वदन्ति । वासुदेवेति नाम । वसुदेवसुतमिति निर्वचनम् । हीति युक्तश्रायमर्थः । यतो मां वदन्ति । मया च तथा कृतमिति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यदुकुल में जन्म कहने से, अपना गोत्र बताया है, आनकदुन्दुभि के घर में कहकर गोत्र में भी विशेष घर बता दिया है, अब नाम कहते हैं, कि मुझे "वासुदेव" कहते हैं, बहुत नाम

हैं एक ही नाम के बहुत अर्थ होते हैं, तो भी लोक एक नाम और उस एक ही अर्थ को कहते हैं, 'वासुदेव' यह नाम, इसका अर्थ करते हैं कि वसुदेव का पुत्र है, इस लिए वसुदेव है "हि" शब्द का तात्पर्य है, कि यह अर्थ योग्य ही है, जिससे मुझे वासुदेव कहते हैं, मैंने भी यों ही किया अतः वसुदेव का पुत्र हुआ हूँ ॥४०॥

आभास—कर्माण्याह कालनेमिर्हत इति ।

अ भासार्यं—कर्म का वर्णन करते हैं "कालनेमिर्हतः" श्लोक से--

श्लोक—कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ।

अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥४१॥

श्लकार्थ—कालनेमि होने से मामा कंस को भी मारा, सत्पुरुषों के द्वेषी होने से प्रलम्ब आदि दैत्य नष्ट किए, इससे सत्पुरुषों की रक्षा हुई, हे राजन् तेरे तेज नेत्र से +

सुबोधिनो - कंसो मातुल इति तस्य हननं निषिद्धामिनि पूर्वं स कालनेमिः स्थित इत्युक्तम् । प्रलम्बादयोऽपि हताः, यतस्ते सद्द्विषः । अनेन सद्रक्षार्थं प्रलम्बादयो हताः, न तु तेषां हनने स्वतन्त्र कार्यमस्तीति भावः । प्रकृतकृत्यं द्विरूप-
माह अयमिति । तत्र यवनः ते तिग्मचक्षुषा बाण प्रायेण करणेन मयैव दग्धः । चकारः कर्तुं समुच्च-
यार्थः । राजन्निति संबोधनं तथैव सम्मत्यर्थम् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—कंस मामा है इस लिए उनके मारने का शास्त्रों में निषेध है, किन्तु वह पूर्व जन्म में कालनेमि था कालनेमि का अवतार होने के कारण इसको मारा है सत्पुरुषों के द्वेषी प्रलम्ब आदि का वध सत्पुरुषों की रक्षा के लिए किया है, उनके मारने के लिए अन्य कोई कारण नहीं था, बालू कृत्य दो तरह का है यद्यपि देखने में यवन तुम्हारे तेज चक्षु से दग्ध हुआ है वास्तव में उसको मैंने ही भस्म किया है तुम्हारा नेत्र तो केवल कारण है, जैसे योधे का बाण साधन होता है "च" से कर्ता का समुच्चय दिखाया है, हे राजन् ! यह सम्बोधन वैसी ही सम्मति के लिए है ॥४१॥

आभास—द्वितीयं भवितलक्षणं धर्मलक्षणं वा प्रयोजनमाह सोऽहमिति ।

+ यह वाक्य ४२ वें श्लोक के श्लोकार्थ में पूरा होगा ।

आभासार्थ—आने का दूसरा प्रयोजन भक्ति का व धर्म लक्षण का है वह “सोऽहं” श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—सोऽहं तवानुग्राहार्थं गुहामेतामुपागतः ।

प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥४२॥

श्लोकार्थ—जिस मुझ भक्त वत्सल को तुमने बहुत पहले प्रार्थना की थी, वह मैं तुम पर कृपा करने के लिए इस गुफा में आया हूँ ॥४२॥

सुबोधिनी—अनेकार्थेऽवतीर्णो यतोऽहं अत-
स्तवःप्यनुग्रहः कर्तव्य इति एतां गुहामुपागतः ।
अन्यथा प्रकारान्तरेण भ्रममुत्पाद्य कालयवन
एवात्रानीतः स्थात् । ततश्च स्वयमेव स भग्मी-
भवेत् । अतस्त्वदर्थमेवास्मिन् सङ्कटे देशेऽपि समा-
गतः । तत्र हेतुः प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वाभिति । बहु-
वारं पूर्वजन्मसु त्वयाऽहं प्रार्थितः । अनेन यत्सा-
मर्थ्यं त्वयोदानोमुपलभ्यते, तस्मैवलं मदनुभावेन-
त्यपि ज्ञापितम् । तथापि स्वबलेशेनाप्यागमने
स्वस्यासाधारणं धर्ममाह भक्तवत्सल इति । अहं
स्वभावतो भक्तवत्सलः ४२॥

व्याख्यार्थ—जिससे मैं अनेकों के लिए प्रकट हुआ हूँ अतः तुम पर भी अनुग्रह करना चाहिए, इसलिए इस गुफा में आया हूँ, अन्य प्रकार भ्रम पैदा कर कालयवन को ही यहाँ लाया जावे, पश्चात् वह स्वयं भ्रम हो जावे, अतः तेरे लिए ही इस कष्ट वाले देश में आया हूँ, ऐसे देश में तेरे लिए आने का कारण यह है कि तुमने बहुत बार पूर्व जन्मों में मुझे प्रार्थना की थी, यों कहकर यह भी मुचुकुन्द को सूचित किया है कि तुम से जो यह सामर्थ्य इस समय देखने में आती है वह मेरा ही प्रभाव है, यहाँ आने में जो कष्ट हुआ है, वह सहन कर भी जो आया है उसका कारण मेरा असाधारण धर्म, भक्त वत्सलता है मैं स्वभाव से ही भक्त वत्सल हूँ, अर्थात् भक्तों से प्यार करने वाला हूँ ॥४२॥

आभास—आगतस्य प्रयोजनमाह वरान् वृणीष्वेति ।

आभासार्थ—अपने आने का प्रयोजन “वरान् वृणीष्व” श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते ।

मां प्रपन्नोऽजनः कश्चिन्न भूयोर्हंति शोचिषु ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे राजर्षि वरों को मांग, हम तुझे सर्व कामनाएँ देते हैं, मेरी शरण आया हुआ कोई भी फिर शोक नहीं करता है, अन्य जन्म में मोक्ष भी पाता है ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—ये वरणीयाः तवाभीष्टाः तान् प्रपद्यते, तस्मिन् जन्मनि कश्चिच्छोचितुमर्हति, बहूनि वृणीष्व । यतस्त्वं राजर्षिः राजा न सर्वः । अतः सर्वेषां शोकः प्रपत्तिमात्रेण निवृत्तं, अजनश्च भवति । जनश्चात् मदिच्छया, तेषां राजधर्म वैदिक च धर्म कृतवानिति । तथापि भूयः शोचितुं नार्हति । एष विकल्पः अहं पुनः ते अस्मिन् जन्मनि सर्वानेव कामान् राज एवार्थे । अतः कामितं सर्वमेव दास्यामि, दास्यामि' न तु मोक्षमिति भावः । तर्हि किं मुक्तिमपि एकजन्मव्यवधानेनेति भावः ॥४३॥
वरेणेत्याशङ्क्याह मां प्रपन्न इति । यस्तु शरणागतः, स भूयः शोचितुं नार्हति । यस्मिन् जन्मनि

व्याख्यानार्थ—जो तुमको वर लेने हों, वे बहुत से हों तो भी मांग लो, क्योंकि तुम राजा और ऋषि दोनों हो। राज धर्म और वैदिक धर्म दोनों धर्म पाले हैं, मैं इस जन्म में सब कामनाएँ जो भी तेरी होगी वे पूर्ण करूँगा, किन्तु मोक्ष के सिवाय । यदि मोक्ष नहीं देना चाहते हैं, तो वर लेने से लाभ क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो मेरी शरण आया है वह कभी भी फिर शोक नहीं करता है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के शोकों से छूट जाता है, जिस जन्म में शरण लेता है उस जन्म में कोई कोई शोक करता है सब नहीं करते अतः सब का शोक शरण मात्र से निवृत्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है, यदि मेरी इच्छा से उसकी मुक्ति न भी होवे, तो भी वह शोकाकुल तो हो नहीं सकता है, यह विकल्प भी राजा के वास्ते ही है, अतः कामनाएँ तो सब दूँगा, शेष मुक्ति वह भी एक जन्म की रूकावट से दूँगा ॥४३॥

आभास—एवं वचनेन यदर्थं स्वयं स्थितः स एवायमिति निश्चित्य कर्तुमिषेषेत्याह इत्युक्त इति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार गर्व के वचन मानकर, जिसके लिए मैं यहाँ स्थित हूँ, वह ही यह है, यह निश्चय कर, स्तुति करने को इच्छा करने लगा, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी "इत्युक्त" श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदाग्वितः ।

ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार जब भगवान् ने कहा तब प्रसन्न होकर मुचुकुन्द ने गर्गजी के वाक्य स्मरण कर उनको नारायण देव जान और उनको प्रणाम कर कहने लगा अर्थात् स्तुति करने लगा ॥४४॥

सुबोधिनी—भगवता वरं प्रार्थयेत्युक्तः स्तवैव वरः प्रार्थनीय इति तं प्रणम्य स्तुति-माह । यतोऽयं मुचुकुन्दः प्रसिद्धः, मुदा चान्तरन्वितो जातः । भगवद्वाक्येन संतोषो-ऽप्येका भगवत्स्तुतिः । तदा गर्गवाक्यमनुस्म-रन्, भगवद्वाक्येन तस्यापि स्मरणे जाते,

नारायणोऽयमिति निश्चित्य, स्तोत्रं कृतवान् । अनेन नारायणः पुरुष एव ज्ञातः, न तु पुरुषो-त्तमः । अथवा । पुरुषमेव पुरुषोत्तमं मन्यते । भगवद्वाक्यं गर्गवाक्यस्मारकत्वेन जातमिति न फलसिद्धिः । अनेनैवाभिप्रायेण भगवतापि 'कामान् ददामी'त्युक्तम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वरों को मांग, इतना कहा, यह सुनकर राजा ने विचार किया कि पहले स्तुति कर पश्चात् वरों की याचना करनी चाहिए, इस निश्चय से, उनको प्रणाम कर स्तुति करने लगा, जिससे यह मुचुकुन्द प्रसिद्ध है । अन्तःकरण में प्रसन्नता से युक्त हुआ, भगवान् के वचनों से संतोष हो जाना यह भी उनकी एक प्रकार की स्तुति है, तब गर्ग के वाक्य याद हो आए, इसके वाक्यों का स्मरण भी भगवान् के वाक्य श्रवण से हुआ अतः ये नारायण हैं यह निश्चय कर स्तुति करने लगा, इससे नारायण को पुरुष ही जाना, पुरुषोत्तम नहीं समझा, अथवा पुरुष को ही पुरुषोत्तम मानता है, मुचुकुन्द को फल की (मोक्ष की) सिद्धि न हुई जिसका कारण यह है, कि इसने भगवान् के वचनों का फल गर्ग के वाक्यों का स्मरण ही समझ लिया, इसी अभिप्राय को ध्यान में रख कर भगवान् ने भी "कामान् दास्यामि" कहा कि कामनाओं को दूँगा न कि मोक्ष को ॥४४॥

आभास—भगवन्तं स्तोति त्रयोदशभिः विमोहित इति ।

आभासार्थ—तेरह श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है ।

मुचुकुन्द उवाच—

श्लोक— विमोहितोऽयं जन ईशमायया स्ववीययाः स्वं न भजत्यनर्थकम् ।

सुखाय दुःखप्रमहेषु सज्जते, गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः ॥४५॥

श्लोकार्थ— मुचुकुन्द कहने लगा—हे ईश आपकी इस माया ने यह मनुष्य, स्त्री अथवा पुरुष को ठग लिया है, इसलिए अनर्थ संसार में ही ध्यान हो जाने से आपको नहीं भजता है, दुःख देने वाले घरों में सुख के लिए आसक्त है ॥४५॥

सुबोधिनी—अत्र द्वादशधा कालो निरूप्यते । तदतिक्रमार्थं च एकेन भगवत्प्रपत्तिरिति तत्रैव कालेन सर्वं व्यामोहिता इति प्रथमं तामसद्भ्राजसात्त्विकान् मुग्धान् गणयति त्रिभिः । तत्राप्याद्यन्ते तामससोहो निरूप्यते । अयं जनः स्ववीयया मायया विशेषणमोहितः । ननु कालेनैव मोहितोऽस्तु, किं भगवन्मायात्रिमोहनेनेत्यत आह ईशेति । भवानेवेशः । तेन कालरूपो भूत्वा तान् विमोहयसीत्युक्तं भवति । अन्येनैतावत्केतुं न शक्यते इति । न ह्यन्यः भगवद्भजनं निवारयितुं शक्नोति । अक्षरैर्धर्मो स्यात् । अन्ये व्यामोहिताः कालकृता भवन्तु नाम, भगवदभजनहेतुः कालो भगवन्नेव । तदाह—यतस्त्वां न भजतीति । ननु प्रस्मानन्दे कथं विचारकर्मणामप्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह—अनर्थहेमिति । अनर्थ एव दृष्टिर्यस्य । यद्धि पश्यति, तज्जानाति उभयं चित्तेश्चेत्, तारतम्यं च जानीयात्, अयं त्वनर्थमेव पश्यति । ननु सर्वोऽपि दुःखान्निवर्तते, सुखार्थं प्रवर्तते, सुखदुःखे चास्मानुभववेशे, अतः कथमनर्थदर्शनमिति चेत्, तत्राह—सुखार्थं दुःखप्रभवेषु सज्जते इति । प्रवृत्तिस्तु स्वसमानप्रकारज्ञानजन्यैव, प्रवृत्तज्ञानं प्रवृत्तमतेन फले विपर्ययः । यद्दुःखस्थानम्, यतो

दुःखमेवोत्पद्यते, तत्र सुखं भविष्यतीति, यतः प्रवर्तते, तत्राप्यासज्जते, तस्स्थानं निदिशति गृहेष्ववति । दुःखप्रभवत्वमुपपत्त्योपपादयति योषित्पुरुषश्चेति । गृहे हि द्वयमेवास्ति । द्वयमप्यन्योन्यत् सुखापेक्षम् । द्वयं कस्मिन् सुखं भवेत्, तत्रापि पुष्कलम् तदा ह्यन्यस्मै प्रयच्छेत्, इतरतराभ्रयं कार्यं च न सिध्यत्येव । अतस्तयोदुःखमेव सहजम्, तदनुवृत्तो दुःखमेव भवेत् । न हि नद्यामृतिः प्राप्यते । नन्वनुभूयते सुखं कथमिति चेत्, तत्राह वञ्चित इति । केनचिद्वञ्चितः सुखं मन्यते । न हि युक्तिर्बाधितं प्रमाणवाधितं च भवति सुखं भवति । अनुभवस्तु प्रान्तानुभवतल्यः । अतो लोभिके युक्तिर्बाधितं न प्रमाणम्, वैदिके तु तरेव प्रमाणमस्ति । अन्योव्यसुखापेक्षत्वेन प्रवृत्तेः सुखाभावस्तत्र सिद्धः । 'पुष्कलानो नरकात्वायते' इति श्लाघ्यान् 'पुरुषणवदेनानरक उच्यते, योषिच्छब्देन च । सुतरां नरकम्, 'शालावृकाणां हृदयाम्येता' इति 'स सोमो नातिष्ठते' तैर्दिश्रुतिभिश्च स्त्रीणां 'निन्दाश्रवणात् । 'प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ' इति श्लाघ्यान्निश्चिन्तितम् । 'लोकात्मिकान् दृष्टान्तीकृतुं वा । आविभूते वा रसे तद्भवति ।

गुह्यत्वादेव परिच्छिन्नत्वान्न रसाविर्भावः ।
 उभयोः परिगणनायां कृतवीतत्रैतौभावाः
 सिद्धः । यत उभयोः सुख भवेत् । चकारात्-
 दपत्यानि च । ते च व्याघ्रवत्ताभ्यामेव सुखे-

पसवः । अतो युक्तिप्रमाणाभ्यां बाधादन्योन्य
 प्रवृत्तौ बन्धिते एवं । समुदाये च तां निराकृतुं
 बन्धित इत्येकवचनम् ॥४५॥

व्याख्यान—मुचुकुन्द १३ श्लोकों से स्तुति करता है, जिसका कारण यह है, कि द्वादश प्रकार का काल है जिसका १२ श्लोकों से स्तुति कर अतिक्रमण करता है, और एक श्लोक से भगवान् की शरणागति कहनी है, काल में सब को मुग्ध बना लिया है, इस लिए प्रथम तीन श्लोकों से तामस, राजस और सार्विक मूढों को गिनती करता है, उसमें भी प्रथम श्लोक से तामस मोह का निरूपण किया जाता है, यह मनुष्य आपकी माया से विशेष प्रकार से मुग्ध हो गया है, मेरी माया से क्यों कहते हो ? यह तो इस काल के कारण मोहित हुआ है. इसके उत्तर में कहता है, कि आप ईश हैं, इसलिए काल रूप बनकर उनको मोह में फँसाते हो. आपके सिवाय दूसरा कोई भी यों करने में समर्थ नहीं है. दूसरा कोई भगवद्भजन से विमुख नहीं कर सकता है, यदि करे तो अपराधी बनें, दूसरे मोह अर्थात् धन, स्त्री पुत्रादिकों का मोह भले कालकृत हो. किन्तु भगवान् के भजन न करने में कालरूप आप भगवान् ही हैं, जिससे आपका भजन नहीं करते हैं, यदि कहो कि विचार करने वालों को परमानन्द में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है ? तो इसके समाधान में कहा है, कि उनकी दृष्टि केवल संसार में ही है, इस लिए, वे संसार को ही जानते हैं, नियम है, कि जिसको देखा जाता है उसका ही ज्ञान होता है, जो संसार और परमार्थ-दोनों को देखे तो दोनों में तारतम्य (भेद) क्या है ? कौन श्रेष्ठ है, और कौन हीन है ? यह तो अनर्थ (संसार) को देख रहा है, फिर शंका होती है, कि सब मनुष्य दुःख से निवृत्ति चाहते हैं और सुख में प्रवृत्त होते हैं सुख क्या है ? क्या किस में है और दुःख क्या है ? एवं किसमें है, ? यह अतुल्य से जाना जाता है, अतः अनर्थ में ही दृष्टि कैसे ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि सुख की प्राप्ति के लिए उन पदार्थों में आसक्त होता है, जिन पदार्थों से दुःख पैदा होता है, मनुष्य की प्रवृत्ति तो अपने सुप्तान प्रकार वाले ज्ञान द्वारा होती है किन्तु वह ज्ञान भ्रम पूर्ण होता है जिससे उसका फल उल्टा होता है जो दुःख का स्थान है, वहाँ से दुःख ही प्राप्त होगा किन्तु भ्रम से संमझता है कि सुख मिलेगा, जिस कारण से उसमें प्रवृत्त होता है और उसमें आसक्त हो जाता है वैसे स्थान + बताना है "गृहेषु" घरों में सुख समझता है किन्तु मिलता दुःख है, जिसको हेतु पूर्वक युक्ति से सिद्ध करता है "योपित पुरुषश्च" स्त्री और पुरुष ये दो ही घर में रहते हैं दोनों एक दूसरे से सुख चाहते हैं, जब एक दूसरे को प्रसन्न कर (तथा) बहुत सुख देवे, तब दूसरा उस सुख देने वाले को सुख देवे, इस प्रकार सुख का कार्य एक दूसरे पर आश्रित है, जिससे वह कार्य पूर्णतया सिद्ध नहीं होता है, अतः दोनों को दुःख ही, बहुत कष्ट सरलता से प्राप्त होता है निश्चय है कि नदी में जैसे अग्नि की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही गृहों में सुख की प्राप्ति

भी नहीं होती है, यदि कहो कि सुख का अनुभव कैसे होता है ? उस पर कहते हैं कि “वञ्चिनः” किसी से ठगा जाने से समझता है, कि मैं सुख पाता है वास्तव में वैसा सुख शायद ही मिलता है जिसका युक्ति व प्रमाण से बोध नहीं होता है आप यों कैसे कहते हो ? वह सुख नहीं है, सुख का तो अनुभव होना है । इस पर कहते हैं कि वह भ्रान्त अनुभव, जैसा है सत्य अनुभव नहीं है अतः लौकिक में जो युक्ति से वाधित है वह प्रमाण नहीं माना जाता है और वैदिक में श्रुति ही प्रमाण है, परस्पर एक दूसरे से सुख को प्राप्ति को अपेक्षा से जो सुखार्थ प्रप्ति की जाती है, उसमें सुख का अभाव अर्थात् दुःख की प्राप्ति ही सिद्ध समझनी चाहिए । “पुन्याम्नो नरकात् त्रायते” इस वाक्य से पुरुष शब्द से नरक का लक्ष्य किया है, “योषित्” शब्द तो सुतराम् नरक है ही, जिसमें प्रमाण देते हैं: “शाला वृक्षाणां हृदयानि एताः” स्त्रियां शालावृको (गीदड़, कुत्ता आदि) का हृदय है “स सोमोनातिष्ठते” इत्यादि श्रुतियों में स्त्रियों की निन्दा सुनी जानी है “प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ” इस श्रुति से जननेन्द्रिय की उपासना बताई है अथवा लोक में माने हुए को दृष्टान्त रूप से बताने के लिए अथवा रस के आविर्भूत होने पर वह होना है, गृह होने से परिच्छिन्न है अतः रस का आविर्भाव नहीं होता है, दोनों की परिगणना करने से दूसरे का अभाव सिद्ध है, जिसमें दोनों को सुख होवे “च” शब्द से उनके सन्तान भी, उन दोनों स्त्री पुरुषों (माता पिता) से व्याघ्र की तरह सुख को चाहना करती है अतः युक्ति तथा प्रमाण से वाधित होने के कारण परस्पर प्रवृत्ति में ठगे हुए ही हैं, समुदाय में उसका निराकरण करने के लिए “वचित्” यह एक वचन कहा है ॥ ४५ ॥

आभास—एवं गृहासक्तस्य तामसस्य वञ्चनामुक्त्वा शास्त्रादिरतस्थापि विवेकिनोऽपि राजसस्य वञ्चितत्वमाह लब्ध्वा जनो दुर्लभमिति ।

आमाषार्थ—इस प्रकार गृह में आसक्त तामस जन की वंचना कह कर अब “लब्ध्वाजनो” श्लोक में शास्त्र से दूसरे विवेक की राजस के वञ्चना प्रकार कहते हैं ।

श्लोक—लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।

पादारविन्दं न भजत्यसम्मतिर्दृग्द्वान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे निष्पापी ! मनुष्य इस लोक में बिना प्रयत्न किए किसी तरह सब इन्द्रियाँ और अंग सहित दुर्लभ, यह मनुष्य-देह प्राप्त करता है, तो भी जो

भगवान् के चरणारविन्द का भजन नहीं करता है, वह असत्य बुद्धि वाला है और पशु की तरह घर के अन्धकूप में गिरा हुआ है यों समझना चाहिए ॥४६॥

सुबोधिनी—विवेकसहितं मानुषमपि देहं गृणीत' इति च । अतो भगवत्पादारविन्दाभजने प्राप्य कथञ्चिन्महता कष्टेन । अव्यङ्गं सर्वाङ्ग-सहितं सर्वेन्द्रियसहितं सर्वबुद्धिसहितं च महता शास्त्रप्रयासेन जनत्वात्सर्वदा जायमानः, विशिष्टं कदाचिदेव प्राप्नोतीति । तादृशमपि प्राप्य भगवन्तं न भजतीति असन्मतिरेव । प्राप्त-सामग्र्या अन्यथा उपयोगाभावात् । इन्द्रियाणामुपयोगोनुपयोगश्च पूर्व निरूपितः । 'विले बतोऽहम्बिक्रमान्ये' 'सा वाग्यथा तस्य गुणान् गृणीत' इति च । अतो भगवत्पादारविन्दाभजने असन्मतिरेव भवति । असन्मतित्वाद्वा अभजनम् । अत एव गृहान्धकूपे पतति । उपर्युद्गमाभावात् । तत्र च परार्थदर्शनाभावात् अन्वक्रान्तवम् । विवेकी कूपेपि पतितः कदाचिदुपायेनोद्गच्छति । तदपि नास्तीति दृष्टान्तमाह यथा पशुरिति । पशुश्च तत्र व्याकुलोऽपि भवति । यतोऽधिकमेव दुःखं प्राप्नोति । निर्गमनोपायं च न वेद ॥४६॥

व्याख्यार्थ—महान् कष्ट से एक एक शास्त्र के प्रयास से, विवेक वाली मनुष्य देह को भी प्राप्त किया है, फिर भी कैसा ? जिससे सर्व अङ्गपूर्ण सर्व इन्द्रियां पुष्ट और सर्व प्रकार की बुद्धि वाली है एवं "जन" शब्द से यह बताया है, कि सर्वदा जन्मना है, किन्तु विशेष प्रकार से तो कभी प्राप्त करता है वैसी उत्तम प्रकार की देह भी प्राप्त कर यदि भगवत् भजन नहीं करता है तो समझना चाहिए कि वह असत् बुद्धि वाला ही है: क्योंकि यह सामग्री भगवान् के भेजने के लिए मिली है वह सामग्री भगवान् के उपयोग में न लाकर लौकिक में लाना, असत् बुद्धि ही है, इस सामग्री का दूसरे में उपयोग नहीं होना चाहिए । इन्द्रियों का उपयोग कहाँ करना चाहिए तथा कहाँ न करना चाहिए वह पहले निरूपण किया है, जैसे कि कहाँ गया है, कि "विले बतोऽहम्बिक्रमान्ये" "सावाग्यथा तस्य गुणान् गृणीत" जो मनुष्य भगवान् के गुण नहीं सुनते हैं उनके कर्ण सर्प के बिल हैं, जिससे भगवान् के गुण गाए जाते हैं वह वाणी है, जो मनुष्य इस प्रकार भगवान् के गुणों का श्रवण और स्मरण नहीं करता है, वह असत् बुद्धि है, अर्थात् असत् बुद्धि होने से वह भजन नहीं करता है इस कारण से घरके अन्धेरे कूप में गिरा हुआ है । वह कूआ ऐसा है जिसमें से ऊपर निकल आने का ही अभाव है, क्योंकि अन्धेरे कूप कहने का तात्पर्य ही यह है कि वहाँ कुछ भी पदार्थ देखने में नहीं आता है, कूप में जो गिरता है वह यदि विवेकी होता है, तो निकल आता है किन्तु यह तो पशु है अर्थात् इसमें विवेक नहीं है, वहाँ व्यकुल होते हुए अधिक दुःखी होता है कारण कि अविवेकी होने से उसे बाहिर निकलने का उपाय नहीं आता है ॥४६॥

आभास—एवं राजसानां दूषणमुक्त्वा सात्त्विकानामपि स्वदृष्टान्तेन दूषणमाह ममेष काल इति ।

आभासार्थ—राजसी मनुष्यों के दूषण कहकर अब सात्विकों का भी दूषण अपने दृष्टान्त से “ममंष काल” इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ममंष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।

मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशमूषवासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४७॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! मेरा इतना काल व्यर्थ ही गया, कारण कि मैं राजा हूँ जिससे राजलक्ष्मी के मद से उन्मत्त हैं और इस देह को आत्मा समझ कर इस के सम्बन्धी पुत्र, स्त्री आदि की चिन्ता से युक्त हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—एष इति पूर्वमनुभूतः । स सर्वोऽपि शोकेन पुर एवावतिष्ठते । अजितेति संबोधनम् । न कालेन भवान् जितः, वयं तु जिता इति स्वदुःखनिवेदनमप्युक्तम् । कालो हि पुरुषस्य पुरुषार्थसाधने हेतुर्भवति । तदभावे निष्फल एव गतः । ननु विवेकयुक्तो भवान्, कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह राज्यश्रियोन्नद्धमदस्येति । राज्यश्रिया परमोन्मादजनिकया उन्नद्धो मदो यस्य । ननु राज्यश्रियाः मदजनकत्वे को हेतुः, तत्राह भूपतेरिति । सर्वे हि दोषा भूमौ भवन्ति, न स्वर्गे, नापि पाताले । तस्याश्च पतिः तद्दोषेण दूषित एव भवति । अतो दोषसंबन्धात् सज्वरस्यान्नभोजनमिव श्रियापि बुद्धिनाश एव भवति । किञ्च । मर्त्यात्मबुद्धेरिति । मर्त्ये मरणधर्मके शरीरे आत्मबुद्धिर्यस्य । पापं तु भूपतित्वजनित-

यत्पम्, आत्मनोन्यथाज्ञानं तु महत्पापम् । ‘योऽन्यथा सन्तमानम्’नमस्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चैरेणात्मापहारिणेति वाक्यात् । नित्यं चात्मानं ब्रह्म्या मारयतीति मर्त्येण्डेन वधदोषोऽपि सूचितः । किञ्च । सुतदारकोशभपु आसमन्तात्सज्जमानोऽपि जातः । ममतामपि भवदीयेसु अकृत्वा पुत्रादिषु चतुर्षु कृतवान् । तत्राप्यासक्तिम्, तत्रापि तेषां तत्संबन्धेनात्मनश्च सहस्रचिन्तायुक्तः, तदीयान् पोषयिष्यामि, तच्छतून्मारयिष्यामीत्यादि दुरन्ता चिन्ता । यस्या अन्तोऽग्रिमफलं नरकपात इति । एवं त्रिदोषेण अहमपि मग्नः । आयुषो निष्फलता, मर्त्यात्मबुद्धिः, पुत्रादिष्ववासवितश्चेति । एकैकमप्यनर्थायेति न्यायेन चतुष्टयमुक्तम् ॥४७॥

व्याख्यार्थ—जिस काल का मैंने अनुभव वर लिया है वह भी समस्त काल तो शोक से सामने ही खड़ा है अर्थात् इस काल में मैं शोक से ही घिरा हुआ हूँ, हे प्रभो! आप अजित हैं, अतः आपको काल जीत नहीं सकता है, हम तो काल से सवर्था जीते गए हैं, यों कहकर अपना दुःख भी सुना दिया । पुरुष के पुरुषार्थ को सिद्ध करने में काल ही हेतु है, उसके अभाव में वह निष्फल ही गया । आप तो विवेक वाले हैं (तो) यों क्यों कहते हो ? इसके उत्तर में कहा है कि विशेष मद को पैदा करने वाली, राज लक्ष्मी से मेरा मद विशेष बढ़ गया है, कारण कि “मैं राजा हूँ” वसी बुद्धि हो

जाने से मद बढ़ा है, जितने भी दोष हैं, वे सब पृथ्वी पर होते हैं। न स्वर्ग में और न पाताल में भी होते हैं। उस भूमि का पति उसके दोषों से दूषित होगा ही, अतः दोष के संबन्ध के कारण लक्ष्मी से भी बुद्धि का नाश वैसे ही होता है जैसे ज्वर वाला मनुष्य अन्न (भोजन) रूप अपथ्य करे, तो उसका नाश होता है, और विशेष यह है, कि मेरी इस मरने वाली देह में अज्ञान से, आत्म बुद्धि है वह बुद्धि महापाप है यद्यपि राजापन से भी पाप होता है, किन्तु वह पाप है यह अज्ञान तो महा पाप है, जैसा कि शास्त्र में कहा है, कि जो आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा न समझ अन्यथा समझता है, उस आत्मा की चोरी करने वाले ने कौन सा पाप न किया ? अर्थात् उसने सर्वपाप किए। 'मर्त्य' पद से यह भी सूचित किया है, कि वह बुद्धि से नित्य आत्मा का वध करता है, इससे उसको वध' दोष भी लगता है, देह में अपनी आत्म बुद्धि करने से उसके संबन्धी पुत्र, स्त्री, धन और पृथ्वी में पूर्ण आसक्तिवान हुआ है जो समय भगवदभवतों में करनी चाहिए उनमें न कर इन चारों में किया है। न केवल साधारण ममता की है, किन्तु आसक्ति करली है, उसमें भी उन सम्बन्धियों की और अपनी सहस्र चिन्ताओं से युक्त हैं, इनको और इनके सम्बन्धियों को पालूंगा और इनके शत्रुओं का नाश करूंगा इत्यादि से अन्त चिन्ताएँ हैं जिसका अन्तिम फल नरक में गिरना है इस प्रकार त्रिदोष में भी डूबा हुआ है आयु व्यर्थ गई। नाशवान शरीर में आत्मा की बुद्धि, पुत्रादिकों में आसक्ति, एक एक भी अनर्थ देने वाली है (फिर) यहाँ तो चार हैं ॥४७॥

आभास—एवं त्रिविधानामपि मोहमुक्त्वा विशेषतः स्वरय परमं दोषत्रयमाह कलेवरेऽस्मिन्निति त्रिभिः ।

आभासार्थ—यों तोनों का मोह कह कर विशेष रूप से "कलेवरेऽस्मिन्" ३ श्लोकों में अपने तीनों दोष कहते हैं—

श्लोक—कलेवरेऽस्मिन्धृक्कुड्यसंनिभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।

वृत्तो रथेभाश्रवपदात्यनीकपर्गा पर्यटंस्त्वाऽगणयन्सुदुर्मदः ॥४८॥

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।

त्रयप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥४९॥

पुरा रथेहंमपरिष्कृतंश्चरन्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंजितः ।

स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंजितः ॥५०॥

श्लोकार्थ—घड़े और घर के समान साधन भूत इस शरीर में, मैं राजा हूँ ऐसा

अभिमान कर आपको भी न गिन कर, रथ, हस्ती, घोड़े, प्यादे आदि की सेना से घिरा हुआ मदोन्मत्त होके पृथ्वी पर घूम रहा हूँ ॥४८॥

ये ये कार्य अवश्य करने हैं, इस चिन्तन से प्रसन्न हुए प्रतिदिन विशेष लोभ वाले, विषयों में लालसा वाले को जैसे सुधा से गलाफों को चाटता हुआ सर्प चूहे को शपट लेता है वैसे (ही) कालरूप आप भी तुरन्त पकड़ लेते हैं ॥४९॥

प्रथम राजा ऐसा नाम धारण कर, जो देह सोने के रथ में बैठ एवं हस्तियों पर चढ़ कर फिरती है, वह ही देह, टालने पर भी जो न टले ऐसे काल भूति, आपके पकड़ने पर तीन अवस्था वाली हो जाती है, जो खाई जाए तो “विष्ठा” होती है, जो यों ही पड़ी रहे तो “कीड़ा” हो जाती है और जो जल जाए तो भस्म बन जाती है ॥५०॥

सुबोधिनी—कालेन ग्रासोऽत्र निरूप्यते । तत्र कालस्य दोषाभावाय स्वदोषं निमित्तत्वेन निरूपयति कलेवर इति । अस्मिन् कलेवरे शरीरे निरूढमानः सन् सुदुर्मदो भूत्वा स्वामगणयम् जातोऽस्मि, तदा त्वं अन्तको भूत्वा अभिपद्यस इति द्वयोः संबन्धः । भगवतो ग्रासे षट् दोषाः अस्मदीया निमित्तभूताः । आदौ कलेवरं कले कलने कालभक्षणे वरमुत्कृष्टम् । कालः प्रथमतस्तदेव भक्षयति मृत्पाषाणादिभ्यः । अत एव प्रस्तरादयः चिरस्थायिनः, कलेवरमाशुतरविनाशि । न हि कालस्य भक्ष्ये तत्त्वेनैव कृते स्वस्याभिमानः सुखदायी भवति । किञ्च । अस्मिन्निति शयानः स्वकीयो देहः प्रदर्शितः । असंस्कृतो मृतप्रायः । अनेन स्वतोऽपि दोष उक्तः । परिच्छेदाचेतनत्वे निरूपयति । यथा घटः जलानयनार्थमुपयुज्यते, तच्च जलमन्यत्र विनियुज्यते, तथा कर्माणि संपाद्यन्ते, पुनस्तानि यत्र कचिद्विनियुज्यन्ते इति । तादृशस्य केवलं कर्मसाधनभूतस्य आत्मतया स्वीकारः अत्यन्तं कुमतिफलम् ।

किञ्च । कृच्छसन्निभं भवेत् । कृच्छ्रे रूहे यथा कश्चित्छिति, तथा कियत्कालस्थित्यर्थं भगवन्ना कृतम् । एवमधिकरणत्वेन करणत्वेन आत्मनो भेदे प्रतीयमानेऽपि पुनस्तत्र निरूढमानः नितरां रूढो मानोऽभिमानोऽहमेवेति यस्य । अयमेकः पञ्चपर्वतमको महान् दोषः । द्वितीयमाह नरदेवेति । नरत्वमेव सन्दिग्धम्, कृतोऽमेध्यभाण्ड्य देवत्वम् । नराणां देवः पूज्यो राजा । इतीति निश्चयार्थं । अहमित्यनुभवः प्रमाणम् । अतोऽत्र पर्वत्रयं निरूपितम् । तृतीयं दोषमाह त्त इति । रथादिभिश्चतुर्भिः सेनाङ्गैः सहितं यदनीकं सेना तेषां रसकैः सेनापतिभिः वेष्टितः । ते हि दृष्टाः धातुकाः । तैः सहित इति दुःसङ्गो निरूपितः । भूभाररूपं चतुर्थं दोषमाह । गां पर्यटन्निति । ननु भूमौ कश्चन पुरुषार्थः साध्यते किन्तु भूमिमेव परितः अटते । महात्तं दोषमाह पञ्चमं त्वामगणयन्निति । यदधीनं सर्वं स एव न गण्यत इति । सुष्ठु दृष्टो मदो यस्येति स्वाज्ञानमपि । एवं षड्भिदोषैर्व्याप्तं कालो भक्षयतीत्याह प्रम-

त्तमिति । एते षट् दोषाः सहजाः । ते च मिलिताः शीघ्रं फलपर्यवभाषिणो दोषमुत्पादयन्तीति निरूप्यते । उच्चैरिति कृत्यचिन्तया प्रमादः । प्रवृद्धो लोभः । विषयलालसेति । तुल्यत्वाभावाय भगवतो दोषत्वभावावश्च निरूप्यते । अप्रमत्तः क्षुल्लेलिहानः लोभरहितः विषयलालसारहितत्वाय सहसाभिपद्यस इति । यो हि विषयलालसः स कार्यं शिथिलप्रयत्नो भवति, भोगाभिनिवेशात्, क्रियाभोगयोर्विरोधात् । तस्य दोषाभावाय दृष्टान्तः प्रमत्तः असावधानः भवति । तत्र यद्यप्यज्ञानमपि हेतुः, तथापि दोषान्तरमप्याह उच्चैरिति कृत्यचिन्तयेति । इत्येतावन्निश्चयेन कर्तव्यमिति । एवं वा कर्तव्यमिति । उच्चैरिति सर्वापेक्षया इदमेवावश्यकम् । तत्रापि यदि कार्यमुपस्थितं भवेत्, तदा दोषो वा न भवेत् । तदपि नास्तीत्याह चन्तयेति । चिन्तामात्रमेव । अनेनान्तःकरणं तत्रैव व्यावृत्तमिति । भगवता आत्मार्थमन्तःस्थापितं बहिर्विनियुक्तमिति महानेवापराधो निरूपितः । अयमसिद्धार्थसाधनरूप इति सिद्धार्थं भिन्नं दोषमाह । प्रकर्षेण दृढो लोभो यस्येति । उपभोगार्थं हि तस्य सम्पादनं तदपि कृत्वा स्थापयत्येव, नोपभुङ्क्ते । किञ्च । भुक्त्वापि तद्गतवैरस्यं ज्ञात्वापि पुनर्लालसो

भवति । विषं यान्तीति विषयाः विषं हि मारकमृत्युमुलम्, तत्र स्वयं गच्छन्तः स्वभक्तमपि नयन्ति । एकोऽपि नयेत्, किं पुनर्बहव इति बहुवचनम् । यद्यपि भगवत् इतिकृत्यचिन्ता वर्तते, अन्यथा न मारयेत्, तथापि न प्रमत्तः । अत एव हेतुर्वर्तत इति साध्यप्राप्ती निषेधः । सहसेति । यदेव दोषत्वयोद्भवः, तदैव प्रतीकारकरणात् । पूर्वमेव कापि पलायनभावायाभीति । कालस्य रूपमहिरिति । आखुश्च लीलाकर्ता, अन्यस्य भक्ष्यरूपं शरीरं गृहीत्वा सर्वदा सर्वापकाराय व्यावृत्तो भवति । ननु राज्ञोऽयं धर्मः परिपालनं कर्तव्यम्, तदर्थं शत्रवश्च मारणीयाः, तदर्थं चतुरङ्गबलसङ्ग्रहः, प्राणिनां हितार्थं धनग्रहणम्, कर्मफलभोगार्थं च विषयलालसेति गुणभूता एवैते किमिति दोषत्वेन गण्यन्ते इत्याशङ्क्याह पुरा रथैरिति । सत्यमेवं भवेत्, यद्ययं देहो देवो भवेत्, पूर्व रथःदिभिः चरन्मपि, राजत्वेन सम्मानितोऽपि, कलेवरो देहो विद्वक्त्रमभस्मसंज्ञामेव लभते । मृतदेहस्य त्रिधा विनियोगः । काकादिभिर्भक्षिते विट्, शीर्षं सत् कृमयो वा भवन्ति, दाहे भस्म वा भवति । तामसराजससात्त्विककभावा निरूपिताः । अतः पर्यवसाने दुष्टत्वात् वृथाभिमानो दोषायैवेत्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यहाँ यह देह काल का ग्रास होती है इसका निरूपण है ग्रास में काल का दोष नहीं है, यों सिद्ध करने के लिए अपने दोष उसके कारण हैं यह निरूपण करते हैं । इस शरीर में बैठा हुआ बहुत अभिमानो बनने से जब मैं आपको भी नहीं गिनता हूँ तब आप काल बनकर पकड़ लेते हैं, इस देह को भगवान् पकड़ लेते हैं इसमें हमारे छ दोष कारण हैं, पहला तो पृथ्वी पर जितने पाषाण आदि हैं उन सबसे यह शरीर, काल को भक्षण में श्रेष्ठ लगता है, इस लिए काल पहले इसे ही भक्षण करता है यही कारण है कि पत्थरों की आयु बड़ी होती है और शरीर शीघ्र नाश हो जाते हैं, क्योंकि काल के भक्षण करने पर वह तत्व "परमेश्वर" ने ही किया है इससे अपना क्रिया हुआ मद सुखदाता नहीं है, और विशेष कहते हैं कि "अस्मिन्" पद से अपनी देह सोई हुई दिखाई है अर्थात् असंस्कृत होने से "जिसका कोई संस्कार नहीं हुआ हो" मरी हुई जैसी है, इससे अपने

आप दोष कहा है यह देह परिच्छेद वाली और अचेतन (जड़) है वह निरूपण करता है। जैसे घड़ा जल लाने का साधन मात्र है, किन्तु वह जल दूसरों के काम आता है वैसे ही इस देह से केवल वह कर्म किए जाने हैं, फिर वे कर्म जहाँ तहाँ जोड़े जाने हैं केवल कर्मों की साधनभूत ऐसी देह को "आत्मा" रूप मान लेना कर्मति का ही फल है यह देह घर के समान है अर्थात् जैसे मनुष्य घर में कृष्ण ममय रहता है वैसे ही यह देह भी रहने के लिए भगवान् ने बनाई है इस प्रकार यह देह रहने के कारण अधिकरण है और कर्म करने के साधन होने से कर्ण है इस प्रकार आत्मा से भेद प्रतीत होने पर भी, फिर उसमें जो यह अभिमान है कि "मैं दै" वह भी एक प्रकार का पंचपरवात्मक महान् दोष है। यहां तक एक देहाध्यास दोष के कारण दोष बताया, अब दूसरा दोष मद बताते हैं। मैं नन्देव है अर्थात् जहाँ मनुष्यत्व ही संदेह वाला है, वहाँ अपवित्र पात्र (देह) का देवपन कैसे हो सकेगा? नरों का देव प्रज्य राजा है "इति" शब्द से इसका निश्चय बताया है। "अहम्" शब्द से अपना अनुभव प्रमाणरूप कहा है, अतः यहाँ अविद्या के तीन पर्व बताए हैं इस प्रकार दूसरा दोष कह कर अब तीसरा दोष कहते हैं, रथ, गज, अश्व और प्यादे इस प्रकार की चतुरंगिणी सेना के रक्षक सेनापतियों से घिरा हुआ है वे दष्ट हैं, मरने वाले क्रूर हैं, इससे बताया है कि मुझे इस प्रकार दसंग भी है अब भ्रमर रूप नीचा दोष कहते हैं, पृथ्वी पर आकर कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं किया है, केवल पृथ्वी पर घागें और घुमा है अब पाँचवाँ बड़ा दोष कहते हैं, आपको भी अपने ध्यान में नहीं लाता है अर्थात् आपका भी तिरस्कार करता है। देखिए, जिसके अधीन सकल जगत है, उसकी गणना नहीं करता है, ऐसा मुझे विशेष मद है और अपने स्वरूप का अज्ञान भी है इस प्रकार छ दोषों से घिरे हुए को काल भक्षण करता है, क्योंकि "प्रमन्त" प्रमन्त है इस लिए काल उसका भक्षण करता है। ऊपर दिखाए हुए छ दोष सहज हैं और छ दोष जब एक स्थान पर मिल जाते हैं अर्थात् एक किसी मनुष्य में छ ही दोष आविर्भूत हो जाते हैं तब शीघ्र फल देने वाले त्रिदोष को उत्पन्न कर देते हैं यह निरूपण किया जाता है "उच्चे" पद से इस प्रकार कृत्य करना है ऐसी चिन्ताओं से प्रमाद^१ होता है लोभ बढ़ता है विषयों की बहुत चाहना होती है, अपने दोष बतला कर भगवान् से तुल्यता^२ नहीं होने से उसमें तीन दोषों का अभाव निरूपण करते हैं अप्रमत्तः^३ आप प्रमन्त नहीं हैं, अतः अपने कर्तव्य को पूरी तरह जानते हैं और वैसे ही करते हैं २-लोभ से रहित हो जिनमें विषयों की बहुत चाहना नहीं है, वे ही कार्य शीघ्र कर सकते हैं विषय कार्य करके में शिथिल होते हैं, अतः आप शटपट प्राप्त हो जाते हैं विषय तो भोग में आसक्त होने से कार्य शीघ्र नहीं कर सकता है कारण कि कार्य और भोग का परस्पर विरोध है।

१— अविद्या पांच पर्व वाली है जिससे पांच दोष उत्पन्न होते हैं—

(१— देहाध्यास २— प्राणाध्यास ३— अन्तःकरणध्यास ४— इन्द्रियाध्यास ५— स्वरूप विस्मृति,)

२— कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर करना इस प्रकार बेपरवाही है, ३— बराबरी

तो भी दूसरा दोष कहने हैं कि यह इतना तो अवश्य करना है, अथवा इस प्रकार करना चाहिए और यह कार्य तो सबकी अपेक्षा विशेष अधिक है। उसमें भी यदि कार्य आ पड़े तब तो दोष नहीं होवे वह भी नहीं है तो भी केवल चिन्ता ही है, इससे अन्तःकरण उसमें ही व्यावृत्त हो गया है। भगवान् ने जिस अन्तःकरण को अपने ध्यान व भक्ति के लिए भीतर बिठाया उसको बाहिर लौकिक कामों में लगा दिया, इस प्रकार महान् ही अपराध किया है, यह निरूपण कर बताया है यह महान् अपराध असिद्ध अर्थ का साधन रूप है, इसलिए सिद्ध अर्थ में जो भिन्न दोष है वह कहते हैं बहुत लोभ जैसे कि उपभोग के लिए धन कमा के इकट्ठा कर रखता है उपभोग में नहीं लाता है और विशेष भोग कर यह जान लेता है कि इसमें कुछ रस नहीं है तो भी फिर उसकी चाहना करता है, विषयों का स्वरूप वर्णन करते हैं कि विष मारने वाली मृत्यु का मुख है, उसमें स्वयं जाते हुए दूसरों को भी ले जाते हैं एक विषय ही लेजा सकता है, तो बहुतां का क्या कहना ? इसलिए बहुवचन दिया है, यद्यपि भगवान् की इस कृप्य की चिन्ता है इसलिए मारते हैं, नहीं तो नहीं मारे तो भी प्रमत्त (मत्वाले) नहीं है, अतएव कारण है इसलिए साध्य (फल) की प्राप्ति में निषेध है, जब ही तीन दोषों का उद्भव हो जाता है तब ही उपाय करने से पहले ही कहीं भी भाग जाने के अभाव के लिए अभय है, सर्व काल का रूप है और वहाँ खेलने वाला है दूसरे का शरीर अपना भक्ष्य समझ कर सदा ही सर्व के अपकारार्थ व्यावृत्त रहता है यह तो राजा का धर्म है वह तो उसको पालन करना चाहिए ही इस धर्म के पालनार्थ शत्रु मारने चाहिए उनको मारने के वास्ते चतुरंग सेना भी इकट्ठी कर रखनी चाहिए प्राणियों के कल्याण के लिए 'कर' द्वारा धन भी ग्रहण करना चाहिए और कर्मों के फल भोगने के लिए विषयों की चाहना भी करनी योग्य है ये सब तो गुण रूप हैं इन को दोष रूप कैसे गिना जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि "पुराणैः" यदि यह देह सच्चमुच्च देव होवे तो इस प्रकार आपका कहना सत्य हो सके किन्तु यह देह पहले रथादि में घूमती हुई, राजापने से सम्मानित होकर भी विष्टा, कीड़े और भस्मी ही बनती है, मरी हुई देह तीन तरह काम में आती है, जब उसे कोवे आदि पक्षी खाते हैं तब विष्टा हो जाती है यों ही पड़ी रहती है तो उस से छोटे छोटे कीड़े बन जाते हैं जलने पर भस्म बनती है, इस प्रकार तामस, राजस और सात्विक भावों का निरूपण किया, अतः अन्त में दुष्ट होने से झूठा अभिमान दोष के लिए ही है, इस प्रकार तात्पर्य है ॥१०॥

आभास—एवं फलतः दोषानुक्त्वा क्रियातोऽपि त्रैविध्यमाह निजित्य दिक्चक्र-
मिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार फल से दोषों को कव्व कर क्रिया के भी "निजित्य
दिवचक्रम" से लेकर तीन श्लोकों से तीन प्रकार बताते हैं ।

श्लोक—निजित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
 गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५१॥
 करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठिती निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत् ।
 पुनश्च भूयेप्रमहं स्वराडिति प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५२॥
 भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
 सत्सङ्गमो यर्हि तदेव सद्गतौ परावरेषे त्वयि जायते मतिः ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे इश ! सर्व दिशाओं के राज्यों को जीतकर जो युद्धों से स्वतन्त्र हो गया है, उच्च सिंहासन पर बैठ सब समान राजाओं से जो पूजित हो रहा है वह पुरुष भी मैथुन ही जिनमें सुख है ऐसे स्त्रियों के वर्गों में क्रीड़ा मृग के समान जहाँ तहाँ ले जाया जाता है अर्थात् बन्दर की तरह नचाया जाता है ॥५१॥

यह मनुष्य तपस्या में विश्वास रख कर सर्व भोगों से निवृत्त होकर राज्य मिलने की अपेक्षा से जो उसके पास होता है वह सब देता हुआ फिर में चक्रवर्ती हो जाऊँ इस प्रकार तृष्णा के बढ़ने से सुखी हो नहीं सकता है ॥५२॥

हे अच्युत ! भटकते हुए मनुष्य के जन्म का जब अन्त होता है तब सत्पुरुषों का संग मिलता है, इस प्रकार जब सत् पुरुष भक्तों का पूर्ण मिलाप होता है तब काल तथा कर्म आदि के ईश आप में बुद्धि लगती है ॥५३॥

सुबोधिनी—राजघर्षाणां तामसत्वं, कर्मणां राजसत्वं, सत्सङ्गस्य सात्त्विकत्वमिति विविच्य कर्मस्वरूपकथने वस्तुविवेको निरूपितो भवति । साधनप्रतिपादकाश्रयैः त्रयः । तत्र राजत्वस्य स्त्रीसेवकत्वं भवति इत्यघो- गतिः फलत्वेन निरूपिता । साधारणानां स्त्री दास्यमपि करोति । राजा तु तत्सम्भवा- भावात् स्वयमेव दासो भवतीति कुस्यगतिरपि नास्तीत्युक्तम् । आदौ दिक्चक्रं सप्तद्वीपवर्ती

भूमिं निजित्य वशीकृत्य, महता प्रयासेन तत्साधयित्वा, ततोऽपि महता कालेन अभूत- विग्रहो भवति, न भूतः भवनयोग्यो विग्रहो यस्येति । ततः स्वमथो भूत्वा वरासनस्थो भवति । ततः समराजभिः वन्दितः । एवं चतुर्धाप्युत्कर्षं प्राप्य चतुर्धापकर्षं प्राप्नोतीत्याह गृह्णेष्विति । योषितां गृहेषु बहुषु, एको बहुषु दासो भवतीति वैदश्याम् । मैथुन्यपरेष्विति । आन्तरोऽपि व्ययः । क्रीडामृग इति बाह्य-

सर्वनिवेदनम् । मृग इति । विद्यमानादप्य-
धिकपदारथसाधकत्वमिति । परलोकनाशश्च ।
स्वयं पुरुषः सर्वसमर्थः । ईशेति निवेदनार्थं
संबोधनम् । ईयत इति । प्रमाणं नात्र तिरो-
हितं किञ्चिदित्यर्थः ॥११॥

एवं लौकिकवैषम्यमुक्त्वा वैदिकवैषम्यं-
माह करोति कर्माणीति । यस्तु राज्यं प्राप्य
विषयभोगं करोति, सोऽधम एव, ततोऽप्यधमो
यस्तपः करोति, तत्रापि यतपः काम्यम्,
पुनस्तादृशमेव राज्यं सम्पादयति । प्राप्तं
राज्यं न समीचीनं क्षयिष्णवति हि स प्रव-
र्तते । यदपि तेन कर्मणा साध्यम्, तदपि
तादृशमेवेति प्राप्तं परित्यज्य कष्टेनापि तादृशं
साध्यन् भ्रान्त एव । नानाविधानि च कर्माणि
करोति । तपस्तपु नितरां स्थितः सन् तदर्थं
निवृत्तभोगश्च । ननु ततोऽधिकप्रापेक्षया उत्क-
षेपिक्षया वा करोतीति चेत्, तत्राह तदपेक्ष-
येति । ततोऽधिकस्याश्रुतत्वाददृष्टत्वाच्च रस
एव न जायते । अतस्तदर्थमेव करोतीत्याह
तदपेक्षया तदेवादददिति । सकृद्भ्रान्तस्य
द्वितीयपर्यये भ्रमो निवर्तिष्यत इत्याशङ्क्याह
पुनश्च भयेयमिति । वारंवारमपि राज्यं प्राप्य
तदेव भूयेयमिति । कामनाया नियतत्वात् न
सुखाय कल्पते । ननु सजातोयोरुर्कषः सर्वेषा-
मेवापेक्षित इति तस्यैव कथमादानमिति चेत् ।
स्वरडिति । ब्रह्माण्डाधिपत्यमपि कामयन्
प्रवृद्धतर्पण एव भवति । नहि तृष्णायां विद्य-
मानायां सुखमस्ति, आकाङ्क्षाया दुःखात्म-
कत्वात् । अत उक्त्वापि वाञ्छन् सुलोप-
भोगार्थं न समर्थो भवतीत्यर्थः ॥१२॥

एवं कर्मफलं निन्दित्वा कामनाभावं
स्तोतुं सात्त्विकस्य कर्मणः ग्राह्यत्वेन स्तुति-
माह भवापवर्गं इति । यदा भगवदिच्छया
भवापवर्गो भवेत्, तदा ससाधनेच्छायां जनस्य
सत्समागमो भवेत् । सद्भिः सह सम्यगागमः
बोध्यबोधकभावसंबन्धः । भ्रमत इति नाना-
विधयोनिषु भ्रमणजनितक्लेशः; भगवत्कृपायां
हेतुस्तुः । अथवा । भवापवर्गस्थानानि
कानिचिज्जन्मानि सन्ति । योगिकुले महतां
कुले वा जन्मानि । तत्रापि गतरूपं न स्वत
एव मुक्तिः, किन्तु सत्सङ्गादेव । शरीरसन्ताने
सत्सङ्गसमानकालीन एव देहः अपवर्गशब्दार्थं
इति मानुषदेहवत्त्रिरूप्यते । तदव्याख्यास्यते
'दुर्लभो मानुषो देह' इत्यत्र । अत एव तद्देह
सत्समागम इत्याह तर्हीति । योग्यतायां वा ।
अच्युतेति संबोधनात् तदीयानां सतामभावेन
न विलम्ब इत्युक्तम् । तस्य च सङ्गस्य दृष्ट-
द्वारैव पुरुषार्थपर्यवसायित्वं वदन् आह सत्स-
ङ्गमो यर्हीति । यहि सत्सङ्गमः, तदेव त्वयि
मतिर्जायते । भगवानविलष्टकर्मति न स्वार्थं
कञ्चित्प्रवर्तयति । कालकर्मादयश्च वाधका
एव । अतो भक्तव्यतिरेकेण न कोऽपि भगव-
न्मति सम्पादयति । तेषां तत्सम्पादनमावश्य-
कमित्यत्र हेतुमाह सद्गताविति । सतां स एव
गतिरिति । ते साध्यत्वेन साधनत्वेन फलत्वेन च
भगवन्तमेव जानन्तीति तत्सन्निधिमात्रेणैव
भगवन्ति मतिर्भवति । ततः किं स्यादत आह
पराववेश इति । परे कालादयः, अवरे कर्मा-
दयः, तेषां फलदाने स एव नियामक इति
सर्वमेव फलं ततो भवतीत्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—राज धर्मो का तामसपन, कर्मो का राजसपन सत्संग का सात्त्विकपन का विवे-
चन कर अव कर्म के स्वरूप के कहने में वस्तु के विवेक का निरूपण हो किया जाता है, ये तीनों

साधनों का निरूपण करने वाले हैं। इनमें राजा पन में स्त्री का सेवक बनना पड़ता है, जिसका फल अधोगति है, साधारण मनुष्यों की स्त्री तो दासी बनकर सेवा करती है, राजाओं का इस प्रकार होना असम्भव है किन्तु वे स्वयं दास बनते हैं इस प्रकार दोनों की बराबरी भा नहीं है। पहले सात द्वीपों वाली समग्र भूमि को भी जीत कर उसके राजाओं को अपने आधीन किया, इस कार्य में जब बहुत परिश्रम किया तब उसको साध सके, पश्चात् बहुत समय तक जब युद्ध होने का कोई भय नहीं रहता है, तब निश्चित होके सुन्दर सिंहासन पर बैठता है, तब समान राजाओं से सत्कार पाता है इस प्रकार चार तरह से उत्कर्ष पाकर फिर चार प्रकार से अपकर्ष पाता है। स्त्रियों के घरों में स्त्रियाँ बहुत होती हैं आप एक हैं किन्तु रुद्रका दास बनकर वहाँ रहता है जिससे वह व्याकुल होता है। विषय भोग से भीतर की शक्ति की भी समाप्ति होती है। उन स्त्रियों के पाम खेल का मृग हो जाता है जिससे बाहिर का सब कुछ उनको भेट करता है, क्योंकि मृग हुआ है, जो पदार्थ विद्यमान हैं उनसे भी विशेष पदार्थों का साधकपना उसमें आता है जिसमें उसका परलोक भी नाश हो जाता है। अपने आप पुरुष सर्व समर्थ है 'ईश' यह सम्बोधन निवेदन करने के लिए दिया है "ईयते" क्रिया से यह बताया है कि इसमें कोई प्रमाण छिपा हुआ नहीं है ॥११॥

इस प्रकार लौकिक का व्यर्थपना कहकर वैदिक की व्यर्थता कहते हैं। जो राज्य प्राप्त कर विषयों का भोग करता है वह अधम (नीच) निन्दा के योग्य ही है उससे भी अधम वह है, जो तपस्या करता है यदि वह कामना के लिए तपस्या है। इस तपस्या से फिर वैसा ही राज्य प्राप्त करता है यह जानता भी है, कि जो राज्य मिला है वह उत्तम नहीं है क्योंकि नाशवान है तो भी उसकी पुनः प्राप्ति के लिए तप करता है जो कि उस बर्ण से वह प्राप्त होता है जब वह वैसा ही है तब प्राप्त राज्य को छोड़ कर कष्ट से भी उसको प्राप्त करने के लिए कर्म करने वाला भ्रान्त (भूना हुआ) ही है, अनेक प्रकार के कर्म उसके लिए करता है, बहुत समय तक तपस्या में ही स्थित रहता है और उसके लिए सब भोग छोड़ देता है, ये सब कर्म इससे भी विशेष मिलने की इच्छा से तथा उत्कर्ष होने के लिए यह करता है यदि यों है तो, उसकी अपेक्षा कोई अधिक है, न सुना है और न देखा है, उसमें कोई रस भी उत्पन्न नहीं होता है। यदि कहे उसके लिए ही करता है और उसको प्राप्ति के लिए जो है वह भी दे दिया, एक बार भूल हुए का भ्रम दूसरी बार अनुभव होने से वह भ्रम मिट जाएगा इस लिए फिर फिर राजा बनूँगा, तब भ्रम मिट जाएगा, इस प्रकार जिसकी कामना निश्चित होगई है, वह सुख की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होता है, सजातीय उत्कर्ष तो सबको चाहिए वह कैसे दे दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं बहुत प्राप्ति के लिए अल्प का त्याग किया जाता है, अतः इसने चक्रवर्ती बनने की इच्छा से यह भोग छोड़े है, किन्तु यह भूल ही है ब्रह्माण्ड का भी स्वामीपन्न चाहे और वह मिल भी जाय तो भी तृष्णा बढ़ती ही जाएगी, जब तक तृष्णा है, तब तक सुख नहीं है, आशा ही दुःख रूप है, अतः कितने ही उच्च पद की इच्छा कोई करे, किन्तु वह सुख के उपभोग के लिए समर्थ नहीं होता है जब तक की तृष्णा का नाश न हुआ हो ॥१२॥

इस प्रकार कर्म फल को व्यर्थता दिखाते हुए उसकी निन्दा कर, सात्त्विक कर्म ही करने चाहिए इसलिए बादशाहों के अश्रव की स्तुति करते हैं। जब भगवान् की इच्छा से जन्म का

अन्त होवे तब साधन करने की इच्छा उत्पन्न होते ही सत्पुरुषों का समागम होता है । वह समागम भी परस्पर मिलकर शंका निवृत्ति पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला होता है ।

मनुष्य अनेक प्रकार को योनियों में घूमने से जो क्लेश पाता है वह क्लेश भगवान् की कृपा होने में हेतु है, अर्थात् भगवान्, मनुष्य ने घूमते हुए बहुत क्लेश पाए हैं, यह देख, दयाद्र चित्त हो जाते हैं जिससे वे कृपा करते हैं जो जन्म का अन्त करने वाले भी कितने ही स्थान हैं, जैसे कि, योगियों के अथवा महत्पुरुषों के कुल में जन्म होना, ऐसे कुल में जन्म होने पर भी स्वतः ही मुक्ति नहीं होती है, किन्तु सत्संग मिलने से ही, जैसे उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य देह, मुक्ति का द्वार वा हेतु है, वैसे ही शरीर में भी जो शरीर सत्संग के समय बनता है वह मोक्ष शब्द का प्रयोजन है अर्थात् सत्संगो शरीर हा मुक्त होता है इसकी व्यष्टा "दुर्लभो मानुष देह" इम श्लोक में होगी अतः जब अन्तिम जन्म होता है तब ही सन्तोष का समागम मिलता है अथवा योग्यता होने पर सत्संग प्राप्त होता है । अच्युत इस सम्बोधन से यह कहा, कि जैसे आप अच्युत हैं, वैसे सत्पुरुष भी हैं जिसमे उनका अभाव नहीं है, अतः मिलने में भी देरी नहीं है उस सत्संग से प्रत्यक्ष ही पुरुषार्थ प्राप्ति देखी जाती है । जैसा कि जब सत्संग होता है, तब आप में चाह होती है । भगवान् अकिञ्च कर्मा है अतः किसी को अपने लिए प्रवृत्त नहीं करते हैं, काल और कर्म आदि बाधक है ही अतः भक्त के बिना अन्य कोई भी भगवत्सम्बन्धी बुद्धि नहीं देता है, उनका यों करना आवश्यक है क्योंकि सन्तों को वे ही गति है, वे सत्पुरुष साध्य, साधन और फल भगवान् को ही जानते हैं इसलिए उनके पास होने से ही भगवान् में चाह हो जाती है । चाह होने से क्या होगा है, इसके उत्तर में कहते हैं, कि काल और कर्म आदि को भी फल दान करने में ये ही नियमक हैं अतः सर्व फल इनसे मिलता है ॥१३॥

आभास - अनेन अस्माकं सर्वाणि साधनानि सिद्धः नोन्मुबतं भवति, साधनार्थं प्रदृश्यभ वश्च सूचितः । अतो गर्गवान्यप्रामाण्यादपि कृपा विधेयेत्याभिप्रायः साधनप्रकरणे निरूपितः । फलं निरूपयति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इससे यह बह, कि हमारे सब साधन सिद्ध हुए इसलिए साधनों में अब प्रवृत्त होना नहीं है, कहने का यों तात्पर्य है, अतः गर्गजी के वचनों से भी अब कृपा करनी चाहिए, यह साधन प्रकरण में निरूपण किया, अब तीन श्लोकों से फल का निरूपण करते हैं—

श्लोक—मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यहृच्छया ।

यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षाद्भ्ररखण्डभूमिपैः ॥५४॥

न कामयेऽहं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यत्तमाद्वरं विभो ।

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणोत आर्यो वग्मात्मबन्धनम् ॥५५॥

तस्माद्विमृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥५६॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! यह जो अचानक मेरा, राज्य का बन्धन स्वतः छूट गया है, वह मेरे पर आपका ही अनुग्रह हुआ है, तब से अलग हो, वन में जाने की इच्छा वाले साधु वृत्ति वाले चक्रवर्ती भी स्वतः, इसका त्याग नहीं कर सकते हैं किन्तु प्रार्थना ही करते हैं ॥५४॥

हे विभु ! मैं तो, निष्किञ्चन भक्त जिस आपके चरणारविन्द के सेवन की प्रार्थना करते हैं उससे उत्तम, किसी की भी कामना नहीं करता हूँ, हे हरि ! कौन ऐसा आर्य है, जो मोक्षदाता आपकी आराधना कर, आत्मा को बन्धन में डालने वाले पदार्थों का वर मांगेगा ॥५५॥

हे ईश ! इस कारण से रज, तम और सत गुणों से बन्धी हुई सब कामनाओं को पूर्णतया त्याग कर, निरञ्जन, निर्गुण, अद्वय, ज्ञानस्वरूप, पर पुरुष आपकी शरण आया हूँ ॥५६॥

सुबोधिनी—मन्ये इति । फलं हि त्रिविधम्, राज्यं कामाः भगवांश्चेति । तत्र द्वयं निषेधति । तत्रापि राज्यस्य दोषरूपत्वं स्वानुभवसिद्धमिति दैवाज्जातां तन्निवृत्तिमभिनन्दति मन्ये इति । सर्वत्र कारणं स भगवानेवेति । ते त्वया कृतः राज्यानुबन्धापगमः स्वतः एव राज्यसम्बन्ध-निवृत्तिः ममानुग्रह एवायं भगवता कृत इत्यहं मन्ये । यहृच्छयेति । कारणाभावेनैव जात इति

भगवत्कृत एव । भगवांश्च हितार्थमेव करोतीति निर्धारः । ननु राज्यस्य इष्टसाधनस्य निवृत्तिः कथं फलम्, अनिष्टानुबन्धित्वं तु स्वीदोषात्, न तु स्वतः एव राज्यमनिष्टहेतुः, अन्नमिव ज्वरित-स्यैव तदनिष्टजनकम्, तथोद्धतस्यैव स्वभावताम-सस्यानिष्टजनकमिति चेत्, तत्राह यः प्रार्थ्यते इति । साधवोऽपि राज्यं यतस्त्वयजति, अतो जायते राज्यं स्वभावबुद्धमिति । अन्यथा सतां

तेषां भगवद्भजनसाधनमपि राज्यं भवतीति तत्परित्यागेच्छा न स्यात् । किञ्च । प्रार्थ्यते सः । साधूनां कर्मसाध्योऽपि न भवति, अतोऽशक्यप्रतीकारः अत एतदर्थं भगवानेव प्रार्थ्यते । प्रार्थनापि न केवलं मानसी वाचनिकी वा, किन्तु कायिकोत्याह एकवर्षयेति । एकाकिचरणपूर्वकं वनं विवक्षद्भिः प्रार्थ्यते । सर्वं परित्यज्य एकाकी भूत्वा वनं प्रविशन्नपि राज्याद्विभेति । विद्यमाने सम्बन्धे शतवः परलोकाधिकारिणो वा पीडयिष्यन्तीति । अल्पं राज्यमिति हीनतुल्यत्वात्कदाचित्परित्यागमाशङ्क्याह अखण्डभूमिर्परिति । अखण्डां भुवं पान्तीति सप्तद्वपाधिपतयः । अतः संवन्धनिवृत्तिर्ममाभीष्टमेव ॥१४॥

कामानन्तरं व्यावर्तयति न कामयेज्यमिति । एकं कामये, यत्तव पाठसेवनम्, एतत्साधकं च अन्यत्तु एतद्व्यतिरिक्तं एतदसाधकं वा न कामये । ननु का विशेषः, एकं शास्त्रस्तुतम्, अपरं च लोकप्रतीतिसिद्धम्, अत उभयोस्तुल्यत्वात्प्राप्त्येगान्यनिषेधे को हेतुरिति चेत्, तत्राह अकिञ्चनप्रार्थ्यतमादिति । धर्मानां कदाचिद्धनस्य विद्यमानत्वात् अन्यकाङ्क्षापि भवति । अकिञ्चनानां तु उभयाभावात् लौकिकत्वाद्दनापेक्षाश्च नियतत्वात् तत्परित्यज्य यत्केवलं चरणसेवैव प्रार्थ्यते । तथापि परमेष्ट्वेन दीयमानमप्यन्यदशुहीत्वा, असाध्यमपि प्रार्थयन्त इति प्रार्थ्यतमत्वम् । क्लेशेनाप्राथिनः वारयति वरमिति । दातृरसामर्थ्यदिपि तथात्वं वारयति विभो इति । ननु ते भ्रान्ता भवन्तु, तेषां तथा वा रुचिः, तथापि विषये को दोष इति चेत्, तत्राह आगध्य कस्त्वामिति । स्वामाराध्य को वा वरं वृणीत । कमवशादागतं अनभिप्रेतमप्यनुभूयते, भगवन्तं त्वाराध्यं दुर्लभमेव प्रार्थ-

नीयम् । तत्रापि विरुद्धं कथं प्रार्थनीयमित्युभयथा विरोधमाह । अपवर्गदं भवन्तामात्मबन्धनं वरमिति । यो हि यं सेवते, स तत्सम्बन्धं लोकयोः प्राप्नोति । तत्र मोक्षात्मा भगवान्, अन्यत्संसाररत्नकमिति । ननु तर्हि मोक्षो ज्ञानं वा प्रार्थनीयं स्यात्, नतु पादसेवनमिति चेत् । सत्यम् । ज्ञानं हि केवल्यमेव साधयति । मोक्षोऽपि केवल्यरूपश्चेत्, तथापि न पुरुषार्थः, भगवत्प्राप्तिरूपश्चेत्, तदा एकरसतामापन्नः भगवानेव भवतीति अस्य पृथगनुभवो न स्यन् । अतः परमानन्दः सन् योजुभूयते तदेकं चरणोपासनमेव । असाधन साध्यं न सिध्यतीति साधनत्वेन वा प्रार्थनमित्येके ॥१५॥

अत उक्तुःप्रार्थनार्थं प्रथमतः शरणं गच्छामोत्याह तस्माद्विसृज्येति । हे ईश समर्थ, सर्गतः अन्तर्बहिः सर्वं विसृज्य, त्वां ज्ञप्सिमात्रं शरणं व्रजामि । सर्वेषां परित्यागार्थं त्रिगुणत्वमाह रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धना इति । रजःप्रभृतीनां बन्धकत्वाय गुणानुबन्धत्वमुक्तम् । अनिच्छतोऽपि बन्धहेतव इति तत्सम्बन्धमात्रेण तथात्वाय अनुपदप्रयोगः । ननु भगवानपि स्मर्तानां मते सोपाधिक इति तथापि रजःप्राप्तिरेवेत्याशङ्क्याह निरञ्जनमिति । अञ्जनमुपाधिः प्रकृत्यादिः, तद्रहितो निरुपाधिः ततः कमत आह निगुणमिति । सोपाधिक एव सगुणो भवति । नतु निरुपाधिक इति । ननु भगवान् पूर्णं केवल एव स्वभोगार्थं स्वेच्छया प्रकृति गुणांश्चोपादितवान्, अतः कथं त्वदर्थोऽपि तन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याह अद्वयमिति । द्वयरहितो भेदरहितः । यो हि भेदार्थं यतते, तं प्रति तथा सम्पादयति, अहं तु न तयोऽंत मां प्रति न सम्पादयिष्यतीति भावः । स स्वतन्त्र इति वक्तुमाह परमिति ।

अन्यशङ्कां वारयति त्वामिति । ननु तथापि त्वं
गुणमय इति त्वदधिकारानुसारेण तद्यैव करिष्य-
तीति चेत्, तत्राह ज्ञप्तिमात्रमिति । तादृशस्य
शरणमगमनं न सम्भवतीति पुरुषरूपतामाह ।

शरणमिति पाठे अर्थात् पुरुषरूपमेवेति त्वांपदात्
ज्ञातव्यम् । पुरुषपदे तु त्वां ब्रजामीत्यर्थात्
शरणमिति ज्ञातव्यम् ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—फल तीन प्रकार के होते हैं १—राज्य, २—कामनाएँ, ३—भगवान्, इनमें दो फलों का निषेध करते हैं। उनमें भी राज्य दोष रूप है यह अपने अनुभव से समझ लिया है उससे निवृत्ति देव से हो गई है, अतः इसका अभिनन्दन करते हैं जो कुरु जगत में होता है, उसका कारण वह भगवान् ही हैं। मेरा राज्य मे सम्बन्ध जो स्वतः छूटा है, वह कृपा आपने ही की है। यों में मानता हूँ, कारण के बिना आप ही छूट जाना, इससे निश्चय है कि यह सम्बन्ध ही बिटा है। सम्बन्ध जो ब्रह्म करते हैं वह हित के लिए ही करते हैं यह शास्त्रादि से निश्चित निर्णय किया हुआ है जिससे इच्छित सुख मिलते हैं, वैसे राज्य का छूट जाना फल कैसे कहते हो? राज्य अनिष्टों के बन्धनों में डालता है, यह कहना युक्त नहीं है वह अपने दोषों से होता है न कि राज्य अपने आप अनिष्ट का कारण है, ज्वर वाले को जैसे अन्न का भोजन अनिष्ट करने वाला है, यों स्वतः अन्न का भोजन अनिष्ट नहीं करता है, वैसे ही राज्य भी। इस पर कहते हैं, कि यदि आप यों कहते हो कि तामस स्वभाव से उद्वत राजा को ही राज्य अनिष्ट कारक है, तो यह कहना सत्य नहीं है, कारण कि, साधु राजा भी राज्य का त्याग करते हैं, इससे जाना जाता है कि राज्य ही स्वभाव से दुष्ट है, यों नहीं होता तो उन सत्पुरुष राजाओं को तो राज्य भगवान् के भजन का साधन भी हो सकता था, इसलिए उसके त्याग की इच्छा नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है जिससे, उससे छूटने की भगवान् को प्रार्थना करते हैं, साधुजन राज्य का त्याग कर्म द्वारा भी नहीं कर सकते हैं, उनके पास और भी कोई उपाय नहीं है, इसलिए भगवान् को ही प्रार्थना करते हैं प्रार्थना भी केवल वाणी एवं मन से नहीं करते किन्तु हम निर्जन वन में जाकर रहें, (कार्य को) ऐसी प्रार्थना भी करते हैं, सब त्याग कर, अकेले जाकर वन में रहते हुए भी राज्य से डरते हैं, राज्य से सम्बन्ध था इस कारण से भी शत्रु तथा परलोक के अधिकारी दुःख देंगे यदि यह शंका होवे कि छोटा राज्य होने से कोई महत्व नहीं इसलिए छोड़ते होंगे तो कहते हैं, कि नहीं, सात द्वीपों के स्वामी होते हुए भी छोड़ना चाहते हैं, अतः यह जो आपकी कृपा से राज्य से सम्बन्ध छूट गया है वह मुझे पसन्द ही है।

“न कामयिष्यं” इस पद से कहते हैं, कि मुझे दूसरी कोई कामना नहीं है केवल एक आपके चरण के सेवन की कामना है तथा वह जिससे सिद्ध ही उसकी कामना है इसके सिवाय एवं इसको मित्र न करने वाले की कामना नहीं है। इस आपकी युक्ति में क्या विशेषता है दोनों ही हैं, तो कामनाएँ एक ही शास्त्र ने श्रुति की है और दूसरी लोक के प्रतीति से सिद्ध है अतः दोनों तुल्य होते हुए भी विशेष आग्रह से दूसरों का निषेध करने में क्या कारण है? इसके उत्तर में कहते हैं कि “अकिञ्चन प्रार्थ्यं तमात्” धनवानों को धन होने से, कभी अन्य विषय-पुत्र राज्य आदि की

इच्छा भी होती है, किन्तु अकिञ्चनों को तो दोनों प्रकार की इच्छा नहीं है धन की अपेक्षा लौकिक और नियत होने से, उसका त्याग कर केवल चरणों की सेवा प्राप्त हो, वैसे प्रार्थना करते हैं उन अपने प्रिय अकिञ्चनों को अन्य धन, राज्य आदि प्रभु देते हैं तो भी उसको ग्रहण न कर जो सेवा प्राप्त होनी कठिन है उसको बार बार प्रार्थना करते हैं, बार बार प्रार्थना में तो क्लेश होगा, इस पर कहते हैं कि उसमें कुछ भी क्लेश नहीं है, किन्तु वह वर रूप है, 'हे विभो' सम्बोधन से भी यह सूचना देते हैं कि दाता सामर्थ्यवान हैं अतः कोई क्लेश नहीं है वे भ्रान्त होवे अथवा उनकी वैसे रुचि है तो भी विषय में कौनसा दोष है ? यदि यों कहते हो तो उत्तर देते हैं, आपकी सेवा पाकर ऐसा कौन अभागा होगा जो "वर" मांगे ? यदि कर्म वश से जिसकी चाहना नहीं है, वह भी प्राप्त हो जावे तो भोगना ही पड़ता है, भगवान् की आराधना करके तो जो दुर्लभ है उसकी ही प्रार्थना करना चाहिए। वहाँ भी विषय को प्रार्थना कसे की जाय दोनों प्रकार विरोध कहते हैं, मोक्ष दाता आपसे वर मांगना आत्म बन्धन है। जो जिसकी सेवा करता है वह दोनों लोकों में उसका सम्बन्ध प्राप्त करता है उसमें भगवान् मोक्ष रूप है दूसरा सब ससार रूप है यदि यों है तो मोक्ष वा ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए न कि पाद सेवन को प्रार्थना करनी चाहिए। सत्य है ज्ञान केवल सिद्ध करता है यदि मोक्ष भी कैवल्य रूप है तो भी पुरुषार्थ नहीं है। यदि मोक्ष भगवत्प्राप्ति रूप होवे तो एकरसता को प्राप्त होके भगवान् ही हो जाता है फिर उसका पृथक् अनुभव नहीं होता है, अतः परमानन्द होकर जो अनुभव किया जाता है वह एक चरणोपासन ही है जो माधना नही है वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है इसलिए साधनपन से प्रार्थना करनी, इस प्रकार कोई कहते हैं ॥१५॥

अतः श्रेष्ठ प्रार्थना के लिए पहिले शरण जाता है यह "तस्माद्विमुञ्ज श्लोक में कहते हैं -

हे समर्थ ! अन्दर और बाहिर सर्व प्रकार की कामनाओं का त्याग कर ज्ञप्ति मात्र आपके शरण जाता हूँ सर्व के परित्याग के लिए इसका त्रिगुणपन कहते हैं, रज प्रभृति के बन्धकत्व के लिए गुणों का बन्धनपन कहा है, अनुपद का प्रयोग इसीलिए किया है, कि इच्छा न करने वाले के भी बन्धन के कारण हैं, केवल उनके सम्बन्ध से बन्धन हो जाता है। स्मार्तों के मत में भगवान् भी उपाधिवाला है, इससे वहाँ भी रज की प्राप्ति ही है ऐसी शंका कर उसका समाधान करते हैं, कि भगवान् निरञ्जन अर्थात् प्रकृति आदि उपाधियों से रहित हैं। उससे क्या हुआ ? तो कहते हैं कि निगुण हैं जो उपाधि वाला होता है, न कि बिना उपाधि वाला सगुण होता है।

भगवान् ने पहिले केवल अपने भोग के लिए ही अपनी इच्छा से प्रकृति और गुणों को पदा किया है, इस कारण से, तेरे लिए ही वैसे कैसे नहीं करेंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "अद्वय" भेद रहित है जो भेद के लिए प्रयत्न करता है, उसके प्रति वैसे करते हैं, मैं तो वैसे नहीं हूँ, इसलिए मेरे प्रति यों नहीं करेंगे, यह बहने का भाव है। वे स्वतन्त्र हैं, इसलिए कहा है, कि सबसे पर उत्तम है, वह कोई दूसरा पर नहीं है किन्तु आप ही है इसलिए "त्वा" कहा है, वे पर हैं

किन्तु तू तो गुण वाला है, अतः मेरे अधिकार के अनुसार वीसा ही करेंगे यदि यों कही तो जिसका उत्तर है, कि आप "ज्ञप्तिमात्र" हैं अर्थात् आपको केवल जानना ही है जो ऐसा, उसके शरण जाना नहीं वन सकता इसका समाधान करते हैं, कि आप पुरुष रूप हैं "शरणम्" पाठ से यह कहा है कि आप पुरुष रूप हैं, "त्वां" पद से कहा कि आप ही जानने योग्य हैं इस प्रकार जानना चाहिए ॥५६॥

आभास—एवं शरणागतः स्वरक्षां प्रार्थयते चिरमिहेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शरण आया हुआ अपनी रक्षा की प्रार्थना 'चिरमिह' श्लोक से करता है ।

श्लोक—चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापं

रवितृषपडमित्रो लब्धशान्तिः कथंचित् ।

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-

भ्रभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥५७॥

श्लोकार्थ—इस संसार में दुःखों से पीड़ित बहुत समय से अपने किए पश्चात्ताप से जल रहा हूँ जिनकी तृष्णा मिटी नहीं है, ऐसे इन्द्रिय स्वरूप छ शत्रु घेर रहे हैं तो भी शरण देने वाले प्रभु आपके चरणारविन्दों में आकर पड़ा हूँ जिससे कटिनाई से शान्ति मिली है अब हे परमात्मा ! हे ईश ! शरण आए हुए मेरी रक्षा करो, क्योंकि आपके चरणारविन्द अभय अशोक और अमृत देने वाले हैं ॥५७॥

सुबोधिनी—सङ्घातात्पीडितः असमर्थः तत्पीडापरिहाराय रक्षां प्रार्थयते । नत्वन्यस्मात् । तदर्थं बाधकानि गणयति । चिरं वृजिनैर्दुःखैः रार्तः, अनुतापैस्तप्यमानोऽपि जातः । अनुतापा नियता आध्यात्मिकादयः । अरेऽपि तापजनकान् दोषानाह अवितृषपडमित्र इति । पूर्णत्व प्रवाहे तु षडिन्द्रियाण्यमिसाणि, न वितृष्णानि । तस्मात् शत्रुभिः पीडितः । ते भक्षयिष्यन्तीति शङ्कया प्रार्थना । नन्विन्द्रियोपरत्यभावे व्यर्थं सर्वमिति

चेत्, रक्षितोऽपि यदीन्द्रियहितमेव क्र्यात्, तदा किं रक्षयेत्यत आह लब्धशान्तिरिति । कथञ्चिदन्तःकरणमुपरतमित्यर्थः । त्वं च शरण-प्रदः अहं च सम्यगुपेतः, तत्रापि त्वत्पदाब्ज-सेवकत्वेन । परात्मन्निति । जीवानां स्वामी भगवानिति शरणगमनं नायुक्तमिति भावः । गुणत्रयपीडितस्य पीडा निवारकं भगवति गुणत-यमाह अभयमृतमशोकमिति । सत्त्वगुणाभावात् भयाभावः । अत एवान्यं च पालयितुं शक्तः ।

ऋतत्वात् राजसः अभावः, रजःसम्बन्धेन शुद्धं शोकः । आपन्नमिति रक्षायां हेतुः । ईषेति भवतीति, ऋतता युक्तैव । अशोकमिति तमसा । सामर्थ्यम् ॥१५७॥

व्याख्यार्थ—संघात से पीड़ित और असमर्थ उस पीड़ा के मिटाने के लिए भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करते हैं—न कि दूसरों से, उसके लिए जो वाधक है, उनको गिनता है बहुत समय से दुःखों से पीड़ित हुआ है और नियत हुए आध्यात्मिक तापों से भी तप्त हो रहा है इससे आगे भी ताप उत्पन्न करने वाले दोषों का वर्णन करते हैं कि जिनकी तृष्णा अब तक मिटी नहीं है वैसे इन्द्रिय रूप शत्रुओं से भी पीड़ित हो रहा है वे शत्रु खा जायेंगे इस शंका से प्रार्थना करते हैं । जब तक इन्द्रियों में शिथिलता नहीं आई है तब तक सब व्यर्थ है यदि यों कहो तो और यदि रक्षा करने में भी इन्द्रियों का हित कर तो उस रक्षा से क्या लाभ ? इस कारण से कहते हैं “लब्धशान्तिः” किसी न किसी प्रकार अन्तःकरण विषयों से हट जाने से शान्ति प्राप्त हो गई है आप शरण देने वाले हैं और मैं अच्छी भाँति शरण आया हूँ शरण भी आपके चरण कमलों का सेवक बन कर ली है आप परमात्मा हैं अर्थात् जीवों का स्वामी भगवान् है अतः आपकी शरण लेना अनुचित नहीं है यह भाव है ।

जो तीन गुणों से पीड़ित है, उसकी पीड़ा के निवारक तीन गुण भगवान् में हैं, वे कहते हैं— १-अभय, २-अमृत, ३-अशोक-सतोगुण के अभाव से भय का भी अभाव है इस कारण से ही दूसरों को पालन करने में समर्थ है सत्यरूप होने से रजोगुण का अभाव है जिससे अमृतरूप ही सबको शुद्ध करने में शक्त है तमोगुण के अभाव से आप शोक रहित हो अर्थात् आनन्द रूप हैं, जिससे सब को आनन्द दे सकते हैं आप रक्षा करते हैं जिसका कारण शरणागति ही है, आप ईश हैं इस लिए आप में सर्व सामर्थ्य है ॥१५७॥

आभास - ततो भगवान् वृथा शयनं कृतवानिति, तं तपसि प्रवर्तयितुं मर्यादारक्षार्थं च प्रार्थितदानमाह सार्धभौमेति षड्भिः ।

आभासार्थ—पश्चात्, भगवान् ने वृथा शयन किया ? उसको तपस्या में प्रवृत्त करने के लिए और मर्यादा की रक्षा के वास्ते, प्रार्थित दान को “सावंधौम” श्लोक से लेकर छ श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—सार्धभौम महाभाग मतिस्ते विमलोजिता ।

वरैः प्रलोभतस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥१५८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे चक्रवर्ती ! हे वड़भागो ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल तथा बड़ी उच्च है क्योंकि वरों के दान से ललचाये हुए की भांति वह बुद्धि कामनाओं से विचलित नहीं हुई है ॥१८॥

सुबोधिनी—सर्वभूमत्वेन तस्य भाग्याभिनन्दनमुक्तम् । महाभागेति अग्रिमसिद्धिर्था च भाग्यमुक्तम् । तव मतिविमला ऊजिता च । सांसारिकधर्मनिवृत्त्या विमलत्वम्, भगवत्परत्वेन ऊजितत्वं चेति । भगवदाज्ञोल्लङ्घने भगवान् कथं संतुष्ट इत्याशङ्कां निवारयितुमाह वरैः प्रलोभित-

स्यापीति । सर्वान् कामान् ददामीति यदुक्तम् । तत्केवलं लोभप्रदर्शनार्थम्, तेषु नव रुचिरस्ति नवेति, तदिदानीमवगतं नास्तीति, यतः कामैर्न विहता बुद्धिः । अत एव विमलत्वमूर्जितत्वमिति सम्बन्धः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—चक्रवर्ती होने से सब के भाग्य की सहराहना की है और "महाभाग" पद से आगे का भी उसका मनोरथ सिद्ध होगा जिससे भी भाग्यवान् है तेरी बुद्धि शुद्ध तथा बहुत उच्च है तेरी बुद्धि में से संसार के धर्म सब निवृत्त हो गए हैं, इसलिए मल रहित हो कर शुद्ध हो गई है भगवान् के परायण होने से उच्च है जिससे भगवान् की आज्ञा का उलंघन किया है उस पर भगवान् कैसे प्रसन्न हुए ? इस शंका को मिटाने के लिए अपनी प्रसन्नता का हेतु बताते हैं कि वरों से उसको लोभ में फसाना चाहा तो भी फसे नहीं भगवान् ने तो वर मांगे कहा था वह केवल लोभ दिखा कर परीक्षा लेने के लिए, उन लौकिक पदार्थों में तेरी रुचि है या नहीं ? वह अब जानने में आ गया कि नहीं है क्योंकि कामनाओं से बुद्धि बदली नहीं, इस कारण से ही बुद्धि का निर्मलपन उच्चपन है इस प्रकार इसका यह सम्बन्ध है ॥१८॥

आभास—ननु स्वामिना कथमेवं प्रलोभ्यते, तत्राह प्रलोभित इति ।

प्राभासार्थ—स्वामी हो कर ऐसे कैसे प्रलोभन देते हैं ? वहाँ कहते हैं कि "प्रलोभित" अर्थात् इस श्लोक में यह स्पष्टीकरण करते हैं कि प्रलोभन क्यों दिया ? और उससे क्या हुआ ?

श्लोक—प्रलोभितो वरैर्यत्त्वभ्रमादाय विद्धि तत् ।

न धीर्मत्येकभक्तानामाशीमुद्यते क्वचित् ॥१९॥

श्लोकार्थ— मैंने जो तुझे वरों का लालच दिया वह परीक्षा के लिए ही दिया था, यों समझ, मेरे ही जो एक भक्त है उनकी कभी भी वरों से बुद्धि मेरे चरणों से हटती नहीं है । ५६॥

मुवोधिनी—यदपि वरस्त्वं प्रलोभितः, तद-
प्यप्रमादायं, भगवदीयस्य कदाचिदिच्छा स्यात्,
विषया न दृष्टा इति, तदन्यदस्त्वेष्यैः स्वाभा-
विकैर्वा इष्टं न भवतीति मयैव दम्यन्ते, ततो
विषयभोगः प्रमादाभावश्च सिध्यति । विद्वीति ।

नात् सन्देहो विधेयः । हेत्वन्तरमप्याह न धीर्म-
त्येकभक्तानामिति । एकभक्ताः एकस्यैव भक्ताः,
न मार्गान्तरप्रेषवः, किन्तु भक्ता एवेति वा ।
आशीर्भर्वरप्राप्ताभिः तत्रापि भगवतः सकाशात् ।
क्वचिदित्यस्य पक्षस्याव्यभिचार उक्तः ॥५६॥

व्याख्यार्थ— यद्यपि तुम को जो वरों द्वारा लालच दिया. वह भी अप्रमाद के लिए ही दिया था भगवदीय को कदाचित् किसी काम की इच्छा होती है तो वह इच्छा वर द्वारा पूर्ण करके सन्तोष करें, किन्तु उनमें विषय है तो नहीं अथवा उन्होंने विषय कैसे होने हैं ये देखे ही नहीं है, इससे दूसरों को दी हुई अथवा स्वाभाविक विषयों से उनका मन प्रसन्न नहीं होता है इसलिए मैं ही देता हूँ उन विषयों से वे विषय मुख भोगते हुए भी उनमें विषय मदका अभाव रहता है । इसमें सन्देह मत जान, इस विषय की सिद्धि में दूसरा कारण देते है, मेरे जो अनन्य भक्त हैं. अर्थात् जो दूसरे मार्ग को चाह वाले नहीं है किन्तु भक्त ही हैं, वरों से प्राप्त आशीर्वादों से, बुद्धि बदलती नहीं है, क्योंकि वह अग्रदत्त बुद्धि, तद् बुद्धि होती है "क्वचित्" शब्द से, तद्, तद्, तद्, अथवा अत्रिजपा होकर, त्वत्प्राप्त है अर्थात्, तद्, पक्ष निश्चित है इसलिए इस पक्ष में बुद्धि एक मार्ग को त्याग दूसरे मार्ग में नहीं जाती है जैसे कुलटा स्त्री एक पति से संग करती है वैसे भक्तों की बुद्धि अपने इष्ट के सिवाय दूसरे देवों अथवा कामनाओं से प्रेम नहीं करती है ॥५६॥

आभास— एवं भोगमोक्षाविरुद्धो भगवन्मार्ग एव, तत्वन्यत्रेति वदन् पक्षान्तरं दूषयति युञ्जानानामिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवन्मार्ग में ही भोग तथा मोक्ष विरुद्ध नहीं है दूसरे मार्ग में यों नहीं है अर्थात् अन्य मार्ग में तो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं यों कहते हैं "युञ्जानानां" इस श्लोक से दूसरे पक्ष को दूषित करते हैं—

श्लोक— युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।

अधीणवासनं राजन्हृदयते क्वचिदुत्थितम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जो मेरे भक्त नहीं हैं. वे अपने मन को प्राणायाम आदि से मुझमें निरोध करना चाहे तो भी. वह रुकता नहीं फिर भी वासनाओं में फस जाता है क्योंकि उनकी वासनाएँ पूर्ण रीति से नष्ट नहीं हुई हैं ॥६०॥

सुबोधिनी—भक्तिमार्गव्यतिरेकेण केवलानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनो यज्जानानां मनोनिरोधार्थं यतमानानां कचिदुत्थितं दृश्यते. यथा सौभरिप्रभृतीनाम् तत्र देनः अक्षीणवासनमिति । राजन्निति सम्बोधनं वासनाक्षयाभावा-
 न्भवार्थम् । भक्त्या तु वासना क्षीयते । तत्र अलौकिकप्रकारं वारयितुं कामा दीयन्ते, तद्वद-
 वाभावश्च संपाद्यत इति. भगवता भक्तिमार्गः स्तुतः ॥६०॥

व्याख्यार्थ—भक्ति मार्ग के सिवाय जो दूसरे मार्ग गाने हैं, अर्थात् भक्त नहीं हैं, वे यदि प्राणायाम साधनों से मन को रोकने का प्रयत्न करते हैं तो भी उनका मन नहीं रुकना है, जैसे सौभरि प्रभतियों का नहीं रुका था, उसमें कारण यह है. कि उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, राजन् सम्बोधन से यह बताया कि आपने यह अनुभव है वासनाओं का क्षय नहीं होना है. जब तक कि भगवान् को भक्ति नहीं की है, भक्ति से ही वासना का क्षय होता है अन्य मार्गों में अलौकिक प्रकार को मिटाने के लिए कामनाएँ प्राप्त होती हैं उन कामनाओं से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनका अभाव अन्य कोई नहीं कर सकता है केवल भक्ति ही उन उपद्रवों को और वासनाओं को मिटाने में समर्थ है, अतः भगवान् ने भक्ति मार्ग की बड़ाई की है ॥६०॥

आभास—एवं स्तुत्वा तन्मार्गं प्रविष्टस्य भयाभावः सिद्ध एवेति वदन् कामविहारं बोधयति विचरस्वेति ।

अभासार्थ—इस प्रकार प्रशंसा कर उस मार्ग में प्रविष्ट हुए को कोई भय नहीं है, यह सिद्ध ही है, यों कहते हुए “विचरस्व” श्लोक से इच्छा बिहार का बोध कराते हैं ।

श्लोक—विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।

अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भवितर्मथ्यनपायिनी ॥६१॥

श्लोकार्थ—मुझ में मन को लगा कर अपनी इच्छा के अनुसार पृथ्वी पर विचरण करो, मुझमें तुझको अविचल भवित नित्य ही रहेगी ॥६१॥

सुबोधिनो—यतो महास्त्वमतोऽन्यथा विहारः स्वत एव निवृत्तः । किञ्च । मय्यावेशितमानसः सन् विचरस्व । केशी जगति भगवल्लीवेति जिज्ञासुरिव । चरणसेवामेव प्रार्थये, नान्यदिति यदुक्तम्, तत्राह अस्त्वेवेति । अत्र भक्तिदानं नापेक्ष्यते, त्वयि भक्तिः सहजैवास्ति । उत्कर्षोऽपि भक्तेः सहज एवेत्याह अनपायिनीति । नित्यदेति च । देशकालवस्तुपरिच्छेदा निवारिताः ।

अपायः स्वतो देशतश्च । यद्यपि कालनिषेधोऽप्यायाति, तथापि निषेधमात्रपरत्वाभावाय निमित्तभूतः कालः तव भक्तेरनुगुण इति ज्ञापनार्थं नित्यदेत्युक्तम् । तुभ्यमिति । सम्प्रदानत्वेनैव पूर्वं दानं सूचितम् । मय्यनपायिनीति वा । मद्भिषयिणी मत्कृपया वा । अग्रेऽपि न निवर्तिष्यत इति वरदानम् ॥६१॥

व्याख्यार्थ—मुझ में मन को लगा कर पृथ्वी पर विहार करते रहो, क्योंकि तुम महान् हो। अतः अन्य प्रकार से विहार करना तो तुम्हारा आप ही निवृत्त हो गया है भगवान् ने जगत में किस प्रकार और कैसे लोला की है इसके जानने की इच्छा करने वाले को भाँति चरण सेवा की ही में प्रार्थना करता हूँ इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं माँगता हूँ इस प्रकार जो कहा है वह वैसे ही है अर्थात् तुम्हारी प्रार्थना स्वोकार कर आशीर्वाद देते हैं कि यह इच्छा पूर्ण होगी । तुम्हारी प्रार्थना में भक्ति दान की अपेक्षा नहीं है कारण कि तुम्हारे में भक्ति सहज ही है भक्ति का उत्कर्ष भी स्वाभाविक ही है इसलिए कहा है कि “अनपायिनी” यों कहने से देश, काल और वस्तु के परिच्छेद मिटा दिए हैं, और अपने आप देश से विपत्ति अथक बुराईयाँ भी मिटादी है यद्यपि काल का निषेध भी आता है, तो भी केवल निषेध पर न होने से निमित्त भूत जो काल है वह तेरी भक्ति के अनुकूल है, यह जताने के लिए “नित्यदा” पद दिया है, ‘तुभ्यं’ चतुर्थी विभक्ति सम्प्रदान कारक में देकर यह सूचित किया है कि पहले ही भक्ति का दान कर दिया है “मय्यनपायिनीतिवा” अथवा मेरे में रुकावट के बिना निश्चल भक्ति हो, अथवा मेरी कृपा से मेरे विषय की ही भक्ति होवे, यह भक्ति आगे भी निवृत्त न होगी, इस प्रकार का यह वरदान है ॥६१॥

आभास—ननु सायुज्यं कुतो न दीयत इत्याशङ्क्याह क्षात्रधर्मस्थित इति ।

आभासार्थ—सायुज्य बयों नहीं देते हो ? यह शंका कर “क्षात्रधर्मस्थितो” श्लोक में समाधान करते हैं ॥

श्लोक—क्षात्रधर्मस्थितो जःसूयवधीर्भृगयादिभिः ।

समाहितस्तत्तपसा जह्यधं मदपाश्रयः ॥६२॥

श्लोकार्थ—क्षात्र धर्म में स्थित होकर, शिकार आदि में जीवों को मारा है उससे उत्पन्न पाप को तपस्या से एकाग्रचित्त होके, मेरा आश्रय लेकर नष्ट कर ॥६२॥

सुबोधिनी—क्षत्रियाणां धर्मः जातिप्रयुक्तो घरो द्विविधः । युद्धे भ्रातरमपि हन्यात् । पापद्वौ पलायमानानपि भृगान् हन्यात् । अतस्तस्य दोषस्य परिहारः कर्तव्यः । जन्तूनि । तेषामपराधाभावः सूचितः । आदिशब्देन भ्रममुत्पाद्य मारणं । वागुरादिना वा तस्य निराकरणोपायमाह समाहित इति । जितेन्द्रियान्तःकरणः

सन् तत्पापं तपसा जहि । ननु तपस्यपि पापं श्रूयते । कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण, 'मां चैवान्तःशरीरस्थमित्यादिवाक्यैः, तत्राह मदपाश्रय इति । मामेवाश्रित्य तपःकरणे अन्तर्मत्क्लेशजननाभावात् न तपोदोषो भविष्यतीति भावः ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ—जानि से मिलित क्षत्रियों का धर्म दोनों प्रकार का घोर है. १-युद्ध में भाई को मारना. २-शिकार खेलते समय भाग जाते हुए भी मृगों को मारना इसलिए ये दो दोष मिटे वीसा उपाय करो, "जन्तू" पद से बताया है कि उनका कोई अपराध नहीं है, निर्दोष प्राणियों का वध किया है और "आदि" पद देकर यह भी सूचित किया है कि तुमने उनको विश्वास देकर मारा है अथवा पास आदि से मारा है अब उस पाप के निःशक्ति का उपाय बताते हैं "समाहितः" इन्द्रिय आदि से त्रित अन्तःकरण को जीत कर उस पाप को तपस्या से नाश कर । शंका करते हैं, कि मुना जाता है, कि तपस्या में भी पाप होता है जिसमें अपना और पर का द्रोह करने वाला कर्म करना पडता है वीसी तपस्या से क्या है ? जैसा कि कहा है कि "मां चैवान्तः शरीरस्थ" मुझे और अन्तः शरीरस्थ को दुःख होवे वीसी तपस्या कैसे की जाए ? इसका उत्तर देते हैं कि "मदपाश्रयः" मेरा आश्रय लेकर तपस्या करने से भीतर मुझे कोई क्लेश न होगा तथा न तपस्या से किसी प्रकार का दोष होगा ॥६२॥

आभास—ततो यद्भाष्यं तदाह जन्मन्यन्तर इति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो होने वाला है वह "जन्मन्यन्तरे" श्लोक में कहते में-

श्लोक—जन्मन्यन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः ।

भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मापुपैष्यसि केवलम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—हे राजा ! दूसरे जन्म में तुम सर्व भूतों का बहुत सुहृद उत्तम ब्राह्मण हो कर निश्चय तुम केवल मुझे ही पाओगे ॥६३॥

सुबोधिनी—अनन्तरं जन्मनि त्वं द्विजवरो भविष्यसि, उत्कृष्टकुले जन्म प्राप्स्यसि । तत्रापि सर्वं भूतसुहृत्तमो भविष्यसि, न तु प्रवृत्तिपरः । ततः केवलं मामुपैष्यसि । अन्यथा पुरुषेषु कालरूपे वा लयो भवेत् । लीलासहिते । ततो लीलार्थं पुनरागमने आगमनमपि स्यात् । केवले पुरुषोत्तमे तु आगमनशङ्काभावः । अथ च प्रमाणे श्रद्धा महती स्थितेति पुष्टिमात्रं न योजितवान् । मर्यादायां ब्राह्मणस्यैव मुक्तिः । तत्रापि केवल्यमिति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति सिद्धान्तान्तर्गतः काश्चिदोषः ॥६॥

व्याख्यानार्थं—दूसरे जन्म में तुम उत्तम ब्राह्मण होओगे, उच्च कुल में जन्म पाओगे वहाँ भी सब प्राणिनों के विशेष हितकारो बनोगे, प्रवृत्ति के परायण नहीं होंगे, पश्चात् केवल मुझे पाओगे, यदि मुझे नहीं पाओगे तो पुरुषों में वा काल में, लय होवोगे, लीला सहित में उससे लीला के लिए फिर आने पर जन्म भी लेना पड़े। यदि केवल पुरुषोत्तम को प्राप्ति हो गई तो फिर लाट आने की शंका ही नहीं है इसके प्रमाण में बहुत श्रद्धा है इसलिए पुष्टि मार्ग में नहीं जोड़ा है मर्यादा में तो ब्राह्मण को ही मुक्ति होती है उसमें भी केवल्य "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" गीता में कहे हुए इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी दोष नहीं है ॥६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध ४८ वें अध्याय की श्री मद्बल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी 'संस्कृत टीका' राजस साधन अवान्तर प्रकरण, दूसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

१—जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण लेता है उनको मैं उसी प्रकार भजता हूँ ॥ गीता ॥

❀ राग सारंग ❀

बार सत्रह जरासन्ध मथुरा चढ़ि आयो ।
 गयो सो सब दिन हार जात घर बहुत लजायो ।
 तब खिसिआइके कानथवन अपने संग ल्यायो ।
 हरिजु कियो विचार सिन्धु तट नगर बसायो ।
 उग्रसेन सब कुटुम्ब लै ता ठौर सिघायो ।
 अमरपुरी ते अधिक सुख तहाँ लोगन पायो ।
 कालयवन मुचुकुन्दहि सों हरि भस्म करायो ।
 बहुरि आइ भरमाइ अचल सब ताहि जरायो ॥
 जरासन्ध वहेते बहुरि निज देश सिघायो ।
 श्याम राम गये द्वारका सूरज यश गायो ॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेश्यो नमः ॥

श्री मद्रत्नभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

तृतीय अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४६ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५२ वां अध्याय

द्वारका गमन, श्री बलरामजी का विवाह तथा रुक्मिणीजी का सन्देशा

★

कारिका—पुरुषानुग्रहं पूर्वमुक्त्वा भगवता कृतम् ।

स्त्रीषु तं विस्तरेणाह रूपत्रयविभेदतः ॥१॥

कारिकार्थ—इस तीसरे अध्याय में पहले पुरुषों पर किए हुए भगवान् के अनुग्रह का वर्णन कर पश्चात् तीन रूप^१ से भेद वाली स्त्रियों पर किये अनुग्रह का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ॥१॥

कारिका—धनुग्रहः कालतुल्यस्ततो द्वादशधोदितः ।

तत्र मुख्या तु लक्ष्मीः स्यात्तस्यां त्रेधा हरेः कृपा ॥२॥

१—रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा रूप से ।

कारिकार्थ—अनुग्रह' काल के समान है इससे द्वादश प्रकार से कृपा है। स्त्रियों में लक्ष्मी मुख्य है उस पर हरि की कृपा तीन प्रकार से हुई है ॥२॥

कारिका—मानसेनाथ कायेन वेदेनेति निरूप्यते ।
गान्धर्वो मानसः प्रोक्तो दूरत्वाद्वचनाभिधा ॥३॥

कारिकार्थ—१--मानसिक, २-कायिक और ३--वाचिक यों तीन प्रकार से निरूपण किये जाते हैं। मानसिक गान्धर्व कहा है, दूर होने से वाणी से है ॥३॥

कारिका—कृष्णानुग्रहयुक्तानां कृतार्थत्वे ततः परम् ।
स्त्रीणां मुक्तिनिरूप्येति मुचुकुन्दतपःकथा ॥४॥

कारिकार्थ—कृष्ण की जिन पर कृपा हुई है, उनके कृतार्थ हो जाने के अनन्तर स्त्रियों की मुक्ति और मुचुकुन्द के तपस्या की कथा निरूपण कर ॥४॥

कारिका—प्रसङ्गः क्षामसानां हि वधो देवहिताय हि ।
पलायनं लीलयेव सोऽप्यनुग्रह ईयते ॥५॥

कारिकार्थ प्रसंग से तामसों का वध किया है देवों के हितार्थ लीला से ही भागजाना वह भी अनुग्रह हो रहा जाता है ॥५॥

कारिका—सात्त्विके राजसे चं व तामसे च हरेः कृपा ।
इति दर्शयितुं राज्ञो वृत्तं लक्ष्म्याः शिवस्य च ॥६॥

कारिकार्थ—सात्त्विक, राजस और तामस पर भगवान् की कृपा हुई है यह दिखाने के लिए राजा, लक्ष्मी और शिव के चरित्र का वर्णन किया हुआ है ॥६॥

आभाग—तृतीयेध्याये अनुग्रहनिरूपणप्रस्तावं मुचुकुन्दस्य शिवस्य लक्ष्म्याश्च हितं कृतवानिति निरूप्यते । कायिकवाचिकमानसिकभेदेन । प्रथमं सात्त्विके भगवान् मुचुकुन्दे कृपां कृतवानिति तस्य भगवद्वाच्येन तपः करणमुच्यते इत्यमिति चतुभिः ।

१—यह अनुग्रह काल की अपेक्षा वाला है इसलिए मुचुकुन्द ने १२ श्लोकों से प्रार्थना की है, १३ श्लोकों में पूर्ण गमन कर अपनी रक्षा चाही है ।

आभासार्थ—तीसरे अध्याय में अनुग्रह के निरूपण करने के प्रकरण में, मुचुकुन्द, शिव और लक्ष्मी का कायिक वाचिक और मानसिक भेद से हित किया है।

पहिले भगवान् ने सात्विक मुचुकुन्द पर कृपा की है इसलिए भगवान् के वचनों से तपस्या करने लगा, जिसका वर्णन “इत्थं” श्लोक से चार श्लोकों में श्रीशुकदेवजी करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—इत्थं सोऽनुग्रहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः ।

तं परिक्रम्य संनम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे अंग श्रीकृष्ण भगवान् ने इस प्रकार इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुवे मुचुकुन्द पर जब कृपा की तब वह उनकी साष्टांग प्रणाम तथा परिक्रमा कर गुफा से बाहिर निकला ॥१॥

सुबोधिनी—एवंप्रकारेण भगवता अनुग्रहीतः मुचुकुन्दः तपोनिमित्तं गुहातो निर्गतः । भगवदनुग्रहव्यतिरेकेण भगवद्वाक्ये श्रद्धा न भवतीति भगवदनुग्रहः कारणत्वेनोच्यते । इक्ष्वाकनन्दन इति । इक्ष्वाकुरत्यन्तं भक्त इति तद्विश्वोऽयमिति

कृपाया हेतुस्वेनोक्तम् । ततस्तं भगवन्तं कृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य, ततः सम्यङ्गत्वात् साष्टाङ्गं प्रणम्य पूर्वमेव शयनस्थानात् गुहामूले प्रकाशयुक्ते स्थित इति ततोऽपि निश्चक्राम ॥१॥

व्याख्यार्थ—इसी भाँति भगवान् ने मुचुकुन्द पर अनुग्रह किया जिससे वह तपस्या के लिए गुफा से बाहिर निकला भगवान् के वचनों से मुचुकुन्द की श्रद्धा होने का कारण भगवान् का अनुग्रह ही है क्योंकि भगवदनुग्रह होने के बिना उनके वचनों में श्रद्धा नहीं होती है भगवान् ने उस पर कृपा क्यों की ? इस शंका को मिटाने के लिए करते हैं कि इक्ष्वाकू वडा भक्त था उसके वंश में यह पैदा हुवा है. इसलिए उसके नाते के कारण इस पर भी कृपा की है गुफा से बाहिर आने के बाद भगवान् कृष्ण को परिक्रमा कर अनन्तर साष्टांग प्रणाम कर जहाँ प्रकाश वाले गुहा के मुख पर शयन स्थान से उठकर आके खड़ा हुवा था फिर वहाँ से भी बाहिर निकल आया ॥१॥

आभास—ततस्तपः क्वचित्कर्तव्यमिति विचार्य, भारतखण्ड एव चतुर्थगधर्माणं

प्रवृत्तिरिति विरुद्धकालयुक्ते देशे तपो न कर्तव्यमिति वर्षान्तरं गन्तुं उत्तरदेशं गत इत्याह स बोक्ष्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् तपस्या किस स्थान पर करनी चाहिए यह विचार कर भरत खण्ड में चारों युगों के धर्म प्रवृत्त होते हैं इसलिए जहाँ तपस्या से विरुद्ध काम युक्त देश हो वहाँ तपस्या नहीं करनी चाहिए इस कारण से दूसरे भाग में जाने के लिए उत्तर दिशा में गया—

श्लोक—स बोक्ष्य क्षुल्लकान्मर्त्यान्पशून्वीरुद्धनस्पतीन् ।

मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥२॥

श्लोकार्थ—उसने देखा कि सब मनुष्य, पशु, लता और वनस्पति छोटे छोटे हो गए हैं जिससे जान गए कि कलियुग आ गया है, अतः उत्तर दिशा में चला गया ॥२॥

सुबोधिनो स हि मत्स्ययुगे शयनं कर्तुं प्रवृत्तः, कलियुगे उत्थितः । यदैव भगवता मथुरा त्यक्त्वा, तदैव कलिः प्रवृत्त इति मुख्यः सिद्धांतः । 'पञ्चविंशे वर्षे कलिरायास्यती' त्येव विनिश्चित्य, भरतखण्डं परित्यज्य, समुद्रमध्ये द्वाकां कृतवान् । ततो भगवति तत्र गते कलिः सम्यक् प्रविष्टः । कालभिमानीनी देवता तु भगवति स्वस्थानं गते समायास्यति । अयं विचारो द्वादशे कर्तव्यः । कलिस्त्विदानीं प्रविष्टः । सन्ध्यासम-

योऽयं वा । मध्यकाल एवाग्रे निर्णय इति कालस्य प्रवृत्तौ नयत हेतुं दृष्टवानित्याह । स मुचुकुन्दः क्षुल्लकान् अल्पप्रमाणान् कालेन ह्लासं प्राप्तान् मर्त्यान्मनुष्यान् । अनेन तेषां मरणमपि शीघ्रं कालेनेति सूचितम् । वीरुधः लतागुल्मादीन् वनस्पतीन्, दृक्षानपि चतुर्विधानल्पायुःप्रमाणाभ्यां ह्लासयुक्तान् विलोचय, कलेरेवायं धर्म इति असाधारणत्वाद्द्विनिश्चित्य उत्तरां दिशं जगाम ॥२॥

व्याख्यार्थ—उसने सतयुग में सोना आरम्भ किया था और कलियुग में जगा, जब ही भगवान् ने मथुरा का त्याग किया तब ही कलि का प्रारम्भ हुआ यों मुख्य सिद्धान्त है । पञ्चीस वर्ष के अनन्तर कलियुग आवेगा इस प्रकार ही निश्चय कर भरत खण्ड को छोड़ कर भगवान् समुद्र के मध्य द्वारका में जा कर विराजे । भगवान् के वहाँ जाने के पश्चात् कलियुग ने अच्छी तरह प्रवेश किया, काल का अभिमानी देवता तो भगवान् जब अपने धर्म पधार जाएँगे तब आएगा, इसका विचार द्वादस अध्याय में किया जाएगा । कलि तो अब प्रविष्ट हो गया है अथवा यह सन्धी का समय है अर्थात् मध्य काल ही है आगे निर्णय करने योग्य है इस प्रकार काल की प्रवृत्ति में जो निश्चित हेतु देखें उनको कहता है वह मुचुकुन्द कलिकाल से छोटे मनुष्यों को देख समझ गया कि ये मरेगे भी

जल्दी हो लता और झाड़ी आदि वनस्पतियों को तथा चारों प्रकार के वृक्षों को अल्प आयु प्रमाण वाले एवं जल्दी गिरने वाले हैं देखकर साधारण तरह यह कलियुग का ही धर्म है यों निश्चय कर उत्तर दिशा की तरफ गया ॥२॥

आभास—ततो विधानपूर्वकमिमं देशमतिक्रम्य गत इत्याह तपःश्रद्धायुत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् विधि के अनुसार इस देश का उल्लंघन कर गया, इसका वर्णन “तपःश्रद्धा” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः ।

समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्गन्धमादनम् ॥३॥

श्लोकार्थ—तपस्या और श्रद्धा से युक्त धैर्य वाला संग रहित एवं संशयों से मुक्त होकर श्रीकृष्ण में मन को अच्छे प्रकार स्थिर कर गन्धमादन पर्वत पर गया ॥३॥

सुबोधिनी—तपः सर्वेन्द्रियनिग्रहः श्रद्धा च भगवद्वाक्ये, ताभ्यां युतः, दृष्ट्वापि विषयान् विघ्नत्वेन प्राप्नान्वा न व्यामुग्धः किन्तु घोर एव जातः । ततो गच्छन् राजेति यं कञ्चिदनुवर्तमानमपि परित्यज्य, निःसङ्ग एव सन् शरीर-

रक्षादौ मुक्तसंशयः, इतस्ततो दर्शनाद्यर्थं विक्षिप्रमपि मनः कृष्णे समाधाय गन्धमादनपर्वतं प्राविशत् । गरुडगङ्गातः उत्तरे भागे बदरिकाश्रमपर्यन्तं सर्वोऽपि पर्वतो गन्धमादनः ॥३॥

व्याख्यान—तपस्या अर्थात् सब इन्द्रियों को अपने वश में कर लेना और भगवान् के वचनों में विश्वास करना इन दोनों गुणों से युक्त था, और विघ्न डालने वाले विषयों को देख कर भी उनके घश नहीं हुआ और उनसे डरता था अतः धैर्यवान् था । जाते हुये राजा के जो कुछ पीछे लगे रहते थे उनको भी त्याग कर संग रहित हो कर जाने लगा शरीर की रक्षा आदि कौन करेगा, वैसी शंकाओं से जिसका अन्तःकरण मुक्त हो गया है और यहाँ वहाँ दर्शन आदि के कारण विक्षिप्त मन को कृष्ण में जोड़ कर गन्धमादन पर्वत में प्रवेश किया, गरुड गंगा के उत्तर भाग में बदरिकाश्रम तक सारा पर्वत गन्धमादन है ॥३॥

आभास—ततस्तत्रापि बदर्याश्रममासाद्य, यत्र नरनारयणयोरालयं तत्र शीतादि-
वाघा महतीति तन्नृवृत्त्यर्थं यत्नकरणे तपो न युज्यत इति तदर्थमाह सर्वद्वःद्वसह इति ।

आभासार्थ—पश्चात् वहाँ से भो बदरिकाश्रम पहुँच कर तपस्या करने लगा, जहाँ श्री नर नारायण प्रभु का मन्दिर है वहाँ तो शीत आदि की बादा जबर्दस्त है उनके मिटाने की कोशिश करने में मन लगाने से तो तपस्या हो न सकेगी इस शंका के निवारण के लिए “सर्वद्वन्द्वसह” कहा है अर्थात् सर्व प्रकार के शीत आदि के दुःखों को सहन करने में समर्थ है—

श्लोक—बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ।

सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—बदरिकाश्रम में जा कर नर नारायण के स्थान से सब प्रकार के सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करता हुआ शान्त हो तपस्या से हरि की आराधना करने लगा ॥४॥

सुबोधिनो—अन्तरपि शान्तः । तपसा हरि- | धनं सिध्यति, तथैव कृतवानिति ब्रह्मते ॥४॥
माराधयत् । हरिपदेन यथैव तस्य तपसा आरा-

व्याख्यार्थ—अन्तःकरण भी शान्त था, तपस्या से हरि श्री आराधना करने लगा “हरि” पद से जिस प्रकार ही उसकी तपस्या, से आराधना सिद्ध होती है वैसे करने लगा यों जाना जाता है अर्थात् तपस्या में आने वाली रुकावटों को भगवान् हरण कर ऐसी प्रेरणा करते थे जिससे उसकी आराधना सिद्ध हो जाती थी ॥४॥

आभास—एवं तस्य व्यवस्थानुक्त्वा भगवतोऽपि द्वारकार्या गमनमाह भगवाविति दशभिः ।

आभासार्थ - इस प्रकार उसकी अवस्था कह कर भगवान् के भी द्वारका गमन का वर्णन “भगवान्” इस श्लोक से दश श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—भगवान्पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम् ।

हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां घनम् ॥५॥

श्लोकार्थ—भगवान् फिर यवनों से वेष्टित मथुरापुरी में आकर म्लेच्छों की सेना को नष्ट कर उसका धन द्वारका ले गए ॥५॥

सुबोधिनी—मध्ये तामसस्य शिवस्य ब्राह्मणानां वाक्यं कृतवानिति निरूप्यते । यवनवधानन्तरं भगवान् पुनर्मथुरामात्रज्यं, यवनेर्वेष्टितां दृष्ट्वा, मथुरानिमित्तं म्लेच्छबलं हत्वा, तदीयं धनं हतानां मुकुटादिरूपं द्वारकां निन्ये ॥५॥

व्याख्यान—बीच में तातस शिव के ब्राह्मणों का वचन किए, यह निरूपण किया जाता है । यवनों के नाश हो जाने के बाद भगवान् मथुरापुरी आके उस को यवनों से घिरा देख मथुरा लेने के लिए आए हुवे म्लेच्छों की सेना का नाश कर मरे हुवों के मुकुट आदि रूप धन को द्वारका लेजाने लगे ॥५॥

श्लोक—नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितः ।

आजगामं जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनोकपः ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् से प्रेरित मनुष्य तथा बल सब धन ले जा रहे थे तब तेवीस अक्षोहिणी सेना को लेकर जरासन्ध आ गया ॥६॥

सुबोधिनी—नीयमाने इति । वृथैव धनं न परित्याज्यमिति, राज्ञे देयमिति, यवनधनं च न ग्राह्यमित्युभय साधयितुं किञ्चिद्दूरं गृहीत्वा गतवानित्यर्थः । तत्कटकस्था एव बाहकाः पदातयो बलोवदश्च । तत्रैव भगवताः प्रेरिताः जरासन्धस्य सुखार्थम् । जये हि किञ्चित्प्राप्यत इति तस्मै दानार्थं नीतवन्तः । एतस्मिन्समये भगवदिच्छयैव समागतो जरासन्धः त्रयोविंशत्यक्षोहिणी- । अतिक्रानये सर्वोऽपि प्राकृतः क्षीणो भवेत्पिति । प्रकृति परित्यज्य प्राकृत सर्वभेव गृहीत्वा समायातीति ध्यापनार्थं सर्वत्र त्रयोविंशत्यक्षोहिण्य उच्यन्ते ॥६॥

व्याख्यान—धन को फिजूल छोड़ना नहीं चाहिए फिजूल जावे उससे वह राजा को देना चाहिए अर्थात् यों ही पड़ा हुआ धन राजा का है और यह धन यवन का है वह ग्रहण करने के योग्य नहीं है अब भगवान् को दोनों बात सिद्ध करनी है इसलिए वह धन लेकर कुछ दूर गए भार उठाने वाले प्यादे और बैल उसकी सेना में ही स्थित थे वे सब जरासन्ध के सुख के लिए भगवान् के भेजे हुवे थे जोत होने पर कुछ मिलता ही है वह मिला हुआ धन उन भेजे हुवे को देने के लिए ही ले आए थे इस वक्त ही भगवदिच्छा से तेवीस अक्षोहिणी सेना को साथ ले कर जरासन्ध आ गया तेवीस ही क्यों लाया ? इसलिए इतनी लाया जो विशेष लाता तो समग्र प्रजा नष्ट ही जाती अतः प्रजा को न ला कर केवल प्राकृत ही लाए अतः सर्वत्र तेवोस अक्षोहिणी ही कहा है ॥६॥

पलोक — विलोचय वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ।

मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन्दुद्रु वतुद्रुतम् ॥७॥

श्लोकार्थ—राम-कृष्ण शत्रुओं की सेना बड़ी वेग से जा रही है यह देख हूँ राजन् ! मनुष्य नाट्य किए हूँ वे दोनों जल्दी भागने लगे ॥७॥

सुबोधिनो—ते च सर्वे लब्धवराः, पूर्वपिक्ष- भवति । भागवते चास्याकथनं लोकव्यामोहना-
यापि वेगवन्त इति । देवानां वाक्यं परिपालनीयं धम् । राजत्रिति स्नेहेन संबोधनं भ्रमानुत्पादना-
मनुष्यं रिति मनुष्यचेष्टामापन्नौ, मनुष्यभावस्वी- धम् । द्रुतं यथा भवति, तथा दुद्रुवतुः पलायित-
कारे हि ब्राह्मणवाक्यं शिववाक्यं च माननीयं वन्ती ॥७॥

व्याख्यार्थ—सेना में जो सैनिक आदि आ रहे थे उन सब को वर मिला था इसलिए पहिले को अपेक्षा अब वेग से आ रहे थे जिसको देखकर दोनों जल्दी भाग गए कारण कि आप मनुष्य चेष्टा करने को उद्यत हुए हो और मनुष्य नाट्य स्वीकार करने पर देवताओं का वाक्य मनुष्यों को पालना चाहिए मनुष्य को ब्राह्मण के एवं शिव के वचन मान देने योग्य हैं । लोक को मोह में डालने के लिए भागवत में इसका कथन नहीं है राजन् ! यह संबोधन स्नेह से इसलिए दिया है कि इसमें राजा को भ्रम उत्पन्न न होवे जिससे जल्दी ही वैसे दोनों भागे ॥७॥

श्लोक—विहाय वित्तं प्रचुरमभीतो भीरुभीतवत् ।

पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम् ॥८॥

श्लोकार्थ—बहुत मिले हुए धन को छोड़ कर निर्भय होते भी डरपोकों से भी डरे हुए की भाँति कमल के समान कोमल चरणों से बहुत योजन जाने लगे ॥८॥

सुबोधिनी—विहायति । भारवाहकास्तु गन्तु- रथाश्वादिकमपि यवनवघातप्राप्तं विसृज्य, पद्मपा-
मसमर्था इति तान्विहायैव, प्रचुरमपि वित्तं मेव भूमिसुखार्थं पद्मपलाशतुल्याभ्यां बहुयोजनं
विहाय, अभीताःवप्येता भीतेभ्योऽपि भीताविव चेरतुः, चित्रकूटमार्गेण गतौ ॥८॥

व्याख्यार्थ—भार ढोने वाले तो जल्दी जाने में समर्थ नहीं होते थे इससे उनको छोड़ कर ही, बहुत धन भी त्याग कर स्वयं डरे लगे नहीं थे किन्तु डरपोकों से भी डरे हुए जैसे ही, यवनों के वध

से प्राप्त रथ और अश्व आदि भी वहीं छोड़ कर भूमि को सुख देने के लिए कमल के पत्तों के समान कोमल चरणों से बहुत योजन चित्रकूट के रास्ते से जाने लगे ॥८॥

आभास—ततो मागधोऽपि भगवल्लीलामज्ञात्वा वरेण हृप्तः पृष्ठतोन्वगर्मादत्याह पलायमानाविति ।

आभासार्थ—पश्चात् मगध भी भगवान् की लीला को न जान कर वर प्राप्त करने से घमन्डी हुआ था अतः पीछे जाने लगे जिसका वर्णन “पलायमानो” श्लोक में करते हैं--

श्लोक - पलायमानो तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली ।
अन्वधाबद्रथानीकंरीशयोरप्रमाणवित् ॥९॥

श्लोकार्थ—उनको भागते हुवे देख सेना सहित वह हँसता हुआ शीघ्र जाने वाले रथों में बैठ उनके पीछे दौड़ा क्योंकि उन दोनों ईशों में कितनी शक्ति हैं इसको वहीं जानता था ॥९॥

सुबोधिनी—तौ रामकृष्णौ । ननु बहुवारं धृत्वा मुक्तः, तयोर्बलं जानन्नपि कथं तत्सङ्गं गत इति चेत्, तत्राह मागध इति । देशदोषेण नष्टमतिरित्यर्थः । ततः प्रहसन् बलसहितः सेनासहितः अन्वधावत्, रथानीकः सहेति ये शीघ्रगामिनो रथास्तानारुह्य तादृशीः सह गत इत्यर्थः । अनेन रथानां सेनायाश्च महान् बलेशो निरूपितः । स बलेशः सार्थको भविष्यतीत्याशङ्क्याह ईशयो-

रप्रमाणवित् इति । कृष्णरामयोः प्रमाणं सामर्थ्यमादरणीयत्वं वा । तौ हि ब्राह्मणादिवाक्यं प्रमाणीकृत्य भगवान् गच्छति, न त्वशक्तः सन् इति भगवत्प्रमाणं न ज्ञातवान् । ईशयोरिति पूर्णा शक्तिविभक्तेरिति एकस्याप्यनङ्गीकारे विप्रादीनां वाक्यमप्रमाणं भवेदिति उभाभ्यां तत्प्रमाणीकृतमित्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—उसने राम और कृष्ण की शक्ति को क्यों नहीं जाना, जब कि कई बार उन्होने उसे पकड़ कर छोड़ दिया है ? इस शंका के मिटाने के लिए जरासन्ध न कह कर “मागध” कहा है, जिसका भाव यह है कि मागध देश वासी होने से इसकी बुद्धि नष्ट हो गई है इस कारण से हँसता हुआ सेना सहित पीछे दौड़ने लगा रथ और सेना सहित, जो रथ शीघ्र चलने वाले थे उनमें बैठ सेना के साथ गया इससे यह बताया कि रथ तथा सेना को बहुत कष्ट हुआ क्या वह कष्ट सफल होगा ? इस शंका का निवारण करते हुवे कहते हैं कि “ईशयोरप्रमाणवित्” राम कृष्ण के सामर्थ्य अथवा

उनके आदरणीयपन को नहीं जानता है, भगवान् क्यों जा रहे हैं ? भगवान् अशक्त हैं इसलिए डर कर नहीं जा रहे हैं किन्तु ब्राह्मण के वचनों को सत्य करने के लिए ही जा रहे हैं इस रहस्य को उसने समझा नहीं "ईशयोः" दोनों में पूर्ण शक्ति विभक्त है इसको सिद्ध करने के लिए दोनों गए यदि एक जाते तो ब्राह्मण आदि के वाक्य पूर्ण प्रमाणित नहीं होते इसलिए दोनों ने जाकर उनके वचन सत्य प्रमाण किए ॥६॥

आभास—ततो रामकृष्णौ पर्वतेन प्रार्थितवरी तत्प्रियार्थं तुङ्गं गिरिमारुहताम् । स हि पर्वतः सर्वदा शीतेन व्याप्तः, भगवन्तं शीतनिवृत्त्यर्थं विज्ञापयामास । तत्र हि न कदाचिदपि सूर्यग्निसम्बन्धः । मेघानां तत्प्रियं स्थानम् । अतो मेघान्छन्न एव तिष्ठतीति न सूर्यसम्बन्धः । वर्षतीति नाग्निसम्बन्धः । ततो भगवान् पूर्वं तस्मै वरं दत्तवान् अहमागत्य ते शीतं निवारयिष्यामीति । ततो भगवतः अद्भुतकर्मत्वं प्रतिपादयितुं भ्रान्तिमुक्त्वा पर्वत रोहणं वदति प्रद्रुत्येति ।

आभासार्थ—इस के बाद रामकृष्ण दोनों प्रवर्षण नाम वाले ऊँचे पर्वत पर उसके प्रिय मनोरथ पूर्ण करने के लिए चढ़ गए, उस पर्वत पर सदैव ठण्ड रहती है उसने भगवान् को शीत मिटाने के लिए प्रार्थना की थी उस पर्वत से कभी भी सूर्य अथवा अग्नि का सम्बन्ध नहीं होता था क्योंकि वह बादलों का बहुत प्रिय स्थान है अतः मेघों से ढका हुआ रहता है जिससे सूर्य का सम्बन्ध नहीं होता है और सदैव वहाँ वर्षा होती रहती है इसलिए अग्नि का सम्बन्ध नहीं होता है इस कारण से पहिले पर्वत ने भगवान् को शीत मिटाने के लिए प्रार्थना की थी भगवान् ने भी वर दिया था कि मैं आकर तेरा शीत निवारण करूँगा इस कारण से भगवान् अद्भुत कर्मा हैं इसका प्रतिपादन करने के लिए मुझे थकावट हुई है यों दिखा कर उसको मिटाने के लिए पर्वत पर चढ़ गए जिसका वर्णन "प्रद्रुत्य" श्लोक में करते हैं--

श्लोक — प्रद्रुत्य दूर संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।

प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति ॥१०॥

श्लोकार्थ—बहुत दूर तक दौड़ने से मानो थक गए तब प्रवर्षण नाम वाले ऊँचे पर्वत पर चढ़ गए जहाँ भगवान् स्वयं सदा ही वर्षते रहते हैं ॥१०॥

सुदोधिनी—न हि कश्चिद्दूरं प्रद्रुत्य तुङ्ग गिरिमारोहति । उच्चारोहणं ह्यश्रान्तमपि श्रमयति, भगवतः सहस्रोपायानां विद्यमानत्वात् निलीय स्थित्यर्थं किं पर्वतारोहणमुच्चस्थानमपेक्षते, प्रद्युत उच्चस्थितं सर्वोऽपि पश्यति, अतोऽत्र भगवद्ः अद्भुतलोला कथयन् विरोधप्रकारेण कथयति । दूरं प्रद्रुत्य घावनं कृत्वा सम्यक् श्रान्तो जातौ । नहोशयोः शोघ्रगमनं श्रमो वा सम्भवति । तत्रापि तुङ्गमत्युच्च गिरिः आरूढतां

गुप्ततया । तत्रारोहणप्रयोजनमाह प्रवेषणाख्यमिति । प्रकर्षेण वर्षणं यत्रेति । रूढिभ्रमत्पुदासाय स्वमेव योगं प्रदर्शयति भगवान् नन्यदा यत्र वर्षतीति । तत्र हि सर्वदा भगवान् वर्षति । मेघा हि कदाचित् कचिद्वर्षन्ति । तेषामधिष्ठातृरूपो भगवान् विष्णुः । 'पर्वतानामधिपति'रिति श्रुतेः । स्वयमेव तत्र वर्षति, अन्यथा लोके वृष्टिप्रवृत्तिर्न स्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—कोई भी बहुत दूर दौड़ने के बाद थका हुआ ऊँचे पर्वत पर नहीं चढ़ सकता है, थका हुआ नहीं है उसको भा ऊँचे स्थान में चढ़ने में श्रम होता है भगवान् तो छिप कर रहने वास्ते हजारों उपायों को जानते हैं उच्च स्थान पर्वत पर चढ़ने की क्या आवश्यकता थी वरिष्ठ उच्च स्थान पर बैठे हुवे को सब देख सकते हैं यों है किन्तु यहाँ तो भगवान् की अद्भुत लीला कहनी है, इसलिए विरोधी तरीके से कहते हैं—

दूर दौड़ने से बहुत थक गए हांलाकि जो ईश है सर्व समर्थ हैं उनके लिए शीघ्र जाना वा श्रम कुछ भी नहीं है उसमें भी गुप्त रीति से बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़ गए पर्वत पर चढ़ने का प्रयोजन वा प्रकार कहते हैं जिस पर्वत पर ऋग्मेशा वर्षा होती है जिससे उसका नाम "प्रवर्षण" है, वर्षा तो सब पर्वतों पर पड़ती है यह रूढि हो है यहाँ भी पड़ती है इसमें विशेषता क्या है ? इस रूढि के भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि इस पर्वत पर भगवान् स्वयं वर्षते हैं अन्य स्थानों पर मेघ वर्षा करते है वे कभी करते हैं कभी नहीं करते उनका "पर्वतों का" अधिष्ठातादेव विष्णु भगवान् है जैसा कि श्रुति में "पर्वतानामधिपति" कहा है अतः स्वयं विष्णु वहाँ वर्षते हैं यदि भगवान् आप वर्षा न करे तो लोक में वर्षा की प्रवृत्ति ही न आवे ॥१०॥

आभास—ततो श्रान्तस्य जरासन्ध कृत्यमाह गिराविति ।

आभासार्थ—पश्चात् भ्रमित हुवे जरासन्ध ने कुछ किया वह "गिरौ" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ।

ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! उनको पर्वत में छिपे हुवे जान कर वहाँ से आगे पद चिन्ह

नहीं गए हैं यों समझ कर काष्ठों से पर्वत के चारों तरफ आग लगाई जिससे वह पर्वत आग से जलने लगा ॥११॥

सुबोधिनी—पर्वतारोहणे कंचित् दृष्ट एव, तत्रापि अग्रे न गत इत्यत्र विचारमपि कृतवानि-
त्याह नाधिगम्येति । ततः पर्वतादग्रे पदं गमन-
चिह्नं नाधिगम्य अप्राप्य । दाहे भगवता हेतुः
सम्पादितः स सत्य एव जात इति वक्तुं तस्य

निलीनाविति ज्ञानमुत्पादितम् । ततो दाहार्थमेव
तथा प्रयत्नः कृत इति सत्यसङ्कल्पस्य भगवत
इच्छया गिरिमेघोभिर्दाह । सर्वत्र वृक्षान् छित्त्वा
परितस्तृणादिना दाहं कारितवान् ॥११॥

व्याख्यार्थ—पर्वत पर चढ़ते हुए किन्हीने देखा ही किन्तु वहाँ से आगे नहीं गए इस विषय में विचार भी किए उससे डूँडने से पता लगा कि पर्वत से आगे इनके चरण चिन्ह भी नहीं है, इस पर्वत को अग्नि जलावे जिसका हेतु तो भगवान् ने ही बताया है वह हेतु सत्य हुआ, यों तो यहाँ ही छिप गए हैं यों कहने के लिए इसको बैसा ज्ञान कराया इस प्रकार ज्ञान होने के बाद दाह के लिए ही प्रयत्न किया सत्य संकल्प भगवान् की इच्छा से काष्ठों से पर्वत को जलाया वृक्षों को तोड़ कर सब जगह चारों तरफ तृण आदि से आग लगा दो ॥११॥

आभास—ततो भगवान् पर्वतप्राथितं विधाय ततोऽग्रे गत इत्याह तत उत्पत्येति ।

आभासार्थ—अनन्तर पर्वत की प्रार्थना को पूर्ण कर भगवान् आगे गए जिसका वर्णन 'तत' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ।

दशंकयोजनोत्तुङ्गाश्रिपेततुरधो भुवि ॥१२॥

श्लोकार्थ—आग लगाई किन्तु उस आम से पर्वत के किनारे सीलगना सुरू होते ही दोनों शीघ्र ही ११ योजन की बड़ी छलांग से कूदकर पर्वत से दूर पृथ्वी पर ठहरे ॥१२॥

सुबोधिनी—तरसा शीघ्रमेव यावदग्निः | दिति । न तु दाहभयात् । दह्यमानाः तटाः यस्य ।
प्रज्वलति, भगवति विद्यमाने अग्निः पर्वतं न दहे- | सर्वत्र दाहे उद्भूते उभौ पूर्णशक्तिर्भगवान् दशं-

कथोजनोत्प्लादिति । एकादशयोजन स | केचित्तु अतिदाहे पुनः पर्वतप्रार्थनायां तं भूमौ
उत्तुङ्गः, तत उभावपि अधः पर्वतस्य प्रस्त- | नेतुं उपयुंत्थाय पादपीडनेन तं भूमौ प्रवेशयन्नेव
रभागमपि परित्यज्य भूभागे निपेततुः । | स्वयं दूरे गत इत्याहुः ॥११॥

व्याख्यार्थ—अग्नि जले इससे पहिले ही शीघ्र दोनों ने ११ योजन की बड़ी छलांग मारी जिससे वे पर्वत के पत्थर के भाग से दूर पृथ्वी पर खड़े हो गए इतनी जल्दी भगवान् ने इस लिए की कि भगवान् की विद्यमानता में अग्नि पर्वत को जला न सकती अर्थात् तापयुक्त न कर सकती उन्होंने जल जाने के भय से जल्दी नहीं की थी, अभी तो उसके किनारे किनारे अग्नि सिल-गने लगी थी जब वह सर्वत्र प्रकट होने लगी तब पर्वत का मनोरथ पूर्ण देख आप इस प्रकार पधार गए ।

आचार्य आज्ञा करते हैं कोई इस प्रकार भी कहते हैं कि जब अग्नि जोर से जलने लगी तब पर्वत ने पुनः प्रार्थना की जिससे ऊपर उठकर पेरों के दबाव से उसको पृथ्वी में प्रवेश कराते हुवे आप दूर हो गए ॥१२॥

श्लोक—अलक्ष्यमाणो रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ।

स्वपुरं पूनरायातो समुद्रपरिखां नृप ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! यादवों में श्रेष्ठ वे दोनों: शत्रुओं से न देखे गए अपंग अनुचरों सहित समुद्र की खाई वाली अपनी पुरी में फिर आए ॥१३॥

सुबोधिनी—ततः पुनरपि तस्य प्रवृत्तिः स्या- | गतो, द्वारकागमने को हेतुरिति चेत्, तथाह यदू-
दिति पूर्वमपि स्वेच्छयेव स प्रवृत्त इति ज्ञापयन् | त्तमाविति । अन्यथा यदुकुले अवतारं न कुर्यात् ।
तेनालक्ष्यमाणवेव द्वारकां गतो । तत्र न भगवता | अतो यादवहितार्थं स्वपुरं यातो । पुनरायातावि-
कश्चनाधिकः प्रयत्नः कृतः । स मा पश्यत्विति । | त्यनेन पूर्वमुभावपि स्वयं गत्वा तान् स्थापित-
किन्तु स्वदोषेणैव स न दृष्टवानिति ख्यापयितुमाह | वन्ताविति विज्ञायते । तस्य भिन्नद्वोपत्वं कलि-
रिपुणेति । दुष्टबुद्धयैव न दृष्टवान्, तत्सम्बन्धाद- | प्रवेशाभावाय निरूपयन्नाह समुद्रपरिखामिति ।
नृपि, न दृष्टमिति, सानुगेनेत्युक्तम् । ननु, कार्यस्य, | मस्यदुःखं, परिखा, यस्मैति, । विस्तारोऽप्यनेन-
सर्वं स्थापि कृतत्वात् श्वेतद्वीपादावेव कुतो न | सूचितः । नृपेत्यप्रतारणाय संबोधनम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—पहिले भी उसने अपनी इच्छा से ही प्रवृत्ति को थी, फिर भी वह प्रवृत्ति करें यों जानते हुवे उसके लक्ष्य में न आवे इस प्रकार ही आप द्वारका गए, जाने में भगवान् ने कोई अधिक

परिश्रम नहीं किया, वह न देखे केवल इतना ही लेकिन उसने तो अपने दोष से ही न देखा इसको प्रकट करने के लिए कहते हैं कि "रिपुणा" शत्रु से अर्थात् शत्रु था इसलिए उसकी दुष्ट बुद्धि हो गई थी जिससे ही उसने न देखा इसका आशय यह है कि जो दुष्ट बुद्धि होता है वह ही भगवान् का शत्रु होता है अथवा भगवान् के शत्रु आसुरी संपत्त वाले होते हैं उनको बुद्धि इसलिए दुष्ट ही होती है उस स्वयं ने तो न देखा किन्तु उसक अनुचरों ने भी न देखा क्यों.क इस दुष्ट बुद्धि के संग से उनको बुद्धि भी वैसी हो गई थी जब भगवान् ने सब कार्य पूरे कर लिए तब श्वेतद्वीप आदि में क्यों न पधार के गए ? द्वारका में जाने का क्या कारण था यदि यों कहते हैं तो उसका उत्तर देते हैं कि "यदूत्तमो" यादवों में उत्तम है इसलिए उनकी रक्षा के वास्ते अपनी द्वारकापुरी में गए यों नहीं करते तो यदुकुल में अवतार क्यों लिया ? अर्थात् यादवों में अवतार लेकर उनका हित ही करना था इसलिए द्वारका पधारे फिर आए यों कहने का भाव यह है कि इनको द्वारका में पहिले स्थापित भी आपने ही किया था यह सिद्ध कर दिखाया है। आप द्वारका को भारत से जुदा द्वीप कहते हैं क्योंकि उसके चारों तरफ समुद्र रूप खाईयाँ हैं अतः भिन्न द्वीप है जिससे वहाँ कलि का प्रवेश नहीं हो सकता है इससे उसका विस्तार भी दिखाया है "नृप" सम्बोधन भुलावे में आपको नहीं डालता हूँ इसलिए दिया है ॥१३॥

आभास - तस्य च दुर्बुद्धिमाह सोऽपि ।

आभासाथ—“सोऽपि” श्लोक में उसकी दुर्बुद्धि का वर्णन करते हैं-

श्लोक - सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ।

बलमाकृष्य सुपहम्गधान्मागधो ययौ ॥१४॥

श्लोकार्थ— वह मागध भी उनको जला हुआ मान अपनी बड़ी सेना को खींचकर मगध देश ले आया ॥१४॥

सुबोधिनो—शब्ददोषपरिहाराय दग्धिशब्दः सम्यन्तो शाहाः । जरासन्धोऽपि दग्धिमध्ये प्रविष्टः । यथा भगवान् द्वारकायां प्रविष्टः, तथा सोऽपि दग्ध प्रविष्टः, परमसन्तापेन सन्तप्त इत्यर्थः । एतदपि ज्ञानकृतमेव तस्य, न क्रियया दाहो जात इति । अन्यथाप्रे पाण्डवानां यशो न स्यात् । इति मृषा मन्वानः बलकेशवाबालक्य ।

बलत्वात् ब्रह्मशयोरप्यधिपतित्वाच्च तादृशो न तथाभूताविति मृषा मन्वानो वा । अथवा । स तु दग्ध एव । अतः परं पाण्डवकीर्त्यर्थं मृषाभूतः सकलितः, सीतावत् । ततो मृषा जरासन्धः बलत्वं केशवत्वं च मन्वानः सर्वशिनोपि नाशो भविष्यतीति विज्ञाय स्वस्य बलं सेनामाकृष्य मगधा-नेव ययौ । ननु स्वयं किल दग्धः, किं बलदाहेनेत्यत

आह सुमहदिति । सत्त्वेन महत्त्वेन च । तदभग- | सोऽपि मागधः, देशदोषमात्रेणावशिष्ट । मत्वा
 वदधिष्ठानमिति तत्स्थापनार्थं, ततो भगवतः | तो बलकेशवाविति पाठे स एवार्थः ॥१४॥
 अपगमनार्थं च, मगधानेव देशान् ययौ, यतः ।

व्याख्या—शब्द मे उत्पन्न हुए दोष को मिटाने के लिए यहाँ “दग्धि”^१ शब्द को सप्तमी विभक्ति भी माननी चाहिए यों मान कर इसका अर्थ करना कि वह जरासन्ध भी परम सन्ताप में वैसे प्रविष्ट हुआ जैसे भगवान् द्वारका में प्रविष्ट हुए यह उसका परिताप में प्रवेश ज्ञान से हुआ है, न कि क्रिया से दाह हुआ है, नहीं तो आगे पाण्डवों का यश नहीं बढ़ता बलरामजो और कृष्णचन्द्र को न देख कर जल गये, ऐसा जो उसने समझा वह उसका समझना झूठा था क्योंकि शक्तिमान होने से जो ब्रह्मा और शिव के अधिपति हैं वेसे आग में जल नहीं सकते हैं इसलिए इसने यह जलना झूठ ही समझा अथवा वह स्वयं तो जला ही है इसके अनन्तर वह झूठा विल्लाना सीता को तरह पाण्डवों के कीर्ति के वास्ते है इसके बाद जरासन्ध ने इनका ‘बलपना’ और ‘केशवपना’ झूठा समझा यों मान लिया कि इनका सर्व तरह नाश हो गया है, अतः अपनी सेना को लेकर मगध को गया जरासन्ध स्वयं तो सन्ताप से जला किन्तु सेना को जलाने से क्या ? इस शंका का निवारण करते हैं कि वह सेना बलशाली तथा महत्व वाली थी इसलिए उसको भी सन्ताप हुआ जिससे वह भी स्वयं सन्ताप से जलने लगे जरासन्ध मगध देश को क्यों गया ? मथुरा क्यों न आया और आकर लड़ाई से उस पुरी को नाश क्यों नहीं किया ? इस शंका का निवारण करते हैं कि भगव-दिच्छा से उसकी वृद्धि ऐसी हो गई कि यह मथुरा भगवान् का रहने का स्थान है, वह कायम ही रहे और यज्ञ भगवान् पधारे नहीं इसलिए मगध देश को चला गया क्योंकि वह भी मागध है उसमें देश का ही मात्र दोष रहा है ।

“मत्वा तो बलकेशवी” यदि श्लोक में पाठ लिया जावे तो भी यही अर्थ होगा ॥१४॥

आभास—एवं तामसस्य रुदादेः वाक्यपरिपालनं निग्रहं वा विधाय स्त्रीणामुद्धा-
 राथे कृपया बिवाहादिकं कृतवानिति वक्तुं उग्रेष्ठस्य बलभद्रस्य विवाहमाह आनर्ता-
 धिपतिरिति ।

१—“दग्धी” दग्धि शब्द सप्तमी और क्रिया पद दोनों हो सकते हैं ।

२—जरासन्ध संताप से जल गया ।

आभासार्थ—इस प्रकार तामस रुद्र आदि के वाक्य का पालन अथवा निग्रह कर स्त्रियों का उद्धार करने के लिए कृपा कर विवाह आदि किए, यह कहने के लिए पहिले बड़े भ्राता बलदेवजी का विवाह “आनर्त” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—आनर्ताधिपतिः श्रीमार्ध्वते। रेवतीं सुताम् ।

ब्रह्मणः चोदितः प्रादाद्बलांयेति पुरोदितम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—आनर्त देश के स्वामी, श्रीमान् रेवत ने अपनी रेवती नाम वाली कन्या को बलरामजी को दी क्योंकि ब्रह्मा ने पहिले ही इसको आज्ञा की थी ॥१५॥

सुबोधिनो—आनर्तदेशः द्वारिकानिकटदेशः । गतः । ततो ब्रह्मवाक्यात् कनिष्ठायपि रामाय तस्याधिपतिः रेवतः । श्रीमानिति । अमृत एव । दत्तवान् इति पुरा नवमस्कन्धे निरूपितम् । रेवतीनाम तस्य कन्या, स हि पूर्वं ब्रह्मणं प्रष्टुं अस्य विचारस्तत्रैव कृतः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—द्वारिका के समीप वाले देश को आनर्त देश कहा जाता है उसका स्वामी रेवत था “श्रीमान्” से बताया कि वह अमृत ही था उसका कन्या रेवती नाम वाली थी वह पहिले ब्रह्मा से पूछने गया कि मैं अपनी कन्या किस को दूँ ? तब ब्रह्मा ने कहा कि यह बलरामजी को दो इस लिए छोटा होते भी राम को दी यह आगे नवम स्कन्ध में निरूपण हुआ है इसका विचार वहाँ ही किया है ॥ १५ ॥

आभास—भगवते। विवाहमाह भगवानपीति ।

आभासार्थ—“भगवानपि” इस श्लोक में भगवान् का विवाह कहते हैं ।

श्लोक—भगवानपि गोविन्द उपपेमे कुरुद्वह ।

वंदर्भी भीष्मेकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे कुरुद्वह गोविन्द भगवान् ने भी स्वयंवर में लक्ष्मी की अंश रूप विदर्भ देश में उत्पन्न भीष्म की कन्या से विवाह किया ॥१६॥

सुवोधिनी—ननु स्वतःसिद्धलक्ष्मीकस्य निरिन्द्रियस्य प्रयाजनाभावार्त्तिक विवाहेनेत्याशङ्क्य परिहरति । यद्यपि भगवान्, तथापि गोविन्द इति इन्द्रादिभिरिन्द्रत्वेनाभिषक्ति इति तेषां वाक्यसिद्धयर्थं मुपयेमे, विवाहं कृतवान् न तु गोपिकावत्परिग्रहमात्रम् । कुरुद्वहेति संवोधनं भगवत्स्वरूपज्ञानाय । ननु तथापि कर्मणा उत्पादिता कर्मफलरूपा ताहशकर्मकर्त्रेव विवाह्येति कथं भगवता विवाहः कृत इति चेत् तवाह वेदमामिति । विदग्धदेशे सोत्पशा । अतो न कर्मजनिता । किञ्च । भोष्मकस्य सुता, भोष्मं

भयानकं कं सुखं यस्येति । प्रलयकर्ता महादेव एवावतोरणः, तस्य च सुता सीता पूर्वजन्मस्य प महादेवकन्यैव, संवेदानो भोष्मकाज्जाता । अतो विवाहः कर्तव्य एव । किञ्च श्रियो मात्रामिति । सा हि लक्ष्म्याः मात्रा भवति अंशः, नहि तामन्यो ग्रहोतुं शक्तः । सा ह्यवतरति यथा, यथा भगवानवतरति । 'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनी'त्यादिवाक्यात् । तत्रापि स्वयंवरे यदा सर्वं एव राजान आहूताः, तदा भगवानप्याहूतः । यदा तथा भगवान् वृतः, ततस्तदिच्छया विवाहं कृतवान् ॥ १६ ॥

व्याख्यानार्थ—जिसके यहाँ लक्ष्मी स्वतः ही सिद्ध है और जो स्वयं इन्द्रियों से रहित है उसको विवाह करने का कोई प्रयोजन नहीं फिर उन्होंने विवाह क्यों किया ? हालांकि भगवान् है तो भी गोविन्द है, क्योंकि इन्द्र आदि ने आपका इन्द्रपन से अभिषेक किया है उनका वाक्य सत्य होवे इसलिए विवाह किया है नहीं कि गोपिकाओं की तरह केवल परिग्रह "अंगोकार" हा किया है, राजा को "कुरुद्वह" सम्बोधन से यह जताया कि आपको भगवान् के स्वरूप का ज्ञान है यह कर्म मे उत्पन्न हुई है कर्मों का फल रूप यह है इसलिए इसका विवाह भी वैसे कर्म करने वाले के साथ ही होना चाहिए भगवान् से इसका विवाह कैसे ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि वह विदग्ध देश में उत्पन्न हुई है अतः इसका जन्म कर्म से नहीं हुआ है और भोष्मक की कन्य है और भोष्मक रूप में प्रलय कर्ता महादेव ने ही अवतार लिया है उसको यह कन्या है सीता पूर्व जन्म में महादेव की कन्या थी वह ही अब भोष्मक की कन्या हुई अतः विवाह करना चाहिए और विशेष यह भी है कि यह लक्ष्मी का अंश भी है इसलिए इसको दूसरा कोई ले नहीं सकता है जैसे भगवान् अवतार लेते हैं वैसे ही यह भी अवतार लेती है "राघवत्वे भवत्सीता रुक्मिणी कृष्ण जन्मनि" जब भगवान् राम रूप से प्रकट होते हैं तब यह सीता रूप से प्रकट होती है और जब भगवान् कृष्ण रूप से प्रादुर्भूत होते हैं तब यह रुक्मिणी होती है उसमें भी स्वयंवर के समय में जब सब राजा जैसे बुलाए गए वैसे भगवान् भी बुलाए गए वहाँ भगवान् को रुक्मिणी ने स्वयं वरा अनन्तर उसकी इच्छा से विवाह किया ॥१६॥

श्लोक—प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चंद्रपक्षगान् ।

पश्यन्तां सर्वलोकानां ताक्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥१७॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल और उसके पक्षपाती शाल्व आदि राजाओं का बध कर जैसे गरुड़ ने सुध लो गेमे आप सर्व लोकों के देखते हुए रुक्मिणी को ले आए ॥१७॥

सुवोचिनो—किञ्च, प्रमथ्य तरसा राज पातिनो जाता इति । किञ्च । प्रद्युम्नादयो-
इति । सर्वानिव शिशुपालादीन् प्रमथ्य मार-
यित्वा जयप्राप्तामिव तां नीतवान् । शाल्वादि-
योऽतिविरोधिना बलिष्ठाश्च । तं सह युद्धे
विशेषहेतुमाह चैद्यपक्षगानिति । 'स्वयं वरेऽपि
शिशुपालाय यथा भविष्यति । तथा कर्तव्यमिति
रुक्मिणा कथयान् विवाहकृतं शिशुपालः समागतः ।
अतस्तद्धितार्थमपि शाल्वादिभ्यः प्रवृत्ताः । मुख्यो
भगवद्विरोधो शिशुपालः । अन्येऽपि विरोधिनः
यथाकथञ्चिद्भगवद्विरोधं सम्पादयन्तु' तत्पक्ष-
पातिनो जाता इति । किञ्च । प्रद्युम्नादयो-
ऽप्युत्पाद्याः । अतः कामः सङ्कटे वर्तत इति
तदुत्पत्त्यर्थं मप्युपयेम इत्याह पश्यतां सर्वलोकाना-
मिति । यथा मातुरापन्नवृत्त्यर्थं गरुडः अयुक्ते-
भ्योऽप्यमृतं दातुं प्रवृत्तः, तथा भगवानपि
कामस्य दुःखनिवारणार्थं वैदर्भी अयुक्तामपि
स्वयं गृहीतवान्, मारितवांश्चान्यान् । यद्ययुक्त-
मेतदभवेत्, तदा लोकाः साक्षिण इति तान्
प्रमाणीकरोति । एवं सर्वप्रकारेण भगवतो
विवाहो निरूपितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—और विशेष "प्रमथ्य तरसा राजः" श्लोक में कहते हैं—कि शिशुपाल से लेकर सब को मार कर जीत कर प्राप्त की हुई वस्तु की भाँति उसको ले गए, शाल्व आदि राजा बहुत विरोधी तथा बलिष्ठ भी थे उनके साथ लड़ाई करने में विशेष कारण है वह कहते हैं—"चैद्यपक्षगान्" वे शाल्व आदि शिशुपाल के पक्षपाती थे स्वयम्बर के समय में भी शिशुपाल के लिए जैसा योग्य होगा वैसे करना योग्य है अर्थात् करना चाहिए रुक्मी के कहने से शिशुपाल वर की भाँति आया अतः उसके हित करने के लिए भी शाल्व आदि प्रवृत्त हुए हैं ।

भगवान् का मुख्य शत्रु शिशुपाल है दूसरे विरोधी भी भगवान् से कुछ विरोध करने के लिए उसके पक्षपाती बने हैं और विशेष यह है कि भगवान् को प्रद्युम्न आदि को उत्पन्न करना है इस कारण से तथा काम संकट में है उसके संकट को नष्ट करने के लिए उसकी उत्पत्ति करनी थी इस लिए भी आपने विवाह किया वह विवाह सर्व लोगों के देखते हुए किया, जैसे माता की आपदा मिटाने के लिए गरुड़ ने अयोग्यों को भी अमृत पिलाया वैसे भगवान् ने काम की पीड़ा को काटने के वास्ते अयोग्य भी वैदर्भी को आपने स्वीकार किया और दूसरों को मारा, जो यह अयोग्य हो तो ये सर्व लोक साक्षी हैं उनको साक्षात् बना कर विवाह किया है यों कहने का आशय यह है कि विवाह अयोग्य नहीं यदि अयोग्य होता तो जनता उसकी निन्दा करती अथवा रूकावट डालती यों नहीं किया जिससे सिद्ध है कि विवाह अयुक्त नहीं है यों सर्व प्रकार भगवान् के विवाह का निरूपण किया है ॥ १७ ॥

आभास—तत्र राजा विवाहे पौरुषं श्रोतुं विशेषं पृच्छति भगवान् भीष्मक-
सुतामिति ।

आभासार्थ—इस प्रसंग में राजा, भगवान् ने जो विशेष पौरुष दिखाया उसको
सुनने के लिए “भगवान् भीष्मकसुतां” श्लोक में पूछता है ।

राजोवाच

श्लोक—भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।

राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने सुन्दर मुख वाली भीष्मक की कन्या रुक्मिणी से राक्षस
नियमानुसार विवाह किया ऐसा सुना है ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवतो विवाहः बहुधा पुराणेषु
श्रुतः । ततो राजा स्वयंवरविवाहात्प्रकारान्तरेण
श्रुतवान्, तत्र च पौरुषमधिकमिति, तद्भवति वा
नवेति सन्देहनिवृत्त्यर्थं पृच्छति । भगवत्वाचा-
ज्ञानम् । भीष्मकसुतामिति पितुरपि बलिष्ठता ।
रुक्मिणीमिति भगवतो मुख्यभार्येति प्रसिद्धा ।
ततश्च गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तो
स्मृताविति प्रथमो विवाहो धर्म्यः कर्तव्यः । अन्वो
धर्मित्वार्थं राक्षस एव विवाहः भगवता कृत इति

स एव त्वया वक्तव्य इत्याह राक्षसेन विधाने-
नेति । रुचिराननामिति तस्या मुखभावो निरू-
पितः । ततश्च राक्षसे विवाहे सा कथमनुगुणा
अभीतागतेत्यपि सन्देहः । ‘प्रसह्य कन्याहरणं
राक्षसो विधिरुच्यते’ इति विधिशब्दः परस्वहरण-
नक्षणदोषव्यावृत्त्यर्थः । यथा विवाहः दाने
अदुष्टः, एवं हरणेऽपि क्षतियस्येतिज्ञापनार्थः ।
श्रुतमिति प्रमाणमुपन्यस्तम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पुराणों में सुना है कि भगवान् ने अनेक प्रकार से विवाह किए हैं इस कारण से राजा
ने जैसे स्वयंवर में विवाह हुआ उससे दूसरे नपूने के विवाह सुने हैं उसमें पराक्रम अधिक सुना, वह हुआ
है वा नहीं हुआ है इस सन्देह को मिटाने के लिए राजा पूछता है षड्गुण सम्पन्न होने से भगवान् में
अज्ञान भी नहीं है भीष्मक की कन्या है इसलिए पिता भी बलिष्ठ है रुक्मिणी भगवान् की भार्याओं
में से मुख्य भार्या है पहिला विवाह है तो धर्मानुसार करना चाहिए इस कारण से भगवान् ने पहिला
विवाह अपना धर्मीपणा सिद्ध करने के लिए धर्मानुसार ही किया है यह हो आप मुझे बताना कि
वह धर्म्य विवाह जो “राक्षस विधि” के अनुसार किया वह किस प्रकार किया क्षत्रो के लिए गान्धर्व
और राक्षस विवाह धर्मानुकूल है जैसा कि कहा है “गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तो स्मृतौ”

रुक्मिणी का विशेषण "हरिचराननाम्" देकर उसका मुग्ध भाव प्रकट किया है राक्षस विवाह में वह निभय होकर कैसे आ गई ! यह भी सन्देह है "प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरुच्यते" जबरदस्ती से कन्या को हरण कर ले आना राक्षसों की विधि है दूसरे का धन वा स्त्री हरण कर लाना तो दोष है फिर भगवान् ने यह दोष कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि दोष नहीं है क्योंकि क्षत्रियों के लिए इस प्रकार कन्या हरण कर ले आना दोष नहीं है क्योंकि क्षत्रियों के लिए वह विधि है विधि होने से दोष नहीं है जैसे पराई कन्या से जो विवाह किया जाता है वह इसलिए दाष रहित है जो माता पिता विधिनुसार अपनी कन्या वर को दान कर देता है इस प्रकार हरण में भी क्षत्रि को दोष नहीं है "श्रुतम्" सुना है यह पुराण प्रमाण में दिया है ॥१८॥

आभास—अतस्तत्र प्रकारं पृच्छति भगवन् श्रोतुमिच्छामिति ।

आभासार्थ—अब राजा उस प्रकार "भगवन् श्रोतुमिच्छामि" श्लोक में पूछता है—

श्लोक— भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः ।

यथा मागधशाल्वादीञ्जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे भगवान् जिनके तेज का अन्दाजा कोई नहीं लगा सकता वैसे श्रीकृष्ण के उस चरित्र को सुनना चाहता हूँ जिसमें मगध शाल्व आदि को जीत कर जैसे कन्या को वे ले आए ॥१६॥

सुवोधिनी—अनेनाग्रे वक्ष्यमाणा कथा अध्यायत्प्रात्मिका न समाधिभाषेति सूचितम् । अन्यत्र श्रुतमेव कल्पान्तरीयमपि योगानुभावेन वक्तव्यमिति प्रश्नात्, अन्यथा स्वतन्त्रवक्तुः किं पूर्वश्रुतप्रकारकथनेनेति । अतः श्रोतुरनुरोधात्कल्पान्तरीयमपि गान्धर्वं राक्षसवैधभेदेन त्रिधा त्रिभिरध्यायेवंक्षयति । तेनात्र प्राप्तं दूषणत्रयं परिहृतं भविष्यति । भगवान् कपटेन गत्वा अदत्तां हतवानिति, तस्या भ्रातुमुण्डं कृतवानिति, बलभद्रेण बोधित इति रुक्मिण्याश्च लज्जाभावेनाप-

रिचितभगवत्प्रार्थनेति । एवं सति रसात्मको विवाहो न भवेत् । भक्तिरसो हि शृङ्गारादीनामुपमदकः । अतः समाधिभाषाविवाहः स्वयंवर एव । अन्यस्तु मतान्तरीय इति निश्चयः । ननु अप्रस्तुतं किमिति वक्ष्यतीति चेत्, तत्राह श्रोतुमिच्छामिति । इच्छा पूरणीयेति तदर्थं वक्ष्यति । किञ्च, इयमपि कथा कृष्णस्य । अमितं तेजो यस्येति । पराक्रमाधिक्याच्च तद्वक्तव्यम् । क्षत्रियाणां हि क्षात्रप्रकारेण निरूपितं भगवच्चरित्रं मनोहारि भवति । तदाह यथा

मागधशात्वादीनिति । मागधोऽपि जयं प्राप्त इति स निरूप्यते । शात्वः सात्त्विको महान्श्च । एतं जयेन स्वभावेन च महान्तो आदिभूतो येषामिति जयशीलवोरजयो भगवत्कृतः श्रोतव्य इति निरूपितम् । तदाप्येक एव स्वयं तान् जित्वा स्वयं कुशलेन पुरं द्वारकामभ्यगादिति । तदाप्येकस्मिन्कल्पे, तत्सर्वथा विरुद्धं मन्वानः शुको नोक्तवान्, तदा तु भगवानपि समाहूतो गतः । वरणात्पूर्वमेव वलात्तां हृत्वा सर्वान् विनिजित्य

एकाकी स्वयं गृहं गत इति कथा भवति । तत्र यद्यपि पौरुषं महत्, तथाप्यत्यन्तं क्लिष्टकर्मत्वं भवतीति तन्नोक्तवान् । तामसकल्पे हि तथा कथा । अत एव शिशुपालो वक्ष्यति 'समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्त' इति । अक्लिष्टकर्मत्वं च वक्तव्यम् । अतो यावता तदुपयुज्यते, तावदक्लव्यमिति राक्षसो विवाह उक्तः, नत्वेकाकिहरणम् । अनेनेनं ख्यापितम् । पृष्ठमधुक्तं चेत्, न वक्तव्यमिति ॥१६॥

व्याख्यान—यों बहकर यह बता दिया कि आगे तीन अध्यायों में जो कथा आने वाली है वह समाधि भाषा नहीं है क्योंकि प्रश्न ही इस प्रकार किया है हुई दूसरी जगह सुनी हुई दूसरे कल्प की भी योग के अभाव से कहाँ यदि यों न होता तो स्वतन्त्र कहने वाले को यह कह देने की आवश्यकता ही नहीं थी कि पूर्वा सुने हुवे प्रकार से कहिए अतः सुनने वाले के आग्रह से दूसरे कल्प को भी गान्धर्व राक्षस और गौदिक विधि के भेद से तीन प्रकार तीन अध्यायों से कहेंगे उससे यहाँ दिए हुए तीन दूषणों का भी परिहार हो जाएगा १-भगवान् कपट से जा कर जो पिता आदि ने दो न थी उसका हरण कर लाए २-बलभद्र के समझाने से उसके भाई का मुण्डन किया ३-और हविमणी ने लज्जा त्याग कर बिना पहचान वाले भगवान् को पत्न द्वारा प्रार्थना की इस प्रकार होने से विवाह रस रूप नहीं होता है भक्ति रस शृंगार रस आदि रसों का उपमर्दन करने वाला है अतः समाधि भाषा विवाह स्वयं-वर ही है दूसरे प्रकार का विवाह अन्य मत के है यह निश्चय है जिसका प्रसंग ही नहीं है वह क्यों कहा जाएगा ? यदि ऐसा कहो तो उत्तर में कहते हैं कि सुनने वाले को वैसे इच्छा है सुनने वाले की इच्छा पूर्ण करनी चाहिए इसीलिए कहेंगे विशेष में यह कथा भी श्रीकृष्ण की ही है अधिक पराक्रम के कार्य होने से वह कहना चाहिए क्षत्रिय प्रकारानुसार वर्णन करने से भगवान् के क्षत्रिय चरित्र मन को हरण करने वाले होते हैं शिशुपाल ने बहुत युद्धों में जय पाई है शात्व और सात्त्विक भी महान् है इस प्रकार जो जय से और स्वभाव से आदि में ही वैसे वीर हैं उनको जीतना यह भगवान् का किया हुआ चरित्र श्रवण योग्य है इसलिए निरूपण किया है इसमें भी आप अकेले वे बहुत उनको जीतकर आप कुशल पूर्वक अपने पुर द्वारका में आ गए वह भी एक ही कल्प में वह सब था विरुद्ध जानकर शुकदेवजी ने नहीं कहा तभी तो भगवान् भी बुलाए हुवे गए थे वरण से पहिले ही बल पूर्वक उसका हरण कर सब को जीतकर अकेले आप ही घर गए यों कथा बनती है यद्यपि इसमें भगवान् का महान् पौरुष दिखता है किन्तु तो भी अत्यन्त क्लिष्ट कर्म होने के कारण शुकदेवजी ने सही कहा है यह ऐसी कथा तामस कल्प में हुई है इस कारण से ही जितना वह योग्य बन सकता है जितना ही कहना चाहिए इसलिए राक्षस विवाह कहा नहीं कि अकेले हर ले जाना इससे इस प्रकार प्रसिद्ध किया जो मैंने पूछा वह योग्य न हो तो मत कहिए ॥१६॥

आभास—ननु कथा भगवतो महती वक्तव्या, ततश्च अत्यावश्यककथैव श्रोतव्येति चेत् तत्राह ब्रह्मन् कृष्णकथा इति ।

आभासार्थ—भगवान् की कथा तो वह कहनी चाहिए जो उत्तम होवे और जो अति आवश्यक सुनने जैसी हो वह ही सुननी चाहिए यदि यों कहो तो उसका उत्तर "ब्रह्मन् कृष्ण कथाः" श्लोक में देते हैं !

श्लोक—ब्रह्मन्कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ।

को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् भगवान् कृष्ण की कथाएँ पवित्र मधुर और जगत के मल को दूर करने वाली है तथा नित्य नवीन है इसलिए जो सुनकर उसके तत्व को जान लेता है वह सुनते हुवे तृप्त नहीं होता है अर्थात् कथा के सार रूप रस को जानने वाला कौन ऐसा है जो तृप्त होवे ? कोई नहीं ॥२०॥

<p>सुबोधिनी—ब्रह्ममिति ज्ञानमुक्तम् । कृष्ण- कथात्वात् कीर्तने श्रवणेऽपि वैराग्याभाव उक्तः । किञ्च । प्राणिनो हि धर्मार्थकाममोक्षेप्सवः । तत्र कृष्णकथाश्चतुर्णां प्रतिरूपा इत्याह । पुण्या इति धर्मरूपाः । माध्वोरिति कामरूपाः । लोकानां मलं दारिद्र्यवत् कश्मलरूपं हरन्तीति लोकमलापहाः । एवं त्रिवर्गरूपा इति तदभोष्पुः को नु तृप्येत । नु इति वितर्कं । न कोऽप्यत्र</p>	<p>विरक्त इति भावः । तर्हि कथं सर्वे न प्रवर्तन्त इति चेत्, तत्राह शृण्वान इति । सकृच्छ्रु- त्वापि निवर्तन्त इति चेत् । श्रुतज्ञ इति । वर्तमानप्रयोगेण निरन्तरश्रवणे प्राप्तेऽपि श्रवणर- सिकोऽत्र मुख्य इति श्रुतं जानाति । रसिकत्वे नेति श्रुतज्ञ उक्तः । रसज्ञ इति पाठे तु स्पष्ट एव । किञ्च । नित्यनूतनाः अयातयामाः काल- प्रासरहिताः । तेन मोक्षरूपा अपीत्युक्तम् ॥२०॥</p>
--	---

व्याख्यार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप ज्ञानवान हो इस तत्व को जानते हैं कि यह कथा "ज्ञान" रूप है श्रीकृष्ण की कथा होने से इसके कीर्तन में और श्रवण में किसी को भी वैराग्य नहीं होता है, अर्थात् सब प्रकार के देवी जीव सुनने की इच्छा करते हैं, क्योंकि प्राणो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ को अभिलाषा वाले होते हैं और कृष्ण की कथाएँ चारों पुरुषार्थों को ही मूर्ति हैं, "पुण्याः" विशेषण से उसका धर्म रूप कहा है "माध्वी" विशेषण से काम रूप है जैसे अर्थ दरिद्रता मिटाता है, जैसे ये कथाएँ लोको के कश्मल रूप दारिद्र्य को मिटाती है अतः अर्थ रूप है इस प्रकार त्रिवर्गरूप हैं, इनकी इच्छा वाला कौन ऐसा है जो तृप्त (२१)

होगा अर्थात् कोई भी इससे विरक्त न होगा, यदि यों है तो सब वयों नहीं इसमें प्रवृत्त होते हैं ? एक वार सुनकर निवृत्त हो जाते हैं यदि यो कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि वे निवृत्त हो जाते हैं जो सुने हुवे चरित्र के रस को नहीं समझते और जो समझते हैं वे विरक्त नहीं होते हैं उनकी ही इसमें प्रवृत्ति बनी रहती है इसलिए कहा है "श्रुतज" वर्तमान प्रयोग देकर यह बताया है कि यदि निरन्तर श्रवण का अवसर प्राप्त होते हुवे भो वह श्रवण का रस जानने वाले ही मुख्य श्रोता होता है इन कथाओं को काल अपना ग्रस नहीं बना सकता इसलिए मोक्ष रूप भी है ॥२०॥

आभास—एवं राज्ञः श्रवणोत्सुवयं दृष्ट्वा स्वयोगबलेनैव दृष्टमिति अन्यतः श्रुतत्व-
मनुक्त्वापि कथामेवारभते राजासीदिति ।

अभासार्थ—इस प्रकार राजा को श्रवण की उत्सुकता देख कर अपने योगबल से ही जो देखा वही कथा प्रारम्भ करते हैं दूसरे से सुनी हुई नहीं कहते है "राजसीत्" श्लोक से प्रारम्भ करते हैं ।

शोशुक उवाच—

श्लोक—राजासीद्भोग्मको नाम विदर्भाधिपतिमहात् ।

तस्य पञ्चाभवन्पुत्राः कन्यका च वरानना ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि विदर्भदेश का महान् राजा भीष्मक नाम वाला था जिसके पाँच पुत्र और एक सुन्दर कन्या थी ॥२१॥

सुबोधिनी—आसीदित्येषा पुरावृत्तकथेति निरूपितम् । भीष्मक इति नाम प्रसिद्धेर्धे । तस्यान्यत्र स्थित्यभावात् तुल्यधर्माः सर्वे त एवेति निदिशति विदर्भाधिपतिरिति । महानिति महत्त्वेन सत्यादयो गुणाः एकचत्वारिंशदतिदिष्टाः । अयमर्थः पूर्वस्माद्विशिष्टः । 'अध्रातृमती न विवाह्येति तदर्थं भगवतः पञ्चपूर्वाविद्यायाः पञ्च देवाः मायाकार्यरूपाः लक्ष्म्या अप्यग्रे उत्पन्ना इति तान् निरूपयति तस्य पञ्चाभवन्पुत्रा इति । 'मायया मे विनिर्मिता' इति । 'रमापि रूपं वद्रे द्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति माया'

मिति लक्ष्म्या मायारूपत्वात् मायाकार्यत्वाच्चा-
विद्यायाः तत्सहिता माया तत्र प्रादुर्भूता । अत-
एव सा जीवमेव व्याप्नोतीति मायामपि जीवपरां
कर्तुं स्वमी विचारितवान् । अत एव स्वमिण्या
स्वमिप्रभृतिषु पक्षपातः, भगवत्कृते अपरितोषश्च ।
स्वरूपाज्ञाने निराकृते पञ्चान्निरोधः फलिष्य
तीति । भगवदीयेषु तस्य प्रतिष्ठाभावाय मुष्टित-
वान् । तस्य भीष्मकस्य पञ्च पुत्रा अभवन्,
एका च कन्या । वराननेति । लोके सौन्दर्य
प्रशस्तमिति सौन्दर्यं मुग्धभागं च निरूपयन्नाह ।
दया च मुग्धभावे निरूपिता ॥२१॥

व्यायार्थ—“आसोत्” क्रिया पद से बताया कि यह पूर्व समय की कथा है “भोष्मक” नाम प्रसिद्धि के लिए दिया है वह दूसरे स्थान^१ पर नहीं रहते थे उसके साथ वाले सर्व तुल्य धर्मा हैं, इसलिए विदर्भ देश का स्वामी कहा है “महान्” विशेषण से यहाँ दिखाया है कि इसमें सत्य आदि ४१ गुण हैं यह अर्थ^२ पहिले से विलक्षण है, “अध्रातुमती न विवाह्या” जिस को भाई न हो उससे विवाह नहीं करना चाहिए इस कारण से भगवान् के पञ्चपवात्मिक अविद्या के माया कार्य रूप पांच देव लक्ष्मों से प्रथम उपपन्न हुए यों उनका निरूपण करते हैं उसको पांच पुत्र हुए “मायया मे विनिर्मिताः” इस वाक्य के अनुसार रमाने भी मानो दूसरा रूप धारण किया जिसको “माया” कहते हैं इस प्रकार लक्ष्मी माया रूप है और माया का कार्य अविद्या है, उस समेत माया वहाँ प्रकट हुई है, इस कारण से ही वह जीव को पकड़तो है, इसलिए रुक्मि ने माया रूप का जीव से सम्बन्ध कराने का विचार किया अतः रुक्मिणी का रुक्मी आदि में पक्षपात था और भगवान् के लिए सन्तोष नहीं था जब रुक्मिणी का अपने स्वरूप का अज्ञान मिटा कर ज्ञान होगा तब निरोध फलेगा भगवदीयों में रुक्मी की प्रतिष्ठा का अभाव हों इसलिए उसका मुण्डन किया उस भीष्मक को पांच पुत्र हुए और एक कन्या हुई वह ऐसी सुन्दर थी जो लोक में उसके सुन्दरता को प्रशंसा करते थे तथा “दया”^३ पद से उसके मुग्ध भाव का भी निरूपण किया है ॥२१॥

आभास—तानु नामतो निर्दिशति रुक्म्यग्रज इति ।

आभासाथ^१—उन पाँचों पुत्रों के नाम “रुक्म्यग्रजो” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः ।

रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मण्येषां स्वसा सती ॥२२॥

श्लोकार्थ—सबसे बड़े भाई का नाम रुक्मी फिर रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और पांचवा रुक्ममाली था इनकी बहिन सती रुक्मिणी थी ॥२२॥

१—भीष्मक महादेव का अवतार है जिससे उसका कर्म से सम्बन्ध नहीं है तथा उसके साथी भी कर्म सम्बन्ध रहित हैं इसलिए वह अन्यत्र नहीं रहता है ।

२—पहले का विवाह समाधि भाषा है यों कह कर वहाँ “वैदर्भी” नाम देने से बताया कि उसके पिता भीष्म का कर्म से सम्बन्ध नहीं है यह उसकी महानता विशेष रूप से दिखाई है ।

३—बहिन दया की मूर्ति है इस उक्ति के अनुसार ध्राताओं के निरूपण के साथ बहिन का निरूपण करने में उसका “दयारूप” कहा ।

सुबोधिनो कनेः स्थानं पञ्चात्मकं सुव-
र्णमिति तन्नामानः सर्व एव । अत एवाग्रे
भगवान् वक्ष्यति 'तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां
भजन्ती'ति । अग्रजो ज्येष्ठः स्वमी सुवर्ण-
सदृशः, वस्तुतो नाम तथा योगं नापेक्षते ।
स्वमरथ इति द्वितीयः । स्वमवाहुस्त्वृतीयः ।
अनन्तर इति त्रयाणामेकप्रकृतिकत्वम्, अन्येषां

स्वमिणासहितानां भिन्नप्रकृतिकत्वमिति
त्रयाणां निरूपणानन्तरमुक्तम् । अनन्तरमिति
सर्वत्र सम्बध्यते । स्वमकेशश्चतुर्थः । स्वम-
माली पञ्चमः । एतेषां योगानुसारेणाप्यर्थः
स्वयमूह्यः । एषां स्वसा एकमातृका प्रिय-
भगिनी च स्वमिणी । यथैते दुष्टाः, तथा
सापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह सतीति ॥२॥

व्याख्यार्थ—कलि के रहने का स्थान स्वर्ण है, वह पञ्च रूप होता है, अतः ये पांच भी
उसके नाम वाले 'इसलिए भगवान् आगे कहेंगे कि 'तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति' इसी
कारण से बहुत कर घनवान् मेरा भजन नहीं करते हैं ।

प्रथम जन्मा हुआ बड़ा स्वमी सुवर्ण के समान है, सचमुच जैसा नाम है वैसे योग की अपेक्षा
नहीं करता है, स्वमरथ यह दूसरा स्वमवाहु तीसरा ये तीन ही एक प्रकृति वाले हैं शेष दो दूसरी
प्रकृति वाले हैं इसीलिए अनन्तर पद दिया है उन एक प्रकृति वाले तीनों के नाम देने के बाद इन
दो का और स्वमिणी का प्रथक् नाम कह कर बताया है कि इनकी दूसरी प्रकृति है, स्वमकेश
चौथा और स्वममाली पांचवा था इनका योग के अनुसार अर्थ आप ही समझ लेना चाहिए इनकी
प्यारी बहिन स्वमिणी भी एक ही माता से उत्पन्न हुई है, अतः वह भी उन जैसी दुष्ट होगी ?
इस शंका को मिटाने के लिए इसका विशेषण "सती" देकर इसकी दुष्टता का निषेध किया है ॥२॥

आभास—एवं तस्या उत्पत्तिमुक्त्वा, तस्यां भगवतः, भगवति तस्याश्च, गान्धर्वं
विवाहं वक्तुं स्नेहं निरूपयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वमिणी की उत्पत्ति कह कर अब दो श्लोकों से भग-
वान् का उसमें स्नेह है उसका भगवात् में स्नेह है इसकी गान्धर्व विवाह करने में
हेतु वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ।

गृहागतैर्गोपमानास्तं मेने सहशं पतिम् ॥२३॥

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणान्विताम् ।

कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्रोद्भूतं मनो दधे ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह रुक्मिणी घर में आये हुए विद्वान् ब्राह्मण आदि से गाए हुए श्रीकृष्ण के रूप, वीर्य, गुण और वैभवों को सुन उनको ही अपने योग्य पति समझा ॥ २३ ॥

इसो प्रकार भगवान् ने भी उसको “रुक्मिणी को” बुद्धि के लक्षण, उदारता, सुन्दर रूप और शील तथा गुणों से युक्त जान अपने योग्य समझा उससे व्याह करने का मन में निश्चय कर लिया ॥२४॥

मुंबोधिनी—सोपथ्रुस्येति । सा रुक्मिणी मुदुन्दस्य मोक्षदातुः स्वस्यापि पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं भगवद्गुणानेव शृणोति । कन्याया अपेक्षित रूपम्, वीर्यं क्षत्रियाणाम् । विद्यास्थानीयं यशः । कुलस्थानीयां श्रीः लक्ष्मीः शोभा च । तेन धनसमृद्धिः सर्वसमृद्धिश्च सूचिता । एवं वरे योग्यानि पञ्च रूपाण्यप्युक्तानि । अन्तपुरस्थायाः कन्यायाः कुत एतावच्छ्रवणमित्याशङ्क्याह गृहागतैर्गौर्यामाना इति । य एव ब्राह्मणाः विद्ययापजोविनो वा सांघवो वृद्धाः सर्वत्राप्रतिहतगतयः तैः गीयमानाः श्रुत्वा, तमेव भगवन्तं आत्मनः सदृशं पति मेने ॥२३॥

भगवानपि तां सदृशीं भार्यां मेने । तत उद्भोदुमपि मनो दधे । तस्या अपि पञ्च गुणाः । एकविकलापि न ग्राह्या भवति । आदौ बुद्धिमती अपेक्ष्यते । अन्यथा गृहं विनश्येत् । स्त्रीलक्षणरहिता तु सामुद्रशास्त्रविरोधिनी भाग्यरहितव भवति । औदार्याभावे लुब्धा सर्वमेव पुरुषार्थं नाशयेत् । रूपाभावे व्यर्थो विवाहः । शोलाभावे अधर्मं जनयेत् । अतः एते पञ्चापि गुणाः लोके प्रसिद्धिमापन्नाः यस्यां भवन्ति, सा विवाह्या । अन्वयः अव्यभिचारिसम्बन्धः । कृष्णश्चेति चकारः सदृश्यार्थं भगवानपि तादृश इत्याह । अत एव सदृशी । सम्यगुद्वाहः आहूय कन्यादानरूपः । स हि शोभाकारो भवति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वह रुक्मिणी, मैं फिर जन्म के चक्कर में न फूसूँ, इस इच्छा से मोक्षदाता भगवान् के गुणों को ही सुनती है वर में जो गुण कन्या चाहती है, वे सर्व श्रीकृष्ण में हैं ऐसा उसने सुना, १—कन्या को वर पसन्द है जिसका रूप सुन्दर होके यदि क्षत्री होवे तो वीर्य चाहिए विद्या के स्थान पर यश चाहिए और कुल के स्थान पर “श्री” लक्ष्मी चाहिए इससे बहुत धन तथा

सर्व प्रकार की समृद्धि की सूचना दी इसी प्रकार वर में जो पांच रूप चाहिए वे इनमें है यह भी बता दिया कन्या तो अन्तःपुर में भीतर ही रहती है उसने श्रीकृष्ण के गुण कहां से और कैसे सुने ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा कि "गुडागतैर्गीयमानाः" घर में जो ब्राह्मण विद्या से आजीविका करने वाले आते थे और साधु तथा वृद्ध आते थे क्योंकि उनको कहीं भी चले जाने की रुकावट नहीं थी और वे श्रीकृष्ण के गुण गान करते थे उनसे सुनती थी, गुणों के सुनने से उसने भगवान् को ही अपने योग्य पति समझा ।

भगवान् ने भी उसको अपने योग्य पत्नी समझा इसी कारण से उससे विवाह करने में मन लगाया उसमें भी पांच गुण थे यदि इन पांचों से एक भी कम हो तो वह कन्या ग्रहण करने योग्य नहीं है पहिले बुद्धि वाली चाहिए यदि सयानी नहीं हो तो घर का नाश हो जाता है स्त्री लक्षणों से जो रहित है वह सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए गुणों से रहित होने से भाग्यहीन ही होती है स्त्री में उदारता का गुण भी चाहिए यदि वह गुण उसमें नहीं है तो लोभिन होने से सर्व पुरुषार्थों को नाश करेगा, यदि रूप नहीं है तो विवाह व्यर्थ है यदि चरित्र अच्छा नहीं है तो अधभ को उत्पन्न करेगा अतः ये पांच गुण जो लोक में प्रसिद्ध हैं वे उसमें हो तो उससे विवाह करना चाहिए, जिसमें उपरोक्त पांच गुण मिले हुए हैं उसमें किसी प्रकार व्यभिचारि सम्बन्ध नहीं होगा "च" पद का भावार्थ यह है कि कृष्ण भी पांचों गुणों से युक्त होने से वैसा ही योग्य है अतः यह भी समान ही है उस विवाह को उत्तम विवाह कहा जायगा कन्या का पिता बुना कर कन्यादान कर देवे वह ही शोभा बढ़ाने वाला विवाह है ॥२४॥

आभास—तन्न जातमित्याह बन्धूनामिच्छतां दातुमिति ।

आभासार्थ—बान्धवों की इच्छा थी कि वहिन, कृष्ण को दी जावे किन्तु वैसा नहीं हुआ जिसका वर्णन "बन्धूनामिच्छतां दातु" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ।

ततो निवार्य कृष्णद्विड् स्वमी चैद्यममन्यत ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे राजा सब भाई तो अपनी वहिन कृष्ण को देनी चाहते थे, किन्तु कृष्ण के बैरी स्वमी ने उससे फेर कर चैद्य राजा को देनी मंजूर की ॥२५॥

सुबोधिनी—बान्धवाः पितादयः कुलसम्ब- | देव फलरूप इति । तत्र स्वमी वरत्वेन भगवन्तं
न्धिनः दातुमिच्छतां सताम्, यतः कृष्णः सदा- | निवार्य, चैद्यं शिशुपालमेवामन्यत । स्वरूपा-
नन्दः, अन्ये गुणाः फलसाधकाः, अयं तु साक्षा- | ज्ञानेन हि स्वकार्यं साधनीयम् । तत्र पूर्वजन्मनि

सीतार्थमेव रावणो हतः । तस्यामपिनिविष्ट- कृष्णाद्वा निवार्यं, यतः कृष्णद्विट् । न हि तस्य
चित्त एव प्राणान् जहौ । अतो लोकविचारेण स्वरूपनाशको भगवान् हितो भवति । अतः
तस्मै देयेति भवति । भगिनीत्वादस्य प्रावत्यम् । शतृणां मध्ये मुख्य इति चैद्य एव वरत्वेन स्वी-
नृपेति सम्बोधनं राज्ञे राजकन्या देयेति तस्या- कृतः । अनेन सर्वेषामेव तत्र सम्मतिरपि जातेति
भिप्रायस्त्वया ज्ञायत एवेत्येतदर्थम् । ततो हेतोः सूचितम् । राजा कुलीनः सोऽपि महानिति ॥२५

व्याख्यार्थ—पिता आदि से लेकर सब कुल के सम्बन्धी भी कृष्ण को देने की इच्छा वाले थे क्योंकि कृष्ण सदानन्द है दूसरे गुण फलों को सिद्ध करने वाले हैं ये तो साक्षात् ही फल रूप है वहाँ रुक्मी ने भगवान् वर हो यह न मान कर शिशुपाल को वररूप मान लिया, स्वरूप के अज्ञान से ही अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए वहाँ पूर्व जन्म में सीता के लिए हो रावण को मारा था उसमें पूर्ण रीति से आसक्त चित्त होने से ही रावण मरा अतः लोक विचार से उसको देनी चाहिए यों होता है । रुक्मिणी का बड़ा भाई है इस लिए उसकी प्रबलता है, हे नृप ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि राजा को कन्या राजा को देनी चाहिए यह इसका अभिप्राय आप जानते हो हैं इस कारण से रुक्मी ने कृष्ण से सगाई टाल कर शिशुपाल को सगाई स्वीकार करली क्योंकि रुक्मी कृष्ण का द्वेषी था उसके स्वरूप का नाश करने वाले भगवान् मित्र नहीं हो सकते हैं अतः शत्रुओं में यह मुख्य है यों समझ कर चैद्यको वरपन से स्वीकार किया. इस प्रकार कहने से सर्व को इसमें सम्मति हो गई यह भी सूचित कर दिया कि राजा कुलीन तथा महान् है ॥२५॥

आभास—तद्वेत्सिमग्या अनभिप्रेतमिति स्वात्मानं भगवद्गामिनं कर्तुं मिधेत्त्याह तदवेत्येति ।

आभासार्थ—शिशुपाल मेरा वर हो यह रुक्मिणी को पसन्द नहीं था इसलिए अपने को भगवान् ग्रहण करे ऐसी मनमें इच्छा की और उसके लिए प्रयत्न किया जिसका वर्णन “तदवेत्यासितापाङ्गी” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तदवेत्यासितापाङ्गी वंदर्भो दुर्मना भृशम् ।

विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब रुक्मिणी ने यह जान लिया तब वह श्याम कटाक्ष वाली रुक्मिणी बहुत उदास हुई विचार कर किसी विश्वास पात्र ब्राह्मण को कृष्ण के पास जल्दी भेज दिया ॥२६॥

सुवोधिनी—आदौ तन्निश्च्यत् भृशं दुर्मना जाता । नन्वग्रे भगवत्प्रापकाणि कर्माणि कृत्वा भगवन्तं प्राप्स्यति, किमित्युद्वेग इति चेत् । तत्राह वैदर्भीति । नास्यां कर्माण्युत्पद्यन्त इति । किञ्च । असितापाङ्गी परमसुन्दरी, परमसुन्दर एव युक्ता भवति, न तु जीवे कुरुपे । अतः आदौ दुर्मना भूत्वा पश्चादुपायचिन्तायां मित्रे-

णैवैतत्कार्यं कर्तव्यमिति विचार्य, सर्वस्य मित्र गौर्ब्राह्मणो देवश्चेति, तत्रापि गौरज्ञा साधारणी च नात्यन्तं भगवत्पक्षपातिनी । अतो ब्राह्मण एवाप्तोऽस्मिन् कार्ये भवतीति विचिन्त्य, कञ्चिदाप्तं द्विजं गूढार्थसाधकं द्रुतं शीघ्रमेव कृष्णाय प्राहिणोत् । अर्थात् सन्देशानुक्त्वा पत्रिकां वा दत्वा ॥२६॥

व्याख्यार्थ—पहिले सुनी हुई बात का पूर्ण रीति से निश्चय कर बहुत उदास मन वाली हो गई, उदास क्यों हुई ? भगवान् के प्राप्ति को सिद्ध करने वाले कर्म कर भगवान् को वर बना लेगी चित्त की व्याकुलता करने से क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैदर्भी' है अर्थात् विदर्भ देश में उत्पन्न होने से जैसे उस देश में दभं उत्पन्न नहीं होते हैं, वैसे इसमें कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं और विशेष यह परम सुन्दरो है इसलिए जो परम सुन्दर हो उससे ही विवाह करना योग्य है, कि कुरुप जीव के साथ योग्य है अतः पहले उदास हुई पश्चात् विचार करने लगी कि क्या उपाय करूँ ? उपाय का विचार करते ध्यान में आया कि यह कार्य तो मित्र ही कर सकेगा उससे ही कराना चाहिए यों निश्चय कर मित्र को ढूँढने लगी सब के मित्र तीन होते हैं गौ, ब्राह्मण और देव इनमें गौ तो अज्ञ है और साधारण है, भगवान् को बेहद पक्षपात करने वाली नहीं है इस कारण से इस कार्य में सत्यवक्ता विश्वास पात्र ब्राह्मण ही इस कार्य करने में सहायक होगा क्योंकि ब्राह्मण भगवान् के बेहद पक्षपाती है यों पूर्ण विचार कर किसी आप्त गुप्त कार्य को सिद्ध कर देने वाले ब्राह्मण को शीघ्र ही भगवान् के पास भेजा अर्थात् सन्देश देकर अथवा पत्र देकर उस ब्राह्मण का रवानगी की ॥ २६ ॥

आभास—तस्य बहिःकार्यमाह द्वारकां स समभ्येत्येत्यादिदशभिः ।

आभासार्थ—उस ब्राह्मण का बाहिर के कार्य का वर्णन 'द्वारकां स' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—द्वारकां स समभ्येत्य प्रतोहारं प्रवेशितः ।

अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥२७॥

श्लोकार्थ—वह ब्राह्मण द्वारका में पहुँचा और दरवानों से अन्दर भेजा गया वहाँ सोने के सिंहासन पर विराजमान आद्य पुरुष के उसने दर्शन किए ॥२७॥

सुबोधिनी स हि निर्गुण सगुण च कार्य कृतवानिति स शीघ्रमेव द्वारकां समभ्येत्य, पूर्वमेव भगवदुक्तं: प्रतीहारैरन्तः कृष्णसन्निधौ प्रवेशितः, कार्यं साधयितुमागतः, मध्ये स्वपुरुषार्थमपि साधितवानित्याह अपश्यदिति । ननु दर्शनमदान्तरकार्यमेव कुतो न भवेत्, तत्राह आद्यं पुरुषमिति । सर्वस्यापि पतिदर्शनं पुरुषार्थः,

तत्रापि परमः पतिः भगवान्, सर्वे प्रकृतिरूपा इति पूर्वमवोचाम । तादृशो भगवान् कार्यार्थं समागतः व्यग्र एव भविष्यतीति कथं कार्यद्वयमपि सिध्येदित्याशङ्क्याह काञ्चनासने आसीनमिति । उपविष्टत्वादव्यग्रता । सुवर्णसिने चोपविष्ट इति विषयपरिग्रहः । तेन कार्यद्वयसिद्धिरिति भावः ॥२७॥

व्याख्यानार्थ— उस ब्राह्मण ने सगुण तथा निर्गुण दोनों कार्य किए, वह जल्दी ही द्वारका में पहुँच कर पहिले ही भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर ड्योढी वालों से अन्दर भेजा गया क्योंकि कार्य सिद्ध करने के लिए आया है । बीच में अपने पुरुषार्थ भी सिद्ध करने लगा प्रथम जाते ही दर्शन किए दर्शन करना बीच का कार्य क्यों न समझाया जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “आद्यं पुरुषं” दर्शन आद्य पुरुष का किया, वह सर्व के पति हैं, पति का दर्शन सब के लिए पुरुषार्थ है उसमें भी मुख्य पति भगवान् ही है अन्य सर्व प्रकृति रूप है यों आगे कह दिया है वैसे भगवान् तो कार्य के लिए आए हैं इसलिए कार्य में बहुत फसे होंगे, तो दोनों कार्य कैसे सिद्ध होंगे इसके उत्तर में कहते हैं कि वे कार्य में व्यग्र नहीं है, इसलिए स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान हैं, सोने के सिंहासन पर विराजमान से यह भी सूचित किया है कि सर्व विषयों को भी स्वीकार किए हैं, इससे दोनों कार्य की सिद्धि होगी ॥२७॥

आभास—ततस्तस्य सन्माननमाह दृष्ट्वा ब्राह्मण्यदेव इति ।

आभासार्थ—अनन्तर उसके आतिथ्य सत्कार को “दृष्ट्वा” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—दृष्ट्वा ब्राह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् ।

उपवेश्यार्हयां चक्रे यथात्मानं दिवौकसः ॥२८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ब्राह्मण को देख कर अपने आसन पर से स्वयं नीचे उतर कर उसको बिठाकर वैसे उसकी पूजा करने लगे जैसे देव लोग आपकी करते हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—प्रशान्ततरं सन्माननायां स्त्री निमित्तं भवेत् । आर्षज्ञानेन पूजयामपि कृति-मत्सम्भावना स्यात् । ततश्च तदोषानवृत्ति-

धर्मान्तरमेवाह ब्रह्मण्यदेव इति । ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति ब्राह्मणानां हितः समर्थश्च । अतो ब्राह्मणस्य अवरुह्य देवस्यैव पूजां कृतवान् ।

तं प्रकारमाह । निजासनादवह्ना, तत्र ब्राह्मण-
मुपवेश्य, अर्हयामास । प्रकारविशेषजिज्ञासायां
स्वधर्ममतिदिशति । दिवोकसो देवा यथा भग-
वन्तमिति । भगवति गृहमागते इन्द्रः स्वासने ।

भगवन्तमुपवेश्य यावती स्वसमृद्धिः तथा सर्वयव
पूजयति । एवं भगवानपि सर्वसमृद्ध्या पूजितवान्
॥२८॥

व्याख्यार्थ—यदि ब्राह्मण से आने का कारण पूछ पीछे सत्कार करते तो वह सम्मान स्त्री के कारण समझा जाता यदि आर्थ ज्ञान से जानकर पूजा की होती तो वह कृत्रिम पूजा बनती इन दोषों को मिटाने के लिए दूसरा धर्म बताते हैं कि भगवान् ब्राह्मण देव हैं इसलिए भगवान् ब्राह्मण को घर में पधारते देख आसन से नीचे उतर कर देव के समान उसको पूजा करने लगे, वह प्रकार बताते हैं जब ब्राह्मण आया तब भगवान् स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान थे उसकी देखते ही आसन पर से उठे और ब्राह्मण के पास जाकर उस को लेके अपने आसन पर बिठाया बादमें उसकी पूजा की विशेष जानने की इच्छा में धर्म प्रकट कर दिखाते हैं “दिवोकसो देवा यथा भगवन्तं” देव जैसे भगवान् को पूजा करते हैं जैसे कि जब भगवान् स्वर्ग में पधारते हैं तब इन्द्र भगवान् को अपने घर पधारते देख अपने आसन पर भगवान् को विराजमान कर जितनी अपनी समृद्धि पास है उससे भगवान् को पूजा करता है इस प्रकार भगवान् ने भी सर्व समृद्धि से ब्राह्मण का पूजन किया ॥२८॥

आभास—ततस्तस्य राज्ये प्रायेण धर्मो नास्तीति स्वदर्शनफलं तस्य ज्ञानमुपदिश-
तीत्याह तं भुक्तवन्मिति ।

आभासार्थ—उसके राज्य में बहुत करके धर्म नहीं है इसलिए उसको अपने दर्शन का फल, ज्ञान का उपदेश कर देते हैं ।

श्लोक—तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः ।

पाणिनाभिमृशन्पादाग्रव्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥

श्लोकार्थ—जब उसने भोजन कर लिया और मार्ग की थकावट दूर हुई तब सत्पुरुषों की गति भगवान् उसके पास जाके हाथ से पाँवों को चाँपते हुए धर्म से पूछने लगे ॥२९॥

मुद्गाधनी--भोजनपर्यन्त सर्वे उपचाराः शङ्कुचाह सतां गतिरिति । लोकशिक्षार्थमेवं कृताः । ब्राह्मणो हि मुख्यो भोजनप्रियः । ततो करोतीत्यर्थः । ततः पाणिना पादावभिमृशान् भोजनश्रमापनोदनादनन्तरं उपगम्य निकटे रुविमण्यामासत्किरिति ततो व्यग्रः प्रश्नं करिष्य- गत्वा । नन्वेवं ब्राह्मणमात्रे किमिति करोतीत्या- तीत्याशङ्क्य अव्यग्रस्तमपृच्छतेत्याह ॥२६॥

व्याख्याय—भोजन पर्यन्त सब प्रकार की सेवा की ब्राह्मण को सबसे प्रिय भोजन है भोजन के श्रम के निवृत्त होजाने के पश्चात् समीप जाकर हाथ से पादों को चाँपते हुवे क्षुब्ध न हो के घोरज से पूछने लगे, भगवान् होकर भी साधारण ब्राह्मण का भी वैसा सत्कार क्यों करते हैं ? इसके समाधान में कहते हैं कि भगवान् सत्पुरुषों की गति हैं, और लोगों को शिक्षा देने के लिए यों करते हैं ॥२६॥

आभास ज्ञानमुपदिशति कच्चिद्द्विजवरैति पञ्चभिः ।

आभासार्थ—“कच्चिद्द्विजवर” श्लोक से पाँच श्लोकों में ज्ञान का उपदेश करते हैं ।

श्री भगवानुवाच—

श्लोक—कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसंमतः ।

वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे ब्राह्मण श्रेष्ठ वृद्ध पुरुषों के समान धर्म पर तू चल रहा है उसमें कोई रुकावट तो नहीं है सदा संतोषयुक्त मन से उसमें प्रवृत्त हो रहे हो न ? ॥३०॥

मुद्गाधनी—चतुर्भिस्तस्य, एकेन तद्वाजः । चत्वारः पुरुषार्था ब्राह्मणस्य, राज्ञः अर्थकामो नियती, मोक्षो नास्त्वैव, धर्मः संदिग्धः । अतः स एव पृच्छते । आदौ तस्य धर्मं पृच्छति कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ इति । द्विजवराणां मध्ये श्रोत्रियाणां मदी क्रियत इति श्रेष्ठत्वम् । अतः सर्वेषां मित्रभूतत्वात् तथा सम्बोधनम् । यद्यप्ययं धर्मो वर्तते एव, तथापि वृद्धसंमतोऽपि परम्परया

समागतः श्रौतः स्मार्तः वर्तते कच्चित् । किञ्च । स्वपरपीडया क्रियमाणः शुद्धो धर्मो न भवतीति उत्तरकाण्डानुरोधमप्यङ्गीकृत्याह नातिकृच्छ्रे- भेति । अतिकृच्छ्रेण धर्मोऽपि धर्मो न भवतीति । तत्रापि शुद्धमनस एव धर्मो भवति, ब्राह्मणानां मनःशुद्धिः संतोष एवेति तं पृच्छति सदा संतुष्ट- मनस इति । सदा संतुष्टं मनो यस्य ॥३०॥

व्याख्यार्थ—चार श्लोकों से ब्राह्मण का, एक से राजा का धर्म कहते हैं ब्राह्मणों के लिए चारों ही पुरुषार्थ हैं, राजा के लिए दो अर्थ—“अर्थ और काम” मोक्ष नहीं है और धर्म सन्देह वाला है अर्थात् होवे वान भी होवे अतः ब्राह्मण ही पूछा जाता है, प्रारम्भ में उसका धर्म पूछते हैं आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि आप वेदज्ञ विप्रों से मेत्री करते हैं, इस कारण से वह प्राणी मात्र के मित्र हैं जिससे वंसा सम्बोधन दिया है, यद्यपि यह धर्म तो होता ही है तो भी वह वृद्धों की राय के अनुसार परम्परा से चलता आया श्रोत और स्मार्ता भी कुछ होता रहता है कि नहीं ? जिस धर्म में अपने को वा दूसरे को पीड़ा होवे वह किया हुआ धर्म शुद्ध नहीं होता है उत्तर काण्ड के अनुरोध को भी अंगीकार कर कहते हैं कि “नातिकृच्छ्रेण” बहुत क्लेश देने वाला धर्म भा धर्म नहीं है अर्थात् जिस धर्म के करने से अपने को तथा दूसरों को क्लेश होवे वह धर्म नहीं है उसमें भी जो शुद्ध मन से अर्थात् शान्त तथा सन्तुष्ट मन से किया हुआ धर्म ही धर्म है. ब्राह्मणों के मन को शुद्धि का लक्षण “सन्तोष” ही है इसलिये उससे पूछते हैं कि आप सदैव संतोष युक्त मन से धर्म पालन करते हो कि नहीं ? ॥३०॥

आभास—अर्थं पृच्छति यहि वर्ततेति ।

प्राभासाथं—“संतुष्टो यहि” श्लोक में दूसरे पुरुषार्थ “अर्थ” को पूछते हैं ।

श्लोक—संतुष्टो यहि वर्तते ब्राह्मणो येन केनचित् ।

अहीयमानः स्वधर्मात्स ह्यस्याखिलकामधुक् ॥३१॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही संतोष रखे संतोष के लिए अपने धर्म से न डिगने पर वह सन्तोष ही इसकी सर्व कामनाओं को पूर्ण करता है ॥३१॥

सुबोधिनी—संतोष एव ब्राह्मणानां धनं कामधेनुः, नतु लोकप्रसिद्धं धनम् । येन केन च-दिति । कर्मवशादवश्यं जोवनार्थं प्राप्यत एव । किञ्च । तावता चेत् संतुष्टः, कर्मफलदाता संतुष्टो भवतीति । असन्तोषेऽपि क्रियमाणे

नाधिकं प्रयच्छति । असन्तुष्टश्च भवतीति तत्सन्तोषार्थं स्वधर्मादहीयमानः सर्वमेव स्वधर्मं कुर्वन् यहि वर्तते । अनेनेयं स्थितिदुर्लभेति सूचितम् । स एव सन्तोषः अस्य अखिलानेव कामान् दोग्धि ॥३१॥

व्याख्यार्थ—सन्तोष ही ब्राह्मणों का कामधेनु के समान धन है लोक में प्रसिद्ध जो धन है वह ब्राह्मणों का धन नहीं है कर्म के अनुसार जीवन के लिए अवश्य जिस किसी से प्राप्त होता ही है

उससे जो सन्तुष्ट रहता है तो उस पर कर्म फल देने वाला परमेश्वर उस पर प्रसन्न होता है यदि ब्राह्मण असन्तोष प्रकट करेगा तो भी विशेष तो नहीं देंगे, किन्तु वह परमात्मा उस पर अप्रसन्न होंगे इसलिए उस सन्तोष के लिए अपने धर्म से न डिग कर यदि समस्त अपना धर्म पालन करता रहे तो वह सन्तोष ही उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करता है इस प्रकार सन्तोष रख कर अपना धर्म पालन न करना, ऐसी स्थिति दुर्लभ है यह भी इससे सूचित किया है ॥३१॥

आभाम—कामं पृच्छति असंतुष्ट इति ।

आभासार्थ— 'असंतुष्ट' श्लोक से तीसरा पुरुषार्थ 'काम' पृच्छते हैं

श्लोक— असंतुष्टोऽसकृत्क्लेशान्प्राप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।

अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥३२॥

श्लोकार्थ—जो असन्तोषी है वह इन्द्र भी बन जावे तो भी सदैव क्लेशों को प्राप्त होता है जो गरीब होते भी सन्तोषी है तो उसको किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता है वह सुख से नींद लेता है ॥३२॥

मुंबोधनी—कामो हि ब्राह्मणानां बाधकः, तदभावकाम एव पुरुषार्थरूपः । एवं भावे हेतु-माह असंतुष्टः असकृदेव क्लेशान्प्राप्नोति । विष-याभावादिति चेत् । तत्राह सुरेश्वरोऽपीति । इन्द्रो हि परमेश्वर्यं प्राप्तवान् । कामे परमा काष्ठा । तादृशोऽपि यद्यसन्तुष्टः, क्लेशानेव प्राप्नोति । अतानुभवः प्रमाणम् । श्रुतिश्च 'प्रजापत आशया वं श्राम्यसी'ति । अन्यव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारं वदन् व्यतिरेके अनुभवमाह अकिञ्चनोऽपीति । किमपि माऽस्तु । सन्तुष्टश्चेत्, अत्यन्तं सुखी । कथमित्याकाङ्क्षायां हेतुमाह शेत इति । सुखात्मिका हि निद्रा । उभयवादिसिद्धो हेतुर्वक्तव्यः । तत्र संतुष्टः शेते, नासन्तुष्टः, प्राप्यापि राज्यम् । जागरणेऽपि हेतुमाह । सर्वाङ्गे विगतो ज्वरो यस्येति । असन्तोषे चिन्ता भवति । चिन्तायां सर्वाङ्गे तापः प्रसिद्धः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मणों की सच्ची उन्नति एवं सत्य आनन्द प्राप्ति में काम ही बाधा डालने वाला है तृष्णा का अभाव रूप काम ही पुरुषार्थ रूप है ऐसा होने में हेतु कहते हैं कि जिसको सन्तोष नहीं वह निरन्तर क्लेशों को ही पाता है यदि कही कि धनादि न होने से सन्तोष नहीं होता है तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है यदि तृष्णा बनी रहती है तो इन्द्र हो जावे अर्थात् इन्द्र जितनी वा इन्द्र की भी सम्पत्ति प्राप्त हो जावे तो भी असन्तोषी ही रहता है जिससे क्लेशों को ही पाता है इसमें अनुभव

प्रमाण है "प्रजापत आशया वेश्राम्यसि" इति, अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्यभिचार कहते हुए, व्यतिरेक में अनुभव करते हैं कुछ भी पास न होवे तो भी यदि सन्तोषी है तो वह अत्यन्त सुखी है वह कैसे सुखी है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि, निद्रा सुख रूप है इसलिए उसे वह सुख रूप निद्रा आ जाती है जिससे वह आनन्द से नींद लेता है दोनों प्रकार के वादियों से सिद्ध हेतु कहना चाहिए इस पर कहते हैं कि जो सन्तोषी है वह नींद लेता है और जिसको सन्तोष नहीं है उसको राज्य भी मिल जाय तो भी शान्ति न होने से सुख की नींद नहीं आती है प्रायः वह जागता ही रहता है वह क्यों जागता रहता है इसमें कारण बताते हैं कि नींद उसको आती है जिसके अंगों में ताप नहीं होता है असन्तोष होने पर चिन्ता होने से सब शरीर में ताप रहता है जिसमें नींद नहीं आती है ॥३२॥

आभास—अनेनैव ब्राह्मणानां सहज मोक्षो भवतीति कैमुत्यन्यायेनाह विप्रान्स्वलाभसंतुष्टानिति ।

आभासार्थ—सन्तोष से ही ब्राह्मणों को सहज मोक्ष मिल जाता है यह कैमुतिक न्याय से "विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्साधून्भूतसुहृत्तमान् ।

निरहङ्कारिणः शान्ताज्ञमस्ये शिरसासकृत् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जो ब्राह्मण स्वयं जो कुछ मिल जावे उसमें ही सन्तुष्ट प्रसन्न हो कर रहते हैं सदाचार वाले हैं जोड़ों का हिन ही चाहते हैं अहंकार रहित हैं, शान्ताचित्त हैं वं से ब्राह्मणों को मैं बार बार शिर से प्रणाम करता हूँ ॥३३॥

सुवोधिनो—मोक्षे आत्मलाभो जानात्मको विशेषः । साधून् सदाचारान् । भूतसुहृत्तमानिति । ब्राह्मणानां सहज आन्तरो धर्मः सर्वसौहार्दम्, अहङ्काराभावश्चाधिकः । शान्तिबुद्धेः । एवं पञ्चधर्मयुक्तानहं शिरसा नमस्ये, गुहत्वेन मानयामि व्यवहारे । किञ्चित्पठित्वा तथा करोतीति पक्षं वारयति असकृदिति । सर्वदेवमित्यर्थः । यत्र मोक्षदाता एवं मन्यते, तत्र मोक्षे कः

सन्देह इत्यर्थः । विशेषेण पूरका इति । षड्गुणा वा भगवत्तुल्यत्वाय निरूपिताः । ऐश्वर्यं तु न नियमेन विशेषपूरकत्वं सर्वत्र, वीर्यं न स्वलाभः, यशसि न समा टक, श्रिया न सर्वथा भूतसौहृदम्, ज्ञाने क्वचिदहङ्कारोऽपि, वैराग्ये विक्रपोऽपि षचित्सम्भवतीति षण्णामप्युत्तमत्वात् स्वत एव भगवत्त्वं च सिद्धमिति नमस्य इत्यविरुद्धम् ॥३३॥

व्याख्यान—मोक्ष में सबसे विशेष ज्ञानात्मक आत्मा का लाभ है सदाचारी ब्राह्मणों का स्वाभाविक आन्तर घर्म सर्व भूतों से सौहार्द है अधिक अहंकार का अभाव चित्तवृत्ति में शान्ति इस प्रकार से पाँच धर्मों से युक्त ब्राह्मणों को मैं शिर से बार बार सदा ही नमस्कार करता हूँ व्यवहार में उनको गुरुपन से मानता हूँ कुछ पढ़कर बैसे करते हैं इस पक्ष का निवारण करते कहते हैं कि एक बार नहीं किन्तु बार बार नमन करता हूँ जहाँ मोक्ष देने वाले ब्राह्मणों को इस प्रकार मानते हैं वहाँ उनके मोक्ष प्राप्ति में कौनसा संदेह है ? कोई नहीं है उनमें विशेष कर पूरक छः गुण कहे हैं अथवा ये छः गुण उनकी भगवान् से समानता बतलाने के लिए कहे हैं ऐश्वर्य में तो नियम से सर्वत्र विशेष पूरकत्व नहीं है, वीर्य में अपना लाभ नहीं है यश में समान दृष्टि नहीं होती है श्री होने पर सर्व प्रकार भूतों में सौहार्द नहीं होता है ज्ञान में कभी अहंकार भी हो जाता है वैराग्य में कुछ विशेष भी कभी होता है ये छः गुण उत्तम होने से अपने आप ही भगवत्त्व सिद्ध होता है अतः मैं नमस्कार करता हूँ इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है ॥३३॥

आभास—तद्राजः कुशलं पृच्छति कच्चिद्वः कुशलमिति ।

आभासार्थ—“कच्चिद्वः कुशल” श्लोक में राजा से तो आपको कोई तकलीफ नहीं है उसकी तरफ से सब कुशल है यह पूछते हैं ।

श्लोक — कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मराजतो यस्य हि प्रजाः ।

सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् आप राजा की सरफ से प्रसन्न हैं ? जिस राजा की प्रजा अपने राज्य में सुख से रहती है और अच्छी तरह जिस राजा से पाली जाती है, वह राजा मुझे प्यारा लगता है ॥३४॥

सुवोधिनी—वो यष्माकं राजतः कुशलं । माह, यस्य हि प्रजाः सुखं वसन्ति, तेन परिपाल्य-
कच्चित् । ब्रह्मन्निति अपकारेऽपि स्वतस्तूष्णी-
भावाय । अतिक्रमे नाशाय वा । करोति चेद्राजा । मानाः, स मम प्रियो भवति । अनेन सर्वमेव
सुखं किं तस्य स्वादित्याशङ्क्य, तादृशस्य फल- । तस्य हितं सिध्यतीत्युक्तं भवति ॥३४॥

व्याख्या—तुम लोगों का राजा की तरफ से तो कुशल है न ? हे ब्रह्मन् ! संवोधन अप-
कार होने पर भी चुप रहते हो इस मुण को दिखाने के लिए अथवा उलटा कार्य होने पर नाश के

लिए दिया है यदि राजा प्रजा को सुखी करे तो क्या होता है ? ऐसे राजा को जो जो फल मिलता है और उससे प्रजा अच्छी तरह पाली जाती है, वह राजा मुझे प्यारा है, इससे उसका सर्व प्रकार का हित सिद्ध होता है यों कह वतलाया है ॥३४॥

आभास—एवं कुशलं पृष्ट्वा प्रस्तुते त्वदुक्तं करिष्यामीत्यभिप्रायेण तत्सान्वनमाह यतस्त्वमागत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कुशलता पूछ कर, जो आप कार्य कहोगे वह हम करेंगे इस अभिप्राय से उसको “यतस्त्वमागतो” श्लोक से सान्वनना देते हैं ।

श्लोक—यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तोर्येह यदिच्छया ।

सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत्किं कार्यं करवाम ते ॥३५॥

श्लोकार्थ—जिस कारण से और जिस इच्छा से आप इस दुर्ग को पार उतर कर यहां आए हैं, वह यदि गुप्त न हो तो सर्वं कहिए जो कार्य करना हो वह कहदो तो आपका वह कार्य हम करें ॥३५॥

सुबोधिनो—दुर्गं सर्वमेवातिक्रम्य यस्माद्धेतोः त्वमागतः, तच्चेदगुह्यं तदा सर्वं ब्रूहि । किञ्चित्कार्यं साधनीयमिति चेत्, तर्किं कार्यमिति प्रश्नः । सर्वस्यापि जगतो मोक्षो देय इति चेत् । तत्राह ते कार्यं करवामेति । तत्र सर्वं कार्यं करिष्यामः, नान्यस्येति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सारे दुर्ग का उलंघन कर जिस हेतु से आप आए हैं वह यदि गुप्त न होवे तो सब कहो, यदि कुछ कार्य करना है तो वह कौन सा कार्य है ? यदि समस्त जगत को मोक्ष देना है तो भी आपका कार्य हम करेंगे, आपका सर्व कार्य करेंगे दूसरे का नहीं ॥३५॥

आभास—एवं पृष्टः स्वाभिप्रायं निवेदयति एवं संपृष्टेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूछने पर अपना अभिप्राय कहता है यह इस “एवं” श्लोक में कहते हैं ।

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सीताराम पुस्तकालय
 विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007

श्लोक—एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ।

लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—लीला से वपुधारी भगवान् ने जब इस प्रकार ब्राह्मण से प्रश्न किया तब ब्राह्मण ने भगवान् को सर्व वर्णन कर बताया ॥३६॥

सुबोधिनो—एवं संपृष्टाः संप्रश्नाः यस्मै । देहाकारो येन । अतो ज्ञाततत्त्वायैव तस्मै सर्व-
ब्राह्मण इति निष्कपटः । परमेष्ठिना च । ब्रह्मणो- भेव वृत्तान्तमवर्णयत् । बन्धूनामिच्छतां दातु-
ऽपि पिता । तादृशः कथमत्रागत इत्याशङ्क्याह । मित्यादि ॥३६॥
लीलागृहीतदेहेनेति । लीलया गृहीतः प्रदशितो

व्याख्यार्थ—जिस ब्राह्मण से वैसे प्रश्न किए हैं वह निष्कपट है, अतः ब्राह्मण ने जो ब्रह्मा का भी पिता है और जिसने लीला से यह देहाकार दिखाया है तथा जिसने आने का सब कारण जान ही लिया है, उनको वहाँ का सारा समाचार वर्णन कर बताने लगा ॥३६॥

आभास—शिष्टं सर्वमुक्त्वा रुक्मिणीवाक्यानि स्वतः पत्रिकातो वा निरूपयति
श्रुत्वा गुणानिति सप्तभिः ।

आभासार्थ—योग्य सब समाचार कह कर रुक्मिणी के वाक्य अपने मुख से अथवा पत्र द्वारा निरूपण करता है 'श्रुत्वा गुणान्' इस श्लोक से सात श्लोकों में ।

रुक्मिण्युवाच—

श्लोक—श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विशय कर्णविवरंहरतोऽङ्गनापम् ।

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे भुवन सुन्दर सुनने वालों के कानों के छिद्रों से भीतर जाके अंगों के ताप को हरण करने वाले आपके गुणों को और नेत्र वालों के नेत्रों को सर्व प्रकार के अर्थ लाभ देने वाले रूप को सुन कर हे अच्युत ! आप में यह मेरा निलज्ज चित्त प्रवेश करता है ॥ ३७ ॥

सुत्रोच्यते—पद्गुणाः भगवांश्च । एते चेत्यार्थ्यन्ते
 तदा निष्प्रत्यूहं कार्यं भवतीति सतिभिर्विज्ञापना ।
 आदौ भगवन्तं धर्मिणं विज्ञापयति श्रुत्वा गुणा-
 निति । त्वयि चित्तं विशतीति मनोवृत्तिं निरूपय-
 यति । आत्मा तु त्वदीय एव । इन्द्रियाणि चेद-
 न्यपराणि भवेयुः अन्तःकरणं शरीरं वा । तदा
 सर्वनाश इति विनिश्चित्येन्द्रियाणां त्वत्परत्वे
 मनोऽपि त्वत्परं जातमिति, शरीरमपि त्वत्पर
 कर्तव्यमिति, ममोद्योग इति प्रधट्टकार्यः । क्रमेण
 गुणा निरूप्यन्ते । भगवदैश्वर्यं चैतदिति सूचि-
 तम् । गुणद्वारा स्वतोऽपि चित्तवशीकरणमेश्व-
 र्यादित्यैश्वर्यं भगवदीयानां कान्तिगुणस्वरूपाणां
 माहात्म्यं निरूप्यते । हे भुवनसुन्दर भुवनेष्वेक
 एव सुन्दरः । अनेन कान्त्याधिक्येन स्त्रीणां स्वत-
 श्चित्तवृत्तिरुक्ता । ते गुणान् शृण्वतां कर्णविवरं-
 रन्निविश्य अङ्गताप हरतां सताम् । रूपं च
 दृशिमतामखिलार्थलाभ यतः । अतस्त्वयि मे
 चित्तमाविशति । बहिरिन्द्रियद्वयमेव नियामकम्,
 अन्तरिन्द्रियस्य श्रोत्रं चक्षुश्च । श्रुतावपि ताक्ष-
 ण्यन्तः कर्णवन्तः इत्यत्र तथैव निरूपितम् ।
 उभयेषामुपकारं त्वद्गुणाः त्वदरूपं च करोति ।
 तत्कमान्तरं तापं हरति । एकं च बहिः सर्वं-

पुरुषार्थं पश्यच्छति । श्रवणमात्रेऽपि क्रियमाणं
 प्रयत्नं विनापि त्वद्गुणा स्वत एवान्तर्निविष्टाः ।
 तेषामपि निवेशने प्रतिवन्त्याभावायाह कर्णविवरं-
 रिति । अपावृतानि कर्णरन्त्राण्येध्वन्ते, अन्यथा
 न प्रतिवन्तीत्येतावत्पुरुषकर्तव्यमुपदिष्टम् । अतः
 कर्णविवरं पातालविवरवत्प्रसिद्धं : अन्तर्निविश्य
 अङ्गानां तापं हरन्ति गुणाः । अङ्गंति सम्बोधनं
 वा आत्मत्वंन । रूपं च ये दृशिमन्तः दर्शनयुक्ता
 येषां चक्षुःकार्यमस्ति । रूपभेदविद इति प्रथमा
 कक्षा । सर्वात्मना दृश्यगुणगरिज्ञानम् अन्तिमा,
 तेषां दृशां चक्षुषां अखिलार्थानां लाभो यस्मात् ।
 चतुर्विधपुरुषार्थाः चक्षुषां सिध्यन्ति । चक्षुष
 सूर्यभावो मोक्षः । रूपपानं कामः । रूपग्रहण-
 मर्थः । तत्रावगाहनं धर्म इति । फलवतामेषां
 फलान्वेष्युह्यानि । तत्रापि पुरुषार्थां न सम्पाद-
 नोयाः किन्त्वकस्मादुपलब्धा नियय इव प्राप्य-
 न्ते । यत्नैव इन्द्रियाणामुपकारं त्वद्दर्मां कुर्वन्ति,
 तत्र चित्तमपि ममापि तथा भविष्यतीति त्वयि
 निविशति । चित्तस्य हि द्वयं प्रतिबन्धकम्, लोको
 वेदश्च । तत्र लोकमतिक्रम्य प्रवर्तते इत्याह अप-
 त्रपमिति । अपगता त्रपा यस्मात् । लज्जा हि
 लोके नियामिका ॥३७॥

व्याख्यार्थ—बिना रुकावट सर्वं कार्यं तब सिद्ध होते हैं, जब छः गुणों और सातवें गुणी
 भगवान् की प्रार्थना की जाती है इसलिए सातों से प्रार्थना करनी है पहिले धर्मी भगवान् को
 प्रार्थना करती है कि आप के गुणों को मुझ कर आप में चित्त ने प्रवेश किया है, यों कहने मे बताया
 कि मन की वृत्ति आप में आसक्त हो गई है, आत्मा तो आप है हीं, यदि इन्द्रियां, अन्तःकरण
 अथवा शरीर अन्य के परायण हो जाय तो सर्व नाश हो जावे यों निश्चय कर, इन्द्रियां आपके
 परायण होने पर मन भी आप में प्रवृत्त हुआ है शेष रहा हुआ शरीर भी आप में रत करूँ इसलिए
 यह मेरा उद्यम है यह ही सबको मिला देने वाला कहने का तात्पर्य है अब क्रम से गुणों का निरू-
 पण किया जाता है यह तो भगवान् का ऐश्वर्य सूचित किया है गुणों के द्वारा अपने आप भी चित्त
 का वशीकरण हो जाता है वह ऐश्वर्य से भी ऐश्वर्य है भगवान् के कान्ति गुण और स्वरूपों का
 माहात्म्य निरूपण किया जाता है, हे भुवनसुन्दर ! सर्व भुवनों में एक आप ही सुन्दर है इससे यह
 बताया है कि आप को विशेष शोभा से स्त्रियों के चित्त की वृत्ति आप ही आप में प्रविष्ट हो जाती

है श्रोताओं के काना के छिद्रों से भीतर प्रवेश कर अंगों के तापों को मिटाने वाले आप के गुण हैं और नेत्र वालों के समस्त अर्थों का लाभ कराने वाला आपका रूप है, यह सुन कर आप में मेरा चित्त प्रवेश कर गया है बाहिर दो इन्द्रियाँ ही नियामक हैं, अन्दर इन्द्रियाँ का श्रोत्र और चक्षु 'अक्षन्वन्त-कर्णवन्तः' श्रुति में भी इन दोनों को ही वैसा कहा है दोनों का उपकार आपके गुण तथा रूप करने है, उनमें से एक अन्दर के ताप को हरण करते हैं और एक बाहर के सर्ग पुष्पायों को देता है कुछ भी प्रयत्न न कर केवल श्रवण करने से भी आपके गुण आप ही भीतर अन्तःकरण में प्रवेश कर जाते हैं गुणों का भीतर प्रविष्ट होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि कान के छिद्र खुले हुए हैं यदि खुले न होते तो प्रविष्ट न हो सकते इतना पुष्प का कर्तव्य कहा, अतः पाताल की भाँति प्रसिद्ध कर्णा के विवरों से आपके गुण स्वतः भीतर जाकर अंगों के ताप को हरण करते हैं अंग यह सम्बोधन आत्मपन मे भी कहा है जो देख सकते हैं उनके नेत्रों का कार्य रूप देख रूप के भेद 'काला, गौरा आदि' को जानना पहिली कक्षा है, सर्ग प्रकार देखे हुए पदार्थ के गुणों को जानना अन्तम कक्षा है उनके नेत्रों को सकल अर्थों का लाभ जिससे हो वैसा आपका रूप है चारों प्रकार के पुष्पार्थ नेत्रों को सिद्ध होते हैं नेत्र का सूर्य भाव मोक्ष है, रूप का पान काम है रूप का ग्रहण अर्थ है उसमें अवगाहन न करना धर्म है फलवान् इन्द्रों के फल भी दूँदने योग्य है वहाँ भी पुष्पार्थ सम्पादन करने योग्य नहीं है, किन्तु अचानक प्राप्त निधि को भाँति मिलते हैं जहाँ इस प्रकार इन्द्रियों का उपकार आपके धर्म करते हैं वहाँ मेरा चित्त भी वैसा होगा इसलिए आप में प्रविष्ट होता है आप में प्रवेश के लिये चित्त को दो प्रतिबन्ध हैं. १-लोक, २-वेद इन दोनों में से मेरा चित्त लोक का उलंघन कर आन में प्रवृत्त हुआ है इसलिए लोक लज्जा छोड़ दी है लोक में लाज भी आप में प्रवेश कराने में रुकावट है ॥३॥

आभास—वैदिक दोष परिहरति का त्वेति ।

आभासार्थ—'का त्वा मुकुन्द' श्लोक से वैदिक दोष को मिटाती है ।

श्लोक. का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मनुत्पम् ।

धीरा पति कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम् ॥३६

श्लोकार्थ—हे मुकुन्द महत्व को प्राप्त कुल वाली धैर्य वाली कौनसी कन्या है जो कुल, शोभ, रूप, विद्या, आयु, द्रव्य और ग्रह इन सातों गुणों से अपने समान पति मिले तो उसको स्वीकार न करे, हे नृसिंह वह भी पूरे समय पर मिल जाय तो भी उसका परित्याग कर दूसरे की इच्छा हो बाद में मनुष्य लोक में सबके मन को हरण करने वाले उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न युक्ति युक्त नहीं है ॥३६॥

सुतोधिनी—वेदोऽपि लोकानुसारी भवतीति हि विज्ञायते । अतो लोके यदविरुद्धं सर्वथा व्यवहारे अविगीतम्, तद्वदेऽप्यविरुद्धमिति । एतादृशोऽर्थः मयैव कृत इति चेत्, तदा विरुद्धो भवेत्, किन्तु सर्वरेव क्रियत इतोमयर्थं व्यतिरेकेण साधयते । का वा कन्या त्वां न वृणीत । सर्वस्यापि यद्यपि मोक्षोभिप्रेतः, तथापि स्त्रीयो-निरतिदुष्टेति तत्परित्यागार्थं स्त्रिया अत्यर्थमपेक्षितः । नन्वस्ति लोके मोक्षसाधनमिति चेत् । तत्राह महतीति । महत्त्वं प्राप्ता न सर्वं परित्यक्तं शक्नोति । यथातिबद्धा । अतस्तस्या गृह एव चेन्मोक्षदाता भवति, तदेव मोक्षः सिध्येत् । किञ्च धर्मार्थकामार्थमपि त्वमेव भजनीय इत्याह कुलेति । सप्तधर्माः समा ययोः तयोरेव विवाहः विवादश्चेति । कुलं तुल्यमपेक्षयते । तत्सोमवं-शित्वादावयास्तुल्यम् । तथा रूपमपि । मदर्थमेव रूपं गृहोतमिति मद्योग्यमेव भवितुमर्हति तव रूपम् । अहमपि त्वदर्थमेव रूपं गृह्णामिति ममापि तथा । वयश्च योग्यमेव । गृहमत्र पितृ-गृहम् । प्रसिद्धस्य पुत्रः, प्रसिद्धस्य कन्येति चतु-ष्टयं निर्वावादम् । लोकप्रतोत्या द्रविणमपि तुल्यम् । विद्या मातेति चिद्रूपेति वा विद्यायामपि तुल्यता । महती श्रद्धा भगवति वर्तत इति 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति ऐक्यादनुरोधात् ।

शौलमपि तुल्यम् । शीलं स्वभावः शान्तोप्रादिः आचारी वा । उभयमप्यत्र ब्राह्मण्यन्तरं ग्राह्यम् । ननु भगवान् शान्तः विलम्बेन च कार्यं कराति, माया तु सत्त्वरिति बर्ध्म्यस्य विद्यमानत्वात् कथं तुल्यतेति चेत् । तत्राह धीरेति । मयापि धैर्य-मवलम्बनीयम्, भगवत्कार्यानुरोधेनेति । ननु भगवति भजने न तुल्या गुणा अपेक्ष्यन्ते, किन्तु भगवदुत्कर्षं ज्ञात्वाैव प्रवर्तत इति किमिति तुल्य-त्वं निरूप्यत इति चेत् । तत्राह पतिमिति । पतित्वेन स्वीकारे तुल्यता वक्तव्या । अन्यथा दासोत्वं भवेत् । नन्वस्तु को दोष इति चेत् । तत्राह कुलवर्तीति । कुलस्थास्तथा सति छेदं प्राप्नुवुरिति भावः । किञ्च । कथ्येति । अवश्यं कन्यया वरणीयः कश्चित्पतित्वेन, अवरणे स्वयं न गृह्णीयात् । मुष्य'वनियोगार्थमन्याघोनां वा कुर्यात् । किञ्च । उपपत्तौ सत्यां तत्परित्यागे कारणाभाव इत्याह काले नृसिंहेति । अवसरे तत्परित्यज्य अन्योच्छिष्टा भूत्वा पश्चाद्भगवदर्थं यत्ने क्रियमाणे असमञ्जसं स्यात् । अयोग्यत्वा-शक्यत्वे तु न स्त इत्याह नृसिंहेति । नरत्वाद्यो-ग्यत्वम् । सिंहत्वात्समर्थत्वमिति । किञ्च । नर-लोके मनसोऽप्यमेवाभिरामः । अतो वरणे अभि-राम एव वरणीय इति योग्यत्वाद्यविचारेणापि त्वमेव वरणीय इत्यर्थः । ३ ॥

व्याख्यार्थ—वेद भो लोक के अनुसार आज्ञा करते हैं अतः जो लोक से सर्व प्रकार विरुद्ध नहीं है और जिसकी लोक में निन्दा नहीं है वह वेद से भी विरुद्ध नहीं है यों भो आप मत समझना की यह अर्थ मैंने ही किया है ? यदि मैंने किया हो तो वेद से विरुद्ध हो जाय किन्तु सर्व प्रकार अर्थ सिद्ध करते हैं इसलिए इस अर्थ को व्यतिरेक से सिद्ध किया जाता है कौनसी कन्या है जो, आपको पतित्व से वरण न करे, यद्यपि सबको मोक्ष प्राप्ति का इच्छा है तो भी स्त्रीयोनि विशेष दोषों वाली है इसलिए उस योनि से छूटने के लिए 'तो जातो को मोक्ष को विशेष अपेक्षा है यदि कही कि लोक में मोक्ष के साधन हैं फिर पतित्वस्वीकार क्यों ? इसके उत्तर में कहने हैं कि 'महती' अर्थात् महत्व को जो प्राप्त हुए हैं सर्व का त्याग करने में असमर्थ होते हैं जैसे मन्वृत वन्द्य हुए कठिनता से

छुड़ाए जा सकते हैं अतः ऐसे को जब ग्रह ही मोक्ष देने वाला वने तब उसका मोक्ष हो सकता है और विशेष बात यह भी है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुष्यार्थों की प्राप्ति के लिए भी आपका ही भजन करने योग्य है जिसके लिए कहती है कि जिसमें सात धर्म समान हों वे उनका ही परस्पर विवाह और संवाद होना योग्य है पहिले कुल समान चाहिए वा सोमवंशी होने से अपन दोनों का समान कुल है वं से रूप भी समान है आपने मेरे लिए ही रूप धारण किया है जिससे वह आपका रूप ही मेरे योग्य है मैंने भी आपके लिए देह धारण की है इसलिए यह रूप भी आपके लिए योग्य है और आयु समान होने से योग्य ही है, गृह, पिता का घर भी सदृश ही है क्योंकि आप जिसके पुत्र हैं वह प्रसिद्ध है तो मैं जिसकी पुत्री हैं वह भी प्रसिद्ध है, इस प्रकार ये चार बिना विवाद के समान है लोक की प्रतीति से धन भी तुल्य है विद्या माता वह चिद्रूपा है इसलिए विद्या में भी समानता है भगवान् में बड़ी श्रद्धा है "यो यच्छुद्ध स एव सः" इस वाक्य के अनुसार ऐक्य से वा अनुरोध से स्वभाव भी समान है अर्थात् शील शान्त उग्र आदि अथवा आचार विचार भी तुल्य है यहाँ बाहिर भीतर दोनों प्रकार समानता है यों समझना चाहिए आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् शान्त होने से कार्य बिलम्ब से करते हैं माया तो जल्द कार्य करती है यह दोनों में प्रत्यक्ष होने से दोनों में विरुद्ध धर्म तो है ही, इसके उत्तर में कहती है कि "धीरा" में भी भगवान् के कार्य के अनुरोध से धीरज धारण करती हैं, भजन करने में भगवान् के गुणों में समानता की आवश्यकता नहीं चाहिए बल्कि भगवान् के गुणों को विशेष श्रवण करने से ही उनमें प्रवृत्ति होती है फिर आप तन्यता का निरूपण क्यों करते हैं इसके उत्तर में कहती है कि उनको पति रूप से स्वीकार करने में समानता आवश्यक है, नहीं तो दासीपन हो जाता है दासीपन हो जावे तो क्या हानि है इसके उत्तर में कहती है कि "कुलवती" बड़े कुल को यदि दासी बन जाय तो खेद को प्राप्त होती है, और विशेष "कन्या" है, कन्या को अवश्य किसी को अपना पति स्वीकार करना है यदि कन्या स्वीकार न करे वर ग्रहण नहीं कर सकती है अथवा मुख्य में विनियोग के लिए यदि अन्य के आधीन करदे, लेकिन उत्पत्ति होने पर उस स्वीकार का हृदय का परित्याग दूसरे के आधीन करने का कोई कारण नहीं है हे नृसिंह ! मौका मिलने पर उस योग का त्याग कर पश्चात् फिर अन्य की उच्छिष्ट होके भगवान् के लिए प्रयत्न करना असंगत है भगवान् में अयोग्यता और असमर्थता नहीं है इसलिए "नृसिंह" नाम दिया है नर होने से योग्यता दिखाई है और शेर होने से सामर्थ्य प्रकट किया है मनुष्य लोक में मन का यही आनन्द है अतः स्वीकार करने में आनन्द ही वरण करना है इसमें योग्यत्व आदि का विचार ही नहीं करना चाहिए, आप आनन्द रूप से वरण करने के योग्य हैं ॥३८॥

आभास—एवं योग्यतां निरूप्य विज्ञापनामाह तन्मे भवान्छुलु वृत् इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार योग्यता का निरूपण कर "तन्मे भवान्" श्लोक से प्रार्थना करती है ।

श्लोक—तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरङ्ग जायामात्मापितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि ।

मा वीरभागमभिमर्शतु चंच आराद्गोमायुवमृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! मैंने आपको पति स्वीकार किया और अपनी आत्मा आपको अर्पण की है अतः यहाँ आकर अपनी भार्या बनाइए हे कमल नयन ! मैं जो आप शेर का भाग हूँ उसको चंच, जैसे शेर के भाग को सियार दूर से स्पर्श करता है वैसे, स्पर्श भी न कर सके ॥३६॥

सुबोधिनो—अत्रापि गृहे सर्वदा मयोच्यते, कृष्ण एव पतिर्मम, नान्य इति । एतत्सर्वेऽपि जानन्ति, तथापि वलात्प्रवतत इति खलुपदार्थः । किञ्च । पूर्वमपि लक्ष्मीस्वयंवरे अमृतमथने मया भवानेव वृतः सैवाहमिति भावः । उपाध्यन्तरं निवारयन्त्याह पतिरिति । एवं स्वकृतमुक्त्वा भगवन्तं प्रार्थयते जायां विधेहीति । अङ्गेति स्नेहसम्बोधनम् । अन्यथा धार्ष्ट्यं मनुचितं स्यात् । अङ्गस्य वा जायां विधेहि । अन्यथा भगवान् सर्वपतिरिति प्रकारान्तरेण वा जायात्वं स्यात् । जायापदेन यावानर्थः स सर्वोऽपि विधेयः । ननु भगवान् भगवच्छास्त्रविरुद्धमर्थं न गृह्णातीति कथं त्वां ग्रहोष्यतीति चेत् । तत्राह आत्मापितश्चेति । आत्मा मदीयः संपगतः तुभ्यं समर्पितः । अतो यथेष्टविनियोगे न कापि चिन्ता । चकारात्सर्वमेवास्मत्सम्बन्धि समर्पितमिति सर्वत्रैव तव कामचारः । अतस्तदपेक्षा तत्प्रतिबन्धो वा न घटत इत्युक्तं भवति । भवत एवात्मा, अतो भवते समर्पित इति नालौकिकं किञ्चित् । अङ्गीकृते शीघ्रभागमनार्थं बाधकमाह मा वीर-भागमिति । वीरस्यैव भागोऽहम् । शौर्यणैव लक्ष्मीः प्राप्यत इति नैव दत्ता अन्यस्य भवति ।

अत एव य एव शूरः, स एव राज्यमुपभुङ्क्ते । तथा सति चंचस्य अशूरत्वात् भोगाभावेऽपि केवलं काकवत्स्पर्शो भवेत्, तदा महतोऽपि भोगा-भावाङ्गमदौष्यम् । अनेन महता आपदा उप-स्थितेति न कापि वाक्ये दूषणं मन्तव्यमिति भावः । आराद्गुरादपि अभिमानेनापीत्यर्थः । दान नन्तर हरणे अभिमानोऽपि भवेत् । वाग्दानं तु 'अनृतं वे वाचा वदतो'ति श्रुतेः प्रमाणमेव । अन्यथा पुण्यपापव्यवस्थायां वाङ्मनसस्य अप्रा-माण्यं न स्यात् । एतदर्थमेव श्रुतिः प्राह 'वाङ्मनसयोरनृतत्व'मिति । ननु स जानाति मदीया त्वमिति, त्वया वा वक्तव्यः, ततः कथं स्पृश्यतोऽत्याशङ्क्य ह गोमायुवदिति । त्वदन-गमने मृतप्राया मृतां वा देवकल्पित स्वभागं ज्ञात्वा स्पृश्यतीति भावः । नन्वेवमस्तु को दोष इति चेत् । तत्राह मृगपतेरिति । मरणे यद्यपि नानुपपत्तिः, तथापि तदनन्तर स्पर्शो महदनीचि-त्यम् । न हि सिंहाय तद्भक्तः निवेदित शृगालो भक्षयितुमर्हति । अम्बुजाक्षेति । दृष्ट्यैव तापनाश-कत्वमुक्तम् । तेन वरणमप्ययुक्तमिति भावः ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—यहाँ घर में भी मैं हमेशा बोलती हूँ कि कृष्ण ही मेरे पति हैं न कोई दूसरा,

यह बात सब जानने ही हैं, तो भी जबर्दस्ती से दूसरी ओर प्रवृत्त हो रहे हैं यह भाव "खलु" पद से प्रकट किया है और विशेष में तो आपको मालुम ही है कि लक्ष्मी स्वयंवर के समय अमृत मथन होने पर मैंने आपको ही वरा था यो कहने का आशय है कि वह ही मैं हूँ इसमें किसी प्रकार कोई उपाधि नहीं है क्योंकि आप ही पति हैं इस प्रकार अपना किया हुआ कह कर भगवान् को प्रार्थना करती हैं "जायां विधेहि" कि मुझे अपनी भार्या बनाओ इसलिए अंग यह स्नेह की सूचना करने वाला सम्बोधन दिया है, यों स्नेह सूचक सम्बोधन न देतो तो "मुझे भार्या बनाओ" ऐसे घृष्टता के वाक्य कहना अनुचित होता, अथवा अंग की भार्या करो, अन्य प्रकार विचार करने से भी भगवान् सर्व के पति हैं हीं जिससे भी जायापन सिद्ध हो है जाया पद से जितना भी अर्थ होता है वह सब समझ कर उसी प्रकार करना चाहिए यदि कहो कि भगवान् शास्त्र से विरुद्ध पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं तो कहती है कि मैंने अपनी आत्मा आपको अर्पण कर छोड़ी है, अतः इच्छानुसार उसको कार्य में लाने के लिए कोई चिन्ता नहीं करती है श्लोक में दिए हुए "च" पद का भाव है कि मैंने देहापण के साथ जो कुछ मेरा सम्बन्धी पदार्थ मात्र है वह सर्व समर्पण किया है इसलिए सर्व पदार्थों में आप जैसे चाहा वैसे कर सकते हैं अतः उसके लिए किसी को अपेक्षा अथवा उसमें किसी प्रकार कोई प्रतिबन्ध नहीं है इसलिए यों कह दिया है कारण कि यह आत्मा आपकी है इसलिए आपको ही अर्पण को ही इससे मैंने कोई अन्वीकिक अर्थात् कोई विशेष कार्य नहीं किया है अंगीकार कर फिर आने में देरी भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि देरी करने से बहुत बाधाएँ होगी वह कहती है मैं शूरवीर की ही "भाग" हूँ लक्ष्मी शूरवीरता से ही प्राप्त होती है दूसरे से दी हुई नहीं मिलती है इस कारण से हो जो शूरवीर ही है वह हो राजा का उपभाग कर सकता है, ऐसा होते हुए भी शिशुपाल शूरवीर न होते भी तथा भोग करने के योग्य न होते भी केवल काक की तरह स्पर्श होगा तब महान् के भोग के भी अभाव से जन्म की व्यर्थता हो जाएगी ऐसा होने से बड़ी आपदा प्राप्त होगी इसलिए कहीं भी वाक्य में दूषण नहीं मानना चाहिए "आरात्" पद का भावार्थ है दूर से भी अथवा अभिमान् से भी दान के बाद हरण करने में अभिमान ही होगा "वाग्दान" तो "अनृतमे वाचावदति" इस श्रुति के अनुसार अप्रमाण ही है दूसरी तरह पुण्य और पाप का प्रबन्ध में वाणी तथा मन की अप्रमाणिकता न होवे, इसलिए ही श्रुति कहती है कि "वाङ्मनसयोरनृतत्वं" वाणी और मन में असत्पन है, यदि वह जानता है कि तू मेरा है अथवा तुझे कहना चाहिए मैं उनकी हूँ इसके बाद वह कैसे स्पर्श करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहती है कि सियार की तरह आपके न आने पर मुझे मरी हुई वा मरने वाली समझ देव ने यह भाग मुझे दिया है यों जान कर स्पर्श करेगा, यों होने दो इसमें क्या दोष है ? इस पर कहती है कि हाँलाकि मरने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है तो भी मरने के बाद

भी स्पर्श होने में बड़ी अयोग्यता है शेर के भक्त जो खास लाकर शेर को देवे उसको शृगाल खावे यह योग्य नहीं है हे अम्बुजाक्ष ! इस विशेषण से यह बताया कि आप तो दृष्टि से ही ताप को नाश करने वाले हैं इससे करण भी अयुक्त हैं, यह भाव है ॥३६॥

आभास—एवं दृष्टसामग्र्या भगवत्प्रार्थनामुक्त्वा रवस्य सर्वेणापि धर्मैरेण शपथमपि वदन्ती प्रार्थयते पूर्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रत्यक्ष को हुई सामग्री से भगवान् की प्रार्थना कर अपने सब किए हुए धर्म का सौगन्द भो लेती हुई प्रार्थना करती है 'पूर्वेष्ट' श्लोक से ।

श्लोक—पूर्वेष्टदत्तनियमव्रतदेवविगुर्वचंनादिभरलं भगवान्परेशः ।

आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषमुतादयोऽन्ये ॥४०॥

श्लोकार्थ—जो मैंने कूप, बावड़ी आदि बनवाए, याग आदि किए, दान दिए, नियम व्रत किए, देव ब्राह्मण, गुरु, आदि का पूजन किवा इस सब साधनों के द्वारा भगवान् की आराधना की है, जिसके फलस्वरूप आप आकर इस प्रकार मेरा पाणि ग्रहण कीजिए जैसे दमघोस का पुत्र अथवा दूसरा मुझे कोई न ले सके ॥४०॥

सुबोधिनी—बाल्ये खातादिकं कर्तुं शक्यत इति इष्टात् पूर्वं निर्देशः । पूर्वं खातादि, इष्टं यागादि, दत्तं तुलापुरुषदानादि, नियमाः परित्यागरूपाः, व्रतानि ग्रहणरूपाणि, देवानां विप्राणां गुरुणां वार्चनानि । एवमष्टविधान्युद्दिश्य काण्डत्रयमपि संशुद्ध स्मार्तपौराणिकान् धर्मानादि-शब्देन संगृह्णाति । एवं सर्वैरेव धर्मैः भगवानेव चेदागधितः, न तु कामनार्थं किञ्चिदपि विनियुक्तम्, तदा भगवान् स्वयमेव पाणिं गृह्णातु, केवल एव आराधित इति न दमघोषमुतादयः स्वर्शमप्यर्हन्ति । गदाग्रज इति विषयप्रियत्वमु-

क्तम् । तस्मिन् समागते कसे हते पश्चाद्गद उत्पन्न इति भगवदाविर्भावानन्तरमपि तेन पितादेवैशः कारित इति वंशकरणे तस्येच्छा सूचिता । अत एव एत्य स्वयमागत्य पाणिं गृह्णातु इति स्वकृतधर्मेषु भारारोपः । ननु 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति भगवद्भक्तानां वा ग्रहणे को दोष इति चेत्, तत्राह अन्य इति । ते भगवत्प्रतिपक्षाः । अन्यथा तु दासोदासभावेनापि भजनं भवतीति नात्यन्तमाग्रहो भवेत् । अन्यथा अपघातमरणे यमादयो वा मा गृह्णन्तिवति अन्यनिषेधः ॥४०॥

व्याख्यार्थ - याग आदि से पहिले "पूतं" शब्द देने का कारण यह है कि तलाव वावड़ी आदि छोटी आयु में भो बनवाई जा सकती है अतः पहिले "पूतं" शब्द कहा है याग आदि तुला, पुरुषादि दान, विषय आदि का त्याग रूप नियम एकादशा आदि व्रत ग्रहण, देव, ब्राह्मण और गुरूओं का पूजन इस प्रकार त्राठ तरह के धर्मों का उद्देश्य कर तानों काण्डों का भी ग्रहण किया, तथा आदि शब्द से स्वार्त ओर पौराणिक धर्मों का भी सग्रहण किया है, यो सर्व धर्मों से जो मैने भगवान् का ही आराधन किया है तथा उसमें किसी प्रकार को अन्य कामना नहीं की हो तो भगवान् स्वयं पधार कर मेरा पाणिग्रहण करें मैने केवल भगवान् को ही प्राप्ति के लिए आराधना की है इसलिए धिशु-पाल आदि नुसे स्पर्श करने के लिए भी योग्य नहीं हैं, "गदग्रज" नाम देने से यह बताया कि वंशवृद्धि का विषय आपको प्रिय है, भगवान् ने पधार कर कस को मारा पश्चात् गद उत्पन्न हुआ है इस प्रकार पितृ वंश को वृद्धि कर यह दिखाया है कि मुझे वंशवृद्धि करने की इच्छा है, इस कारण से ही आप स्वयं पधार कर पाणिग्रहण कीजिए ऐसा करने से अपने किए हुए धर्मों में सर्व शास्त्रों में कहे हुए धर्मों के सार का आरोपण हो जाएगा अर्थात् सर्व धर्म सिद्ध हो जायेंगे मेरी पूजा से मेरे भक्तों की पूजा में अधिक मानता हूँ तो यदि आपको भगवद्भक्त ग्रहण करे तो क्या दोष है । इसके उत्तर में कहती है कि 'अन्ये' वे भगवद् भक्त नहीं हैं बल्कि भगवान् के शत्रु हैं नहीं तो दास दासी भाव से भी भजन हो सकता है इसमें अत्यन्त आग्रह नहीं होना चाहिए, दूसरी भाँति बुरी तरह मरना ही हो तो यम आदि न लिए जाते, इससे दूसरों के पाणि ग्रहण का निषेध किया है ॥४०॥

आभास—उद्वाहमात्र प्रार्थयित्वा प्रकारमपि प्रार्थयते श्वोभविनीति ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक में केवल पाणिग्रहण की प्रार्थना कर अब "श्वोभाविनी" श्लोक में प्रकार भी बताती है ।

श्लोक—श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदभान् गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।

निर्मथ्य चैद्यमगधेशवलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह बीर्यशुक्लाम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! कल मेरा विवाह होने वाला है आप सेनापतियों के साथ यहाँ विदर्भदेशों में आ कर, शिशुपाल जरासन्ध की सेना को जीतकर, पराक्रम ही मूल्य वाली मुझ से बलात्कार पूर्वक राक्षस-विवाह-विधि से विवाह करो ॥४१॥

सुवोधिनी—स्पष्टतया समागमने कदाचित् गोपनं कुर्यात्; लग्नात्पूर्वमेव वा शिशुपालाय प्रेषयेयुः, अविघ्नात् न वा दद्युरिति । अतो यथा तेषु परिज्ञानं न भवति, तथैवागत्य नेया । अन्यथा उपक्रमावधिं फलपर्यन्तं मध्ये कालविलम्बे शरीरपातोऽपि भवेदिति तथा प्रार्थना । देशोऽपि न पूर्वमागन्तव्यमित्याह । श्वो भाविनि उद्वाहे । प्रथमतस्त्वमेकाकी गुप्तः समागत्य, पृतनाञ्च भिन्नतया समानीय, तत्रापि पृतना यादव रूपेण, न तु विजातोया भानेया, अन्यथा मन्त्रभेदः स्यात् । पश्चात्पुनरप्रवेशे तैः परीतः । अन्यथा स्वस्य चिन्ता स्यादिति । यद्यपि त्वमजितः, अथवा अजितत्वादेव पक्षान्तरा-

भावात् चैद्यमग्रेणयोर्वलं निर्गम्य, मध्ये प्रतिवन्धकत्वेन स्थितमपसार्य, तदर्थं प्रसह्य, बलात्कारमपि कृत्वा, मामुद्गृह्य । नन्वेवं सति कामार्थं भक्त्यर्थं वा विवाहो भवेत्, न धर्मार्थं मित्याशङ्क्याह राक्षसेन विधिनेति । क्षत्रियस्य स एव धर्मः । गान्धर्वस्तु पूर्वमुक्त एव 'तन्मे भवान्बलु व्रत' इत्यनेन । अतो मद्रिवाहे उभयं भविष्यतीति भावः । ननु एवं हरणे परस्वादान् वेदित्याशङ्क्याह वीर्यशुल्कामिति । न हि मृत्ये दत्तो परस्वादानमस्ति । क्षत्रियैः वीर्यमेव सर्वत्र शुल्कम् । पराक्रमं कृत्वा मारयित्वा य एव हरति, तस्मै तदिति क्षत्रियधर्मानुसारेण हरणे न परस्वादानमित्यर्थः

व्याख्यार्थ— यदि आप प्रकट हो कर पधारंगे तो कदाचित् आपको छिपा दे, अथवा लगन से पूर्व ही शिशुपाल के पास भेज देवें वा विना विधि के ही उसको दे देवे, अतः जिस प्रकार आपको आने की खबर उनको न पड़े उसी भाँति आप पधार कर लेजाना, नहीं तो उपक्रम से लेकर फलपर्यन्त मध्य में काल विलम्ब होने पर शरीर का नाश भी हो जाय, इसलिए जल्दी आने की प्रार्थना को ही देश के भीतर भी पहले नहीं आना कल विवाह होने वाला है, अतः देश में पहले आप अकेले ही गुप्त आजाना सेना जुदी लाना वह सेना भी यादवों का ही होनी चाहिए दूसरी जाति की सेना नहीं लाना क्योंकि दूसरी जाति की सेना से की हुई गुप्त सलाह का भेद खून जायगा, पीछे जब शहर के अन्दर प्रवेश करो तब सेनापतियों के साथ पधारना, नहीं तो अपने सम्बन्धियों को चिन्ता होगी, हालाँकि आपको कोई भी जीत नहीं सकता है, अथवा अजित होने से ही दूसरी कोई पक्ष नहीं है । अतः शिशुपाल और जरासन्ध को सेना को जीत कर बीच में जो रूकावटें आवें उनको मिटा कर इसलिए बलात्कार भी कर पुञ्ज से विवाह करो, यदि कहो कि यों करने से वह विवाह कामार्थ अथवा भक्ति के लिए होगा, न धर्मार्थ विवाह होगा ? इसके उत्तर में कहती है कि राक्षस विधि से विवाह कर लो क्षत्री का राक्षस विधि से विवाह भी धर्म विवाह है "तन्मे भगवान् बलु व्रत" इस श्लोक में गान्धर्व विवाह तो पहिले कह दिया है. अतः मेरा विवाह दोनों प्रकार होगा, यदि कहो 'क्यों बलात्कार से लेना एक प्रकार से दूसरे का धन चुराना है ? इस शंका का समाधान करती है कि मूल्य देकर जो वस्तु ली जाती है वह चुराई हुई वा छोनी हुई नहीं कही जाती है, क्षत्रियों के पास सब वस्तु लेने के लिए पराक्रम ही कीमत है जो वीर पराक्रम से मारके वा जीत के जिस वस्तु को ले जाता है वह वस्तु उसकी ही होती है इसलिए क्षत्रिय धर्म के अनुसार हरण कर लाने में पराया धन चुराया नहीं है ॥५४॥

आभास—बाधशङ्का प्रकारमुविश्य तत्रापि स्फुरितं बाधकमनूद्य परिहरति अन्तः पुरान्तचरामिति ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक में हकावटें होगी इस शंका के निवृत्ति का प्रकार बताया, फिर उसमें भी बाधा की स्फूर्ति समझ उस बाधा के निवारण का उपाय “अन्त पुरान्तर” श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—अन्तःपुरान्तरचरामनिहृत्य बन्धूंस्त्वापुद्बहे कथमिति प्रवदास्युपायम् ।

पूर्वद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां बहिनंबवधूर्गिरिशामुपेयात् ॥४२

श्लाकार्थ—यदि आप कहो कि जनानेखाने में रहने वाली तुमको, तेरे बान्धवों को मारने के सिवाय, कैसे तेरे साथ व्याह कर सकेंगे इसका भी उपाय बता देती हूँ विवाह के पहिले दिन कुलदेवी के दर्शन को जाने के लिए शोभा यात्रा निकलेगी जिसमें जो नव बधु हो वह देवी के दर्शन को जावे यह हमारे कुल की रीति है—अतः मैं शोभा यात्रा में जाने के लिए बाहिर निकलूंगी ॥४२॥

मुबोधिनी—बन्धूननिहृत्वा अन्तःपुरमध्ये चरणयोग्यां वा कथमुद्बहे इति चेत् (शङ्का से), तदापि सन्ति बहव उपायाः । तथाप्यविरुद्ध उच्य इत्याह । प्रकषेण उपायं वदामीति । केन-चिद्दृष्ट्याजेन स्वयं बहिरागच्छेत्, भगवान्बा वेश कृत्वा गच्छेत्, आकर्षणं वा कुर्यात्, बुद्धिं वा प्रेरयेत्, अन्यथा सर्वेषाम्, सर्वेष्वपि पक्षेषु त्रिलक्ष्णं भवेत्, पराक्रमश्च न भवेत्, तस्मादन्यदकृत्वा गौरोपूजनाथमेव गताया हृणं कर्तव्यमिति प्रार्थना । तत्र गमनभावश्यकमित्याह । पूर्वद्युः विवाहास्पृर्वदिवसे महती यात्रा वर्तते । सा अनु-लङ्घनीया ततः । कुलदेवतायाः महतीत्यनेन दूरे गमनमुक्तम् । किमतो यद्येवमिति चेत्, तत्राह यस्यां बहिनंबवधूरिति । नवबधूः नूतना बधूः संख्यापि लोकप्रसिद्धार्थं भोग्यात्पूर्वं भोगयोग्या नवबधूर्भवति, सा गिरिशां पार्वतीं द्रष्टुमुपेयादिति विधिः । स्वयमपि गिरिषामी-शभूतेति अकारान्तात् टाप् । नित्यं संज्ञाच्छन्द-सोरांत वा डाप् । ततो बहिः स्थिता तत एव नेयेति भावः । अतो विवाहदिवस एव द्वारकायां विवाहो भविष्यतीति न ज्योतिःशास्त्रस्याप्य-प्रामाण्यम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—मैं जनाने खाने में भीतर रहती हूँ उसको मेरे सम्बन्धियों को मारने के सिवाय भुज से विवाह कैसे कर सकोगे, यदि वैसी शंका हो तो उस के लिए बहुत उपाय है, किन्तु मैं वह उपाय वनलानी हूँ जो विरुद्ध नहीं है साधारण उपाय नहीं बताती हूँ किन्तु उत्तम उपाय कहती

है उपायों के प्रकार बताती है। १-किसी भी वहाने अन्नपुर से बाहिर आना, २-भगवान् वेश बदल कर आवे, ३-पकड़ कर ले जावे, ४-बुद्धि में प्रेरणा करे, ५-अथवा इस सबों से किसी अन्य तरीके से आ कर ले जावे इन सब तरीकों में दुःख है और बहादुरी भी नहीं है इसी कारण से दूसरा कुछ भी न कर गौरी पूजन के लिए गई हुई का हा वहाँ से हरण कर लेना, यह मेरी प्रार्थना है वहाँ जाना आवश्यक है विवाह के पहिले दिन बड़ी शोभा यात्रा होती है वह रोकी नहीं जाती है, कुल देवता को बड़ो यात्रा है, इससे यह प्रकट किया कि दूर जाना पड़ता है जो यों है तो इससे क्या ? इसका उत्तर देती है कि नवीन बहू बहुत प्रकार से रक्षा की हुई भी लोक में प्रसिद्ध के लिए पति से हस्तग्राह करने से पहिले जो नवीन बधु होती है, वह पार्वती देवी के दर्शन के लिए जावे, यह विधि है आप भी पर्वतों को ईश भूता है इसलिए अकारान्त से “टापू प्रत्यय है” अथवा संज्ञा एवं छन्द में टापू प्रत्यय होता है, इसलिए “टापू” प्रत्यय है पश्चात् मैं बाहिर हो रहूँगी वहाँ से ले लेना, इस प्रकार पहिले दिन यात्रा के समय हरण कर चलोगे तो दूसरे विवाह के दिन तो द्वारका में विवाह भी हो जायगा जिसमें ज्योतिष शास्त्र भी प्रमाण रूप होगा अर्थात् शास्त्रानुसार मूर्त के दिन विवाह भी हो जायगा ॥४२॥

आभास—एवं स्वरूपप्रकारप्रार्थनां कृत्वा तदकरणे वाधकमाह यस्याङ्घ्रि-
पङ्कजेति ।

आभासार्थ—प्रार्थना इसी भाँति स्वरूप और प्रकार की प्रार्थना कर उसके न करने से महती हानि होगी जिसका वर्णन “यस्याङ्घ्रिपंकज” श्लोक में करती है ।

श्लोक—यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्ये ।

यह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून्वतकृशा शतजन्मभिःस्यात् ॥४३

श्लोकार्थ—हे कमल के समान नेत्र वाले महादेव को भाँति अन्य महात्मा भी अपनी अज्ञानान्धता को मिटाने के लिए आपके चरण कमल की रज में स्नान करना चाहते हैं जो मैं आपका प्रसाद न पाऊँगी तो अब प्राणों का त्याग करूँगी और आपको कृपा सम्पादन करने के लिये सैकड़ों जन्मों से ब्रत रखकर तब तक कृशा बनती जाऊँगी जब तक आपका अनुग्रह प्राप्त न हो ॥४३॥

सुबोधिनी—यहि प्रसादं न लभेय, तहि | उत्तमफलत्वादित्याह । यस्य भगवतः अङ्घ्रि-
जह्यामसून्व, ननु कोऽयं निर्बन्ध इति चेत्, | पङ्कजरज रजसा स्नान महान्तोऽपि वाञ्छन्ति ।

तब निदर्शनमुमापतिः । स हि केवलं रजसा स्नानमलभमानः रजोयुक्तचरणोदकेन स्नानं करोतीति । उमापतिपदेन उमयापि वृतः शिवः । तस्यापि स एवाभिप्रेत इति तदेवोत्तमं फलम् । किञ्च । आत्मतमोपहृत्यै आत्मनस्तमोगुणो गच्छत्विति । अहमपि माया त्रिगुणात्मिका, तत्रापि रुक्मिप्रभृतिभिः सह अवतीर्णति तमः प्रधानं व । ततश्च तत्तमश्च न दूरोक्रियते, तदा

पुनर्निवृत्तजन्म भविष्यतीति तदर्थं प्रयत्नोपवश्यं कर्तव्यः । तत्रायमुपायः सुगम उत्तमश्च । एतदभावे तु शरीरं वा त्यक्ष्यामि । अयं संसर्गो गच्छतीति । किञ्च । व्रतेन कृशा सतो उत्तरोत्तर-जन्मसु शतजन्मभिः अयमर्थः कदाचित् स्यात् । 'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभि'रिति वाक्यात् । अम्बुजाक्षेति सम्बोधनं दृष्ट्यैव तापहारकः कथमेवं करिष्यतीति बोधनार्थम् ॥४३॥

व्याख्यानार्थः—जो आपका प्रसाद न पाऊँगी तो प्राणों का त्याग करूँगी तेरा इस प्रकार का यह कौनसा हठ है ? इसके उत्तर में कहती है कि आप सब फलों से उत्तम फल हैं, यह ही है उसकी सिद्धि करना है, जिस भगवान् के चरण कमलों की रज से स्नान करना महान् सिद्धि भी चाहते हैं जिसमें प्रमाण महादेव है, वह केवल रज से स्नान न प्राप्त होने से रजयुक्त जल से स्नान करता है न केवल महादेव किन्तु पार्वती को भी यह स्नान पसन्द है वह भी महादेव की भाँति रजोयुक्त जल से स्नान करती है, इसलिए यहाँ शिव का 'उमापति' नाम दिया है, वह भी उत्तम फल है उससे स्नान करने का कारण तमोगुण का नाश करना है मैं भी त्रिगुण रूप माया हूँ और विशेष में रुक्मि प्रभृति अविद्या पार्वतीको के साथ जन्मी हूँ मेरे में भी इसलिए तमोगुण प्रधान है, यदि आप मुझे स्वीकार कर इस तम का नाश करोगे तो फिर मुझे ऐसी नीच योनि न मिलेगी इसलिए वह न मिले आपका प्रसाद प्राप्त हो जिसके लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए, इसलिए मेरा बताया हुआ यह उपाय सरल तथा उत्तम है आप ऐसा न करोगे तो शरीर छोड़ दूँगी जिससे यह सम्बन्ध जाता रहे और विशेष में व्रत में कृश हो एक जन्म में नहीं किन्तु सैकड़ों जन्म उतरोतर कृश होती रहूँगी जिससे यह मेरा मनोरथ कभी भी हो जावे, जैसा कहा कि "स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः" सौ जन्म में कर्म करने वाला स्वधर्मनिष्ठ होता है, "अम्बुजाक्ष" विशेषण से यह बताया है कि आप दृष्टि से ताप को बुझाने वाले हैं, वे आप ऐसे कैसे करोगे अर्थात् अवश्य मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगे ॥४३॥

आभास—एवं रुक्मिणीवाक्यान्युवत्वा उपसंहरति इत्येत इति ।

आभासार्थ—इसी भाँति रुक्मिणी के वचन कह कर विषय का उपसंहार "इत्येते" श्लोक से करते हैं ।

ब्राह्मण उवाच—

श्लोक—इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाहृताः ।

विमृश्य कतुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण कहने लगा कि हे वसुदेव ये गुप्त सन्देश मैं ले आया हैं आप विचार कर बाद में इस विषय में करना हो वह कीजिए ॥४४॥

सुबोधनी—गोप्या एते सन्देशाः । यदुदेवेति सम्बोधनात् विवाहः कर्तव्य इति सूचितम् । मयैवाहृता इति सुतरां गोप्यत्वम् । कदाचिदेतत्पत्रं अन्यस्य कापट्यात् भवेदिति शङ्का स्यात्, तदर्थमाह । एतद्विमृश्य कतुं यच्चात्र सिध्यति,

तत्क्रियताम् । चकाराद्यद्वक्तव्यम्, तदुच्यतामिति । विमर्शानन्तरं कर्तव्यम् । अथवा । तदनन्तरमेव कर्तव्यं 'किं कार्यं करवामे'त्यस्यैतदेवोत्तरमित्यर्थः ॥४४॥

व्याख्यान—ये सन्देश गुप्त हैं यदुदेव संबोधन देने का आशय है कि आपको विवाह करना चाहिए, यह सन्देश मैं हीं लाया हूँ, इसलिए विशेष गोपनीय है, किसी कारण से भी आपको यह शंका हो कि यह पत्र दूसरे का कापट्य से भेजा हुआ है तो इसलिए कहता हूँ कि आप पूरी तरह विचार कीजिए विचार के बाद जो कुछ योग्य जचे वही कीजिये, “च” पद से यह बताया है कि विचार करने के अनन्तर जो कुछ करने का निश्चय करो और मुझे जो कहना हो वह कहिए ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, के उत्तरार्ध के १२ वें अध्याय की

श्रीमद्बलभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधनी 'संस्कृत टीका' के राजस साधन

अवान्तर प्रकरण, के तीसरे अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग सारंग

द्विज कहियो जदुपति सौं बात ।

वेद विरुद्ध होत कुंडिनपुर. हंस के अंस काग नियरात ॥

जनि हमरे अपराध विचारहैं, कन्या लिख्यौ भेटि गुरु तात ।

तन आत्मा समरप्यो तुमकों, उपजि परि तातैं यह बात ॥

कृपा करहु उठि बेग चढहुँ रथ, लगन समै आवहु परभात ।

कृष्ण सिंह बलि धरौ तुम्हारी, लैबेकौं जंबुक अकुलात ॥

ताते मैं द्विज बेगि पठायौ, नेम धरम मरजादा जात ।

सूरदास सिमुपाल पानि गहै, पावक रचौं करौ अपघात ॥

॥ श्रो हरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री बावपति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मदल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका—हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

स्कन्धानुसार ५३ वां अध्याय

सुबोधिन्यानुसार ५० वां अध्याय

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

चतुर्थ अध्याय

रुक्मिणी का हरण

★

कारिका—शतार्धे वा चतुर्थे वा भगवान् भार्ययाथितम् ।

विप्रार्थितं च कृतवानिति सम्यङ् निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पचासवें अध्याय में अथवा राजस साधन के चौथे अध्याय में भगवान् ने जिस कार्य की स्त्री ने तथा ब्राह्मण ने प्रार्थना की और उनका जो कार्य किया उसका अच्छी प्रकार से वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—प्रसह्य कन्याहरणमुद्योगावधि वष्यन्ते ।

कायवाङ्मनसामत्र ह्यं कर्मत्यं निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—उद्योग पूर्वक जबर्दस्ती जो कन्या का हरण किया है, वह वर्णन किया जाता है, इस प्रसंग में काया, वाणी तथा मन का एक ही मत है, यह निरूपण किया जाता है ॥२॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते यत्कर्तव्यम्, यद्वा वक्तव्यम्, तदुच्यतां क्रियतामिति ब्राह्मणविज्ञापना निरूपिता । ततो भगवान् तत्सन्तोषार्थं स्वमानसं वाक्यं च निरूपयितुमारम्भं कृतवानित्याह वैदर्भ्या इति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में ब्राह्मण ने प्रार्थना पूर्वाक कहा कि 'अब जो आपको करना है, वह करिये और जो कहना है कहिए, पश्चात् भगवान् उसके सन्तोष के लिए, अपने मन का विचार और वाक्य निरूपण करने के लिए "वैदर्भ्या" श्लोक से प्रारम्भ करते हैं ।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः ।

प्रगृह्य पाणिना पाणि प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि उन यदुनन्दन ने खिमणी का सन्देश सुनकर, हँसते हुए अपने हाथ से ब्राह्मण के हाथ को पकड़ (ग्रहण) कर यह वचन कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—सा 'ह्यत्यन्त' कुलीना भक्ति-प्रधाना । यदुरपि भक्तिप्रधानः । तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । नात्र शङ्का सम्भवति । यतोऽहमपि जात इति वक्ष्यति । संदेशश्चावश्यं श्रोतव्यः ।

इदं श्रवणं विचारपूर्वकं सादरं च । ततो ब्राह्मणः गुह्यकर्तेति तेन सह मैत्रीमिव कर्तुं पाणिना पाणि प्रगृह्य भार्यासम्बन्धयामिति ओदासीन्यं परित्यज्य प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥१॥

व्याख्यार्थ—वह निश्चय ही अत्यन्त कुलीन एवं जिसमें भक्ति ही मुख्य है, वैसी है । यदु भी भक्ति प्रधान है, "तु" शब्द शंका की निवृत्ति के लिए है । इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है, क्योंकि मैंने भी जन्म लिया है । यों कहेगा और यह सन्देश अवश्य सुनने योग्य है और यह भी

आदर सहित विचार पूर्वक सुनना है फिर, ब्राह्मण गुह्य कार्य करने वाला है, अतः इसके साथ मानो मंता करते हुए को तरह अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ कर यह ब्राह्मण भार्या का सम्बन्धी है. इसलिए उदासोन्ता छोड़ हँसते हुए कहने योग्य को यों कहने लगे ॥१॥

आभास—आदौ स्वमनोवार्तामाद्ग तथाह-पि तच्चित्त इति ।

ग्रामासाथं—पहिले अपने मन के भाव को “तथाहमपि” श्लोक में कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच-

श्लोक— तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।

वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहा निवारितः ॥२॥

श्लोकार्थ—जैसे उसका मन मुझ में लगा हुआ है, वैसे ही मेरा मन भी उसमें आसक्त है । जिससे रात्रि में नीन्द भी नहीं आती है, मैं जानता हूँ कि रुक्मी ने द्वेष के कारण मेरे विवाह का निवारण किया है ॥२॥

<p>सुवोधिनी—यथा सा मच्चित्ता, एवमहमपि तच्चित्तः । अनेन सर्वाणि तस्या वाक्यानि मद्वाक्यसदृशानोति निरूपितम् । विशेषमप्याह निद्रां चेति । रात्रावावश्यको निद्रा सापि चिन्तया न जातेति । भार्येच्छया वा । नन्वेव चिन्तायां</p>	<p>कि कारणमित्याकाङ्क्षायामाह वेदाहमिति । नात्र किञ्चित्सन्दिग्धम् । यतोऽहं वेद । सर्वगुणसम्पत्तावपि केवलं द्वेषात् रुक्मिणा एकेन ममोद्वाहः आहूय कन्यादानलक्षणः प्रयत्नेन निवारितः ॥२॥</p>
--	--

व्याख्यार्थ—जैसे वह मुझ में आसक्त है, वैसे ही मैं भी उसमें आसक्त हूँ । यों कहने से यह सूचित किया है, कि जो उसने बचन कहे हैं, वे मेरे वचनों के समान हो हैं । विशेष कहते हैं, कि मुझे तो नीन्द भी नहीं आती है । रात्रि के समय निद्रा लेना आवश्यक है, किन्तु उसका चिन्तन होने से वह भी नहीं आती है । अथवा स्त्री को इच्छा से वैसी चिन्ता करने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मैं जो जानता हूँ उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है क्योंकि मैं वास्तविक जानता हूँ । मुझ में वर के योग्य सर्व गुणों की सम्पत्ति होती हुए भी केवल द्वेष के कारण एक रुक्मी ने ही मेरे विवाह का प्रयत्न कर निवारण किया है ॥२॥

आभास—एवं प्रामाण्य मानस चोक्त्वा प्रतजानीते “तामानयिष्य” इति ।

आमासार्थ— इस प्रकार प्रमाण पूर्वक मन का भाव कह कर अब “तामानयिष्य” इस श्लोक में कहते हैं कि मैं इसको ले आऊँगा ।

श्लोक—**तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे ।**

मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥३॥

श्लोकार्थ—युद्ध में अधम राजाओं का मथन कर उसको ले आऊँगा और जलती हुई अग्नि की शिला की तरह जो मेरे में यह परायण है उसको निर्दोष कान्ति युक्त करूँगा ॥३॥

सुबोधिनी—भार्येति निश्चित्य न नाम गृह्णाति । प्रतिबन्धकानामल्पत्वायाह । राजन्यापसदान् राजन्येषु अधमान् अपगता सद् सभा येभ्य इति । क्षत्रियगोष्ठ्यां परिगणनारहिताः अधमाः । ते ह्यतिमुद्रा इति न मारणमपेक्ष्यते, किन्तु उन्मथनमेव कर्तव्यम् । अलौकिकद्वारा निवारयति मृध इति । युद्धे एव तानुन्मथ्य आनयिष्यामीति भावः । एवं करणे हेतूनाह मत्परामिति ‘अहं भक्तपराधीन’ इति भक्तिमार्गानुसारेणापि

तामानयिष्ये । अनवद्याङ्गीमिति निर्दुष्टत्वादपि । निर्दुष्टं हि भगवान् गृह्णातीति । अङ्गपदेन वाक्येन दोषो निरूपितः । यतः सा दत्ता । इयं धर्मोपयोगिनो भविष्यतीति राक्षसविवःहं करिष्यामीत्याह एधसोऽग्निशिखामिवेति । दारुणि ज्वलन्ती अग्निशिखा तात्पर्यं प्रकाशमेति । संव चेत् वतिसहिता भवेत्, तदा दीपरूपा अति प्रकाशते, तथा तां प्रकाशयुक्तां करिष्यामीत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ— भगवान् ने नाम न लेकर ‘भार्या’ शब्द कहा है । जिसका तात्पर्य यह है, कि आपने उसको अपनी निश्चित पत्नी मनसे बना ली थी कि मैं इसको लाकर इसका पाणिग्रहण अवश्य करूँगा, ये राजा अधम होने से राजाओं को सभा में गणना के योग्य नहीं हैं, वे बिल्कुल तुच्छ हैं, इसलिए मारने योग्य नहीं है, किन्तु इनका मथन कर इनको नष्ट कर देना चाहिये । वह भी अलौकिक प्रकार से नहीं, किन्तु युद्ध में ही उनकी नष्ट कर अपनी भार्या को ले आऊँगा । यों ले आने में कारण बताते हैं, कि वह मेरे में परायण है, अर्थात्, अत्यन्त आसक्त चित्त वाली है, वैसा को लाना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है कि ‘अहं भक्त पराधीनः’ स्वतन्त्र होते हुए भी मैं भक्तों के आधीन हूँ, इसलिए भक्ति मार्ग के अनुसार भी इसको लाऊँगा । भगवान् निर्दोष वस्तु ग्रहण करते हैं, यह भी निर्दोष है । यह भाव ‘अंग’ पद देकर प्रकट किया है, क्योंकि वह दी हुई है, यह धर्म कार्य के उपयोग में आयेगी, इसलिए इसके साथ राक्षस विघ्नके अनुसार विवाह करूँगा । जिस समय लकड़ी जलती रहती है, उस समय अग्नि की शिखा विशेष प्रकाश नहीं करती है । वही अग्नि जो दीपक को बत्ती में हो तो दीप रूप होने से विशेष प्रकाश करती है वैसे ही उसको मैं विशेष कान्ति वाली करूँगा ॥३॥

आभास—एगं वाचनिक मुक्त्वा कायिकार्थं प्रयत्नमाह उद्धाहर्क्षमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वाणी से जो बताना था वह कहकर, अब “उद्धाहर्क्ष” श्लोक में कायिक के लिए जो प्रयत्न करते हैं, वह कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक — उद्धाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः ।

रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-मधुसूदन भगवान् रुक्मिणी के विवाह होने के योग्य नक्षत्र जान कर, सारथी को यों कहने लगे कि हे दारुक ! शीघ्र रथ तैयार करो ॥४॥

<p>सुबोधिनी—विवाहे नक्षत्रमेव मुख्यमिति । भार्याप्रधानमिति, चन्द्रं ग्रहांश्रानुगुणान् परित्यज्य नक्षत्राणां मुख्यता निरूपिता । विवाहनक्षत्रं ब्राह्मणमुखादेव विज्ञाय रथः संयुज्यतामित्याह । सम्यक् योगो युद्धार्थः । तत्र हेतुः रुक्मिण्या</p>	<p>इति । रुक्मिणी भगिनोति । सेनासङ्ग्रहाभावे स्वत एव सामर्थ्यमाह मधुसूदन इति । आशु संयुज्यताम्, अनेन समयः सन्निहित इति ज्ञापितम् । दारुकेति सम्बोधनं वैकुण्ठादागतस्य चानुयं भयाभावश्च प्रदर्शितः ॥५॥</p>
---	--

व्याख्यार्थ—विवाह में नक्षत्र ही मुख्य है “भार्या प्रधानं” पद से यह सूचित किया है कि चन्द्र ग्रहों के अनुगुणों का परित्याग कर शास्त्रों में नक्षत्रों को ही मुख्यता कही है, ब्राह्मण के मुख से विवाह के नक्षत्र का ज्ञान प्राप्त कर, सारथी को आज्ञा दी, कि रथ तैयार कर सम् शब्द का योग देकर यह सूचना की है, कि रथ इसी प्रकार तैयार कर जैसे युद्ध का कार्य कर सके । युद्ध के लिए कहने का कारण यह है, कि जिसको ले आना है वह मेरे शत्रु रुक्मिणी की बहिन रुक्मिणी है, अतः अवश्य वहाँ युद्ध होगा । यदि यह निश्चय है तो सेना को इकट्ठी कर क्यों नहीं ले जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “मधुसूदनः” आप मधु जैसे जवर्दस्त दैत्य को मारने वाले होने से स्वयं एक ही समर्थ हैं । शीघ्र तैयार करो, कहने का भाव यह है कि समय थोड़ा है, विवाह का मुहूर्त निकट है । दारुक सम्बोधन देकर वह बता दिया है कि यह वैकुण्ठ से आया हुआ सारथि है, जिससे यह भी दिखाया कि यह चतुर और निर्भय भी है ॥४॥

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सीताराम पुस्तकालय
 विश्राम बाजार, मथुरा मी. : 09837654007

आभास—शीघ्रमेव दारुककृतिमाह स चाश्वरिर्नित ।

आभासार्थ—दारुक का कार्य शीघ्र ही “ स चाश्वः” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—स चाश्वैः सैन्यसुग्रीवमेगपुष्पबलाहकः ।

युतं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिर्ग्रतः ॥१॥

श्लोकार्थ—वह सैन्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम वाले घोड़ों से युक्त रथ को लेकर और हाथ जोड़ भगवान् के आगे खड़ा हुआ ॥१॥

सुबोधिनी—यद्यपि भगवतो बहवश्चाशवाः, रथाश्च बहवः, तथापि सारथिपदप्रयोगात् गरुडध्वज एव रथो वृहीतः । तादृशोऽपि सैन्यादीनेव चतुरोश्वान् योजितवान् । तेषामन्वर्थानि नामानि । तन्नाद्यः सैन्यरूप एव । असङ्ख्यतासैन्येन यावत्कार्यम्. तावदनेनैव भवतीति । द्वितीयः सुग्रीवः, यथा वानराधिपतिः सीतासमानयने रामकार्यसाधकः, तादृशोऽप्यमिति, सुग्रीव

इति । शोभना ग्रीवा यस्येति नास्य कदाचिदपि परावृत्तिः सूचिता । मेघपुष्परतृतीयः । वृष्टिवत् सर्वानिव व्याप्य पततीति । बलाहकश्चतुर्थः । स मेघवत्पक्षिवद्वा क्षणमध्ये समायात्यपगच्छति च । एवं तैर्युक्तं सम्यग्योजितं रथमुपानीय यावद्विनियोग कृत्वा, स्वकृतं ज्ञापयन्निव अग्रतः प्राञ्जलिस्तस्थी ॥६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् के पास रथ और घोड़े बहुत हैं, तो भी सारथि पद से यह सूचना दी है कि इस समय गरुड़ की ध्वजा वाला रथ ही तैयार करना है । वैसे उस रथ में चार घोड़े भी उसी प्रकार के सैन्य आदि नाम वाले चार घोड़े जाड़ने जो उनके नाम हैं वे उनके कार्य के समान ही हैं । जैसा कि पहिला अश्व सैन्य नाम वाला इतना काम कर सकता है कि वह अगण्य सेना पार कर सकता है । दूसरा सुग्रीव नाम का अश्व सुग्रीववाला होने से वह कभी भी पराजय हो कर नहीं लौटता है । वह जैसे रामावतार में वानरों के अधिपति सुग्रीव ने सीता के लाने में सहायता दी थी वैसे यह भी (सहायता) देगा । तीसरा मेघपुष्प नाम वाला अश्व वृष्टि की भाँति सब पर व्यापक रूप से गिरता है । चौथा बलाहक नाम वाला अश्व मेघों की भाँति वा पक्षी की तरह क्षणमात्र में आता और जाता है । इस प्रकार इन घोड़ों से युक्त अच्छी तरह सजाया हुआ रथ लाकर सारथि हाथ जोड़े हुए आगे खड़ा हो गया ॥१॥

आभास - एवं ब्रह्मणाय स्ववाक्यसामर्थ्यं प्रदर्शितम्. ततः कुण्डिनपुरं गत इत्याह आरूहेति ।

आभासार्थ—इसी भाँति ब्राह्मण को अपने वाक्य की सामर्थ्य दिखाई । पश्चात् कुण्डिनपुर गए जिनका वर्णन “आरुह्यस्यन्दनं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—आरुह्य स्यन्दनं शौरिद्विजमारोप्य तूर्णगः ।

आनतदिकरात्रेण विदर्भानगमद्वयैः ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ब्राह्मण को रथ में बिठाकर और आप भी विराज कर शीघ्र गमन करने वाले घोड़ों से एक ही रात्रि में आनत देश से विदर्भ को पहुँचे ॥६॥

सुबोधिनी—स्यन्दनमिति वेगगामिनम् । मध्यदेशेषु न परिज्ञानं भवति । अन्यथा तत्र-शौरिरिति पितामहनाम्ना व्यपदेशः अलौकिक-तयैज्ञापने रुमी ब्राह्मणाय भगिन्यै वा अपकारं सामर्थ्यप्रकाशनाभावार्थः । तमपि द्विजं तत्रैवा-कुर्यात्, तथैव च रुमिण्या प्रार्थितः ॥६॥
रोप्य एकरात्रेणैव स्वदेशात् देशं प्रविष्टः, यथा

व्याख्यार्थ—स्यन्दन शब्द से बताया, कि यह रथ वेग से जाने वाला है । अर्थात् यह शीघ्र-गामी है । आपका “शौरि” नाम दे कर यह सूचना दी है कि इस समय आपको अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नहीं करना है । उस ब्राह्मण को भी उसमें ही बिठाकर एक ही रात्रि में अपने देश से उस देश में वैसे प्रविष्ट हो गए जैसे कि बीच में आए हुए देशों को पता न पड़ा । यदि वहाँ वालों को पता पड़ जाता तो रुमी ब्राह्मण का अथवा बहिन का अनिष्ट करता, रुमिणी ने भी वैसी ही प्रार्थना की थी ॥६॥

आभास—भगवतो नगरप्रवेशं चकतुं नगरवर्णनार्थं भ्रमाद्राज्ञः प्रवृत्तिं निमित्तस्वे-नाह राजा कुण्डिनपतिरिति ।

आभासार्थ—भगवान् का नगर में प्रवेश कहने के लिए नगर का वर्णन करते हुए भ्रम से राजा की प्रवृत्ति निमित्त से “राजा सकुण्डिनपतिः” श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः ।

शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन्कर्माण्यकारयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—कुण्डिनपुर का वह राजा, पुत्र के स्नेह वश हो शिशुपाल को अपनी कन्या देते हुए उसके निमित्त नगर को सजाने का कार्य कराने लगा ॥७॥

सुबोधिनी—राजत्वाद्भीष्मकत्वात् । कुण्डिन-
मिति अल्पवत् नगरनाम निरूपितम् । तत्पति-
त्वाच्च । पुत्रस्नेहवशत्वाच्च शिशुपालाय शिशु-
वालबुद्धिमेव पालयतीति दुबुद्धये कन्यां दातुं ।
कर्माणि पुरसंस्काररूपाणि सेवकरकारयत् ।
अनेन देशे भगवद्गमनेऽपि न तेषां विपरीत-
शङ्का कापि जातेति निरूपितम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—राजापन से वा भीष्मकपन से “कुण्डिन” पद से दिखाया है कि वह छोटा सा नगर है, जिसका वह स्वामी है । पुत्रस्नेह के वश होकर जो बाल बुद्धि को, उसका अब तक पालन करता है । इसलिए उस दुबुद्धि को कन्या देने के लिए नगर के सजाने के कार्य सेवकों से कराने लगा । इससे देश में भगवान् के पधारने पर उसको किसी प्रकार से मन में सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ, यों निरूपण किया है ॥७॥

आभास—भगवत्प्रवेशार्थं पुरीं वर्णयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् के प्रवेश के लिए पुरी का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—पुरं संमृष्टसंसिक्तमार्गार्थ्याचतुष्पथम् ।

चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणः समलंकृतम् ॥८॥

स्रगन्धमाल्याभरणौविरजाम्बरभूषितं ।

जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगरुधूपितैः ॥९॥

श्लोकार्थ—प्रथम नगर के राजमार्ग, गली और चौराहे को झार बुहार साफ कराया, फिर छिड़काव कराया, विचित्र ध्वजा, पताका और तोरण बंधवा कर नगर को सुशोभित किया ॥८॥

नगर के नर नारी, माला, सुगन्ध पुष्प और आभूषण तथा स्वच्छ वस्त्रों से अलंकृत हो रहे थे एवं घर घर में अगर की मुगन्धियां जाती थी ॥९॥

सुबोधिनो—पुरमिति । प्रथमतः सम्यक् मूष्टं रजोनिवारणेनोज्ज्वलीकृतम् । ततः संसिक्तं चन्दनादिभिः । मार्गा राजमार्गाः । रथ्या हृष्ट-स्थिता । चतुष्पथं सर्वतो मार्गाः । तेषु संसिक्तमित्यर्थः । एकमघः शोभा निरूपिता । उपरिशीभामाह चित्रध्वजेति । त्रिविधैरपि सम्यगलङ्कृतम् । मध्ये अलङ्करणमाह स्रगन्धेति । स्त्रीपुरुषैः गृहैश्च जुष्टमिति । अनेन तस्मिन् नगरे

केवला व्यावर्तिताः । ये सुतरागमङ्गलरूपाः, तेऽपि भूषिता इत्याह । स्रगन्धमाल्याभरण-युक्ताः, स्रगन्धमाल्यानामेवाभरणानि येष्विति । विरजानि अम्बराणि भूषणानि च येष्विति । श्रीभद्गृहैरिति गृहे सर्वसम्पत्तिर्निरूपिता । अग्रधूपितैरिति विशेषसम्पत्तिः विवाहोत्सवप्रयुक्तिश्च निरूपिता ॥८॥६॥

व्याख्यार्थ—पहिले नगर की धूलि आदि निकाल कर उसे खूब उज्ज्वल और साफ किया । बाद में चन्दन आदि के सुगन्धित जल से राजमार्ग, बाजार, गलियाँ, रथ के जाने योग्य सड़कें और चौराहों पर छिड़काव किया । इस प्रकार नीचे भाग की शोभा का वर्णन करके अब ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं कि विचित्र ध्वजा पताका और तोरणों से अच्छे ढंग से उसे सजाया । बीच का शृंगार कहते हैं कि नगर स्त्री और पुरुष तथा गृहों से सुरोभित हैं इससे नगर में कोई भी बिना अलंकार के नहीं है, जो बहुत कर अमंगल रूप हैं, वे भी अलंकृत किए हुए हैं । पुरुष और स्त्रियाँ माला, चन्दन, पुष्पों के आभरणों से युक्त हैं तथा स्वच्छ वस्त्र तथा अनेक आभूषणों से सुन्दर रूप वाले बने हुए हैं, इससे घरों की सर्व प्रकार की सम्पत्ति का निरूपण किया है । घरों में विशेष सम्पत्ति विवाहोत्सव में लगने वाली भी है । अग्र धूप आदि से समस्त घर सुगन्धि से युक्त थे ॥८, ६॥

आभास—एवं लौकिकसमृद्धिमुक्त्वा वैदिकार्थसमृद्धिमाह पितृन्देवान्समभ्यर्च्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार लौकिक समृद्धि कहकर अब वैदिक के लिए जो समृद्धि होती है, वह “पितृन् देवान्” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—पितृन्देवान्समभ्यर्च्य विप्रार्श्व सिधिवन्नृपः ।

भाजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—राजा, पितर और देवों का पूजन करके ब्राह्मणों का भी विधि के अनुसार पूजन किया । सबको उचित रूप से भोजन कराके बाद में पुण्याहवाचन कराया ॥१०॥

सुबोधिनी—पितरो देवाश्च नान्दीमुखदेवताः
सम्यक् पूजिताः, अन्यथा प्रथमत एव कन्याहरणे
विवाहो विगुणः स्यात्, अतः कर्तव्यं कृतमिति
वक्तव्यम् । विप्रांश्च सम्यगभ्यर्च्यं पुण्याहवाचने ।
विधिवदिति । तेभ्यो वस्त्रालङ्कारणादिदानेन ।

नृप इति सामर्थ्यम् । तेषां सन्तोषः भोजनप्रधानं
इति भोजयित्वा यथान्यायमित्युक्तम् । नान्दीमुखे
विधानपूर्वकं भोजयित्वा सुमङ्गलं पुण्याहवाचनम्
॥१०॥

व्याख्यानार्थ—पितर और देवता जो नान्दीमुखदेव हैं उनका अच्छे प्रकार से पूजन किया । यों नहीं करते तो, पहले ही कन्या हरण करने में, विवाह गुण रहित हो जाता । इसी कारण से जो विवाह में प्रथम कर्तव्य है वह किया । पुण्याह वाचन में प्रथम ब्राह्मणों का विधि पूर्वक वस्त्र अलंकृत आदि दान के साथ पूजन किया । “नृप” कहने से यों करने का सामर्थ्य प्रकट किया है । ब्राह्मणों का सन्तोष भोजन से होता है, अतः नान्दीमुख में विधि का उचित रीति से भोजन कराके मंगलरूप पुण्याह वाचन कराया ॥१०॥

आभास—यदर्थं भगवानागतः तां देयत्वेन भूषितां चक्रुरित्याह सुस्नातामिति ।

आभासासर्थ—जिसको लेने के लिए भगवान् आए हैं, उसको देने के हेतु सुशोभित करने लगे, जिसका वर्णन “सुस्नातां” श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।

अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥११॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह स्नान की हुई, सुन्दर दांतों वाली, किए हुए विवाह के चिन्ह वाली और नवीन हलदी के रंग वाले दो वस्त्र धारण की हुई उत्तम आभूषणों से भूषित कन्या को ॥११॥

सुबोधिनी—मङ्गलस्नानं कारितवन्तः, ततो
दन्तसंस्कारमपि । शुभ्रदन्ता न द्रष्टव्येति केषा-
ञ्चिद्देशाचारः । कन्यामिदं वृत्ताम् । प्रायेण
सूचित एव शिशुपालः । वाङ्निश्चयोऽप्यत्र एव
भविष्यति । दाक्षिणात्यास्त इति विवाहपूर्वक्षण

एव कन्यावरणम् । कृतं कौतुकरूपं मङ्गलं
यस्याम् । हरिद्रया कपोलयोः रेखादिनिर्माणम् ।
तद्विवाह एव भवति, नान्यथा । वस्त्रमपि तादृश-
मेव परिधापितवन्त इत्याह अहतांशुकयुग्मेन
भूषितामिति । अहतं तन्तूत्तारितं अचिच्छन्म् ।

नूतनमिति केचित् । तेषां मते पाषाणे प्रहारः न हतत्वं सम्पादयतीति । अनुपभुक्तमित्यन्ये अशुक् पट्टवस्त्रम् । एकं परिधायितम्, अपर प्रावृतमिति । भूषणैरपि भूषिताम् । सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुद इति कूकुदस्वार्थमलङ्करण-मुक्तम् । कू द्यावापृथिव्यौ । कु कुत्सिते यस्याः । रोदसीदानापेक्षयापि तादृक् कन्यादानं विशिष्ट-मिति द्योतितम् ॥११॥

व्याख्यानार्थ—प्रथम मंगल स्नान कराया, पश्चात् दांतों को भी साफ किया साफ किए हुए कन्या के दांत नहीं देखने चाहिए, यह कहीं का देशाचार है। उस कन्या को जो अब तक दी हुई नहीं है, बहुत करके यह शिशुपाल को सूचना भी की थी। वाणी से देने का निश्चय भी आगे हो होगा वे दाक्षिणात्य हैं, इसलिए विवाह से आगे क्षण में ही कन्या का वाणी से वरण करते हैं। जिसके कौतुक रूप मंगल चिन्ह किए हुए हैं, वे चिन्ह कपोलों पर हलदों से रेखाओं से किए जाते हैं। वे चिन्ह विवाह में ही किए जाते हैं दूसरे समय नहीं। वस्त्र भी वैसे पीले पहनाए गए हैं, वे कपड़े पट्ट के हों और फटे हुए नहीं हों। कोई कहते हैं कि “अहत” का अर्थ है नवीन वस्त्र उनके मत में वस्त्र को पाषाण पर जो प्रहार होता है जिससे उसकी नवीनता नहीं जाती है। दूसरे कहते हैं कि वह कपड़ा जो काम में नहीं लाया गया हो, दो वस्त्रों से एक पहिने और दूसरा ऊपर से ओढ़ ले, आभूषणों से भूषित, इस प्रकार कन्या का सत्कार कर जो देता है वह “कूकुद” है। कूकुद होने के लिए कन्या को अलङ्कृत करना है। इस प्रकार कन्या का दान पृथ्वी और स्वर्ग के दान से भी उत्तम है, यों प्रकट किया है। “कू” स्वर्ग और पृथ्वी “का होना” “कु” कुत्सितं यस्याः ? जिससे कम है ॥११॥

आभास—तस्यां विवाहदेवतासान्निध्यमाह चक्रुरिति ।

आभासार्थ—उसका “रुक्मिणी का” विवाह देवता की समीपता का वर्णन “चक्रुः” श्लोक से करते हैं।

श्लोक—चक्रुः सामर्ग्यजुमन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ।

पुराहितोऽथर्वविद्वं जुहाव ग्रहशान्तये ॥१२॥

श्लोकार्थ—उत्तम ब्राह्मण साम, ऋग् और यजुर्वेद के मन्त्रों से वधू की रक्षा करने लगे, और अथर्व वेद जानने वाला पुरोहित ग्रह शान्ति के लिए होम करने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी—वेदत्रयमन्त्रैः रक्षामूत्रं बद्ध्वा द्विजोत्तमा मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः भगवदर्थमेव । यथा कोऽपि न स्पृशति दृष्टादृष्टप्रकारेण, तथा रक्षां चक्रुः । देवा हि द्विविधाः, केचन हुतादः, अन्ये अहुतादः, तत्र वाचनादिना ये अहुतादः, ते प्रीणिताः । होमेनान्येषां प्रीतिमाह पुरोहितोऽथर्वविदिति । होमे पुरोहितो मुख्यः । स हि हित-

मेव विचारयति । अथर्वणवेदे नक्षत्रकल्पः शान्ति-कल्पश्चोक्तः । अतोऽथर्ववित् शान्तिं जानाति । ये कन्यायाः भगवन्तं त्याजयित्वा नीचसम्बन्धं कारयितुमुद्युक्ताः, तेषां ग्रहाणां शान्तिं जुहाव । अन्यथा ग्रहैर्वा प्रतिबन्धो भवेत् । भगवांश्च नालौकिकं प्रकटीकरोति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के समान ब्राह्मणोत्तम साम, ऋग् और यजुः इन तीनों वेदों के मन्त्रों से बधू के रक्षामूत्र वांध भगवान् के लिए ही इसी प्रकार रक्षा करने लगे । जैसे कोई भी दृष्ट अथवा अदृष्ट प्रकार से स्पर्श न कर सके । देव दो प्रकार के हैं, एक होम द्वारा प्रसन्न होकर, तृप्त होने वाले हुताद हैं और दूसरे केवल मन्त्रों के श्रवण से ही तृप्त हो जाते हैं वे अहुताद हैं । वे मन्त्रों से प्रसन्न होके तृप्त हो गए, अब दूसरों को होम द्वारा प्रसन्नता का वर्णन करते हैं । होम में पुरोहित मुख्य है, वह हित का ही विचार करता है । वेद में कर्म कराने की दो प्रकार की विधि है । एक नक्षत्र कल्प, दूसरा शान्ति कल्प । अथर्ववेद जानने वाला शान्ति कल्प ही जानता है, जो होम द्वारा होता है । ग्रह कन्या का भगवान् से सम्बन्ध पुड़ा के नीच से सम्बन्ध कराने के लिए तैयार हुए थे, उन ग्रहों की शान्ति के लिए वे अथर्ववेद पुरोहित होम कराने लगे । नहीं तो ग्रहों द्वारा रुकावट हो जाय और भगवान् तो इस कार्य में अपना अलौकिक प्रकट करना नहीं चाहते हैं ॥१२॥

आभास—दानेन सर्वदोषनिवृत्तिरिति दानान्यपि कृतवानित्याह हिरण्येति ।

आभासार्थ—दान करने से सब दोष मिट जाते हैं, इसलिए दान भी किए, जिसका वर्णन “हिरण्य” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमश्रितान् ।

प्रादाद्धेनुश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदांवरः ॥१३॥

श्लोकार्थ—विधियों में श्रेष्ठ राजा ने सुवर्ण, चांदी और वस्त्र तथा गुड़ मिलाए हुए तिल एवं घेनु ब्राह्मणों को दान कर दिए ॥१३॥

सुबोधिनी—हिरण्यं सुवर्णं तत्सार्वकामिक- देवतमिति । गन्धर्वदेवतं वा । तेन त्रयो भागिनः मग्निदेवत्यम् । रूप्यं सोमदेवत्यम् । वासश्च सर्व- कन्याया व्यावर्तिताः । तिलमोदकदानं तु सर्व-

दोषहरमिति गुडमिश्रितान् तिलांश्च ददौ । चका- : राजा समृद्धः । विधानेन दत्तं फलपर्यवसायि
रात्केवलानपि । कन्यायाः सर्वसमृद्धयर्थं धेनुश्च । भवतीति तदर्थमाह । विधिविदां मध्ये श्रेष्ठ
प्रादान् चिप्रेभ्यश्च । त एव हि विशेषेण पूरकाः । इति ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—सुवर्ण अग्नि देव वाला है, अतः वह दान करने से सर्व कामनाएँ पूर्ण करता है । चाँदो का देवता सोम है वस्त्रों के सर्वदेव हैं अथवा गन्धर्व देव है । इस प्रकार दान की वस्तुओं का स्वरूप कहने से यह बताया है कि कन्या के भोग के भाग वाले जो तीन देव हैं, वे इसका भोग नहीं कर सकेंगे । तिलों के मोदकों का दान सर्व दोषों का हरण करने वाला है । “च” पद से यह भाव भी प्रकट किया है, कि केवल तिलों का दान भी सर्व दोषों को मिटाना है । कन्या के पास सर्व प्रकार की समृद्धि होवे, इसलिए ब्राह्मणों को गाय दान में दीं । वे ही विशेष कर पूर्णता देने वाले हैं, राजा बहुत सम्पदा वाला है, विधि से दिया हुआ दान ही सफल होता है, इस कारण से कहा कि राजा स्वयं विधिज्ञों में उत्तम है, अर्थात् उसने जो दान दिए वे विधि के अनुसार ही दिए ॥१३॥

आभास—एवं पुरं कन्यां च निदुंष्टतया निरूप्य मध्ये निराकार्याणां वृत्तान्तमाह
षड्भिः ।

आभासार्थ—इस मकार नगर और कन्या निर्दोष है ऐसा निरूपण कर बीच में सामने पक्ष वालों का वृत्तान्त ६ श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक—एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ।

कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—इसी भाँति चेदि देश के राजा दमघोष ने अपनी पुत्र शिशुपाल के लिए मन्त्र जानने वाले ब्राह्मणों से अभ्युदय के उचित मंगल कर्म करवाए ॥१४॥

सुवोधिनी—भगवद्धर्मैरेव तेषां निराकरणा-
र्थम् । प्रथमं विवाहः संस्कार इति पितृव तस्य
संस्काराः क्रियन्त इति निरूपयति । यथा
रुक्मिण्याः तत्पिता कृतम् । एवं चेदिपतिरपि
दमघोषः सुताय शिशुपालाय विवाहो भविष्य-
तीति वै निश्चयेन कारयामास । तस्यापि

सामर्थ्यं राजेति । दमघोष इति दमस्य शान्तेः
घोष एव, नतु तस्य दमः । न हि अदान्तेन
कृतं सफलं भवति । अक्षरव्यत्यासो वा, मद-
घोष इत्यर्थः । सिंहवत् । अत उन्मादात्
भगवन्तमविचार्य तथा कृतवान् । अभ्युदये
उचितमेव, नत्वभ्युदयम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—उनका निराकरण भगवद्धर्मों से ही किया। पहले विवाह के संस्कार पिता ही कराता है, जैसे रुक्मिणी के विवाह के सर्व संस्कार उसके पिता ने ही किए। इसी तरह चेदिदेश के राजा दमघोष ने भी मेरे पुत्र शिशुपाल का विवाह होगा। यह मन में निश्चय कर वह सर्व संस्कार कराने लगा। इस प्रकार करने की शक्ति उसमें भी था, क्योंकि वह भी राजा था तथा उसका नाम ही “शान्ति का गर्जन” “दमघोष” था न कि उसका दमन अशान्त जो करता है वह सफल नहीं होता है अथवा इसके नाम में एक अक्षर बदल गया है वास्तव में यह दमघोष है। सिंह के समान इसकी गर्जना मद से भरी हुई है, अतः अभिमान से भगवान् का विचार न कर इस प्रकार करने लगा। वह अशुद्धय में उचित है, किन्तु उसमें अशुद्धय हुआ नहीं ॥१४॥

आभास एनादृशस्य उन्मत्तसेनायुक्तस्य पुरं प्रति गमनमाह मदच्युद्धिरिति ।

आभासार्थ—मदवाली सेना से युक्त ऐसे का नगर में गमन “मदच्युद्धि” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—मदच्युद्धिर्गजानीकः स्यन्दनैर्हममालिभिः ।

पत्पश्वसंकुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ ॥१५॥

श्लोकार्थ—मद धरने वाले हस्ती सुवर्ण माला से सजे हुए रथों से पैदल और सिपाही घुड़ सवारों की सेना से घिरे हुए (वर राजा) कुण्डिनपुर पधारे ॥१५॥

सुवोधिनी—पृष्टिहायनैः मत्तगजैः सह । रङ्गसेनायुक्तः युद्धार्थमेव कुण्डिनपुरं ययौ , न गणानामनीकरूपत्वार्थं तथोक्तम् । सुवर्णमालायु- तु विवाहार्थम्, अन्यथा विवाहसामग्रीमपि क्तानि च स्यन्दनानि । भटाः अश्वाश्च । एवं चतु- नयेत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—साठ घोड़े, मदमत्त हाथियों के साथ, यों कहने का भाव यह है कि साथ में हाथियों की सेना ले ली थी। सोने की मालाओं से सुशोभित रथ थे, प्यादे और घोड़े, इस प्रकार चतुरंग सेना को लेकर युद्ध के लिए ही कुण्डिनपुर जाने लगे न कि विवाह के लिए। यदि विवाह के लिए जाते तो साथ में विवाह की सामग्री भी होती किन्तु वह नहीं थी ॥ १५॥

आभास—तस्याग्रं निराकरणार्थमादौ सन्माननामाह तं च विदभ्राधिपतिरिति ।

आभाषार्थ—उसका आगे तिरस्कार करने के लिए पहिले सन्मान का वर्णन “त्र वं विदर्भाधिपति” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तं वं विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ।
निवेशयामास मुदा कल्पिते वाधिवेशने ॥१६॥

श्लोकार्थ—विदर्भ का राजा भीष्मक सामने लेने के लिए आया और उसका पूजन सत्कार कर हर्ष से बनाए हुए जनवासे में स्थापित किया ॥१६॥

<p>सुबोधिनो-विदर्भदेशस्याधिपतिः विशेषा- नभिज्ञः, तं निश्चयेन, समभ्येत्याग्रे गत्वा अभि- पूज्य, गृहागताय यथा पूजा विधेया । चका- रात् विशेषाभावं च कृत्वा, मुदा हर्षेण कल्पिते</p>	<p>अधिवेशने, नतु सहजे उत्कृष्टे । आ ईषत्क- ल्पिते वा अकल्पिते वा वाटिकादौ स्थापि- तवान् ॥ १६ ॥</p>
--	--

व्याख्यार्थ—विदर्भ देश का राजा विशेष अनभिज्ञ है, अर्थात् साधारण जानकार है उसको लेने के लिए सामने जाकर पूजादि से वैसे सत्कार किया, जैसे घर में आए हुए को पूजा की जाती है । शास्त्रों में कहा है कि घर में जो आवे उसको पूजा करनी चाहिए । “च” का भाव यह है कि साधारण रीति से सत्कार किया । प्रसन्न चित्त से तैयार किए हुए रहने के स्थान पर उनको ठहराया वह सहज वा उत्तम नहीं था, थोड़ा सा सजाया अथवा न भी सजाया हुआ, वा वाग आदि में ठहराया ॥१६॥

आभास—तत्रैव सर्वं दुरात्मान एकीभूता इत्याह तत्र शाल्व इति ।

आभासार्थ—वहाँ सर्वं दुष्ट ही इकट्ठे हुए थे, जिनका वर्णन “तत्रशाल्वो” आदि तीन श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—तत्र शाल्वो जगसन्धो दन्तवक्रो विदूरथः ।

आजग्मुश्चेद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः ॥१७॥

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चेंद्याय साधितुम् ।

यद्य गत्य हरेत्कृष्णो रामार्द्यं दुर्भिवृत्तः ॥१८॥

योत्स्यामः संहतास्तेन इतिनिश्चितमानसाः ।

आजग्मुर्भुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वहाँ शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र, विदूरथ, पांडूक आदि हजारों शिशुपाल के पक्ष के राजा आये । ये राम कृष्ण के बैरो शिशुपाल को कन्या दिलवाने के लिए सज कर आये थे । इन्होंने मनमें निश्चय कर लिया था कि यदि बलभद्र आदि यादवों को साथ लेकर कृष्ण यहाँ आके कन्या हरण करेंगे तो हम सब इकट्ठे हो उनसे लड़ेगे । इसीलिए वे सब राजा अपनी समग्र सेना और बाहन आदि लेकर आए थे ॥१७-१८-१९॥

सुबोधिनी—विदूरथः दन्तवक्रभ्राता । चत्वारो मुख्या गणिताः । अन्येऽपि चैव-पक्षीयाः आययुः । पौण्ड्रकाद्याश्च मिथ्यावासुदेवादयोऽपि तत्रैव निविष्टाः । तेषामेकलस्थितौ एकं धर्ममाह कृष्णरामद्विष इति । नहि तेषामागमने किञ्चिदन्यत्कृत्यमस्ति । एकाकिनो वयमसमर्थाः, केनचिन्मिषेण भगवान् जेतव्य इति, चैव स्वोपकारं च स्थापयितुमरिमित्रन्यायेन समागता इत्याह । यत्ताः सन्तः

कन्यां चैद्याय साधितुं समागताः । नन्वाह्य कन्या दीयते, कः सन्देह इति चेत्, तत्राह यद्यागत्येति । तेषां हृदये भगवान् तथैव ज्ञापितवान् । कृष्णो हि स्त्रीणां हितकर्त्तृति । रामार्थं यंदुभिः सहागतः यदि हरेत्, तदा योत्स्याम एव, नत्वग्यत् सामर्थ्यमस्तीतिभावः । इत्येवं निश्चितं मानसं येषाम् । अत एव सर्वे समर्थबलवाहनाः सन्तः आजग्मुः । भूभुज इति तेषां सा सम्पत्तिः सहजा ॥१७-१८-१९॥

व्याख्यार्थ—विदूरथ, दन्तवक्र का भाई था, मुख्य जो चार थे, उनकी गणना की है । दूसरे भी शिशुपाल के पक्ष के आए थे । अपने को मिथ्या वासुदेव कहलाने वाले पौण्ड्रक आदि भी वहाँ आए थे । उनके यहाँ आने का कारण यह था, कि वे सब रामकृष्ण के शत्रु थे । उनके आने का अन्य कोई कारण नहीं था, क्योंकि उनको वहाँ कोई दूसरा काम नहीं था । हम सब अकेले तो कृष्ण को जीतने में शक्तिमान नहीं हैं । किसी भी मित्त से मिनकर कृष्ण को जीतना ही है, यों करने से चैव पर अपना उपकार भी प्रकट होगा, अतः “अरिमित्रन्गोय” से वहाँ आकर पहुँचे । शिशुपाल को कन्या दिलाने के लिए सजकर आए थे । बुलाकर कन्या दी जाती है, इसमें सन्देह क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “यदि आगत्य”, उनके हृदय में भगवान् ने इसी भाँति जनाया कि यदि राम आदि यादवों से मिलकर कन्या को हरण करने के लिए रित्तियों का हितकारी श्रीकृष्ण आवे तो हम सब मिल कर उससे लड़ेगे । इसके सिवाय दूसरा कोई सामर्थ्य उनमें नहीं है इसलिए

उन्होंने यही मनमें निश्चय कर रखा था। अतएव सब राजा अपनी सेना और वाहन लेकर आए थे। “भूभुज” विशेषण से बताया कि उनकी यह स्वाभाविक सम्पत्ति है ॥१७, १६॥

आभास—एषा वार्ता सर्वजनीना जातेति ज्ञापयितुं बलभद्रादयो भगवता अनुक्ता अपि समागता इत्याह श्रुत्वैतदिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यह खबर सर्वल फैल गई जिसको सुनकर बलभद्र आदि भगवान् के कहे बिना भी आ गए जिसका वर्णन “श्रुत्वा” दो श्लोकों में करते हैं ।

श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयबलोद्यमम् ।

कृष्णं चक्रं गतं हतुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥२०॥

बलेन महता साधं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।

त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् राम, चंदी राजाओं का यह उद्यम सुनकर, और श्रीकृष्ण अकेले कन्या को हरण के लिए पधारे हैं यह जानकर कलह होने की शंका से भाई के स्नेह से आर्द्र चित्त हो, बड़ी सेना संग ले हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों के साथ तुरन्त कुण्डिनपुर पधारे ॥२०, २१॥

मुवाघिनी—श्रुतस्य सत्यत्वाय भगवानिति । राम इति साधनरूपः विपक्षायाः विपक्षस्य शिशुपालस्य सम्बन्धिनः । तेषां बलस्योद्यमं श्रुत्वा । एक एव च भगवान् कन्यां हतुं गत इति कलहे शङ्कां प्रातः । कलहो भविष्यतीति निश्चित्य

महता बलेन साधं त्वरितः कुण्डिनं ययो । ननु भगवति कः सन्देहो भवेत्, किमिति गत इत्याशङ्क्याह भ्रातृस्नेहेन परिप्लुत इति । लौकिकदृष्ट्या स्नेहेन च गत इत्यर्थः ॥२०॥२१॥

व्याख्यार्य—“राम” नाम कहने से यह बताया कि वे साधन रूप हैं और “भगवान्” विशेष से जताया कि जो मुना है वह सत्य है, क्योंकि आप भगवान् होने से सत्य और झूठ को जान सकते हैं, शिशुपाल के सम्बन्धी होने से वे विपक्षी अर्थात् शत्रु हैं। उनकी सेना का उद्यम सुनकर भगवान् अकेले कन्या को लेने के लिए गए हैं। इसलिए वहाँ निश्चय युद्ध होने की शंका समझ जबर्दस्त सेना

लेकर तुरन्त कुण्डिनपुर गए । कृष्ण भगवान् हैं, उसके लिए सन्देह क्यों ? जो सन्देह से गए, इसके उत्तर में कहते हैं कि भ्राता के स्नेह से हृदय आर्द्र हो गया था, यह सब लौकिक दृष्टि से और स्नेह प्रकट करने के लिए गए ॥२०, २१॥

आभास—एवं सर्वसंविधानमुक्त्वा अत्यन्ताकाङ्क्षायामेव भगवान् समायातीति रुक्मिण्याः आकाङ्क्षा निरूपयति भीष्मकन्येति सप्तभिः सार्धैः ।

आभासार्थ—इसी तरह सब प्रकारसे कह कर, बनाते हैं कि भगवान् तब पधारते हैं कि जब अत्यन्त आकांक्षा होती है, इसलिए रुक्मिणी को आकांक्षा का “भीष्मकन्या” श्लोक से साढ़े सात श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ।

प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥२२॥

श्लोकार्थ—वरारोह भीष्मक राजा की कन्या हरि के आगमन की राह देखती थी, भेजे हुए ब्राह्मण को जब लौटता हुआ न देखा तब चिन्ता करने लगी ॥२३॥

सुबोधिनी—भीष्मकन्येति न स्वातन्त्र्येण स्थातुं शक्नोति । स हि पिता भयानकः, कन्या चास्वतन्त्रा, कन्यात्वादेव लोकाविगमनम् । वरारोहेति भोगयोग्यावस्था निरूपिता । तेन दान-समनन्तरमेव सर्वनाशः सूचितः । अतोऽतिदुःखिता उपायान्तरमलभमाना हरेरेव सर्वदुःखहर्तुः आग-मनं काङ्क्षन्ती जाता । ततः स्वस्य प्रत्यापत्ति-मपश्यन्ती तदा द्विजस्य, द्विजमचिन्तयत् । द्विजस्य वा प्रत्यापत्तिम् । प्रत्यापत्तिर्नाम स्थानात्प्रच्यु-तस्य पुनः स्वस्थानागमनम् । स्वयमपि भगवतः सकाशात् प्रच्युता, पुनर्भगवत्प्राप्तिमलभमाना, प्रापकं द्विजमेवाचिन्तयत् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी भीष्मक राजा की कन्या है, इससे स्वतन्त्र रह नहीं सकती है । कारण कि वह पिता भयानक है और कन्या स्वतन्त्र हो नहीं सकती है । कन्यापन से ही लोक में निन्दा नहीं है, “वरारोहा” विशेषण से रुक्मिणी अवश्य भोग योग्य बतलाई है, अतः यदि शिशुपाल को मैं दी गई तो उसी समय मेरा सर्वनाश हो जायगा । इससे बहुत दुःखी हुई, दुःख मिटाने का कोई दूसरा उपाय न देखकर सर्व दुःखों के हरण करने वाले हरि का आगमन ही चाहने लगी । पश्चात् भेजे हुए अपने ब्राह्मण को लौटता न देख, उसका ही चिन्तन करने लगी कि वह अब तक क्यों नहीं लौटा

है ? स्वयं भी भगवान् के पास भुकी फिर भगवान् को प्राप्ति न होने से भगवान् के पास पहुँचने वाले ब्राह्मण का चिन्तन करने लगी ॥२२॥

आभास — तस्याश्चिन्तामाह अहो इति सार्धैस्त्रिभिः गुणैभ्योऽप्यधिकेति ख्यापयितुम् ।

आभासाथं—उसकी चिन्ता गुणों से भी अधिक हे यों प्रसिद्ध करने के लिए "अहो" इति इन साढ़े तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्परघसः ।

नागच्छत्यरविन्दाधो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।

सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥२३॥

अपि मध्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् ।

मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥२४॥

श्लोकार्थं—मुझ मन्द भागिन के विवाह में केवल एक रात्रि ही बाकी हैं । कमल-नयन भगवान् तो अब तक नहीं पधारें हैं इसका क्या कारण है, यह मैं समझ नहीं सकती हूँ, जो ब्राह्मण मेरा सन्देश लेकर गया था वह भी अब तक लौट कर नहीं आ रहा, जिनने मेरे लिए पहिले उद्यम किए वे निर्दोष भगवान् क्या मुझ में कोई दोष देख कर मेरा पाणिग्रहण करने के लिए नहीं आते हैं ? ॥२३-२४॥

सुबोधिनो—त्रियामा रात्रिः, तयैवान्तरित उद्वाहः एकैव रात्रिमध्ये वर्तत इत्यर्थः । त्रियामात्वेनाल्पकालता सूचिता । अतोऽग्निमदिवसे महाप्रलय एवेति चिन्ता । अल्परघस इति अल्पसिद्धियुक्तायाः । भाग्यसिद्धिश्चेत् महती भवेत्, तदा शीघ्रमेवेष्टसिद्धिः । सन्देशादल्पवचनम् । चिन्तायां द्वितीयां कोटिमहं नागच्छत्यरविन्दाक्ष इति । दृष्ट्वा तापनाशकः । अत्र कारणमहं न वेद्मि । नःवागमनसमयो न जातः

किमिति चिन्त्यत इति चेत्, तत्राह सोऽपि नावर्तत इति । आगच्छतीति ज्ञाते चिन्तां न भवेत् । आगमनकालश्च सन्निहितः । तत एकतरनिश्चये अस्वास्थ्यं वा उत्पाद्यं भवति । येन श्वो विवाहो न भवेत् । अपिशब्दादन्यो वा भगवता प्रेषितः स्यारोनापि वा । अद्यापीति सन्निहितः समयः । ननु ब्राह्मणाः क्वचित्तपः करिष्यन्ति, को नियमस्तेषामागमन इति चेत्, तत्राह मत्सन्देशहरो इति । सन्देशं यो नयति, तत्रापि द्विजः

सत्यवादी । द्वितीयं जन्म सत्यार्थमेवेति । तत्र स्वयमेव हेतुं कल्पयति । अपीति सम्भावनायाम् । भगवाननववात्मा किञ्चिद्भ्रातृपक्षपातलक्षणं जुगुप्सितं दृष्ट्वा, तत्कारणभूतं पूर्वजन्मस्थितं वा मत्पाणिग्रहणे प्रथमत उद्यमं

कृत्वापि, ब्राह्मणमपि स्थापयित्वा सङ्गनेष्यामीति पश्चान्नागतः । ततो ब्राह्मणोऽपि शीघ्रमागन्तुमसमर्थः नागत इति तदाह । मत्पाणिग्रहणे कृतोद्यमोऽपि नूनं नायाति ॥२३-२४॥

व्याख्यार्थ— रात्रि तीन पहर रहती है, विवाह में बाकी इतना ही समय रहा है, अर्थात् विवाह होने के बीच में एक ही रात्रि शेष है । रात्रि तीन पहर की कहने से यह बताया कि विवाह में बाकी थोड़ा समय है. अतः कलके दिन मेरे लिए महाप्रलय ही होने वाला है, इससे चिन्ता हो रही है । मैं अभागिन हूँ, यदि अच्छा भाग्य होता या बड़भागीनि ही होती तो शीघ्र ही मेरे मन की कामना पूर्ण होती । निश्चय न होने से थोड़े ही वचन कहे हैं । चिन्ता होने का दूसरा कारण बताती है कि कमल नेत्र भगवान् नहीं आए हैं, वे तो दृष्टि मात्र से तप को नाश करने वाले हैं । उनके न आने का कारण मैं समझ नहीं सकती हूँ । जब तः आने का समय नहीं हुआ है तो चिन्ता क्यों करती है ? इसके उत्तर में कहती है, कि भेजा हुआ ब्राह्मण भी नहीं लौटा है, यदि यह मालूम हो जाय कि आ रहे हैं तो चिन्ता न हो आने का समय तो निकट ही है, इससे एक वान का निश्चय हो जाय तो अस्वस्थता वा निश्चितता हा जाय कि कल विवाह न होगा । “अपि” शब्द के आशय को प्रकट करते हुए कहते हैं, कि भगवान् ने कोई दूसरा भेज दिया हो, उससे भी विवाह रुक जावे । “अथापि” अब तक शब्द कहने का भाव है कि समय निकट है ब्राह्मण है, वे कदाचित् तपस्या करते होंगे, अतः उनके आने वा कोई नियम नहीं है यदि यों कहे तो इस पर कहती है कि वह ब्राह्मण “मत्सन्देशहर” मेरा सन्देश ले जाने वाला है । जो केवल सन्देश ले जाता है वह भी सत्यवक्ता होता है । यह तो ब्राह्मण है, इससे निश्चय सत्यवादी है । सत्य के लिए ही द्वितीय जन्म है, उस विषय में स्वयं ही हेतु की कल्पना करती है कि हो सकता है कि शुद्ध अन्तःकरण वाले निर्दोष भगवान् ने यहाँ कुछ प्राता के पक्षपात वाला निन्दित कार्य देखा है, जिस कारण से वा पूर्व जन्म का कोई कारण है उससे मेरे पाणिग्रहण का पहले उद्यम करके भी और ब्राह्मण को भी रोक कर कि साथ में ले जाऊँगा, इस प्रकार निश्चय कर फिर नहीं आए । इस कारण से ब्राह्मण भी शीघ्र आने में असमर्थ आ है, अतः ब्राह्मण भी नहीं आया है, यह भाव “कृतोद्यम” पद से प्रकट किया है ॥ २३-२४॥

आभास— ननु सद्गुण अपि केचन परिगृह्यन्ते, न हि सर्वथा निर्दुष्टा भवन्ति । तथा सति कस्यापि परिग्रहो न स्यात्, इति चेत् । सत्यम् । तत्र अदृष्टादिकं प्रेरकं सम्पद्यते । मम तु तस्याप्यभाव इत्याह दुर्भगाया इति ।

आभासार्थ—कई कन्याओं से दोष वाले पति भी ग्रहण किए जाते हैं। कोई सर्व प्रकार दोष रहित नहीं होता है। यदि निर्दोष हो पति चाहिए तो किसी का भी पाणिग्रहण हो नहीं सकता है। यदि यों कहते हो तो सत्य है। किन्तु इस प्रकार सदोष पति को प्राप्ति में ब्रह्म आदि प्रेरक होते हैं, मेरे लिए उसका भी अभाव है, यों "दुर्भंगाया" श्लोक में कहती है।

श्लोक—दुर्भंगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः ।

देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिशा सती ॥२५॥

श्लोकार्थ—भगविन मुझ पर क्या ब्रह्मा, महादेव मेरे अनुकूल नहीं है ? गिरिजा, सती, रुद्राणी और देवी पार्वती भी रूठी है ॥२५॥

सुबोधिनो—पतिस्तु कृष्ण एव । अना-
गमने यथाकथञ्चित् भ्रान्तापि भूत्वा तत्र
गमिष्यामि, यतो ब्रह्मा, पतित्वेन भगवन्तमेव
विचारितवान्, परं दुर्भंगा भविष्यामि । अतो
दुर्भंगात्वसम्पादकभाग्यस्य विद्यमानत्वात्
धातापि नानुकूलो जातः । आनुकूल्ये तु इदा-
नीमेव भगवानागच्छेत् । अतो दुर्भंगात्वमपि
न भवेत् । ननु सौभाग्य शिवाधीन पार्वत्य-

धीनं वा, तत्राह नानुकूलो महेश्वर इति ।
देवतारूपा दुर्गा वा विमुखा । अनाराधनात् ।
सा हि गौरी गुरो पत्नी, गुरुरूपदिशति, ।
तच्छक्तिर्भाग्यं सम्पादयतीति, तमेव सम्बन्धं
प्रकथयति रुद्राणीति । रुद्रो हि गुरुः, स्वयमपि
गिरिशा । सतीति पातिव्रत्यबलमपि तस्याः
सूचितम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—पति तो कृष्ण ही है, वे नहीं पधारें है इस विषय में जैसे तैसे भ्रान्त भी होकर
वहाँ जाऊँगी, क्योंकि ब्रह्मा ने मेरा पति भगवान् ही हो वंसा विचार किया है किन्तु अभागिन
बनूँगी, जो कृष्ण पति न होंगे, अतः दुर्भागिनी बनाने वाले भाग्य के होने से ब्रह्मा भी अनुकूल नहीं
है, यों भासता है यदि ब्रह्मा अनुकूल ही तो भगवान् अब ही पधारने चाहिए, यदि यों अब पधारें
तो दुर्भागिनी देखने में न आये। यदि कहो कि सौभाग्य तो महादेव और पार्वती के हाथ में है, तो
महादेव और देवता रूप दुर्गा भी अनुकूल नहीं है, क्योंकि मैंने उनकी आराधना नहीं की है, इस-
लिए वे भी अनुकूल नहीं है। वह दुर्गा गौरी है, अर्थात् गुरु की पत्नी है गुरु उपदेश देते हैं, उनकी
शक्ति भाग्य का सम्पादन करती है अर्थात् भाग्य बनाती है। उसी सम्बन्ध को रुद्राणी प्रकट करती
है, रुद्र गुरु हैं, आप भी गिरिशा "जा" है और सती है, सती कहने से यह बताया है कि इसमें
पतिव्रत बल भी है ॥२५॥

आभास—एवं चिन्तया कियति काले अतीते चिन्ताधिक्ये उत्पत्स्यमाने मध्ये तद्विघातकं शकुनं जातमित्याह एवं चिन्तयतीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब चिन्ता करते हुए कुछ काल बीता और चिन्ता बढ़ने लगी, तब बीच में चिन्ता को नाश करने वाले शकुन हुए, जिनका वर्णन किया जाता है !

श्लोक—एवं चिन्तयती ब्राला गोविन्दहृतमानसा ।

न्यमोलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥२६॥

श्लोकार्थ—भगवाद् ने जिसका मन हर लिया है, वैसे समय को पहिचानने वाली बाला इस प्रकार चिन्ता करने से आँसुओं से पूर्णनेत्रा हो गई और उसने नेत्र मूँद लिए ॥२६॥

सुबोधिनी—बाला मुग्धा । तत्रापि गोविन्देन हृतमानसा । विह्वला सती, रोदने प्रादुर्भूते कृतमङ्गलायाः तदनुचितमिति अश्रु-कलाकुले नेत्रे अमोलयत् । नन्वेतादृशेयं रोद-

नमुचितं तत्कथं निमीलनमिति चेत्, तत्राह कालज्ञेति । सा ह्ययं शुभकाल इति जानाति, ग्रहानुगुण्यात् । अतो भगवानेवायास्यतीति निश्चित्य तथा कृतवतीत्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—बाला कहने का भावार्थ यह है कि स्वमिणी उस समय १६ वर्ष को हो गई थी, अतः मुग्धा^१ है । ऐसी अवस्था में फिर भगवान् ने मन हरण कर लिया है, जिससे व्याकुल हो गई, अतः रोदन आने लगा, किन्तु मंगल कृत्य हुआ है, उसको रोना उचित नहीं है । इसलिए आँसुओं से पूर्ण नेत्रों को मूँद लिए, वैसे अवस्था में तो रोना ही आना चाहिए सो नेत्र कैसे बन्द कर दिए ? जो कहो तो उसका उत्तर यह है कि "कालज्ञा" समय को पहचानती है । यह शुभ समय है, इसमें रुदन नहीं करना चाहिए । ग्रहों के अनुकूल होने से भगवान् अवश्य पधारेंगे, यह निश्चय कर वैसे किया अर्थात् नेत्र मूँद लिए ॥२६॥

आभास—किञ्चान् केवलं कालज्ञानेनेव तूष्णीं स्थिता, किन्त्ववयवस्फुरणेन शकुनमपि प्राप्तवतीत्याह एवं वध्वा इति ।

आभासार्थ—और विशेष केवल कालज्ञान से ही नेत्र मूंद कर मोन नहीं हुई किन्तु अवयवों के फरकने से सकुन भो हुए जिससे मोन हो गई जिसका वर्णन “एवं वध्वा” श्लोक में किया है ।

श्लोक—एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।

वाम ऊर्ध्वंजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इस प्रकार गोविन्द के आने की प्रतीक्षा^१ करती हुई बधू के शुभ सूचक बायें तीन अंग उर^२, भुजा और नेत्र फरकने लगे ॥२७॥

<p>सुवोधिनी—वधूविवाहसमयस्था, संवतो रक्षायुक्ता वा । गोविन्दागमन प्रतीक्षन्त्याः । वाम ऊर्ध्वंज इति । वामे ऊरुः भुजः नेत्रं चास्फुरन् । वामे अङ्गे ऊर्वादित्रयस्फुरणं स्त्रीणां शुभसूचकम् । प्रियभाषिण इति त्रयाणां विशेष-</p>	<p>णम् । शुभसूचका इत्यर्थः । अन्यतरस्यामिति नपुंस (कै) कशेषो न भवति । अथवा । प्रिय-भाषिणः सम्बन्धीनि एतानीति प्रियं श्रोष्यामीति भावः ॥२७॥</p>
---	--

व्याख्यार्थ—“वधू” शब्द से यह प्रकट किया है कि विवाह करने के योग्य है एवं यह विवाह का शुभ समय है अथवा चारों ओर से उसकी रक्षा हो रही है । वैसे गोविन्द के आने की बातजोही कर रही थी, तो उस समय ही उसके बाँए तीन अंग उर, भुजा और नेत्र फरकने लगे । यह सकुन स्त्रियों के लिए शुभसूचक है । जिसके लिए “प्रिय भाषिणः” पद दिया है । यह प्रत्येक अंग का विशेषण समझना चाहिए । व्याकरण के अनुसार नपुंसक में “अन्यतरस्याम्” इस वाक्य से एक शेष समास नहीं हुआ है, अथवा ये शुभ की सूचना देने वाले सम्बन्धी हैं, अतः “शुभ” सुनूँगी ॥२७॥

आभास—ततस्तदनन्तरमेव ब्राह्मणः समागत इत्याह अथेति ।

आभासार्थ—यों होने के पश्चात् शीघ्र ही ब्राह्मण आ गया, जिसका वर्णन “अथ” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।

अन्तःपुरचरिं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥

श्लोकार्थ—इतने में ही तो श्रीकृष्ण का भेजा हुआ वही ब्राह्मण आ पहुँचा और अन्तःपुर में विराजती हुई देवी राजपुत्री को देखा ॥२८॥

सुबोधिनी—तस्य तत्समय एव समागमनं काकतालीयं चेत्, तदा भगवदर्थमेव तस्या आकाङ्क्षा निरूपितेति न स्यात्, अतस्तद्भाववृत्त्यर्थं भगवानेव तस्मिन्समये 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थ' इति वाक्यात् प्रेषितवानित्याह कृष्णविनिदिष्ट इति । तद्विनिश्चयादुभयविधादपि विशेषेण समागत इति । भिन्नप्रक्रमोऽप्यथशब्दः भगवतैव तथा कृत इति ज्ञापनार्थः । द्विजसत्तम इति ।

अत्यन्तमन्तरङ्गो भगवद्भक्तः । अतस्तेन सवतापनिर्भूतियुक्तैव । द्विज एव मित्तम्, तत्रापि सन्देशहारी विशिष्टः, तत्रापि तत्र गतो भगवत्सख्यं प्राप्त मत्तमो भवति । अत एवान्तःपुरचरीमपि राजपुत्रीमपि स्वयमेव ददर्श । भगवद्विस्तनाद्देवतैव तदावेशनाज्जाता । यथा ब्राह्मणे धर्मत्रयम्, तथा तस्यामपि । आध्यात्मिकादि-धर्मत्रयं वक्तु विशेषणत्रयम् । हेत्याश्चर्यं ॥२८॥

व्याख्यार्थ—उसका उस समय ही आ पहुँचना जो काकतालीय न्याय की तरह हुआ ही तो उस समय भगवान् के लिए ही उसकी जो आकांक्षा वर्णन की जाती है, अतः उसके निवारण के लिए कहते हैं कि भगवान् ने ही "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे" इस वाक्य के अनुसार उस ब्राह्मण को भेजा है, इसलिए श्लोक में "कृष्णविनिदिष्टः" कृष्ण का भेजा हुआ कहकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मण का उस समय आना काकतालीय न्याय से नहीं हुआ है, दोनों प्रकार के उनके निश्चय हो जाने में ही विशेष प्रकार से आया । "अथ" शब्द यह प्रसंग पृथक् है, यह दिखाने के लिए भी है अर्थात् भगवान् ने ही वैसे किया है यह जानने के लिए "द्विजसत्तमः" ब्राह्मण को द्विज न कह कर "द्विजसत्तमः" कहा, जिसका आशय स्पष्ट करते हैं कि अत्यन्त अन्तरंग भक्त है, अतः वैसे ब्राह्मण से ताप की निवृत्ति होनी योग्य ही है । केवल "द्विज" भी मित्त होता है, उसमें भी यदि संवेश ले जाने वाला हो तो विशेष हितकारी होता है । उसमें भी द्वारका गया, वहाँ भगवान् की प्रीति प्राप्त की, इसलिए यह सत्तम है । सारांश कि अब यह "द्विजसत्तम" है, इस कारण से ही अन्तःपुर में ही विचरने वाली राज पुत्री को स्वयं ही देखा । "देवी" क्यों हुई ? भगवान् के चिन्तन करने से भगवदावेश से "देवी" बन गई । जैसे ब्राह्मण में तीन धर्म हैं वैसे इसमें भी, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन धर्मों को करने के लिए ही तीन विशेषण कहे हैं । "ह" शब्द आश्चर्य वाचक है ॥२८॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह सा तमिति ।

अभासार्थ—इसके बाद जो कुछ हुआ वह "सा तं" श्लोक में कहते हैं ।

।

श्लोकार्थ—धीरे धीरे चले आते प्रसन्न मुख ब्राह्मण को देख, लक्षण से ही समझने वाली मन्द हतता हुई वह सती स्विमणो उससे पूछने लगी ॥२६॥

सुबोधिनो—कुत्र मानसचिन्तनम्, कुत्र पदार्थोपस्थितिरिति, तादृशं दुर्लभमिव सा तं दृष्ट्वा समपृच्छत् । नन्विङ्गितज्ञानेनैव कथं न निश्चयः, तत्राह प्रहृष्टवदनमिति । ब्राह्मणे धर्मद्वयं दृष्ट्वा विवाहस्वीकारः समागमनं च लक्षितवतो । मुख-हर्षात्स्वीकारः, शनैरागमनात्कर्तव्यान्तराभाव-सूचकं समागमनमिति । तस्या अपि लक्षणज्ञाने हेतुद्वयमाह सती लक्षणाभिज्ञेति । पातिव्रत्यधर्मण शास्त्रानुसारेणापि ज्ञानम् । तर्कितमेतन्न प्रमितमिति प्रमानिरूपणार्थं आलक्ष्यापि समपृच्छत् । शुद्धं स्मितमिति हर्षात् मन्दहासः । स च ब्राह्मणं प्रति शुद्ध एव । अथवा । इष्टपूरणात् लौकिकवत् स्मितं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं शुद्धता निरूपिता ॥२६॥

व्याख्यार्थ - कहीं मन से पदार्थ का चिन्तन करना और कहीं उस पदार्थ का वहाँ प्राप्त हो जाना । यों होना दुर्लभ जैसा समझ और वह हो गया है उसको देख कर पूछने लगी, इंगित के (सकेत के) ज्ञान से ही क्यों न निश्चय कर लिया ? इसके उत्तर में कहा गया है कि ब्राह्मण के इंगितों से उसमें दो धर्म देखे । एक प्रसन्न मुख था, जिससे जान लिया कि विवाह की स्वीकृति भगवान् ने दे दी है, और दूसरा वह स्वस्थ होकर धीरे धीरे आ रहा था, जिससे समझ लिया कि भगवान् भी पधार रहे हैं । केवल इंगित से इसने कैसे समझ लिया इसका समाधान यह किया है कि इसमें भी दो धर्म हैं । १. प्रसन्न मुख, २. प्रतिव्रत्यधर्म और ३. मन्दहास । इन तीनों से लक्षणों का ज्ञान इन दो धर्मों से इसने जान लिया है । यह तर्क से जाना है, तर्क से जाना हुआ पूरा प्राणिक ज्ञान नहीं माना जाता है, अतः इस प्रकार जान कर भी फिर पूछने लगी, मन्द हास ब्राह्मण में अपना शुद्ध भाव प्रकट करने लगी अथवा केवल (स्मित) मन्दहास वाचक शब्द न दे जो साथ में (शुचि) शुद्धता वाचक विमेषण दिया है, जिसका आशय है कि इसका यह मन्द अपने मनोरथ पूर्ण होने से लौकिक की तरह नहीं है ॥२६॥

आभास—ततो ब्राह्मणस्य वचनद्वयमाह तस्या आवेदयदिति ।

आभासार्थ—इसके बाद ब्राह्मण के दो वचन 'तस्या' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तस्या आवेदयत्प्राप्तं सरामं यदुनन्दनम् ।

उक्तं च सत्ययचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण ने उसको पूरो तरह जतलाया कि भगवान् बलरामजी सहित आ पहुँचे हैं, और आपका पाणिग्रहण करेंगे तथा अपने साथ ले जाएँगे, ये वचन परिहास से नहीं कहे हैं, किन्तु सत्य कहे हैं ॥३०॥

सुबोधिनो—प्राप्तं भगवन्तमावेदयत् । अन्या-
 र्थमप्यागमनं सम्भवतीति तन्नित्यवृत्त्यर्थं उक्तं च
 आवेदयत् । सराममिति कलहेऽपि शङ्काभावाय
 तन्मनोरथपूर्व्यं च । यदुनन्दनमिति तथा करणे
 भक्तकृपालुत्वं हेतुस्तः । यो हि पितुरात्रोत्प्लङ्घन-
 कर्तारं भक्तत्वाद्यदुमानन्दयति, तेनैव भावेन
 त्वामप्यानन्दयति । 'स्त्रीषु नर्मविवाहे चेति'
 वाक्यात् कदाचिदसत्यमपि वदेत्, तद्व्यावृत्त्यर्थ-
 माह सत्यवचनमिति । चकारात्स्वाभिप्रायनिवे-
 दनमपि यद्भवता कृतं तदप्युक्तवान्, न केवल-
 मुद्राहार्यम्, किन्तु उपनयनं प्रति समीपे नेष्या-
 मीति यथाभिलषितसिद्धिः । उपगमनपदेऽपि स
 एवार्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् पधार गए हैं, ऐसा निवेदन किया, पधारना तो दूसरे काम के लिए भी हो सकता है ? इस भ्रम को भिटाने के लिए केवल "प्राप्त" न कह कर "आवेदयत्" शब्द भी दिया है । जिसका भावार्थ है कि तुम्हारे लिए ही पधारें हैं और अकेले भी नहीं हैं, बलरामजी भी आ गए हैं । जिससे यह बताया कि कलह होगा ऐसी शंका भी मत करो, क्योंकि रामजी उसको टाल देंगे जिससे आपका कार्य हो जायगा । भगवान् का मनोरथ भी पूर्ण हो जायगा । भगवान् का नाम 'यदुनन्दन' दिया है, जिसका आशय है कि जो भगवान् पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले यदु को भक्त होने के कारण आनन्द देते हैं वे उसी भाव से आपको भी आनन्द देते हैं । उसी प्रकार करने में भक्त पर कृपालुपन का कारण है । "स्त्रीषु नर्मविवाहे" इस उक्ति के अनुसार किसी समय ऐसी बात में झूठ भी बोल जाता है, इसलिए कहता है कि यह परिहास वा झूठ नहीं है, किन्तु सत्य वचन है । "च" शब्द से भगवान् ने जो अभिप्राय प्रकट किया था वह कह कर बता दिया । भगवान् केवल विवाह के लिए नहीं आए हैं, किन्तु अपने साथ उसको ले जाऊँगा जिससे उसको अभिलाषा पूर्ण हो, इसलिए भी पधारें हैं । "उपगमन" ३ पद में भी यही अर्थ समायामा हुआ है ॥३०॥

आभास—ततः पूर्णमनोरथा तस्मै वरं दत्तवतीत्याह तमागतमिति ।

आभासा—मनोरथ पूर्ण देख उस ब्राह्मण को "तमागतं" श्लोक में वर्णन किया हुआ "अभीष्ट" देने लगी ।

श्लोक—तमागतं समाज्ञाय वंदर्भा हृष्टमानसा ।

न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥

श्लोकार्थ—उनको ले आया है यह जानकर रुचिमणी प्रसन्न हुई ब्राह्मण को देने के लिए नमन से प्रिय अन्य कोई वस्तु नहीं देखी, अतः नमस्कार ही किया ॥३१॥

सुबोधिनी—भगवति समागते स्वयं भगव-
दीयेवेति सर्वं भगवते सभषितमिति वंदर्भात्वादेव
न कर्म ब्राह्मणस्य सकलं करिष्यति । हृष्टमान-
सेति स्वार्थं न किञ्चित्प्राथितवती, येन किञ्चि-
द्वत्पि तुष्टो भवेत् । मोक्षदातारमपि यो दत्त-
वान्, तस्मै किं देयमिति वैभवमपि न देयमि-

त्यहा ब्राह्मणायेति । अत एवान्यत्प्रियं नास्तीति
सा ननाम । नमोनम इत्येतावत्सदुपशिक्षित-
मिति । यत्र न कोऽपि प्रतीकारः, तत्र नमस्कार
इति । भगवांश्च ब्राह्मण्यदेव इति ब्राह्मणनम-
स्कारो भगवद्भार्याया युक्त एव । अनेन देया-
भावे सर्वत्रैवभवे कर्तव्यमिति साधनं निरूपितम् ॥३१॥

व्याख्यायं—रुचिमणी स्वयं भगवान् को ही है, इसलिए भगवान् के पधार जाने पर जो कुछ उसके पास था वह सब भगवान् को अपण कर दिया । विदर्भदेश में उत्पन्न होने से ब्राह्मण का कर्म सफल न कर सकेगी. भगवान् के पधारने से प्रसन्न चित्त हो गई, जिससे अपने लिए कुछ भी प्रार्थना नहीं की जो चाहती थी वह परमानन्द सत्य द्रव्य प्राप्त हो गया । उसके मिलने वाले ब्राह्मण को कुछ दे कर प्रसन्न करे, ऐसा कोई वस्तु नहीं देखी, कारण कि जिस ब्राह्मण ने मोक्ष देने वाले को दिए हैं, उसको क्या दिया जावे ? वैभव दो, तो कहती है कि वैभव भी नहीं दिया जा सकता है, कारण कि यह ब्राह्मण है, इसको वैभव की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणों का वैभव तप है । उसमें जो यह द्विज सत्तम होने से भक्त भी है, इसलिए घनादि देना व्यर्थ है । इस कारण से नमस्कार के सिवाय दूसरा कोई भी पदार्थ ब्राह्मण को प्रिय नहीं है इसलिए उसने ब्राह्मण को नमस्कार ही किया । “नमो नमः” से सदुपदेश दिया । जहां कोई भी बदला नहीं दिया जा सकता हो वहाँ “नमस्कार” ही प्रतीकार है । भगवान् स्वयं ब्राह्मण्य देव हैं, इसलिए भगवान् की परनी ब्राह्मण को नमस्कार करे, यह योग्य ही है, इससे यह शिक्षा दी कि जब देने की वस्तु का अभाव होवे तब सर्वत्र इस प्रकार ही “नमो नमः” करना योग्य है, यह साधन निरूपण किया है ॥३१॥

आभास—भगवान् नगरमध्ये समागतः, ब्राह्मणोऽन्तःपुरे । ततस्समागतयोः विवा-
हात्पूर्वकर्तव्यं वक्तव्यमिति, पितुरदाने हरणं वा युक्तमिति, प्रसह्य हरणेऽपि मातापितृ-
दानमावश्यकमिति, अन्यथा न धर्म्यः स्यादिति पितुर्दानार्थं गोप्यार्थं च तादृशीं
कथामाह प्राप्तौ श्रुत्वेति त्रिभिः ।

आभासार्थ—भगवान् तो नगर में पधारे और ब्राह्मण अन्तःपुर में भीतर गया । उसके पश्चात् आए हुए दोनों का विवाह से प्रथम कर्तव्य है वह कहना चाहिए । पिता विवाह कराके न देवे तो हरण करना योग्य है, किन्तु बलात्कार से हरण करने में भी माता पिता का दान करना आवश्यक है नहीं तो वह विवाह धर्म युक्त नहीं माना जाएगा, इसलिए पिता के दान को गुप्त रखने के लिए वंसी कथा 'प्राप्तौ श्रुत्वा' श्लोक से तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्धाहप्रेक्षणोत्सुको ।

अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणः ॥३२॥

मधुपकंमुपानीय वासांसि विरजानि सः ।

उपायनान्यभीष्टाभि विधिवत्समपूजयत् ॥३३॥

श्लोकार्थ—अपनी कन्या के विवाहोत्सव देखने के उत्सुक होने से दोनों भ्राताओं का आना सुनकर राजा भीष्म पूजा की सामग्री लेकर बाजे-गाजे के साथ सामने सत्कार करने के लिए आए और साथ में मधुपकं, शुद्ध वस्त्र भी ले आये थे । विधि के अनुसार पूजन कर वस्त्रादि दे कर उन्हें सुशोभित किये ॥३२-३३॥

सुबोधिनी—स्वदुहितुरुद्धाप्रेक्षणे सम्बन्धित्वा-
दुत्सुको समागताविति लोके भ्रममुत्पाद्य स्वयं
दातुमेवागतः । स्वदुहितुः एतौ प्रकर्षेणाभौ, एकः
पतिरपरो भावुक इति । एकस्तुद्धाहोत्सुकः, अपरः
प्रेक्षणोत्सुक इति । अत एव अनाकारितावप्या-
गतौ । लोकेऽप्युत्सुकानां नाकारणम् । तथाप्य-
ग्रिमकृत्यं कर्तव्यमिति तूर्यघोषेण समर्हणः सह
आभिमुह्येन गतः । शिशुपाले तु 'तं वै विदर्भा-
धिपति'रिति अग्रे सर्वेषामेव वक्ष्यति । मध्ये तु
भगवतो विशेषाकारेण यथा वराय क्रियते ।
गमन एव वाचसहितः वरपूजार्थं सम्पादितद्रव्यैः

सह । ततो मधुपर्कानियनम् । ततो विरजानि
वासांसि । विरजानीति शोभार्थं दानव्यतिरेक
उक्तः । अन्येभ्यस्तु स्वख्यापनाथं राजसगुणा-
दीयत इति वस्त्राण्यविरजान्येव भवन्ति । नूत-
नानि तु प्रक्षालितानि सर्वेभ्य एव दीयन्त इति
विशेषणं व्यर्थं स्यात् । अथवा । कन्यां दातुं
आदौ अखण्डानि शुद्धान्येव वस्त्राणि दत्तवान् ।
यदप्यग्रे देयम्, तदपि दत्तवानित्याह उपाय-
नानीति । अभोष्ठानि वरवध्वोः । विधिवदिति
यथाविवाहविधि ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—अपनी पुत्री के विवाहोत्सव के सम्बन्धी होने से देखने के लिए उत्सुक थे, अतः आये हैं । इस प्रकार लोक में भ्रम पैदा कर स्वयं भोष्मक कन्या देने के लिये आया । ये दो राम कृष्ण जो आये हैं, उनमें से एक श्रीकृष्ण पति हैं और दूसरा राम भावुक है । कृष्ण विवाह का उत्सुक होने से पति है और राम उत्सव देखने का उत्सुक होने भावुक से है । इस कारण से ही बिना

बुलाये भी आये हैं। लोक में भी जिनको प्यारी वस्तु को पाने या देखने को लालसा होती है, तो भी आगे जो कार्य करना है वह करना ही चाहिए। यह चित्त में निश्चय कर वाजे-गाजे के साथ पूजा का सामान लेकर सामने आया। शिशुपाल के आने पर तो "तं वै विदभ्राघिपति" इस श्लोक में कहे अनुसार सामने गया। पश्चात् सामना करने पर सम्मुख आये हुए की जैसी पूजा जिस प्रकार ठहराना आदि वैसे आगे सर्वों का ही कहेगा, बीच में तो भगवान् की विशेष रूप से जैसे वर (दुलहा) की की जाती है, वैसे करने लगा। भोष्मक सत्कार करने के लिए जब जाने लगा तब वाजे वगेरे (वाद्य साब्) साथ में ले चला तथा वर को पूजा के लिए जिन द्रव्यों को आवश्यकता उस समय होती है, वे सब तैयार कर साथ में लिए थे। वहाँ पहुँचने के बाद पूजा के प्रारम्भ में मधुपर्क मंगाया। पश्चात् भगवान् को वस्त्रों से सुशोभित करने के लिए शुद्ध सात्त्विक वस्त्र अर्पण किए। वस्त्रों का विशेषण जो "विरज" दिया है, जिसका भाव है कि ये वस्त्र दानार्थ नहीं है, किन्तु श्रृङ्गार के लिए सात्त्विक वस्त्र हैं। दूसरों को तो जो वस्त्र दिए जाते हैं वे अपने यश के लिए राजसगुण (भाव) से दिए जाते हैं, वे अविरज ही होते हैं। यदि विरज का भाव नवीन वा स्वच्छ किया जाय तो नवीन वा स्वच्छ तो सर्व को दिए जाते हैं जिससे 'विरज' विशेषण देना व्यर्थ हो जाता है, इसलिए विरज का भाव है "सात्त्विक वस्त्र" अथवा कन्या को जो आभे वस्त्र देने पड़ते हैं, वे पहिले ही अखण्ड और शुद्ध वस्त्र दे दिए और उपायन (उपहार) भी वर और वधू को जो देना था, वह दे दिया। वह भी यों ही नहीं दिया, किन्तु जैसे विवाह में देने की विधि है, वैसे दिए ॥ ३२. ३३ ॥

श्लोक—ततो निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः ।

ससैन्ययोः सानुगयोरतिथ्यं विदधे यथा ॥३४॥

श्लोकार्थ—महामति भोष्मक ने समीप ही सुन्दर ठहरने का स्थान तैयार रखा था, वह ठहरने के लिए दिया और लश्करं सहितं तथा जो अन्य साथ आये थे उनका भी यथा योग्य भोजन आदि से आतिथ्य सत्कार किया ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो निवेशनमपि यथा जामात्रे महातिरिति । ततो वरयात्रिकाणां भोजनमपि दीयते तादृशं श्रीमदिति । उप समीप एव कल्पयित्वा । यथा भगवान् निकट एव रुक्मिणी-सहितो भवतीति । ननु कथमेवं ज्ञातवान्, तत्राह दत्तवानित्याह ससैन्ययोरिति । सैन्यमसहभोजि, अनुगास्तु सहभोजिन इति । आतिथ्यं प्रत्येकं धर्मं बुद्ध्या आवश्यकबुद्ध्या वा ॥३४॥

व्याख्यार्थ—पूजा के पश्चात् जैसे वर को ठहरने के लिए सुन्दर स्थान दिया जाता है, वैसे निकट ही उत्तम घर रहने के लिए दिया, जिससे भगवान् रुक्मिणी के समीप होने से उससे हिल-

मिल जावे, भीष्मक ने यों कैसे जान लिया ? इसके उत्तर में कहा, कि वह बड़ा बुद्धिमान् है जिससे सब समझ गया था, पश्चात् वर के साथ जो आए थे उन को भोजन भी दिया । उनके साथ जो सेना आई थी वह पक्ति में साथ भोजन करने वाली नहीं थी, अतः उसको अलग भोजन करवाया और जो दूसरे अनुग थे वे सहभोजी थे, अतः उनको साथ में भोजन करवाया । अतिथि सत्कार तो हर एक का धर्म बुद्धि न करना आवश्यक है, अथवा इस बुद्धि से किया है ॥३४॥

आभास—तदनन्तरं तदर्थमन्येषामपि पूजां कृतवानित्याह एवं राजेति ।

आभासार्थ—उसके पश्चात् दूसरों की भी आतिथ्य सत्कार के लिए पूजा की जिसका वर्णन “एवं राजा” इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं राजा समेतानां यथावीर्यं यथावयः ।

यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जो राजा आदि आये थे, उन सबका उनके पराक्रम, आयु, बल तथा वित्त के अनुसार सर्व प्रकार की कामनाओं से सत्कार किया ॥३५॥

सुबोधिनी—यादृशे रूपे यादृशानि वस्त्राणि | सेना तावत्संभृत्याधिबयम् । यावच्च स्वस्थ वित्तम् ।
यादृशं वयः तादृशवेशसम्पादकम् । यावच्च बलं , एवं यथायोग्यं चतुर्धा पूजयामास ॥३५॥

व्याख्यान—रूप तथा वय के समान जैसे-जैसे वस्त्र योग्य थे, वे तैयार करवाए थे, वे दिए । जितनी सेना थी उसके योग्य विशेष पोषण भी किया और जैसा अपने पास धन था उसके अनुसार, यथायोग्य चार प्रकार से सब की पूजा की ॥३५॥

आभास — राजपत्न्या अभिरुचिरस्ति नवेति सन्देहे, तन्निराकरणार्थं सामान्यतः स्त्रीणामभीष्टता निरूप्यते कृष्णमागतमिति त्रिभिः, कायिकवाचिकमानसिकानुवृत्तिभेदात् । तत्र कायिकमाह ।

आभासार्थ—रानी का भी राजा को तरह इसमें पूरा प्रेम है वा नहीं, इस सन्देह के निवारण के लिए सामान्य रीति से स्त्रियों को भी यह पसन्द है, इसका वर्णन

“कृष्णमागत” से तीन श्लोकों में करते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का उनका प्रेम है, इसलिए तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं। उनमें से इस श्लोक में ‘कायिक’ का वर्णन करते हैं।

श्लोक— कृष्णमागतमाकर्ण्य विदभंपुरवासिनः ।

आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—विदभं पुरवासियों ने कृष्ण का आना सुनकर सब वहाँ आकर अपने नेत्र रूप अंजलिओं से उनके मुख रूप कमल मकरन्द का पान किया ॥३६॥

सुबोधिनी—कृष्णं स्वभावत एव स्त्रीप्रियम्, न पश्येदिति विदभंपुरवासिनः सर्वं एव समागत्य तद्गृहेऽपि गत्वा द्रष्टव्यम् । स्वगृहे समागतं कथं नेत्राञ्जलिभिस्तन्मुखपङ्कजं पपुः ॥३६॥

व्याख्यार्य—स्वभाव से स्त्रियों को प्यारा श्रीकृष्ण है इसलिए उसके घर जा कर भी जब वे देखने योग्य है तब अपने घर आए हुए को कैसे न देखें, इसलिए विदभं पुरवासी सब आकर नेत्र रूप अंजलियों से उनके मुख रूप कमल के मकरन्द का पान करने लगे ॥३६॥

आभास—तेषां वाक्यमाह अस्यैवेति ।

आभासार्थ—दर्शन कर उन्होंने जो वचन कहे वे “अस्यैव” श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।

असावप्यनवद्यात्मा भंग्म्याः संमुचितः पतिः ॥३७॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी इसकी ही भार्या बनने योग्य है न कि दूसरे की, यह निर्दोष है इसलिए यह ही इसका योग्य पति है ॥३६॥

सुबोधिनी—कोऽपि कस्मैचित्प्रयच्छतु, भार्या त्वस्यैव भवितुमर्हति । अनेन स्वरूप-योग्यता निरूपिता । योग्यं योग्येन सम्बध्यत इति तेषामभिप्रायः । ननु तस्मैयमन्यस्मै, अन्या

भगवते तथा सति देयेत्याशङ्क्याह नापरेति । अन्या तु न योग्यैव । न हि लक्ष्मीव्यतिरिक्ता भगवद्योग्या भवति । लोकश्च प्रमाणमिति । यथा दैवो वाक्, तथा वदति । अयमपि

रुक्मिण्या एवाहति । यतः अनघात्मा । पुरुषो-
त्तमत्वात् निरवद्यरूपः । सा हिं निर्दुष्टमेव
पति मन्यते । भगवानीश्वरत्वेन सर्वेषामेवो-

चितः, पतित्वेन त्वस्या एवोचितः । यत इयं
भक्तिप्रधाना ॥३७॥

व्याख्यान—कोई भी किसीको भले देवे, किन्तु रुक्मिणी तो इसको भार्या बनने योग्य है इन शब्दों से स्वरूप की योग्यता बताई है, इस प्रकार के शब्द कहने का भाव यह है कि योग्य कन्या योग्य वर से ही सम्बन्ध कराने के योग्य है, यह तो भाई ने दूसरे को दी है इसलिए भगवान् को दूसरो दी जाय ? इसका निराकरण नगर वासी करते हैं कि 'नापरा' दूसरो नहीं, कारण कि दूसरो तो भगवान् के योग्य नहीं होगो, लक्ष्मी के सिवाय दूसरी कोई भी भगवान् को भर्त्या नदने, गेयग, नदी, है, लोक, दूर, पृथग, है, लीसे, देवी, वृषणे, वीसे, लोक, कर्त, ग्दे, है, यह भी रुक्मिणी के योग्य है क्योंकि निर्दोष आत्मा है पुरुषोत्तम होने से ही निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह है वह भी निर्दोष को ही अपना पति मानती है; भगवान् ईश्वर होने से समस्तों के पूज्य होने योग्य है, किन्तु पतिपन से तो इसके ही योग्य हैं, क्योंकि यह "भक्ति प्रधान" है अर्थात् इसमें प्रेम मुख्य है ॥ ३७ ॥

आभास—एवं वाचनिकमुक्त्वा बाधकमत्र प्रवृत्तमित्याशङ्क्य तन्नवारणार्थं भग-
वन्तं प्रार्थयन्ति-किञ्चिदिति ।

आभासाय—ईस प्रकार वाचनिक भाव प्रकट कर इसमें कोई विघ्न न पड़े, ऐसी आशाका होने से उसके निवारण के लिए "किञ्चित्" श्लोक से भगवान् को प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृतः ।

अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥३८॥

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरोकसः ।

श्लोकार्थ—जो कुछ हमारे पुण्य हैं उनसे त्रिलोकी को रचने वाले यह अच्युत भगवान् प्रसन्न होकर हम पर अनुग्रह करके इस वैदर्भीका पाणिग्रहण करें । प्रेम की बेड़ी में बन्धे हुए पुरवासी इस प्रकार कहने लगे ॥३८॥

सुबोधिनो—यद्यस्माकं किञ्चित्सुचरित-
मस्ति, तेनादौ भगवान् तुष्टो भवतु । ततस्त्रि-

लोककर्ता स एवेति । अन्येषामपेक्षाभावात्
स्वयमेवानुगृह्णात्वस्मान् । अनुग्रहानन्तरं

यत्कतं व्यं तदाहः गृह्णातु वैदभ्याः पाणिमिति ।
अत्र एवमेवेति निर्बन्धहेतुमाह अच्युत इति ।
आदौ भर्ता स्वरूपतो धर्मतश्च्युतिरहितो मृग्यते,
तथा भोगेऽपि । एवं तेषां प्रेमातिशयमुक्त्वा सर्व-
सम्मतौ मातुरपि सम्मतजितित्यभिप्रायेणोपसंह-

रति । एवं प्रेमकलावद्धाः नानाविधस्नेहप्रकारै-
र्वशीकृताः वदन्ति । स्मेति प्रसिद्धिः प्रमाणत्वे-
नोक्ता । पुरवासित्वान्न मुखमुद्रणं केनापि शक्यम् ।
॥३८॥

व्याख्यार्थ—जो हमारे कुछ पुण्य हैं तो उनसे पहले तो भगवान् प्रसन्न होवें, और वह आप ही विलोकी के कर्ता हैं दूसरों की अपेक्षा से आप स्वयं ही हम पर अनुग्रह करें, अनुग्रह करने के बाद जो कुछ करना योग्य है वह कहते हैं कि वैदर्भी का पाणि ग्रहण करें, यह यों ही कहने का भाव है कि आप "अच्युत" हैं पहले उस पति की खोज की जाती है जो स्वरूप और धर्म से कभी भी, लेश-मात्र भी डिगे नहीं, वैसे ही भोग से भी, इस प्रकार उन का अतिशय प्रेम प्रकट कर सबको सम्मत होने पर माता की भी यही राय हो गई, इस अभिप्राय से अब उपसंहार किया जाता है इस प्रेम की बेड़ी में बन्धे हुए अर्थात् अनेक विध स्नेह के तरीकों से वशीभूत हो कहने लगे, "स्म" पद कहने का भाव है कि यों छिपकर नहीं कहने लगे किन्तु जैसे प्रसिद्धि हो वैसे प्रमाणपन से कहने लगे, कहने वाले नगर वासी थे अतः कोई भी उनका मुख बन्द नहीं कर सकता था ॥३८॥

आभास—एवं सर्वमिव हरणे संभृतिमुक्त्वा पूजार्थं तस्या बहिर्निर्गमनमाह कन्या
चेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सब की हरण करने में सम्मत कह देवी की पूजा के लिए उसका बाहर निकलना "कन्या च" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—कन्या चान्तःपुरात्प्रागाद्भट्टेर्गुप्ताम्बिकालयम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—योधाओं से रक्षित कन्या देवी के मन्दिर को जाने के लिए अन्तःपुर से बाहर निकली ॥३९॥

सुबोधिनी—यथा पुरवासिभिः स्वसर्वकर्म-
सम्पन्नेन हविमणीविवाहार्थं भगवान् प्राणितः,
एवं हविमण्यपि भगवान् गृह्णात्विति महादेवं
प्रार्थयितुं निर्गतेति चकारार्थः । अन्तःपुरादिति ।
गुप्तस्थानात् प्रकटस्थाने निर्गता यथा बन्धुपीडा-
मकृत्वा भगवान् विश्रामतया गृह्णाति । प्रकर्षे-

णागादिति मनःसन्तोषः प्रदक्षितः । भट्टेर्गुप्तेति ।
यथा तावदन्यो न स्पृशति । अम्बिकालयमिति ।
स्त्री देवता, गृहे स्त्रिय एवाध्यक्षा इति, तत्र
पुरुषसम्बन्धाभावो निरूपितः । अम्बिकापदेन
मानृतत्वं चोक्तम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—जैसे नगर निवासियों ने अपने सर्व पुण्य कर्म समर्पण कर रुक्मिणी से विवाह करने के लिए भगवान् को प्रार्थना की, वैसे ही रुक्मिणी भी भगवान् मुझे स्वीकार करें ऐसी प्रार्थना महादेव को करने के लिए अन्तःपुर से निकली यह आशय श्लोक में दिए हुए 'च' शब्द का है, अन्तःपुर से बाहर आने का यह भी कारण है कि भगवान् बान्धवों को पीड़ा न कर आराम से मुझे ग्रहण कर सकें, उत्कर्ष से बाहर निकलने से अपने मन का सन्तोष दिखाया, योद्धों से रक्षित होकर इसलिए निकली कि भगवान् ग्रहण करें तब तक कोई दूसरा स्पर्श न करे, "अम्बिकालयम्" स्त्री देवता घर में, स्त्रियाँ ही मुख्य होती हैं वहाँ पुरुषों के सम्बन्ध का अभाव रहता है "अम्बिका" मातृत्व आव आता है ॥३६॥

आभास—रथस्थाया ग्रहणं रथान्तरे स्थितस्य दुःकरं भवतीति पद्भ्यामेव निर्गति-
त्याह पद्भ्यामिति ।

आभासार्थ—रुक्मिणी, देवी के मन्दिर में जाने के लिए, अन्तःपुर से पंदल हा निकली थी, कारण कि जो रथ में बैठ कर जावे तो रथ में बैठे हुए को दूसरे रथ में, बैठी हुई को ग्रहण करने में कठिनाई न होगी, भगवान् मुझे आसानी से, ले सकें अतः रुक्मिणी ने पंदल जाना ही योग्य समझा, जिसका वर्णन "पद्भ्यां" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—पद्भ्यां विनिर्ययी द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ।

सा चानुध्यायती सस्यङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—यह प्राँवों से अम्बिका के चरणाविन्द के दर्शन के लिए जाने लगी उस समय भी भली भाँति भगवान् के चरण कमलों का ही ध्यान कर रही थी ॥४०॥

सुबोधिता—भवान्याः पादपल्लवमिति । लोके तद्भक्तत्वं स्वस्य व्यापयति ! अभिप्रेतार्थं स्वन्य एवं तमेवान्तर्गतमाह सा चानुध्यायतीति । तत्सम्बन्धिन्यः स्त्रियः । सा च मुकुन्दचरणाम्बुजमेव अनुध्यायती जाता । मुकुन्दस्य मोक्षदातुरवे चर-

णाम्बुजम् । अनेन विशेषतो भगवदाकाङ्क्षायां हेतुशक्तः । पितृगृहेऽपि बन्धनम्, अन्यत्रापि अव-
रोध एव स्थितिरिति मुकुन्दावरोधस्य मोक्षरूप-
त्वात्तन्न हेयम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—देवी के चरणाविन्द के दर्शन के लिए जाने के कारण केवल लोक में अपने को उसकी भक्त प्रसिद्ध कराना था, वित्त का भीतरी भाव तो दूसरा ही था वह भीतरी भाव जो था वह श्लोक के उत्तरार्ध में प्रकट किया है, वह तो वहाँ जाते समय भी मुक्ति दाता के चरणाम्बुज का ही भली भाँति प्रतिक्षण ध्यान कर रही थी, उसकी सम्बन्ध वाली स्त्रियाँ भी, भगवान् का ही ध्यान कर रही थीं, कारण यह है, कि रुद्रिणणीजी को भगवान् की ही केवल आकांक्षा है पिता के घर में भी बन्धन और दूसरे स्थान पर भी रुकावट, इसलिए मुकुन्द भगवान् में निरोध मोक्ष है अतः उसका त्याग करना योग्य नहीं है ॥४०॥

आभास—एवं कायमनोव्यापारो निरूप्य वाचि व्यापाराभावमाह यतवागिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार काया और मन के कार्यों को कह कर वाणी में कार्य ला अभाव "यत्वाङ् श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—यत्तवाङ् मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता ।

गुप्ता राजभटः शूरैः सस्रद्धं रुद्रतायुधैः ॥४१॥

श्लोकार्थ—सखियों से घिरी हुई, माताओं के साथ मौन धारण कर दर्शन को जा रही थी उस समय कबच धारण किए हुए, शस्त्र धारो राजा के शूरवीर योद्धे रक्षा कर रहे थे ॥४१॥

सुबोधिनी—मातृभिः सार्धमिति । भगवतो मनसि यथा अनौचित्यं न भवति, तदर्थमेवं कृतवती । सखीभिश्च परिवारिता । अनुमत्यम् हरणे पश्चात्तापाभावार्थं शोभार्थं च । बहिर्भटे-
गुप्ता । शूरैरित्यन्तःसामर्थ्यम् । सन्नद्धं रुद्रतायुधैरिति । स्वरक्षापरपीडार्थं साधनसम्पत्तिः । एवमावरणचतुष्टयं तस्या निरूपितम् । सर्वतो दोषाभावाय ॥४१॥

व्याख्यार्थ—माताओं के साथ जा रही थी, इनके साथ जाने का अभिप्राय यह था कि भगवान् के मन में मेरे लिए किसी प्रकार अयोग्यता की शंका उत्पन्न न होनी चाहिए, सहेलियों से घिरी हुई

थी माताओं और सहेलियों का साथ में होने का भाव यह था कि भगवान् मुझे हरण कर ले जाव इसमें इनको भी राय है, इसलिए इनको वा मुझे पश्चाताप न होगा, बाहर से इनके साथ में आने से शोभा भी है, बाहर भटों से रक्षित थी वे शूरवीर थे इससे भीतर का सामर्थ्य दिखाया, शस्त्र लेकर तैयार थे इससे यह बताया कि अपनी रक्षा और शत्रुओं की पीड़ा के लिए साधनों की सम्मति बताई है इस प्रकार इसकी रक्षा के लिए चार पङ्क्तियाँ कहे, सर्व प्रकार दोषों का अभाव बताने के लिए ॥४॥

आभास—ततो मङ्गलवाद्यानामपि वादनम्, शुभनिमित्तं शकुनमपि जातमित्याह ।

आभासार्थ—पश्चात् मङ्गल सूत्रक बाजे भी बजने लगे और शुभ के निमित्त कारण शकुन भी हुए जिनका वर्णन “मृदङ्ग” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जङ्घिरे ।

नानोपहारबलिभिवरिमुष्याः सहस्रशः ॥४२॥

सगन्धवस्त्राभिरङ्घ्रिजपत्न्यः स्वलङ्कृताः ।

(गायन्तश्च स्तुतन्तश्च गायकां वाद्यवादकाः ।)

परिवार्य बधूं जग्मुः सूतमोग्धबन्दिनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हजारों उत्तम वैश्याएँ अनेक प्रकार के उपहार और बलिदान के लिए साथ चल रही थी, माला, सुगन्ध वस्त्र, और आभूषणों से श्वलङ्कृत ब्राह्मणों की स्त्रियाँ संग चल रही थीं, मृदङ्ग, शंख, नगारे, तुरी, बड़े नगारे बज रहे थे, गाते, बजाते, स्तुति करते और बाजे बजाने वाले सूत, मागध एवं बन्धी जनये सब तथा मुख्य वैश्याएँ स्विमणी को घेरे हुए चलती थीं ॥४२: ४३॥

सुबोधिनी—गानोपहारबलिभिरिति । वार-घनानि, एतानि सङ्गे गतानीति पृथक् सहार्थ-मुष्याश्च परिवार्य बधूं जग्मुः इति सम्बन्धः । तृतीयया ज्ञातव्यम् । वारमुष्यास्तु भिन्नाः, नानोपहाराः भवान्यर्थे फलादयः, बलिः पूजासा-वराणां सपूहो वारम्, चारं मुख्यं यासामिति ।

प्रत्यहं बहवो वराः वेश्यानामेव भवन्तीति । सहस्रश इति तासामुत्सवो निरूपितः । नित्यनूतनो भगवान् द्रष्टव्य इति । ब्राह्मणस्त्रियोऽप्याचारादाशीर्दानार्थं भगवदिच्छया सहैव गताः । त्रिशेषतः पूजा तासां कर्तव्येति पूर्वमेव तासां पूजां

निरूपयति स्रग्गन्धवस्त्राभरणैरिति । चतुर्विधैरप्यलङ्कृताः । अन्योऽपि महानुत्सवो ज्ञात इत्याह बधून् परिवार्येति । दर्शनार्थं लाभार्थं च गमनमुक्तम् । सूतादयो विद्योपजीविन उक्ताः ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—अनेक उपहार और बलियों के साथ मुख्य वैश्याएँ रक्मिणी को घेर कर चल रही थीं इस प्रकार सम्बन्ध है, अनेक उपहार अर्थात् भवानी के लिए फल आदि वाले पूजा के साधन ये सब प्रयत्न साथ थे साथ का अर्थ तृतीया से समझना चाहिए मुख्य वैश्याएँ जुदा थी बहुत वर जिनके होते हैं उनको वार कहा जाता है, वे मुख्य जिनमें हैं, वे वार मुख्य कही जाती हैं प्रतिदिन बहुत पति वैश्याओं के हो होते हैं, वे हजारों थीं यों कहने से उनका उत्सव अर्थात् आनन्द प्रकट करने का समय निरूपण किया है, भगवान् का रसस्वरूप नित्य क्षण क्षण में नूतन होने से देखने योग्य है, ब्राह्मणों की स्त्रियाँ भी सदाचार से आशीर्वाद देने के लिए भगवदिच्छा से सार्थही थी इनको विशेष पूजा करनी चाहिए, वह पूजा पहिले ही करनी चाहिए वह पूजा पहले ही की गई निरूपण करते हैं, माला, सुगन्ध, वस्त्र और आभूषणों से अलङ्कृत की गई थी इसी भाँति चार प्रकार से इनकी पूजा हुई है, अन्य भी महान् आनन्द हुआ, वह “बधून् परिवार्य” पद से कहा है दर्शन के लिए और मनोरथ पूर्ण होने के लिए यह यात्रा थी, सूत आदि विद्या से आजोविका चलाने वाले कहे हैं ॥४२, ४३॥

श्लोक—आसाद्य देवसदनं धौतपादकराम्बुजा ।

उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—वहाँ मन्दिर में पहुँच कर पहले अपने कमल समान कीमल हाथ लीए पर धोए पश्चात् आचमन कर शुद्ध हुई, बाद में शान्त चित्त हो अम्बिकाजी के पास गई ॥४४॥

सुबोधिनो—ततो भगवान्मर्यादां स्थापयितुं पूजलन्तरमेव नेष्ट्यामीति तूष्णीं स्थितः, तदा सा देवसदनमासाद्य निकटे गत्वा, प्रक्षालितपाणिपादा आचम्य, अन्तर्बहिः शुद्धियुक्ता सती । उद्वेगादीनां

सम्भावितत्वात् तन्निषेधार्थं माह-शान्तेति । अन्तः-शान्तियुक्ता फलं प्राप्नोतीति अम्बिकान्तिकं प्रवि-वेश पूजार्थम् । अत एव भागवते श्लोकिक-सौन्दर्यकथनार्थं भाषाभेदा निरूपिताः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कुछ समय चुप्पी साधली इसलिए कि यह पूजा करले पूजा के बाद ही ले लूंगा, तब वह देव गृह में निकट जा कर हाथ, पैर धो आचमन कर, अन्दर बाहर दोनों तरफ शुद्ध हुई उद्वेग आदि का त्याग कर शान्त चित्त हो पूजा के लिए देवों के पास पहुँचा जिसके अन्तःकरण में शान्ति है, उसको पूजा का और भक्ति का फल प्राप्त होता है, इस कारण से ही भागवत में लौकिक सौन्दर्य कहने के लिए भाषा का भेद निरूपण किया है ॥४४॥

श्लोक—तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः ।

भवानां वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—तव विधि जानने वाली ब्राह्मणों की वृद्ध स्त्रियों ने उस कन्या से महादेव सहित भवानो देवी को प्रणाम करवाया ॥४५॥

सुबोधिनी—ततो या विधिज्ञा ब्राह्मणस्त्रियो वृद्धाः भवानीं वन्दयाञ्चक्रुः । भवानीशब्दः प्राप्तपुरुषसम्बन्धायाः सज्ञामात्रम् । तेन विशेषं ख्यापयितुं भवपत्नीमित्युक्तम् । अथवा । इयं न महादेवस्य भोगस्त्री, तथा सति वरदातृत्वं न

स्यादिति भवपत्नीमित्युक्तम् । यज्ञसंयोग एव पत्युर्नो भवतीति । तत्रापि भवान्विता । उद्भवत्सको हि सः सम्पूर्णो भवति । स्त्रिया सहितस्यैव सम्पूर्णत्वात् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—भवानी के पास पहुँचने के बाद जो विधि को जानने वाली ब्राह्मणों की वृद्ध स्त्रियाँ थीं वे रुक्मिणी से देवी का प्रणाम कराने लगीं, “भवानी” शब्द से यह बताया है कि जिस देवी स्वरूप का पुरुष से सम्बन्धमात्र हुआ है, उस देवी का नाम इस कारण से “भवानी” हुआ है इससे विशेष प्रसिद्धि के लिए “भवपत्नी” विशेषण दिया है, अथवा यह अम्बिका भवानो महादेव की भोग की स्त्री नहीं है, यदि भोग की स्त्री होती तो वर देने की शक्ति इसमें न रहती इसलिए भवपत्नियों कहा है पति का यज्ञ में संयोग नहीं होता है वहाँ भी महादेव के साथ होती है, उद्भवरूप ही सम्पूर्ण होता है, स्त्री सहित ही स्वरूप पूर्ण है ॥४५॥

॥ ४५ ॥

आभास—तदानीमेव भवानो नमस्कारे भगवदिच्छया मन्त्रः स्फुरित इति तं निरूपयति नमस्ये त्वेति ।।

आभासार्थ—भवानी को नमस्कार करते हो भगवदिच्छा से रुक्मिणी को मनमें मंत्र का स्फुरण हुआ जिसका वर्णन “नमस्ये त्वा” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवम् ।

भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्णस्तदनमोदताम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे अम्बिके ! अपने सन्तान सहित आपको तथा महादेव को नमन करती हूँ, मेरे पति भगवान् श्रीकृष्ण होवें जिसका आप अनुमोदन करो एवं श्रीकृष्ण भी अनुमोदन करे ॥४६॥

सुबोधिनी—स्वसन्तानयुतां गणपत्यादिसहि-
ताम्, शिवमपि नमस्ये । मन्त्र एव प्रार्थनामाह
भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्ण इति । तदेतदनुमोदतां
शिवः भवानी च । अथवा । कृष्णो वा अनुमो-
दताम्, न तु कोपं करोतु, अन्यदेवतानमस्कारं

वा अनौचित्येन न स्वीकरोतु । लोकप्रतीतिस्तु
भूयान्मे पतिरिति भिन्नम् । तत्कृष्णः अनुमोद-
तामिति च भिन्नम् । अन्यथा महादेवः स्वसदृश-
मेव कुर्यात् । तच्चान्येषामफलम् । अतः कृष्णानु-
मोदनं सर्वत्र वक्तव्यम् ॥४६॥

व्याख्यान—हे अम्बिके अपने सन्तान गणपति आदि सहित आपको तथा महादेवजी को भी प्रणाम करती हूँ, मन्त्र में ही प्रार्थना करती है कि मेरे पति भगवान् कृष्ण ही हों जिसका अनु-
मोदन शिव और भवानी दोनों करें अथवा कृष्ण भी अनुमोदन करें, अन्य देवता को नमस्कार कर
रही हूँ इसकी अनुचित समझ कोपं न करें, किन्तु उचित जान अनुमोदन ही करें, मेरे पति श्रीकृष्ण
ही वैसी लोककी प्रतीति भिन्न है, उस लोक प्रतीति का कृष्ण अनुमोदन करे यह पृथक् विषय है,
नहीं तो महादेव अपने सदृश ही करे और वह तो दूसरों का फल नहीं है, अतः सर्वत्र कृष्ण का
अनुमोदन ही करना चाहिए ॥४६॥

आभास—न केवलमयं नमस्कारं एव मन्त्रः, किन्तुवनेन मन्त्रेण सर्वाभिव पूजा
कृण्वतीत्याह अद्भिरिति ।

आभासार्थ—यह मन्त्र केवल नमस्कार के समय कार्य में नहीं लाया किन्तु इस
मन्त्र से समग्र पूजा की जिसका वर्णन “अद्भि” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अद्भिर्मगन्धाक्षतंघृत्पैर्वास,सङ्घ्नाल्यभूषणैः ।

नानं पहारवलभिः प्रदीपावलभिः पृथक् ॥४७॥

विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तः समपूजयत् ।
लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥४८॥

श्लोकाथ— ऐसे नमस्कार एवं प्रार्थना कर अब पूजा करती हैं, पहले जल से पश्चात् गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, पुष्प, मालाएं और आभूषणों से यथा अनेक प्रकार के उपहार, बलि, दीप आदि से जुदी जुदी पूजा की । ४७।४८

पश्चात् उसी प्रकार सघर्षों ब्राह्मण स्त्रियों का उन पदार्थों से मोन पूजन किया तथा लवण, माल, पुष्प, कण्ठसूत्र, फल और ईख इन् वट रस वाले पदार्थों से पूजा की ॥४८॥

सुवोधिनी ॥ पांचाध्ययिचमनस्नाने, ततः शिवणवे दास्यति शिवः पूजितः सपरिकरः प्रब्रह्मा त्ववशिष्येतेति । अतस्त्वोत्पत्त्यर्थं विप्रस्त्रियोऽपि पूषकं पृथक् वस्त्रादिभिः पूजिताः । किञ्च । विवाहे विशेषप्रकारमाह लवणेति । मूत्रलवणयोः श्वेतौति शब्दः, तस्मात्कामिनि च । कण्ठसूत्रं सुमलसूत्रम्, फलाति नानाविधानि, इक्षवश्च खण्डशः कृताः । एकत्रैव वस्त्रे दानम् ॥४८॥

व्याख्या— देवी को पूजन का प्रकार बताते हैं, पहले प्राद्य, अर्घ्य, आचमन तथा स्नान करवाया, पश्चात् धूप, दीव, गन्ध से पूरे अक्षतों से अलंकृत किया, धूप से आद्रता (मालापन) मिटाकर वस्त्र, पुष्पमालाएं, आभूषण पहनाए क्योंकि स्नान से आद्र वस्त्र आदि का अक्षयकत्व किया जाता है. जब अन्य शुभक वस्त्र और अलङ्कार पहने जाते हैं. कारण कि शास्त्र में कहा है— अलंकृतीषामप्रमिनं त्रिष्टेदं अलंकृतं हुण्विना स्त्रीको एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए इस लिए अन्य अलङ्कारों से प्रथम अक्षत आदि अलङ्कार दिए पश्चात् वस्त्र आदि दिए फिर दीपावलि से अनेक प्रकार की आरती की पृथक् शब्द पहले की हुई पूजा से भी सम्बन्ध रखता है अर्थात् पहले की हुई एक एक पूजा भिन्न भिन्न की है, महादेव की तथा भवानी की । इसी प्रकार हर एक सघवा ब्राह्मण स्त्रियों की भी पूजा की यदि उनके पूजा नहीं करती तो परिवार सहित पूजित शिव अपनी पूजा विष्णु को देते तो ब्रह्मा पूजा बिना रह जाऐ, अतः ब्रह्मा की प्रीति के लिए ब्राह्मण स्त्रियां भी वस्त्र आदि से जुदी जुदी पूजा गई, विवाह में जो विशेष प्रकार किया जाता

हे वह कहते हैं। लवण आदि ये छ मंगल द्रव्य हैं, कारण कि रस रूप ही कण्डे सूत अनेक प्रकार के भल टुकड़े किए हुए गन्ने ये सब ही छ रस इकट्ठे करे ब्राह्मण स्त्रियों को दान में दिए ॥ ४७-४८ ॥

— श्लोक—तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषा युयुजुराशिषः ।

ताभ्यो देव्यं तमभुज्जु शेषां च जगृहे वधुः ॥४६॥

श्लोकार्थ—उन स्त्रियों ने उसको दिया, अन्य स्त्रियों ने आशोवादी की, रुक्मिणी ने ब्राह्मण की स्त्रियों को तथा देवी को प्रणाम किया, दिए हुए पदार्थों की प्रसादी वधु ने ली ॥४६॥

सुवोचिनी-ताश्च स्त्रियः तस्यै ददुः (वधु) । सभद्रु कार्य एव दीयते । अत एव तेल्लोके विवाहानन्तरं दान प्रसिद्धम् । तदत्र न भविष्यतीति मातृकतव्यत्वाच्च मन्त्रवदेतदपि स्फुरितमिति प्रथमत एव दत्तवत्यः । अथवा । पुत्र एव भगवान् समागतः भवान्शिवाभ्यां भगवते रुक्मिणी दत्ता, प्रार्थनायाः सफलत्वाय । एतत् अप्रिमदान-कथनावु निरूप्यते । तथा ताभ्यो दत्ताः । तस्यै

श्वतोः प्रददुः शेषाः अपि ददुः ताभ्योऽपि युयुजुः शेषाः अपि ये त्ववणादयो दत्ताः शेषा-मशाः प्रतोदीयन्ते । एवं विधौ नमुक्त्वा क्रमपूर्त्यर्थं तमस्कारमाह ताभ्यो देव्यं नमश्चक्रे इति । शेषा ताभिर्दत्तां जगृहे, स्वग्रन्थो स्थापितवती । एवं सर्वोऽपि विवाहितेसुवोऽनैर्धोऽन्निरूपितः । अत्र दिनत्रयं व्रतं तदपि जातिमार्तं भिन्त्येवम् ॥४६॥

व्याख्यान—उन प्रज्जु ब्राह्मण स्त्रियों ने वह पति सहित बेठी हुई को ही दिया जाता है, इस कारण से ही लोक में यह दान विवाह के अनन्तर ही देना प्रसिद्ध है, वह यहाँ बन-न सकेगा-मातृ-कर्तव्य होने से-मन्त्र-की-तरह यह भी स्फुरण हुआ कि अब हो दे-वो भद्र, पहले ही दे दिया प्रार्थना भगवान् गान्, रीति से वहाँ पधार गए भवानी और महादेव ने प्रार्थना को सफलता के लिए भगवान् को रुक्मिणी दे दी, यह पहले दान करने से निरूपण किया जाता है, रुक्मिणी ने ब्राह्मण स्त्रियों को दिया, उन्होंने इसको दिया, शेष भी दिए और आशोवादी भी दिए शेष शब्द को स्पष्ट करते हैं, कि जो लवण आदि षड् रस

१—लवण, पूर, ताम्बूल, कण्ठसूत, फल, गुन्ना, ये छ रस, स्वच्छ है ।
२—कमल की नात से निकला सूत बताया हुआ सूत ।

दिए थे उनके थोड़े-अंश दिए जाते हैं, इस प्रकार, समग्र विवाह विधि कह कर, कर्म के सम्पूर्ण होने के लिए-रुक्मिणी ने जो नमस्कार की, वह कही जाती है, रुक्मिणी ने उन ब्राह्मणियों को तथा देवी को प्रणाम किया, उन ब्राह्मणियों ने जो शेषादि दी वह लेकर अपनी ग्रन्थि में बांध रखी, इस प्रकार समग्र विवाह विधि अनुसार हुआ यह निरूपण किया यहाँ तीन दिन जो व्रत होता है वह भी हुआ यों समझना चाहिए ॥४६॥

श्लोक — मुनिद्वतमय त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ।

प्रगृह्या पाणिना भृत्या रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् मीन व्रत का त्याग कर, रत्न की जड़ाऊ मुद्रिका से शोभित हस्त में दासी का हाथ पकड़ कर देवी के मन्दिर से बाहर तुरन्त निकली ॥५०॥

<p>सुबोधिनी—अथ मीनं त्यक्त्वा सखीभिः सह यदुक्तव्यं तदुक्त्वा—अम्बिकालयान्निश्चक्राम । नितरां गमनं शीघ्रं भगवत्प्राप्त्यर्थम् । सद्यः अन्याश्च स्त्रियः—व्यावृत्तिताः । एका या भृत्या अन्तरङ्गा तां प्रगृह्या भगवद्भावेन विकला भवि-</p>	<p>प्यामीति, बाह्ये तु भूमि न पश्यतीत्यवश्यं तदीया ग्राह्याः प्रदर्शिका । रत्नसहितमुद्रीपशो- भितत्वं भगवता स्वमुद्रा दत्तं ति । व्यापयितुम् । पूर्ववितारमुद्रां वा सूचयति ॥५०॥</p>
--	---

व्याख्यान—विवाह-विधि हो जाने के बाद मीन का त्याग कर, सखियों से जो बातें करने की वे कर, देवी के मन्दिर से भगवान् की प्राप्ति के लिए शीघ्र निकली, सहेलियाँ और अन्य स्त्रियाँ लौटाई गई, एक जो अन्तरंग सेबिका थी उसके साथ में ली, क्योंकि भगवद्भाव से मैं घबड़ाऊँगी जिससे बाहर भूमि कंठी है वह न जान सकूँगी इसलिए इसको साथ में लेना हितकारी है यह मार्ग दिखलाएगी, ने रत्न सहित मुद्रा से हस्त की शोभा का प्रदर्शन इसलिए करती थी कि भगवान् ने मुद्रिका दी है यह प्रसिद्ध हो जाय अथवा पूर्व अवतार की मुद्रा को सूचित करती है ॥५०॥

आभास—घट्टहं न गमिष्यामि पूर्ववदे गतिर्भविष्यतीति, ततोऽप्ये कस्यापि वर्णनं न भविष्यतीति—त्रिजाहसमये दर्शनं न दूषणमिति सर्वे हृष्टवन्त इत्याह तामिति ।

आभासार्थ—जो मैं नहीं जाऊँगी तो पहले की भाँति गति होगी उससे किसी को भी दर्शन न होगा इसलिए विवाह में कोई भी देखे तो दूषण नहीं है रुक्मिणी के बाहर आने पर सबने इसको देखा जिसका वर्णन “तां देवमाया” श्लोक में करते हैं ।

आभास — तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् ।

श्यामां नितम्बापितरत्रमेखलां व्यञ्जस्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—ईश्वरीय माया की भांति वीर पुरुषों को मोहित करने वाली सुन्दर कटि भागवाली कुण्डलों से सुशोभित मुख वाली नितम्ब पर बन्धी हुई रत्नों की मेखला वाली, प्रकट हुए स्तनों वाली और बालों से शंकित नेत्रों वाली ॥५१॥

सुबोधिनी—यथा भगवान् रङ्गप्रवेशे बहुभि-
र्बहुधा दृष्टः, एवमियमपि देवमायेव वीरैर्दृष्टेत्याह
देवमायामिवेति । देवस्य भगवतो मायाया
व्यामोहिक्रैषा शक्तिरागतेति सर्वैरेव निश्चितेति ।
तत्रापि वीरान् व्यामोहयति । अन्यथा स्वयं
गत्वा न त्रियेरन् । तां वर्णयति षोडशलक्षणाम् ।
द्वात्रिंशलक्षणो भगवान्, षोडशलक्षणा सेति
प्रसिद्धिः । एकं सम्बन्धादसाधारणसामर्थ्यम्,
अपरं शौर्यादिनिराकरणम्, तृतीयं व्यामोहकत्वम्,
चतुर्थं सुष्ठु मध्यं यस्या इति, लम्बिकावत् अमृत-
सम्बन्धार्थं अल्पमध्यत्वं निरूपणीयम् । अत एव
न कस्यापि रससम्बन्धः । स हि रसः पुरुषेण
भोक्तव्यः जिह्वयैव । तदभावात् स्वस्वितोऽपि

मक्षिकासम्बन्ध इव रसोपगच्छतीति दुःखमेव
लोके फलति । कुण्डलाभ्यां मण्डितमाननं यस्या-
मिति उपरि रसोपभोगस्थानस्य शोभा प्रदर्शिता ।
रसप्रदर्शके कुण्डले इति । वयोऽप्याह श्यामा-
मिति । षोडशवाषिको । नितम्बे अपिता रत्न-
मेखला यस्या इति रसाविभाविकप्रस्तावे मुख्य-
स्थानेऽपि रसप्रकाशो निरूपितः । मध्ये रसाभि-
व्यक्तिमाह व्यञ्जस्तनीमिति । एवं पञ्चधर्मा
रसात्मका निरूपिताः । पोषकान् समधर्मानाह ।
कुन्तलैः शङ्किते ईक्षणे यस्या इति । लक्षणद्वय-
मत्र निरूपितम् । कुन्तलानि चपला च
दृष्टिरिति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—“देवमायां इव” का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे रंग, कुण्डलों में प्रवेश
करते समय भगवान् को बहुतों ने बहुत प्रकार से देखा वैसे ही इसको भी देव माया की तरह वीरों
ने देखा, भगवान् की माया को यह मोह में डालने वाली शक्ति आई है, यों सब ने निश्चय किया वहाँ
भी वीरों को मोहित करती है यों नहीं हो, तो वीर लोक आप ही जाकर न मरे, वह देव माया कैंसी
है जिसका वर्णन करते हैं कि षोडश लक्षणों वाली है, भगवान् बत्तीस लक्षणों वाले और यह षोडश
(१६) लक्षण वाली यह बात प्रसिद्ध है, एक तो सम्बन्ध से असाधारण सामर्थ्य है दूसरा शूरवीरों के
शौर्य का निराकरण करना, तीसरा मोहित करना, चौथा सुन्दर कमर वाली योग की लम्बिका क्रिया
की तरह अमृत सम्बन्ध के लिए चतली कमर निरूपण करनी चाहिए, इस कारण से ही अर्थात् कमर

सूक्ष्म न होने से योग्यता नहीं होती है जिससे किसी का भी भगवान् के रस से सम्बन्ध नहीं होता है ब्रह्मरन्ध्रस्थित^१—वह रस पुरुष को जिह्वा से ही भोगना चाहिए, यदि वह साधन रूप नहीं हो तो अपने ब्रह्मरन्ध्रस्थित रस भी देह नाश होने पर यों ही चला जाता है । लोक में दुःख मात्र भोगा जाता है, आनन्द की प्राप्ति नहीं की हुई, जैसे खाया हुआ अन्न भी मक्षिका के सम्बन्ध से वमन में निकल जाता है उसका रस नहीं मिलता है यह दृष्टान्त देकर समझाया है भावाय यह है कि ब्रह्मरन्ध्र स्थित इस योग द्वारा सूक्ष्म जिह्वा द्वारा पान किया जाता है वैसे सूक्ष्म कमर द्वारा भगवद्रस ग्रहण किया जा सकता है ब्रह्मरन्ध्र के रस पान में सूक्ष्म जिह्वा साधन है, भगवद्रस प्राप्ति में सूक्ष्म कमर साधन है अन्यथा देह के नाश होने से उसमें स्थित रस व्यर्थ ही चला जाता है । देह से केवल दुःख ही प्राप्त किया, रस की प्राप्ति नहीं की गई, कुण्डलों से सुशोभित मुख वाली है इससे रस के उभोग स्थान को ऊपर की शोभा का वर्णन किया, रस को दिखाने वाले कुण्डल है; आयु भी कहते हैं 'श्यामां' अर्थात् सोलह वर्ष को यी नितम्बों पर रत्नों की भेखला सुशोभित थी जिससे रसाविर्भाव के अवसर पर रस के प्रकाश का निरूपण किया है मध्य में रस का प्रत्यक्ष कराने वाले साधनों को कहते हैं कि स्तन भी बाहर प्रकट हो गए हैं इस प्रकार रस रूप पाँच धर्मों का निरूपण किया है अब रस के पोषक सात धर्मों को कहते हैं, केशों से डरे हुए नेत्रों वाली है इससे दो लक्षण बताए हैं १-केश २-दूसरी चंचल दृष्टि ॥११॥

श्लोक—शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युतिशोणायमानद्विजकुम्बकुङ्भलाम् ।

पदा चलन्ती कलहंसगामिनीं सिञ्जत्कलानूपुरधाम् शोभिना ॥१२॥

श्लोकार्थ—निर्दोष मन्द मुक्कयान वाली बिम्ब फल के समान अधर की कान्ति से कुन्द की कली के समान दान्त भी जिसके अरुण हो गए हैं, एक पाद से चलने से जिसकी गति हंस के समान सुन्दर हो गई है तथा दोनों नूपुरों में लगे हुए सूक्ष्म कणिकाएँ उनके प्रकाश से शोभितः ॥१२॥

सुबोधिनी—मन्दहासोऽपि दोषाभावाय शुचि- | हानन्तरं च दन्तसंस्कार इति कृत्रिमसंस्कारा-
रूपः । श्वेतदन्तत्वं न रसाविर्भावकमिति विवा- | भावेऽपि सहजेरेव धर्मस्तथा जातमित्याह ।

१—योगी पुरुष लम्बिका योग से अपनी जिह्वा को सूक्ष्म घनाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रस का पान करता है यदि इस प्रकार जिह्वा सूक्ष्म न कर सके तो वह रस पान नहीं कर सकता है वैसे सूक्ष्म कमर तब होने से भगवद्रस भी प्राप्त नहीं होता है ।

विम्बफलवत् यत् लोहितमधरोष्णं तस्य द्युतिभिः अफला चेति द्विधा । अयं विवेकः स्फुटलक्षणे-
कान्तिभिः शोणायमाना ये द्विजाः त एव कुन्द- नैव भवतीति तस्या गमनं निरूपयति । कल-
कुङ्भलानि यस्याः । रञ्जकद्रव्यसम्बन्धापेक्षया हसवदगच्छतीति । सिद्धान्त्यः कला अन्तःस्थिताः
कान्त्या राग उत्तमः । पदा चलन्तीमिति । सक्ष्माः कणिकाः तद्य बुते नपूरे तयोर्धाम तेजः
एकविधं लक्षणम्, पदभ्यां चलनं पुरुषस्य, एकेन तेन शोभायमाना शोभना वा ॥५२॥
पदा चलनं स्त्रिया इति । तत्रापि गतिः फलरूपा

व्याख्यानार्थ—मन्द मुस्क्यान में निर्दोषता होती है जिससे वह शुचि रूप है, सफेद दान्त रस को प्रकट नहीं करते है इसलिए विवाह के बाद उनको संस्कार लाल चमकीले बनाए जाते हैं किन्तु वह बनावटी संस्कार है, किन्तु यहाँ तो सहज धर्मों से दान्त वैसे हो गए हैं, वह बताते हैं विम्बफल को भाँति जो रुक्मिणी का सहज लाल अधरोष्ठ था उसकी कान्तियों से लाल हुए जो दान्त वे ही जिसकी कुन्द की कलियाँ थी, लालास देने वाले द्रव्यों की अपेक्षा कान्ति से जो लालास आती है वह उत्तम है, एक पैर से चलती थी यह स्त्रियों का एक प्रकार का लक्षण है, दोनों पैरों से पुरुष चलते है, एक पैर से स्त्री चलती है, उसमें भी गति दो प्रकार की होती है एक सफल और बिना फल वाली है, यह विचार निश्चय प्रकट हुए लक्षणों से होता है इसलिए उसके चलने के प्रकार का निरूपण करते हैं, राजहंस की तरह चलती है दोनों नूपुरों में लगे हुए सूक्ष्म कणिकाओं के तेज से शोभित है ॥५२॥

आभास—नन्वेतादृश्या दर्शने यदि वीराणां रस उत्पद्यते, तदा दोषः स्यात्; अनु-
त्पत्तो विषयस्योत्तमता न स्यादित्युभयतःपाशा रञ्जुः, तत्परिहारार्थं वीराणां द्वेषां
विनियोगमाह विलोक्येति ।

आभासार्थ—ऐसी के दर्शन से जो वीरों को रस उत्पन्न होता है तो दोष होना चाहिए, यदि रस उत्पन्न हो तो विषय की उत्तमता नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार दोनों तरह पाशांरञ्जु है इसके निवारण के लिए वीरों का दो प्रकार से विनियोग है— जिसका वर्णन “विलोक्य”, श्लोक में कहते हैं -

श्लोक—विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयादिताः ।

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्पदुदारहासवीडावलोकहतचेतस उज्जितास्त्राः ॥५३॥

श्लोकार्थं—आए हुए यशस्वी वीर उसको देखकर मोहित हो गए और उससे उत्पन्न काम से पीड़ित होने लगे, जिसको देख उसके उदार हास, क्रीडा और दृष्टि से उन राजाओ के चित्त का हरण हो गया जिससे उन्होंने अस्त्र छोड़ दिए ॥५३॥

सुवोधिनी—आदौ तां विलोक्य वीरा मुमुहुः, मोहं प्राप्ताः । समागता इति समागमनफल-मुक्तम् । मूर्च्छायामपि सुषुप्ताविव किञ्चित्सुख-मिति । 'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिरिति' न्यायाच्च । यश-स्विन इति । तेषां पुण्यमपि सूचितम् । अभि-लाषामप्याह । तत्कृतेन हृच्छयेन अदिता इति । एवं ऋतुभिर्धर्मैः तावत्फलं प्राप्तवन्त इति विषयो-क्तर्षो निरूपितः । दोषाभावायाह यां वीक्ष्येति । यावत्तेषां रसदृष्टिर्भवेत्, तन्मध्ये निपतिता एव

ते । तत्रापि हेतवः । ते हि भगवद्विमुखाः । तत्रापि नृपतयः अभिमानिनः जरासन्धादयः । तेषां बलमुत्साहशक्तिश्च रसानुभवार्थं हेतुभूतं तस्या भावहृतमित्याह । तस्या उदारो यो हासः, सर्वरसदानसमर्थश्च व्रीडावलोकश्च, व्रीडा च अवलोकश्चेति वा, त्रिविधं भावैः हृत-चेतसो जाताः । त्रिविधं हि चित्तमिति । तद-भावे युद्धाभावात्, उज्ज्वितास्त्रा जाताः ॥५३॥

व्याख्यार्थं—प्रथम तो उसको देख कर आए हुए वीर मोहित हो गए इससे आने का फल कहा मूर्च्छा में भी सुषुप्ति की तरह कुछ आनन्द आता है, "मुग्धेऽर्धः" मूर्च्छा के समय भी आधी सम्पत्ति होती है इस न्याय के अनुसार इनको मोहित होने से कुछ सुख प्राप्त हुआ "यशस्विनः" विशेषण से उनके पुण्य भी सूचित किए, अभिलाषा को भी कहते हैं, उससे उत्पन्न काम से पीड़ित हुए इस प्रकार वीरों ने चार घर्मों से फल प्राप्त किया, इससे विषय का उत्कर्ष वर्णन किया, दोषों के अभाव के लिए कहते हैं "यां वीक्ष्य" जिसको देखकर यों जब तक उनकी दृष्टि रस वाली हो उसके मध्य में ही वे गिर गए, उसमें भी कारण है, वे निश्चय से भगवद्विमुख हैं, उसमें भी जरासन्ध आदि अभिमानी राजा हैं, रस के अनुभव के लिए जो उनका बल तथा उत्साह शक्ति थी उसको इसके भावों ने हरण कर लिया, उन भावों को कहते हैं सर्व रसों को देने में समर्थ उसका उदार हास, लज्जा और देखना इन तीन प्रकार के भावों से उनके तीन प्रकार के चित्त को हरण किया जिससे उनके चित्त रहे नहीं और उस समय युद्ध^१ भी नहीं था इसलिए उन्होंने अस्त्र छोड़ दिए ॥५३॥

श्लोक—पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छत्तेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभासु ।
सर्वं शनैश्चलयती पवपद्मकोशो प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ॥५४॥

१—सुवोधिनी टीका में "युद्धाभावात्" पद है । फुटनोट में 'चिन्ताभावात्' पाठ कहा है शो भावा-
नुकूल नहीं जयता है ।

श्लोकार्थ—पश्चात् हस्ती, रथ और घोड़ों पर बैठे हुए मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गए, वह रुक्मिणी, यात्रा के मिष से अपनी शोभा भगवान् को अर्पण करती हुई, चरण कमल परस्पर जुड़े हुए थे जिससे वह जब इस प्रकार धीरे धीरे चलती थी तब मन से भगवान् की प्राप्ति ही देख रही थी वा चाह रही थी ॥५४॥

सुबोधिनी—ततः क्षितौ पेतुः । पतितानां पुनरुत्थानाभावोयोज्ञानि स्थानान्याह गजरथाश्वगता इति । यद्भगवता कतव्यम्, तदनयैव कृतमिति निरूपणार्थमेतदुक्तम् । विमूढा इति पातज्ञानाभावोऽपि । नन्वेषा दुर्गेव प्रचण्डेति चेत्, तत्राह यात्राच्छलेनेति । हरये स्वशोभामर्पयन्तीम् । प्रसङ्गादेतज्जातम् । सा तु स्वदुःखहरणार्थं स्वशोभामाभिर्भाव्य भगवते प्रयच्छति । तत्र प्रसङ्गात् सा शोभा स्वयं ग्राह्येति अयोग्यमिच्छन्तः पतिताः, न तु रुक्मिण्या पातिताः । नन्वेषा यात्रां कृत्वैव गच्छति, कथं भगवते

शोभां प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह । यतः शोभा स्वकीया, स्वयं त्वन्यदीया, अतः स्वदाने स्वापेक्षाभावेऽपि स्वकीयं देयमेवेति । अत एव तस्या भगवदन्वेषणमाह संवमिति । शीघ्रगमने रथारोहणं भविष्यतीति शनैः पदपद्मकौशौ चलयती जाता, चालयती । कोशत्वान्मुकुलितत्वमुक्तम् । अनेन कियद्दूरचलनेन पादयोर्व्यथा जातेति ज्ञापयन्तीव मुकुलितपादौ स्थापयतीति गम्यते । तथा व्याजकरणे हेतुः, तदेव तस्मिन् क्षण एव भगवतः प्राप्तिं प्रसमोक्षमाणा ॥५४॥

व्यायार्यर्थ—शस्त्र त्यागने के पश्चात् वे पृथ्वी पर गिर गए, ऐसे गिरे, जो फिर (उन्हें) उठने का साहस न रहा, क्योंकि ऊँचे स्थानों से गिरे थे, जैसे कि हार्थी, रथ और घोड़ों पर बैठे थे वहाँ से नीचे पड़े थे इसलिए उठने का उस समय साहस न कर सके यह गिरने का कार्य जो भगवान् को करना था वह इसने ही कर दिया, मूर्च्छित हो गए जिससे गिरने का भी ज्ञान न रहा, यों करने से तो यह दुर्गा की तरह विशेष तेज वाला हुई यदि यों कहें तो कहते हैं कि नहीं, यह यात्रा के बहाने भगवान् को अपनी शोभा अर्पण कर रही थी संयोग से यह हो गया, वह तो अपने दुःख को मिटाने के लिए अपनी शोभा प्रकट कर भगवान् को दे रही थी वहाँ से वीर इस शोभा को हम ग्रहण करेंगे ऐसी अयोग्य इच्छा करने से स्वयं गिर गए, कि रुक्मिणी ने गिराए थे, यह तो यात्रा करती ही जा रही है कंगे कहते हो कि भगवान् को शोभा देती है इस पर कहते हैं कि शोभा अपनी अर्थात् रुक्मिणी को है और स्वयं रुक्मिणी तो दूसरे की है, अतः अपने दान में अपनी अपेक्षा के अभाव से भी अपनी वस्तु देनी ही चाहिए इस अपनी वस्तु को देने के लिए भगवान् को ढूँढ रही है उसका वर्णन करते हैं "सैव" शीघ्र चलने से रथ पर चढ़ना न हो सकेगा, इसलिए धीरे धीरे चरण कमलों को साथ मिलाकर चलने लगी, कोश शब्द से यह भाव शब्द बताया है कि चरण कमल पूरी तरह जुड़े न हो सकते थे इससे थोड़ी दूर चलने से पैरों में पौड़ा होने लगी यों जताने के लिए पैर मिला कर रखती थी यों समझा जाता है इस प्रकार बहाने करने का कारण उसी क्षण ही भगवान् की प्राप्ति चाह रही थी ॥५४॥

भाषास—कन्याया राजदर्शनमपि कर्तव्यं-वैलक्षण्यज्ञापनायेति तद्भूगवदर्थं जात-
मित्याह ।

भाषासार्थ—कन्या को अपनी विलक्षणता बताने के लिए राज दर्शन भी करना चाहिए वह दर्शन भगवदर्थ हुआ, जिसका वर्णन “उत्सार्य” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—उत्सार्य वामकरजंरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् समक्षत नृपान्दृशेऽच्युतं सा ।
तां राजकन्यां रथमारुहक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ॥५५॥

श्लोकार्थ—बायें हस्त के नखों से अलकों को ऊपर उठा के कटाक्षों से आए हुए राजाओं को देखते देखते भगवान् को देख लिया सबने जिसको रथ पर चढ़ाने की इच्छा की तब उनके बीच में से उस राज कन्या को भगवान् ने सब शत्रुओं की दिखाते हुए हरण कर लिया ॥५५॥

सुबोधिनी—उत्सार्य वामहस्तनखैरलकान् अपाङ्गैः प्राप्तान् नृपान् समक्षत । ततः यदर्थं तान् दृष्टवती तमच्युतं ददर्श । नन्वपूर्वदर्शने कथं परिज्ञानमिति चेत्, तत्राह अच्युतं सेति । उभयोर्ज्ञापकमेकंको धर्मः । सा हि चित्रे भगवन्तं दृष्टवती, स्वप्नभ्रमेषु च । अतो रूपं दृष्टपूर्वम् । भगवानप्यच्युतः सर्वत्रानुस्यूतः, नतु चित्रादि-
ष्वन्यः, अत्रान्य इति । सर्वत्रैव भगवतः अच्युतत्वात् । ततोऽग्रे दृष्टिर्न गतेति तमेव विलोकयन्ती यदा स्थिता, तदा सर्वैः रथा-

रोहणार्थं नियुज्यमाना जाता । तन्मध्ये भगवान् जहारेत्याह तां राजकन्यामिति । तामिति कृतात्मनिवेदनाम्, राजकन्याया हरणं च युक्तमिति, रथारोहे पुनः सारथ्यादेः मारणं कर्तव्यमिति, यदेव रथारोहणेच्छुर्जाता, तदेव जहार । तदा हि सर्वसमूहः अपगतो भवति । तत्र प्रतिबन्धकानां साक्षित्वं जातमित्याह द्विषतां समीक्षतामिति । कृष्णस्य हि स्त्रियः । हरणं हस्तेन प्रहणमुत्तोलनमिति यावत् ॥५५॥

व्याख्यार्थ—बाएँ हाथ के नखों से केशों को ऊपर उठा के कटाक्षों से आए हुए राजाओं को जांच कर देखने लखी पश्चात् जिसके लिए उनको देख रही थी उस अच्युत को देख लिया पहली बार ही देखने से कैसे पहचान लिया ? जिसके उत्तर में कहा, कि वह अच्युत है इसलिए वह सर्वत्र मौजूद है इसलिए उनको रुक्मिणी के पहचानने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है और रुक्मिणी ने

चित्त में भगवान् के दर्शन किये थे तथा स्वप्न आदि में भी देखे थे इसलिए उसने भगवान् को पहचान लिया, इस प्रकार दानों में पहचान करने का एक एक धर्म था भगवान् अच्युत होने से चित्तों में तथा वहाँ एक ही है इस कारण से रुक्मिणी को दृष्टि दूसरी जगह नहीं गई इसलिए ही उनका दर्शन करती हुई जब खड़ी होगई तब सब उसको रथ पर चढ़ाने की इच्छा करने लगे उनके बीच में से भगवान् ने वह राज कन्या हरण कर ली, राज कन्या का विशेषण “तां” दिया है जिस का भावार्थ है कि भगवान् ने इस राज कन्या का हरण इसलिए किया कि उसने भगवान् को आत्मसमर्पण किया था अर्थात् जो भगवान् को आत्मसमर्पण करता है उसको सर्व दुष्टों से छुड़ाकर अपनी शरण में लेकर रसदान करते हैं अतः रुक्मिणी को भी ले लिया इसलिए राजकन्या का हरण योग्य ही है रथ पर चढ़ाने पर फिर सारथि आदि को मारना चाहिए जब ही वह रथ पर चढ़ने की इच्छा वाला हुई तब ही रथ में चढ़ा लिया अर्थात् हरण किया तब ही सर्व समूह भाग गया अथवा तब ही सब शत्रुओं का मानो मरण हुआ हो जो शत्रु हरण करने में रुकावट डालने वाले थे उनके देखते हुए ले लिया जिससे वे साक्षो वन गए, कृष्ण का यह स्त्री [हरण एक प्रकार से हस्त से लेकर ऊपर उठाकर तोलने के समान है ॥५५॥

श्लोक—रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।

ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः सुगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥५६॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी पति ने अपने गरुड़ के चिन्ह वाले रथ में बैठ कर राजाओं के समूह का तिरस्कार कर जंसे सियारों के मध्य से सिंह बलि ले जाता है वैसे भगवान् रुक्मिणी को ले गए । पश्चात् बलभद्र आदि यादवों के साथ धीरे धीरे जाने लगे ॥५६॥

सुबोधिनी—ततो रथं समारोप्य ययावित्य-
प्रेण सम्बन्धः । उपस्थितरथपरित्वागाय सुपर्ण
लक्षणमिति । तत्र वेष्टका राजन्याः सन्ति, परि-
तश्चक्ररूपेण स्थिताः । तत्सर्वं परिभूय पराभवं
प्रापयित्वा । दृष्टवलमस्त्येव, अदृष्टमपि वलं तस्यै-
वेति ज्ञापयन्नाह माधव इति । लक्ष्मीपतिर्भगवान्,
इयं च लक्ष्मीः । अतो भायैत्यस्या परिपालने
भगवतो धर्मो जातः । ते त्वनधिकारिणस्तदभि-
लाषिण इति तेषां पापमेव सिद्धम् । अतः परा-
मेव सिद्धम् । अतः पराभवो युक्त इत्यर्थः । तेषां

पराभवे रक्षकाणामपि युद्धं सम्भवतीति, तेषां वधे अमङ्गलं च भवतीति, तद्दोषं परिहरन्नाह ततो ययाविति । तत इत्यव्ययनिर्देशः । तस्य स्थानस्याविकृतत्वाय न कोऽपि तत्र हत इत्यर्थः । तर्हि पुरमध्ये कियद्दूरे हनन भविष्यतीत्याशङ्क्याह ययाविति । या प्रापण इति कुशलेनेष्ट-देशपर्यन्तं गत इत्यर्थः । तदोयानां वा रामा-दीनामुपद्रवमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह रामपुरो-गमैरिति । रामो हि साधनशक्तिः पुरोगमो येषा-मिति सर्वेषां साधनवत्त्वं रमणात्मकत्वादमार-कत्वं च सूचितम् । सम्मर्देनापि तथात्वमा-शङ्क्याह शनैरिति । लोका हि नगरस्थाः त्रिच-तुरान्विहाय समागता अपि लोकवदन्त्या कृष्णाय दत्ता रुक्मिणी, अतो भगवान् नयतीति सादरं प्रेक्षका एव जाता इति शनैरित्यनेन सूचितम् । ननु तत्रैव कथं सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं भगवान् न

स्थितः, श्वशुरादिभिः पश्चादभ्यनुज्ञातो गच्छेत्, किमिति निर्गत इत्याशङ्क्याह सृगालमध्यादिति । भवेदेवं यदि तत्र सन्तो भवेयुः । ते ह सृगाला दुष्टचिन्ताः, तन्मध्ये च स्वभागो न स्थापनीयः । अतिरिक्तभाग एव सृगालानामिति । तत्रापि यदक्रूरमतिरिक्तं तत्साध्यानाम्, यत् क्रूरं तत् सृगालानामिति । यथा मथिताग्निः चपालादूर्ध्वं यूपश्च साध्यानाम्, यतयश्च सृगालानामिति श्रौतो निर्णयः । न तु स्वभागस्य । किञ्च । लोकेऽपि तत् सृगालमध्ये न रक्षणीयमिति सिंहं दृष्टान्ती-करोति हरिरिति । यथा सिंहः स्वभागं हरति, तथा भगवानपि भागहृज्जातः । भागभृदिति पाठे भागं विभर्तीति । गृहीतस्य शुद्ध एव स्थाने स्थापनमिति तत्र न स्थापितवान् अन्यथा असु-रगामि तद्भवेदिति ॥५६॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् रथ में चढ़ कर ऐसे ले गए जैसे निर्विघ्न अपने देश पहुँच गए, यों आगे से सम्बन्ध है समीपस्थित रथ में न चढ़ाकर गरुडध्वजा वाले रथ में ले गए इसलिए “सुपर्णलक्षणं” रथ का विशेषण दिया है, वहाँ चारों तरफ चक्रों की तरह राजा लोग घेर रहे थे उन समस्त राजाओं को परास्त कर ले गए भगवान् का नाम यहाँ “माधव” दिया है जिसका भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि प्रकट बली तो है हो परन्तु इनमें छिपा हुआ बल भी है कारण कि लक्ष्मी पति हैं यह रुक्मिणी लक्ष्मी है, अतः इनकी भार्या है । जिससे इसका पालन करने में भगवान् को धर्म प्राप्त हुआ इसकी अभिलाषा करने वाले वे तो अधिकारी नहीं थे जिससे इनको पाप ही लगा अतः इनको परास्त करना योग्य है, उनका पराभव कराने पर इनके रक्षक लड़ेंगे ? उनके मारने से अमंगल होता है इस दोष का परिहार करते हैं कि ‘ततो ययो’ इन शब्दों के देने का आशय यह है कि “ततः” अव्यय है जिससे बताया कि उस स्थान को अविकारी बनाने के लिए, वहाँ किसी को मारा नहीं वहाँ नहीं मारा तो नगर के बीच में कितनी दूर जाकर मारा होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए “ययो” कहा है जिसका अर्थ है पहुँच जाना अर्थात् भगवान् रुक्मिणी को लेकर

कुशलपूर्वक अपने देश पहुँच गए भगवान् तो सकुशल पहुँच गए किन्तु उनका वा रामादिकों का उपद्रव हुआ होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं, कि "राम पुरोगमेः" बलरामजी को अपने साथ आगे कर ले गए, कारण कि बलराम साधन शक्ति है और रण रूप है जिससे यह बताया, कि उसने भी नहीं मारा रमण रूप आनन्द रूप होने से मारने का गुण उसमें नहीं है, अतः उसने भी कोई उपद्रव नहीं किया आपस के संघर्ष से भी उपद्रव वा मारना आदि हुआ हो, ऐसी शंका के निवारण के लिए "शने" शब्द दिया है अर्थात् धीरे धीरे जाने लगे जिससे बताया है कि किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हुआ, नगर में रहने वाले तीन चार के सिवाय सब लोक विदा देने के लिए आए उन्होंने लोक रीति के अनुसार सबसे छोटी हविमणी श्रीकृष्ण को दी, इस कारण से भगवान् ले जाते हैं और सब आदर से देखते रहे, इसलिए भी "शनेः" धीरे धीरे जाने लगे यों कहा है, भगवान् वहाँ ही क्यों ठहरे नहीं जिससे सब का सन्देह मिट जाता और श्वसुर आदि भी आ जाते उनकी आज्ञा लेकर पधारते यों न कर वहाँ से शीघ्र क्यों चले गए ? इस पर कहते हैं कि "शृगाल माध्यम्" यों कहने का भाव प्रकट करते हैं कि भगवान् यों करते अर्थात् वहाँ ठहर जाते किन्तु वहाँ सत्पुरुष ठहरे होते तो, वे तो सियाल जैसे दुष्ट चित्त वाले थे उनके बीच में अपना स्थापन करना योग्य नहीं है, सियालों का भाग भिन्न वा भ्रूय होता है उसमें भी जो भाग क्रूर नहीं है वह तो साध्य देवों का है जो क्रूर है वह दुष्ट चित्त वाले सियालों का होता है, जैसे मयित अग्नि और चाँवल का ऊर्ध्व एवं मूष साध्यगण देवों का है और यति शृगालों का भाग है यह श्रोता निर्णय है, नहीं कि अपने भाग का और विशेष यह है कि लोक में भी वह भाग सियालों के बीच में नहीं रखना चाहिए जो सिद्धों का है इसलिए वंसा ही हृष्टान्त देते हैं, "भागभृत" पद का अर्थ है भाग को पालना करता है वह भागभृत् कहलाता है। लिए हुए भाग को शुद्ध स्थान पर ही रखना चाहिए इसलिए वहाँ नहीं रखा यदि वहाँ रखते तो वह असुरविशो हो जाता ॥१६॥

आभास—ततो यज्जातं त्वाह तं मानिन इति ।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन "तं मानिनः" श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तं मानिनः स्वाभिभ्रवं यशःक्षरं परे जरासन्धवशा नुसेहिरे ।

अहो धिगस्मद्यश आत्तघन्वनां गोपैर्हतं केसरिणां मृगेरिव ॥१७॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध के आश्रित अन्य अभिमानी राजा, कीर्ति नाशक इस अपने पराभव को न सहन कर, कहने लगे कि, आश्चर्य है, जो हमारे घनुष धारण को भी

धिविकार है क्योंकि जंसे सिंहों के यश वा भाग को मृग ले जावे वैसे हम धनुषधारियों के यश को ग्वाल हर कर ले गए ॥१७॥

सुवोधिना—प्रमिमातरक्षार्थमेव समागताः । तदुक्तम् । 'यद्यागव्य हरेत्कृष्ण' इति । तज्जातमिति स्वस्य अभिभवं तिरस्कारं यशसश्च क्षयं दृष्ट्वा । तत्रापि परैः कृतम् । नहि शत्रुकृतं सोढुं शक्यमिति । ते यदि विवाहेनापि नयेयुः, तथापि सोढुमशक्याः, किमुत बलादिति । तत्रापि जरामन्धवशाः, यैः पूर्वं जयोनुभूतः, अतो न सेहिरे, असहमाना जाताः । जरामन्धवशत्वेन यशःक्षयासहनम्, मानिस्त्वेन स्वाभिभवासहनमिति । तत्रोभयविधं । स्वनिन्दान्प्रतिपादकं वाक्यमाह अहो धिगिति । आत्तधन्वनामस्माकं यशो धिगिति । यदि यशो भवेत्, तदा यशसा भीताः नेतारो भवेयुः

इति गानिनां वचनम् । जरामन्धप्रमुखानां वचनमाह गोपैर्हृतमिति । गोपाला हि गां हरन्ति । यस्य कस्यचित् । तत्रापि केसरिणां हृतमिति महदाश्चर्यम् । केसरो हि गां भक्षयति । गोपालाः पालयन्ति । अतः कृतं युक्तमेव, परमत्याश्चर्यमिति तेषां प्रशंसा स्वगौरवख्यापनं च । अनेनातःपरं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यपि सूचितम् । कर्तव्योऽपीति अब हेतुमाहुः केसरिणां मृगैरिवेति । मृगा हि साधारणाः, केसरी मृगेन्द्रः, तत्रापि बहूनां भागोऽयमिति दृष्टान्तोऽत्र वर्तते इति नात्यन्तमाश्चर्यमिति स्वमनःसमाधानमाहुः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—अन्य राजा अपने अभिमान की रक्षा के लिए ही आए थे जिसकी सूचना "यद्यागव्यहरेत्कृष्ण" श्लोक में दे दी है वह हुआ, अर्थात् श्रीकृष्ण हविमणी को हरण कर गए, जिससे अपना तिरस्कार और यश का नाश देख कर सहन नहीं कर सके क्योंकि शत्रुओं से किया हुआ तिरस्कार सहन नहीं किया जा सकता है, वे यदि विवाह कर ले जावे तो भी सहन करना अशक्य है तो बल से ले जावे जरामन्ध के आश्रित कैसे सहन करेंगे अतः सहन न कर सके, जरामन्ध के आश्रित होने से यश का नाश सहन न कर सके तथा स्वयं अभिमानी थे इसलिए अपना तिरस्कार भी सहन नहीं कर सके । वहाँ दोनों प्रकार अपनी निन्दा का प्रत्यपादन करने वाला वाक्य कहते हैं, धनुषधारी हमारे यश को धिक्कार है जो अभिमानी, यश जाएगा इससे डरकर ले जावे तो यश ही, वह तो हुआ नहीं अब जरामन्ध जिन में प्रमुख है उन्होंने जो कहा वह कहते हैं "गोपैर्हृतं" गोप ले गए ग्वालें जिस किसी को गो हरण करते ही हैं यह जो हरण की है वह सिंहों की गो है, यह बड़ा अचम्भा है, सिंह गो का भक्षण करता है ग्वालें पालते हैं, इस कारण से जो किया है वह योग्य ही किया है किन्तु इसी में आश्चर्य हैं, यों कहने से उनकी प्रशंसा की है और अपनी वीरता प्रकट की है तथा यह भी सूचित किया है कि इसके बाद किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए इस

प्रकार सूचित करने में हेतु कहते हैं 'केसरिणां मृगौरिव' मृग साधारण हैं और केशरी मृगों का राजा है. उसमें भी बहुतां का यह भाग है, इस प्रकार यह दृष्टान्त यहाँ है, इसलिए असौम आश्चर्य नहीं है यों कहकर अपने मन का समाधान करते हैं ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, के उत्तरार्ध के ५०^{वें} अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टोका' के राजस साधन अवांतर प्रकरण, का चतुर्थे अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग आसावरी

रुकमिनि देवी मन्दिर आई ।

धूप दीप पूजा सामग्री, अली संग सब ल्याई ॥

रखवारी कौं बहुत महाभट, दोन्हे रुकम पठाई ।

ते सब सावधान भए चहुँदिसि. पंछी तहाँ न जाई ।

कुंवरि पूजि गौरी, विनती करी वर देउ जादवराई ॥

मैं पूजा कीन्हीं इहि कारन, गौरी सुनि मुसुकाई ॥

पाई प्रसाद अंबिका मंदिर, रुकमिनि बाहर आई ।

सुभट देखि सुन्दरता मोहे, घरनि गिरे मुरझाई ॥

इहि अन्तर जादः पति आए, रुकमिनि रब बंठाई ।

सूरज प्रभु पहुँचे दल अपन, तव सुभटनि सुधि पाई ॥



5
- 2

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वावपति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्रल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका—हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

स्कन्धानुसार ५४ वां अध्याय

सुबोधिन्धानुसार ५१ वां अध्याय

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

पञ्चम अध्याय

शिशुपाल के सार्थी राजाओं की और रुक्मिणी की हार
तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह

★

कारिका—यावन्नित्तं चित्तं तदीयानां स्वभावतः ।

तावदन्यस्य विषयो भेगवांस्तं न मन्यते ॥१॥

कारिकार्थ—तदीयों का चित्त जब तक स्वभाव से निवृत्त हो जाय तब तक भगवान् उसको अन्य का विषय नहीं मानते हैं ॥१॥

कारिका—अतो विधिविवाहार्थं तस्मिन्प्रकरणं पुराः ।

त्रिविधानां निरूप्यं हि युद्धमुण्डनबोधनेः ॥२॥

कारिकार्थ—इस कारण से विधि पूर्वक विवाह करने के लिए तीन प्रकार की

विधियों का पहले मुद्र मुण्डन और उवदेश^१ से निराकरण करने का निरूपण करना योग्य है ॥२॥

कारिका—उदासीनाः स्वकीयाश्च स्वयं चेत्यत्र शत्रवः ।

मध्यमं भगवत्कार्यंमनुकल्पो यतस्तथा ॥३॥

कारिकार्थ—यहाँ उदासीन अपने और स्वयं शत्रु^२ हैं भगवत्कार्य मध्यम है क्योंकि जैसे ही अनुकल्प^३ है ॥३॥

कारिका—उत्तरार्धे पंचमे तु विवाहो वर्ण्यते हरेः ।

रुक्मिण्या सर्वभावेन तद्दोषान् विनिवर्त्य हि ॥४॥

कारिकार्थ—उत्तरार्द्ध राजस-साधन उप-प्रकरणके पाचवें अध्याय में रुक्मिणी के दोषों को निवृत्त कर उसका सर्ग भाव से हरि के साथ विवाह का वर्णन किया जाता है ॥४॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते स्वयशोनिन्दां कृतवन्त इत्युक्तम् । ततो यावच्छक्यं स्वपीरुषं सात्त्विकास्ते कृतवन्त इत्याह इतीति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में अपने यश की निन्दा करने लगे, यों कहा है, पश्चात् जो सात्त्विक^४ थे वे जितनी सामर्थ्य थी उतनी अपनी खीरला करने लगे, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी "इति सर्वे" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानाच्छ्रु दंशिताः ।

स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अग्नीयुष्टु तकाशु का ॥१॥

१—“१” मुद्र से बरामुद्र आदि “२” मुण्डन से रुक्मिणी का “३”उपवेश से रुक्मिणी के अज्ञान का ।

२—भगवान् की कृति का अनुमोदन न करने वाली अपनी आत्मा भी शत्रु है ।

३—एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु काम में लाना जैसे शहद न होवे तो गुड़ से काम चलाना इसकी अनुकल्प कहते हैं ।

४—‘ओ भी पुरुष शङ्कल’ इस श्लोक में जो जानीबंदत होने से वे सात्त्विक हुए अतः सात्त्विक हैं ।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वे सब क्रोध की परस्पर वार्ता करते हुए इकट्ठे हुए, और कवच पहन, वाहनों पर चढ़ अपनी सेना से वेष्टित हो धनुष लिए उनके पीछे दौड़े ॥१॥

सुबोधिनी—सर्वे एव मिलिताः सुसंरब्धाः अल्पीयांसो भगवदीया इति स्वोद्यमः । भगवांश्च स्त्रीरक्षायां व्यापृत इति । अन्यथा सात्त्विकानां विचारपूर्वकं प्रवृत्तिर्न स्यात् । सुष्ठु संरब्धाः क्रोधेन परस्परवाक्यैर्वा । ततो वाहान् रथादीन्	दक्षिताः बद्धकवचाः सम्भूय । युद्धे एकस्यापि भङ्गे सर्वेषां भवेदिति स्वैः स्वैर्बलैः पृथगेव परितः आक्रान्ताः, दूरादेव मारणार्थं धृतकामुं का जाताः ॥१॥
---	---

व्याख्यार्थ—सब ही इकट्ठे हुए, थोड़े भगवदीय हुए थे, इसलिए ये अपना उद्यम करने लगे, भगवान् तो स्त्री की रक्षा में रुके हुए थे, यदि यों न होता अर्थात् भगवान् उस रक्षा में रुके हुए न होते तो सात्त्विकों की विचार पूर्वक प्रवृत्ति न हो सकती थी, अथवा क्रोध से परस्पर वार्ता को करते हुए उद्यम न करते, पश्चात् कवच पहिन, कमर बान्ध रथ आदि में बैठ तैयार होकर अपना अपनी सेनाओं से जुड़े जुड़े ही चारों तरफ चढ़ाई करने लगे, दूर से ही मारने के लिए धनुष धारण कर लिया ॥१॥

आभास—एवं शत्रूणामुद्योगमुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवदीयानामप्युद्योगमाह तानापतत इति ।

आभासार्थ—शत्रुओं के इस उद्यम का वर्णन कर, उसके प्रतीकार के लिए भगवान् के पक्ष वालों के उद्यम का वर्णन "तानापतत" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ।

तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूषि ते ॥२॥

श्लोकार्थ—यादवों के सेनापति, उनको आक्रमण करने के लिए आते देख, हे राजन् ! वे भी अपने धनुषों की टंकार करते हुए उनके सम्मुख खड़े हो गए ॥२॥

सुबोधिनी—आ सर्वतः पततः । अत्र विद्य- मानाः सर्वे यादवानीकानां यूथपा एव, न तु कश्चित्सेनारूपः । साधारणो वा । अतस्तत्सम्मुखा एव तस्थुः । आतमीयाश्चेन्महान्तः अल्पीयां	सोऽपि भवन्ति, तदापि जय इति बहूनामपि सम्मुखा जाताः । तानाकारयन्त इव स्वधनूषि विस्फूर्ज्य ज्यानिनादं कृत्वा स्थिताः, यतस्ते रामादय प्रसिद्धाः ॥२॥
--	--

व्याख्यार्थ—चारों तरफ से आक्रमण करते थे, यहाँ सब यादवों की सेना के सेनापति ही थे, किसी प्रकार की सेना नहीं थी, अथवा साधारण सैनिक भी नहीं थे, अतः उनके सामने खड़े हो गए भगवदीय महान् अथवा छोटे होते हैं, तो भी उनकी जग होती है, इसलिए उनके सम्मुख डटकर खड़े हो गए केवल खड़े नहीं हुए किन्तु उनको मानो बुलाते हुए धनुषों को टंकार करने लगे क्योंकि वे राम आदि प्रसिद्ध ही थे ॥२॥

आभास—ततः प्रथमे प्रथमतः युद्धार्थं प्रवृत्ता इत्याह अश्वपृष्ठ इति ।

आभासार्थ—पश्चात् पहले युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए यह “अश्वपृष्ठ” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ।

मुमचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपि यथा ॥३॥

श्लोकार्थ—वे निपुण राजा, घोड़ों की पीठ पर हस्तियों के कन्धे पर, रथों के मंच पर ऐसे शरों की वर्षा करने लगे जैसे पहाड़ों पर मेघ जल गिराता है ॥३॥

<p>सुबोधनी—यत्नैव प्रहारे न कस्यापि व्यथा, तत्रैव तेषां शरपातो भवतीति ज्ञापनार्थं अश्वपृष्ठ इति । चर्मादि व्यवधायकमस्तीति । तथा गजस्कन्धेऽपि, तथा रथोपस्थे अनुपविष्टभागे । कोविदा अपि । अथ वा यत्नैव पीडा सम्भवति, तत्रैव शरवृष्टि कृतवन्तः । यतः कोविदाः ।</p>	<p>चकारात् सारथिस्थानेऽपि । प्रतीकाराकरणेऽपि न कश्चित्तेषामपचारो जात इत्यत्र दृष्टान्तमाह मेघा अद्रिष्विति । न दीर्यत इत्यद्रिः । अन्यथा विशारे तदीयानामपकारात् विशेषणं व्यर्थं स्यात् । तत्रापि मेघाः साधारणाः, न तु नीलाः । ज्ञानाप्यपः, न तु धाराः ॥३॥</p>
---	---

व्याख्यार्थ—उन राजाओं के शर (बाण) वहाँ गिरते थे जहाँ किसी को भी चोट न लगी थी, हालांकि वे युद्ध में निपुण भी थे, कारण कि चोट न हाने के दो कारण थे, एक तो उनके शर ऐसे स्थान पर गिरते थे और दूसरा ढाल आदि रूकावट करने वाले थे उनके शर कहीं गिरते थे वह बताते हैं घोड़ों की पीठ पर हस्तियों के कन्धों पर रथ के मंच, पर ही तीर गिरते थे अथवा कहकर दूसरा आशय बताते हैं, कि जहाँ ही गिरने से पीड़ा होवे वहाँ ही शरों की वृष्टि करते थे क्योंकि निपुण थे “च” पद से यह प्रकट होता है कि जहाँ सारथि बैठे थे वहाँ भी तीर फँकते थे, श्लोक के

पक्ष वालों ने हालांकि एक भी प्रतिकार नहीं किया, तो भी उनकी तनिक भी हानि नहीं हुई इस विषय में दृष्टान्त देते हैं, जैसे साधारण बादल अर्थात् जिनमें विशेष जल नहीं है वे भी धाराओं से वर्षा न कर, केवल पानी से पर्वतों पर सिंचन करते हैं जिससे पर्वतों में किसी प्रकार दरार नहीं पड़ सकती है वैसे ही यहाँ भी उनके तीरों से तनिक भी हानि नहीं हुई ॥३॥

आभास—ततो रुक्मिण्या भयं जातम्, तद्भगवता निवारितमिति निरूप्यते । भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति ज्ञापनार्थम् । केवलं तेषां वधे रुक्मिण्या अप्यसम्मतौ स्वार्थमेव तत् कृतवानिति क्लिष्टकर्मता स्यात् । ततो युद्धात्पूर्वं तदाह पत्युर्वलमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—शरों के इस प्रकार गिरने से, रुक्मिणी को भय हुआ वह भगवान् ने गिटाया जिसका निरूपण करते हैं, वयों निरूपण करते हैं, कि सब की यह ज्ञात हो कि भगवान् भक्त, के लिए ही सब कुछ करते हैं, केवल उनको मार डालने में रुक्मिणी को भी सम्मति नहीं थी, यदि अपने लिए ही भगवान् ने किया तो क्लिष्टकर्मपि भगवान् में आ जावे, इस कारण से युद्ध में पहले "पत्युर्वल" इन दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—पत्युर्वलं शरासारंश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।

सत्रीडमक्षतद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥४॥

प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने ।

विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैत्तायकं शस्त्रं बलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—सुन्दर कटिवाली रुक्मिणी पति की सेना को बाणों की वर्षा से ढकी हुई देख जब भय से विह्वल नेत्र वाली हो, लज्जा से पति के मुखारविन्द को देखने लगी, तब भगवान् ने हँस कर उसको कहा है सुन्दर नेत्र वाली ! तू डर मत अब ही तुम्हारे जो ये यादव हैं वे शत्रुओं की सेना का संहार करेंगे ॥४, ५॥

सुबोधिनी—शराणामासारः धारासम्पातः । राजसगुणे हि सति शौर्यादिकं भवतीति । सम्यक् छन्नम् । पत्युर्भगवतो वलं छन्नं वीक्ष्य । एतदर्थमेव भगवदीयानां सहनम् । अपूर्वदर्शन-तद्वक्त्रं सत्रीडमक्षत । सुमध्यमेति विनियोगो-मिति सत्रीडमक्षत । वस्तुतः सभयं द्रष्टव्यम्, न्यया भविष्यतीति शङ्कया, शुद्धान्तःकरणा-तथापि तावदव्यं पलायनमपि कर्तुं शक्त इति ।

लज्जैव परं भवेदिति । उभयथापि सत्रीडमक्षत । ततः क्षणानन्तरं भयेन विह्वले लोचने यस्याः तादृश्यापि जाता । तस्य भगवतो वक्त्रमक्षत । ततः सान्त्वनमाह प्रहस्येति । एवं हि कामः स्वयं स्वकीयवधं कामयत इति हासेनैव मोहने तस्या भयादिकमपि निवारितम् । मनो देहश्च भगवते सन्देशार्थं प्रेषितवती, न तु वाणीम् । अन्यथा सैव रमेत । भगवानपि तथा वाणीमेवोक्तवात् यथा योग्यम् । भगवत्त्वादेव नाविश्वासः तथैव हृदये वा सम्पादितवान् । मा स्म भैरि-

त्याह । प्रसिद्धिरेव सर्वत्र वतंते भगवदीयानां भयं नास्तीति । वामलोचन इति । वक्रादृष्टिर्न कर्तव्या, आहोस्वित् पुरुषमपि या जयति, तस्याः किं भयमिति । मनोहरदृष्टित्वादेव शुभं भविष्यति, त्वद्दृष्ट्या वा हता भविष्यन्तीति सम्बोधनम् । अधुनेवेति । निःसन्देहः । तामात्मत्वेन गृहीत्वाह त्यक्त्वा गमनाभावाय । तावकैरिति । सर्वात्मकत्वविचारेऽपि उपपत्तिमाह शास्त्रं बलमिति । शत्रवो हन्तव्या एवेति ॥१॥

व्याख्यान—वाणी की धारा वर्षा से पति की सेना को डकी हुई देख, उनके मुखारविन्द को लज्जा पूर्वक देखने लगी, "सुमध्यमा" विशेषण से यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि इसका विनियोग दूसरे प्रकार होगा, अतः कहते हैं कि नहीं यह शुद्ध अन्तकरण वाली है इस आशय से "सुमध्यमा" विशेषण दिया है राजस गुण होने पर ही शौर्य आदि होता है इसलिए ही भगवदीय सहन कर सकते हैं रुक्मिणी ने भगवान् को इस प्रकार पहले कभी नहीं देखा था इसलिए यह अपूर्व दर्शन होने से लज्जापूर्वक देखने लगी, वास्तव में तो यह देखना भय पूर्वक था, जिससे भी तो उस समय भाग भी सकते थे किन्तु भाग जाने पर लाज ही हो, दोनों प्रकार लज्जा से देखने लगी, अनन्तर थोड़ी ही देर में उसके नेत्र भय से विह्वल हो गए, तब भी भगवान् को देखती रही, ऐसी दशा देख कर भगवान् हसकर रुक्मिणी को सान्त्वना देने लगे, इस प्रकार ही काम आप ही अपना वध चाहता है, इसलिए हंसने से ही मोहित कर, काम का वध किया तथा उसके भय आदि भी मिटाए, मन और देह सन्देह के लिए भगवान् के पास भेज दिए थे, वाणी नहीं भेजी थी, नहीं तो वहीं रमण करे भगवान् भी उसी प्रकार यथा योग्य वाणी को ही कहने लगे, आप भगवान् हैं, इस ज्ञान से उनकी वाणी में अविश्वास नहीं हुआ, जैसे वाणी आपने कही उसको ही हृदय में धारण कर लिया भगवान् ने कहा कि, हे वामलोचने । तू डर मत क्योंकि यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि भगवदीय डरते नहीं है, अतः आप वक्रदृष्टि न करिए, अथवा जो पुरुष को भी मोहित कर सकता है, उसे किसका भय ? किसी का नहीं, मनोहर दृष्टि से ही सब शुभ होगा अथवा तुम्हारी दृष्टि से मर जायेंगे इसलिए "वामलोचने" सम्बोधन दिया है, "अधुनेव" अब ही पद कहने का आशय है कि इनके नाश होने में किसी प्रकार सन्देह नहीं है, उसको आत्मापन से ग्रहण कर यह दिखाया कि रण का त्याग नहीं करना है, कारण कि, ये तेरे अब ही शत्रु की सेना को नष्ट कर देंगे, सय आत्मा अपनी हैं, इस विचार से मारना नहीं चाहिए किन्तु यह सेना शत्रुओं की है, इस उपपत्ति से मारने में कोई दोष नहीं यह नीति है ॥४,१॥

आभास—एवं भगवद्वाक्येनैव ते आज्ञप्ता एव सामर्थ्यमुक्ता एव शत्रुबलं दुरीकृत-
वन्त इत्याह तेषामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के वाक्यों से आज्ञा प्राप्त कर सामर्थ्य युक्त भी हो गए
जिससे शत्रु सेना को दूर फेंक दिया जिसका “तेषां”श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कुर्षणादयः ।

अमृष्यमाणा नाराचर्जघ्नुर्हयगजान् रथान् ॥६॥

श्लोकार्थ—उन राजाओं के पराक्रम को न सहन कर गद और संकर्षण आदि
वीर यादव, शत्रु सेना के घोड़े, हस्ती तथा रथों को बाणों से नाश करने लगे ॥६॥

सुबोधिनो—तादृशं पराक्रम अमृष्यमाणाः
सन्तः जघ्नुः, तादृशं पराक्रम को वा शत्रुस्येक्षेत ।
गदः सङ्कुर्षणश्च आदिभूतो येषाम् । एकः प्रविश्य
मारयति, अपरस्त्वाकृष्य । इतो हीनः कोऽपि

नास्तीति तथोरादित्वम् । नाराचर्बाणविशेषैः ।
हयगजान् रथानिति । त्रिविधा हता इति
गणिताः । न हि महद्भिः क्षुद्रा हन्यन्ते । अतो
न पत्तयः परिगणिताः ॥६॥

व्याख्यार्थ—वैसे पराक्रम, को सहन न करते हुए नाश करने लगे, कौनसा ऐसा वीर शत्रु
है, जो शत्रुओं के ऐसे पराक्रम की उपेक्षा करे, जिनमें गद और संकर्षण मुख्य हैं, उन में से एक
उनके भीतर घुसकर जाके मारता है तो दूसरा घसीट कर बाहर लाके मारता है, इन से कम तो
कोई नहीं है, किन्तु इन दोनों की प्रमुखता है विशेष बाणों से, घोड़े, हस्ती और रथ इन तीनों की
गणना से यह बताया कि जो शत्रुओं में महान् योद्धे इन पर बैठे थे उन सबको नष्ट कर दिया शेष
जो साधारण प्यादे उनकी गिनती नहीं को है क्योंकि महान् (पुरुष) क्षुद्रों को नहीं
मारते हैं ॥६॥

आभास—हननं फलपर्यवसायीति फलमाह त्रिभिः पेतुरिति ।

आभासार्थ—“पेतुः” श्लोक से तीन श्लोकों में कहते हैं कि “मारंडालना” फल पर्यवसायी है-

श्लोक—पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ।

सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीघ्राणि च कीटशः ॥७॥

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः ।

अश्वाश्वतरनागोष्ठ्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥८॥

हन्यमानवलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः ।

राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरः सराः ॥९॥

श्लोकार्थ—रथियों, घोड़े सवारों और हस्तियों पर बैठे हुए योधियों के कुण्डल, मुकुट तथा पगड़ियों सहित कराड़ों शिर पृथ्वी पर गिर गए ॥७॥

खड्ग गदा और घनुष सहित हाथ कट कर गिरते थे, कोहनी से हाथ के पोंचे तक का भाग, जंघा और पांव यह भी कट कर गिरते थे, तथा घोड़े खच्चर, हाथी, ऊंट, गधे और मनुष्य इनके भी शिर कटकर गिर पड़ते थे ॥८॥

जय की इच्छा वाले यादवों ने सेना का संहार करना प्रारम्भ किया तब जरासन्ध जिन में मुख्य है, वैसे राजा विमुख हो भाग गए ॥९॥

सुबोधिनी—वधो द्विविधः, अवयविनः अवयवानां च । ततः पलायनमिति रथिनां शिरांसि निष्कृत्ताति रथस्थानं परित्यज्य भुवि पेतुः । तथा अश्विनां अश्वसहितानां गजसहितानां वा । खड्गयुद्धे नैतदाश्रयम्, बाणयुद्धे तु भवतीति निरूपितम् । तेषामप्रयोजकत्वं निवारयति सकुण्डलकिरीटानीति । उष्णोष्कुण्डलकिरीटानि त्रिविधानि । प्रायिकत्वं व्यावर्तयितुं कोटिश इत्युक्तम् । अवयवानाह हस्ता इति । असियुक्ता गदायुक्ताः दक्षिणाः, इष्वासयुक्ताः धामाः, करभाः शुण्डादण्डाः, ऊरवः अङ्घ्रयश्च । सर्वेषामश्वा-

दीनां शिरांसि च भुवि पेतुरिति सम्बन्धः । नागा हस्तिनः । षड्विधा अपि हता इत्यर्थः । चकारात् ध्वजादीनामपि भूमिपातः । ततः पलायनमाह हन्यमानेति । सर्वमेव बलमनीकरूपं हन्यमानं येषाम् एते तु वृष्टिमेव कृतवन्तः, न तु मारयन्ति, ते तु मारयन्ति । तत्र हेतुः जयकाङ्क्षिभिरिति कन्या तु प्राप्तव, केवलं जय एवापेक्षित इति तेषामुद्योगः । ततो राजानः स्वदेशभोगेप्सव किं वृथा मरणेनेति सर्वं एव विमुखाः कुण्डिनपुरं जग्मुः । जरासन्धः पुरःसरो येषाम् स हि पलायने कृताभ्यासः ॥९॥

व्याख्यानार्थ—दो प्रकार से वध होता है, एक अवयवों का और दूसरा अवयवी का, पश्चात् भाग जाना यों रथियों के कटे हुए शिर रथ का स्थान छोड़ कर पृथ्वी पर गिर गए वैसे ही घोड़े

सवारों एवं हस्ती पर बैठे हुए योधाओं के शिर भी गिरे, तलवार की लड़ाई में यह अचम्भे की बात नहीं है वाणों की युद्ध में यो होना आश्चर्य की बात हो सकती है इसलिए यह निरूपण किया है उनकी अप्रयोजकता निवारण करते हैं पगड़ी, कुण्डल तथा मुकुट तीन प्रकार के हैं, बहुतायत को मिटाने के लिए "कोटिशः" करोड़ों शब्द कहा है जो अवयव गिरे उनको कहते हैं तलवार और गदा से युक्त दक्षिण हस्त, कोहनी से हाथ के पोचे तक का भाग, जंघा और चरण, एवं अश्व आदि के शिर पृथ्वी पर गिरे, हाथी छ प्रकार के भी मरे यह तात्पर्य है "च" ध्वजा आदि भी पृथ्वी पर गिरे, अनन्तर भागने लगे जिसका वर्णन करते हैं, जिनकी सर्व सेना नष्ट हो गई, ये जो वर्षा ही करते थे, मारते नहीं थे किन्तु वे तो मारते हैं इसमें कारण यह है कि यादव अपनी जय चाहते हैं, कन्या तो मिल गई थी, किन्तु केवल जय की आकांक्षा रही थी इसलिए उनका यह उद्यम था, राजा लोग तो अपने देश जा कर भोग इच्छा वाले थे वृथा मरने से क्या लाभ होगा इसलिए सब अप्रसन्न मुख फेर कर कुण्डिनपुर को गए, उन राजाओं में मुख्य जरासन्ध था क्योंकि उसने भागने का अभ्यास किया है जिससे पहले वह भागने लगा पीछे दूसरे भी भाग गए ॥७, ८, ९॥

श्लोक—शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम् ।

नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमन्नृवन् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मानो जिसकी स्त्री का हरण हुआ है, इससे आतुर, तेज हीन उरसाह रहित शुष्क मुख वाले शिशुपाल के पास आकर कहने लगे ॥१०॥

सुवोधिनी—भीष्मोऽन वक्तव्य इति तस्या-
पकाराम्नावाच्च शिशुपालं समभ्येत्य अविवाहेऽपि
जातविवाह इव खिद्यमानो जातः । ततो मनु-
कामं विवादिना आतुरं विचाररहितं हृतदारं
सम्यगभ्येत्य निकटे सान्त्वनार्थं गत्वा, शुष्यद्वदनं

त्रियमाणमिव शीघ्रं सान्त्वनमन्नृवन् । शिशु-
पालपरिज्ञाने मरणसाधनमेव ज्ञापकम्, नत्वन्य-
दित्याह नष्टत्विषमिति । वहिः कार्श्यभावः, अन्त-
रुत्साहाभाः । जरासन्धो हि अत्यन्तमभ्यस्त-
बोधनः ॥१०॥

व्याख्या—इस विषय में भीष्मक को कुछ भी कहना नहीं है, उसका कुछ भी अपकार नहीं हुआ है, शिशुपाल के पास आकर कहने लगे, क्योंकि यद्यपि शिशुपाल का स्वमणी के साथ विवाह नहीं हुआ है, तो भी वह यों समझता है कि मेरा विवाह हुआ है और मेरी स्त्री श्रीकृष्ण ले गया है, इसलिए वह खेद युक्त हो रहा है, इस कारण से विष खाकर मरने की इच्छा करने वाले, जिसकी स्त्री का हरण हुआ है जिससे दुःखिया है, वैसे विचार हीन को सान्त्वना देने के लिए निकट जाकर मरे हुए के समान शुष्क मुखवाला देख शीघ्र ही सान्त्वना के शब्द कहने लगे शिशुपाल के पूर्ण ज्ञान में मरण के साधन ही ज्ञापक थे न अन्य कुछ भी, वह वताते हैं—जिसकी कार्स्ति नष्ट हो गई है वाहिर

तेज का अभाव और भीतर उत्साह का न होना, जरासन्ध तो बहुत ही जताने का अभ्यासी है, अर्थात् जरासन्ध बहुत बार बार खाके भागा है जिससे उस समय इसकी आकृति आदि कैसे हो जाते हैं, वह सबको बताया हुआ है ॥१०॥

आभास—सान्त्वनवाक्यान्याह भो भो इति षड्भिः ।

आभासार्य—“भो भोः पुरुष” इस श्लोक से सान्त्वना के वाक्य कहते हैं ।

श्लोक—भो भोः पुरुषशार्दूल बीर्मनस्यमिदं त्यज ।

न प्रियाप्रिययो राजन्निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥११॥

श्लोकार्य—हे पुरुषसिंहः इस उदासी का त्याग करो, हे राजा जीव में प्रिय और अप्रिय स्थिर नहीं दोखते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—भगवदनुणरेव सान्त्वनं भवतीति । अनेन तस्यापि रुक्मिण्यामभिमानो निवृत्तिष्यते इति निरूपितम् । आदौ स्वास्थ्यं सम्पादयति । भो भो इति मूर्च्छितप्रबोधनम् । स्तुत्या माहात्म्यं हृदये समायातीति पुरुषशार्दूलैति सम्बोधनम् । इदं विवाहाभावलक्षणम् । न हि त्वदोयं किञ्चिदगतमस्ति । अप्राप्तत्वात् । जाते विवाहे प्रियं भवेदिति यदि, तत्राह न प्रियाप्रिययोरिति । देहिषु सर्वदा प्रियं वा कस्यचिदप्रियं वेति निष्ठा निर्धारो नास्ति । तत्र देहित्वमेव हेतुः । ‘दिह उपचय’ इति । यदोपचयः तदा प्रियम्, अन्यदाऽप्रियमिति ॥११॥

व्याख्यार्य—भगवद्गुणों के श्रवण से हो शान्ति आती है, इससे उसका जो रुक्मिणी में अभिमान है अर्थात् रुक्मिणी मेरी है, वह भी मिट जावेगा, यों निरूपण किया, पहले स्वस्थता का सम्पादन करते हैं अर्थात् मूर्च्छित हुए शिशुपाल को सावधान करते हैं “भो भो” पद से यह ज्ञान कराते हैं कि वह मूर्च्छित है, “पुरुषशार्दूल” विशेषण देने से यह प्रकट किया है कि अपनी स्तुति श्रवण से हृदय में अपने माहात्म्य का ज्ञान होगा, यह कहना विवाह न होने का लक्षण बताना है, विवाह न होने से तेरा कुछ गया तो नहीं है, जो कहो कि विवाह होने से मेरा कुछ प्रिय होता, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि “प्रियाप्रिययोः” जीव को सदैव प्रिय हो अथवा सर्वदा अप्रिय हो वेंसा कोई निर्णय नहीं है, उसमें देहित्व ही कारण है “दिह उपचय” वांत्तु से यह शब्द बना है अतः जब बढ़ता है अथवा उन्नति होती है तब प्रिय होता है अर्थात् प्रसन्नता होती है और जो हानि होती है तो दुःख होता है ॥११॥

आभास—हेत्वन्तराभ्याह यथा दारुमयीति ।

आभासार्थ—“यथा दारुमयो” श्लोक में दूसरे हेतु कहते हैं ।

श्लोक—यथा दारुमयो योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।

एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥१२॥

श्लोकार्थ—जैसे काठ की पुतली नचाने वाले जादूगर की इच्छा के अनुसार नाचती है इसी प्रकार यह जीव भी सुख दुःख भोगने में ईश्वर के आधीन है ॥१२॥

सुबोधिनी—अलौकिको बोधनहेतुरयम् । अत ईश्वराधीन एवायं लोकः भ्रमात्सु-
दारुमयो योषिन् विवृताङ्गुलि सभायां विरुद्ध-
रसापि । कुहकस्य बन्धकस्य । कस्याश्चिद्देव-
ताया रूपं कृत्वा तां नर्तयित्वा स्वोदरभरणं
करोति । एवमीश्वरेण सर्वोऽपि नर्त्यते स्वकीडा-
खदुःखयोरीहते । सुखं भवतु, दुःख मा भव-
त्विति । यथाकथञ्चिन् प्रवृत्त्यर्थं भगवति दोष-
ज्ञानाभावाय तथा बुद्धिमुत्पादयति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यह बोधन का हेतु अलौकिक है विस्तृत अंगवाली भी पुतली सभा में जो स्वयं रस पैदा नहीं कर सकती है रसहीन है अथवा विरुद्ध रसवाली है, तो भी, कोई घूर्त जादूगर किसी देवता का रूप धारण कर, उसको नचाके अपना पेट भरता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपनी क्रीड़ा के लिए समस्त जगत् को नचाता है, अतः यह लोक ईश्वर के आधीन ही है भ्रम से ही सुख दुःख की स्वयं इच्छा करता है, भ्रम के कारण ही कहता है कि मुझे सुख प्राप्त हो दुःख की प्राप्ति न होवे भगवान् जैसे तैने प्रवृत्ति चक्र चलाने के लिए अपने में दोष का ज्ञान न होवे इसलिए वैसी बुद्धि उत्पन्न करते हैं ॥१२॥

आभास—एवं शास्त्रीयमुक्त्वा लौकिकं स्वकीयमाह शीरेः सप्तदशाहमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शास्त्रीय सान्त्वना देकर अब अपना लौकिक प्रकार “शीरेः सप्तदशाहं” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—शीरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः ।

त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जग्य एकमहं परम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णजी से सत्रहवार तो तेईस अक्षोहिणीयों के साथ होते हुए भी मैं हार गया हूँ किन्तु एक बार मैं जीत गया जिससे मैंने दोनों प्रकार अर्थात् जय

(प्रिय) एगं पराजय (अप्रिय) का अनुभव किया है इससे सुख तथा दुःख की सदैव स्थिति नहीं रहती है यह प्रत्यक्ष है ॥१३॥

सुबोधिनी—सप्तदशदिवसेषु वै निश्चयेन शोरेः सम्बन्धिसंयुगानि पराजितः । द्विकर्म-कोष्यं जिघातुः अत्र । संयुगेषु वा । त्रयोवि-

शतिभिः संन्यंरक्षोहिणीभिः सहित इति साध-नसहितोऽपि सकृद्भयं मन्यते । तेन द्वयमपि मयानुभूतमिति निष्ठाभावः प्रत्यक्षः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—सत्रह दिनों में जो कृष्ण से १७ युद्ध हुए उनमें में हार गया हालांकि मेरे पास तेजीस अक्षोहिणी सेनाओं का साधन भी था, किन्तु अन्त में १८ वीं बार मैंने जीत पाई है, इससे मुझे दानों प्रकार (जय-विजय) का अनुभव है यों निष्ठा भाव प्रत्यक्ष है, यहाँ 'जि' घातु द्विकर्मक है, श्लोक में संयुगानि के स्थान पर 'संयुगेषु' पद होता तो भो वही भावार्थ होता है ॥१३॥

आभास—अत एव मम शोको नास्तीत्याह तथा तथापीति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही मुझे शोक नहीं है, यह "तथापि" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।

कालेन द्रव्ययुक्तेन जानन्विद्रावितं जगत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—तो भी मैं न तो इस का शोक करता हूँ और न हर्ष करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस जगत् को द्रव्य युक्त काल ही नाश करता है ॥१४॥

सुबोधिनी—कर्हिचित् तत्स्मरणेऽपि दुहि-त्रादिदर्शनेऽपि । सर्वदा हर्षविषादाभावे एक-मनुसन्धेयमिति । तत्स्वनिर्धारितं तस्मा उप-दिशति कालेनेति । यदि स्वसमानं पराजयो जयो वा भवेत्, तदा हर्षो विषादो वा कृतव्यो भवेत् । कालस्तु तत्कर्ता, स सर्वेषामधिपतिः । किञ्च ।

सोऽपि द्रव्ययुक्त एव शरीरादिसहितः । विद्रा-वणं शरीरद्वारं करोति । नत्वात्मनां स्वतः । तेन च जगद्विद्रावितं जानन् न शोचामीति सम्बन्धः । देवयुक्तेनेति पाठे कर्मवशात् सोऽपि तथा करोति । न तु तस्यापि कश्चन दोषो-ऽस्तीति भावः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—कभी, उसके स्मरण होने पर वा कन्या आदि के देखने पर भी यदि दुःख होवे तो विचारता है कि सर्वदा न हर्ष का विषय और न दुःख का विषय रहता है, एक का अनु-

सन्धान करना चाहिए अर्थात् सुख वा दुःख का अन्वेषण करना चाहिए कि ये क्यों और कैसे वा किसके भेजे हुए आते हैं, अथवा स्वतः आते हैं इसका विचार करो तो स्वयं निर्णय किया है उसका उसको उपदेश देता है, “कालेन” जो अपने बरावरी करने वालों से पराजय वा जय होवे तो तब हर्ष वा खेद करना चाहिए, किन्तु यहाँ तो उसका करने वाला “काल” है वह सब का अधिपति है, वह भी शरीर आदि सहित ही है, पराभव आदि शरारत द्वारा ही करता है, न कि आत्माओं का स्वतः होता है इस से काल द्वारा इस जगत् का यह प्रकार देखने में कुछ भी शोक नहीं करता है यदि “द्रव्ययुक्तेन” के स्थान पर “दैवयुक्तेन” पाठ माना जाय तो उसका अर्थ यों करना चाहिए कि कर्म के वश से काल भी वैसे करता है, इसलिए उसका भी कोई दोष नहीं है ॥१४॥

आभास—अस्तु कालान्तरवार्ता, इदानीमेव वयं सर्वे जिताः । अतः पञ्चभिः सह दुःखं दुःखं न भवतीति न शोकः कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाह अधुनापीति ।

आभासार्थ—दूसरे काल की वार्ता यों होवे, अब भी हम सब पराजित हुए हैं, अतः बहुतों के साथ जो दुःख होता है, वह दुःख नहीं माना जाता है इसलिए शोक नहीं करना चाहिए इस अभिप्राय को “अधुनापि” श्लोक से प्रकट करते हैं ।

श्लोक—अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।

पराजिताः फल्गुतन्त्रंपंडुभिः कृष्णपालितैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अब भी हम सब जो योद्धाओं के यूथपति के पति हैं, वे थोड़ी सेना वाले कृष्ण से पालित यादवों से हार गए हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—वयमिति श्लाघायाम् । सर्व एवेति सम्प्रत्यर्थम् । तर्ह्यप्रयोजका भविष्यन्तीति न मन्तव्यम् । वीरयूथपानामपि यूथरक्षका वयम् । सर्वदैव वयमेवभूताः । अधुना परं पराजिताः । तेषां च न महद्वलम्,

किन्तु फल्गुतन्त्रैरेव यदुभिः पराजिताः । तर्हि तेषपि हता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तं मनोरथं दूरोकरोति कृष्णपालितैरिति । कृष्णेन पालिताः, न मारुतयुं शक्या इत्ययः । अनेन कृष्णात् कन्याहरणसम्भावनापि निवारिता ॥१५॥

व्याख्यार्थ—“वयं” बहुवचन देने से अपनी प्रशंसा की है अर्थात् अपना बड़प्पन प्रकट किया है “सर्वं” शब्द सब को सम्प्रति है या बताने के लिए कहा है तो प्रेरक न होंगे यों न समझना हम वीरों के समूहों के जो पति हैं अर्थात् जो सेनापति हैं उनके भी हम स्वामी हैं, सदा ही हम ऐसे होते आए हैं लेकिन अब हार गए हैं जिनसे हारे हैं, उन यादवों के पास सेना भी थोड़ी है,

तब तो वे भी मरे होंगे ? इस उनके मनोरथ रूप शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वे मरे नहीं क्योंकि वे कृष्ण से पालित हैं, अतः उनको कोई भी मार नहीं सकता है यों कहने से कृष्ण ने कन्या का हरण किया है इस सम्भावना का भी निवारण किया है ॥१५॥

आभास—ननु किमेतदाश्चर्यमिति चेत्, तत्र हेतुमाह रिपवो जिग्युरिति ।

आभासार्थ—इसमें कौनसा आश्रय है ? यदि यों कहो तो उसमें "रिपवो जिग्यु" श्लोक से कारण कहते हैं ।

श्लोक—रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।

तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अब समय शत्रुओं के अनुकूल है इसलिए उनकी जीत हुई है, जब काल अपने अनुकूल बनेगा तब अपन जीतेंगे ॥१६॥

<p>सुबोधनी—अधुना आत्मानुसारिणि काले देवानां हितकर्तारि रिपवो वैष्णवा जिग्युः । अस्माकं च हितकारी यदा तामसः कालो भविष्यति, राजसो वा, तदा वयं दैत्याः ।</p>	<p>चकराद्राक्षसा अपि विजेष्यन्ति । दैत्यानां सिद्धान्ते कालः परमः, तदतिरिक्तानङ्गीकारात्तद प्रतिष्ठिताः ॥१६॥</p>
---	--

व्याख्यानार्थ—अब सात्त्विक काल देवों का हितकारी है, अतः हमारे शत्रु जो वैष्णव हैं उनकी जीत हुई है, हम दैत्य हैं तमोगुणी हैं, अतः हमारा हितकारी तामस काल का राजस आवेगा तब हम जीतेंगे श्लोक में "च" शब्द दिया है, जिससे बताया है, कि उस समय राजस राक्षस भी जीतेंगे, दैत्यों का यह सिद्धान्त है कि काल ही सबसे बड़ा है, उसके सिवाय वे बड़ा कुछ भी नहीं मानते हैं अतः वे उसके ही आश्रित हैं ॥ ६॥

श्लोक—एवं प्रबोधितो मित्रैश्चन्द्रोऽगात्सानुगः पुरम् ।

हृतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥१७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब मित्रों ने समझाया तब शिशुपाल अनुचरों के साथ अपने नगर को गया और मरने से जो राजा बच गए थे वे भी अपने अपने नगर को गए ॥१७॥

सुबोधिनी—एवं स्वसिद्धान्तनिरूपणेन प्रबो- | ससेवकः स्वपुरमगात् । तेऽपि हतशेषाः तद्ग्रहप-
धितः । मित्रैरवश्वकैः समानव्यसनैः सह चैवः | यन्तं तत्सङ्गे गत्वा पुनः स्वं स्वं पुरं ययु ॥१७॥

व्याख्यार्थ—इसी प्रकार अपने सिद्धान्त के निरूपण करने से समझाया हुआ शिशुपाल, घोखा न देने वाले, एक जैसी प्रवृत्ति वाले अपने मित्र एवं अनुयायियों को साथ ले अपने नगर गया और जो राजा शेष वच गए थे, वे भी उसके घर तक साथ गए अनन्तर अपने अपने शहर को गए ॥१७॥

आभास—एवं सप्तदशभिः एकमुपाख्यानां साधारणानां ममताभावाय निरूपितम् । अधुना सार्धैः सप्तदशभिः रुक्मिप्रभृतीनां ममताभावाय रुक्मिण्याश्च तेषु ममताभावाय सार्धैरेव सप्तदशभिर्निरूप्यते । मध्यमं तामसम् । अन्तिमं राजसमिति । ततो दोषत्रयाप-
गमने भगवान् श्वर्यरूपान् रुक्मिणीं स्वीकरिष्यत्यष्टभिः । तत्र प्रथमं तामसस्योद्योगमाह
रुक्मी त्विति ।

आभासार्थ—यों सत्रह श्लोकों से साधारणों की ममता मिटाने के लिए एक वृत्तान्त कहा, अब रुक्मी प्रभृतियों को ममता मिटाने के लिए तथा रुक्मिणी को उनमें ममता न होवे इसलिए साढ़े सत्रह श्लोकों में निरूपण करते हैं, मध्यम तामस है अन्तिम राजस है, उससे तीन दोषों के नष्ट हो जाने पर भगवान् आठ ऐश्वर्यों के रूप वाली रुक्मिणी को स्वीकार करेंगे, जिसका वर्णन आठ श्लोकों से होगा, इसमें पहले तामस के उद्यम का वर्णन "रुक्मी" श्लोक से कहते हैं ॥१७॥

श्लोक — रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहस्वसुः ।

पृष्ठतोऽन्वगमत्कृष्णसक्षौहिण्या वृत्तो वली ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण से द्वेष करने वाला अक्षौहिणी सेना से घिरा हुआ बली रुक्म अपनी बहिन के राक्षस विवाह को सहन न कर सका अतः श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ा ॥१८॥

सुबोधिनी—यद्यपि तत्त्वोपदेशे रुक्मी स्थितः, तत्त्वेन च सर्वे निवृत्तव्यापारा जाताः, रुक्मी तु न जात इति तुशब्दार्थः । ननु कोपराधः, य एव क्षत्रियः बलबाह्ययति तस्यैव भार्या भवतीति क्षत्रियाणां स्थितिः । तत्राह स्वंसुः राक्षसो-

द्वाहमसहस्रिति । ये हि कुलीनाः सन्तो दुर्बलाः, तत्कन्या राक्षसविधिना नीयते । स्वयं तु शूरः, अतो राक्षसविवाहोऽनुचितः । किञ्च । कृष्ण-
द्विडयम् । अन्यश्चेन्नयेत्, न वदेदपि । द्विष्टेन नीतं न ववाप्युपकाराय भविष्यति । स्थापनीयं

च शत्रुत्वम् । तत्सम्बन्धे सत्यशक्यमिति सम्बन्धदूरीकरणार्थं तस्य प्रवृत्तिः । कन्याहविषोस्तुल्यत्वात् । 'द्विषता हि हविर्भुक्तं' नेह नान्यत्र तद्भवेदिति वाक्यात् । कन्यापि द्विषता भुक्ता न लोकद्वयोपकारिणीति तस्या भोगं वा निवारयितुं तत्प्रवृत्तिः । अत एव पृष्ठतोन्वगपत् । येनैव मार्गेण कृष्णो गतः, तेनैव मार्गेण स्वयमपि

गतः । अथवा । अयं यदेव भगवान् निर्गतः, तदेव प्रचलितः, परमन्ये निवृत्ताः, अयं तु न निवृत्त इति बलक्षण्यम् । एकयाक्षीहिण्या परिवृतः सन् गतः । ननु बहव एव गता हतोद्यमा जाताः, कथमयमेकाको गच्छतीत्याशङ्क्याह वलीति । अयमत्यन्तं वलिष्ठः ॥१८॥

व्याख्यान—यद्यपि जब तत्व का उपदेश हो रहा था, वहाँ स्वामी भी था, उस तत्व उपदेश से अन्य सब समझ गए जिससे वे चले गए, किन्तु स्वामी को ज्ञान न हुआ यह "तु" पद का भावार्थ है, कृष्ण रुक्मिणी को ले गए इसमें कौनसा अपराध है, जो बलवान् क्षत्रिय ले जाते हैं वह उसी की स्त्री होता है यह क्षत्रियों को भयान्दा है, इस पर कहते हैं कि स्वामी अपनी बहन का राक्षस विधि से हुए विवाह को सहन नहीं कर सका जो कुलीन हा, किन्तु दुबल भी हो, तो उनकी कन्या राक्षस विधि से ली जा सकती है मैं कुलीन के साथ स्वयं शूरवीर हूँ अतः राक्षस विवाह होना अयोग्य है यों स्वामी ने समझा, तथा स्वामी कृष्ण का शत्रु भी है यदि दूसरा यों कोई ले जावे तो, सहन भी करले और कुछ न कहे, यह तो शत्रु है शत्रु ले जावे वह कहीं भी, वा कभी भी, उपकार के लिए नहीं होता है स्वामी को तो भगवान् से शत्रुता ही स्थापित करनी है, वह यदि रुक्मिणी का विवाह सम्बन्ध हो जाएगा तो हो न सकेगी, इसलिए सम्बन्ध को तोड़ने के लिए स्वामी की यह प्रवृत्ति है, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि "कन्याहविषोस्तुल्यत्वात्" जैसे शत्रु भोज पदार्थ (भोजन) करले तो, उससे इस लोक तथा परलोक में कोई लाभ नहीं होता है, वैसे ही कन्या का भी यदि शत्रु भोग करले, तो उससे भा दोनों लोकों में उपकार नहीं होता है, इसलिए उपभोग को रोकने के लिए ही इसकी यह प्रवृत्ति है, अतः श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ा, जिस मार्ग से कृष्ण जा रहे थे उसी मार्ग यह भी जाने लगा अथवा जब भगवान् वहाँ से पधारे उसी समय यह भी वहाँ से निकल कर चलने लगा, किन्तु दूसरे लौट गए, यह तो निवृत्त नहीं हुआ यह हो इसमें विलक्षणता है, एक ही अक्षीहिणी सेना लेकर गया, जब बहुत चले गए क्योंकि उनका उत्साह नष्ट हो गया था, यह अकेला होकर भी कैसे गया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "बली" यह बहुत बलवान है इसलिए अकेला होते हुए भी गया ॥ १८ ॥

आभास—अत एव महतीं प्रतिज्ञां चक्रे इत्याह स्वामीति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही बड़ी प्रतिज्ञा करने लगा जिसका वर्णन "स्वयमर्षी" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—रुक्म्यमर्षो सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूजाम् ।

प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दशितः सशरासनः ॥१९॥

श्लोकार्थ—क्रोध में भरा हुआ महाबाहु, कमर कसा हुआ, कवच धारण कर, धनुष ले, युद्ध के लिए तैयार हुआ, रुक्मी सब राजाओं से प्रतिज्ञा करने लगा ॥१९॥

सुबोधिनी—अमर्षो अप्रीकारक्रोधवान् । निर्भयः, निवारकाश्च न जाताः सर्वे । सहाया-
मुष्णु संरब्धः युद्धार्थं कृतोद्यमः । सर्वभूजाम् पेशा तु नास्तोत्त्याह महाबाहुरिति । महती
शृण्वतां मध्ये प्रतिजज्ञे, प्रतिज्ञां कृतवान् । क्रियाशक्तिः यस्येत्यर्थः । ततो दशितः बद्धकवचः
क्रोधसरम्भान्न जातवान् । सामग्री गृहीतेति । सशरासनश्च ॥१९॥

व्याख्यान—बदला न ले सकने से क्रोधित, युद्ध के लिए उद्यम वाला, रुक्मी सुनते हुए सन्त राजाओं के मध्य में प्रतिज्ञा करने लगा, क्रोध में पूर्ण होने से मैं क्या कर रहा हूँ, उसको समझ न सका, लड़ाई की सब सामग्री ले ली थी इसलिए निर्भय बना था, सब रोकने वाले भी नहीं हुए, सहायता की भी इसको आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इसमें क्रिया शक्ति बहुत है, जिसका चिन्ह यह है, कि "महाबाहु" है इसलिए कवच पहना है और धनुष भी लिया है ॥१९॥

आभास—प्रतिज्ञामाह अहत्वेति ।

आभासार्थ—“अहत्वा” श्लोक से प्रतिज्ञा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।

कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥२०॥

श्लोकार्थ—युद्ध में कृष्ण को मार डालने के ओर रुक्मिणी को लौटाकर लाने के सिवाय कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा, मैं यह सत्य कह रहा हूँ अर्थात् मेरा यह कहना मेरी प्रतिज्ञा समझो ॥२०॥

सुबोधिनी—अप्रत्यूह्येति । रुक्मिणीमग्नि-
तुल्यां मन्यते । यथा आयतनादग्निः बहिश्चे-
रञ्छति । तत्पुनरायतने व्यूह्यते, ततः कुलाद-
पगता पुनः कुले व्यूह्येति भावः । नन्वेतदशक्य-
मिति चेत्, तत्राह कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीति ।
अयमेव नियमः, यदुभयमकृत्वा कुण्डिनाप्रवेश
इति । अतः कुण्डिनाप्रवेश एव तस्य फलिष्यति ।
अत एव विद्यानाभावात् निर्धारितस्यानुक्तत्वात्
न पादानामन्यथार्थो वक्तव्यः । एतदहं सत्यं
ब्रवीमीति शपथः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—रविमणी अग्नि जैसी है, यों रवमो मानता है, अतः जैसे आश्रय स्थान से बाहर निकलो हुई अग्नि पुनः आश्रय स्थान पर ही लौट आती है, वैसे ही कुल में से गई हुई रविमणी कुल में ही आनी चाहिए अग्नि के दृष्टान्त बहने का यह ही भाव है, यह जो आप कह रहे हो वह होना कठिन है यदि यों है तो अर्थात् यों मैं नहीं किया तो कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा यह ही मेरी प्रतिज्ञा है, कि ये दोनों कार्य न कर कुण्डिन में लौटकर प्रवेश नहीं करूँगा । रवमो ने जो प्रतिज्ञा की वह ही फलीभूत होगी अर्थात् दोनों कार्य पूर्ण न होंगे, जिससे वह कुण्डिव लौटकर प्रवेश न करेगा अतः निन्दा के अभाव से और निणय के न कहने से पदों का अर्थ अन्य प्रकार से नहीं कहना चाहिए, यह मैं सत्य कह रहा हूँ, इन शब्दों से वह शपथ ले रहा है ॥२०॥

श्लोक—इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वम् ।

चोदयाश्वान्यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—यों प्रतिज्ञा के वचन कह कर रथ पर चढ़, सारथि को कहने लगा कि घोड़ों को इस प्रकार तेज चलाओ, जैसे मेरा और कृष्ण का मिलाप हो जाय ॥२१॥

सुबोधिनी—ततः पिताद्यभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेणैव मे च संयुगो भवेत् । प्रार्थनायां लिङ् । यथा एवमुक्त्वा रथमारुह्य स्वसारथिं प्रति प्राह । मम तस्य संयुगो भवति, तथा चोदयेति । अथवा स न तथा कुर्यात् । सहजद्वेषाभावात् । भवेदिति विध्यर्थो वा । अपूर्वत्वात् । यतोऽयं सत्वरमित्युभयस्य । अश्वान् प्रेरय । यतस्तस्य कृष्णः स्त्रीप्रियः, अतः स्त्रियं हृतवानिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—पश्चात्, पिता आदि बड़ों को आज्ञा लिए बिना ऐसी प्रतिज्ञा कर अपने सारथि को यों न कहे, तो वह ऐसा न करे क्योंकि उसका कृष्ण के साथ किसी प्रकार सहज द्वेष नहीं था “सत्वर” शब्द दोनों से सम्बन्धित ३ (१) घोड़ों को शीघ्र तेज चलाओ, और (२) कृष्ण के साथ मैं जैसे जल्दी मिलूँ यह “भवेत्” लिङ् लकार, प्रार्थना अर्थ में है, अर्थात् घोड़ों को वैसे प्रेरणा दे जैसे मेरा कृष्ण के साथ मिलन हो जाय अर्थात् कृष्ण द्वारका पहुँच न जाय, अथवा पहले वंसा काम न पड़ने से यह पहला ही अवसर है अतः यह “भवेत्” लिङ् लकार आज्ञा के अर्थ में है, अर्थात् सारथि को ऐसी शीघ्र रथ चलाने की आज्ञा दी है, क्योंकि, यह कृष्ण स्त्री प्रिय है अतः स्त्री को हरकर ले गए हैं ॥२१॥

आभास—गत्वा यत्कर्तव्यं तदाह अद्याहमिति ।

आभासार्थ—रविम को जो करना है वह "अद्याह" बलोक में कहते हैं ।

श्लोक—अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मते ।

नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हुता ॥२२॥

श्लोकार्थ—आज मैं जिसने मेरी बहन बलपूर्वक हरण की हैं, उस बुद्धि ब्वाले का वीर्यमद तीक्ष्ण बाणों से हरण करूँगा ॥२२॥

सुबोधिनी—निशितैरिति । सहार्थे तृतीया । सुदुष्टेष्वपि मतिर्यस्येति । गोपालत्वं शब्दतो न दोषः, अभिप्रायतस्तथा भवति, तत्प्रकृतेनाङ्गीक्रियत इति, नान्यथा वक्तव्यम् । वीर्यजनितो यो मदः तमह नेष्ये ग्रहीष्यामि, येन भगवता कृत्वा मदं प्राप्स्यामीत्यर्थः । पूर्व नास्माकं गर्वाः स्थितः, अधुना भगवत्सम्बन्धात् नास्मत्सदृशा वीराः सन्तीति गर्वो भविष्यात् । क्षत्रिणां

वीर्यमेव महत्त्वसूचकमिति न मदमात्रं निरूपितम् । ननु भगवतो हेतुत्वं कथमित्यह येन मे स्वसा प्रसभं हतेति । बलात्कारेण हरन् वीर्य शिक्षां चोपदिष्टवान् । बाणानपि प्राप्स्यामि वीर्यमपोति । ससाधनबलप्राप्तिर्भगवदाभिमुख्यगमने फलमित्यर्थः । तत्सम्मुखमेव गन्तव्यमिति नियोगः ॥२२॥

व्याख्यायर्थ—निशितैः बाणैः पदों में जो तृतीया विभक्ति है वह 'साथ' के अर्थ में दी हुई है, सुदुष्ट कार्यों में जिसको बुद्धि लगी हुई है, वैसे गोपाल के "गोपालपन" शब्द से दोष वाला नहीं है, किन्तु अभिप्राय से वसा होता है, वह अभिप्राय चालू प्रसंग में अंगीकार किया जाता है, अन्य प्रकार से नहीं कहना चाहिए, उसको जो वीर्य से मद उत्पन्न हुआ है वह मैं ले लूँगा, जिससे उस भगवान् के मद लेने से मैं मद को प्राप्त होऊँगा पहले हम लोगों में मद नहीं था अब भगवत्सम्बन्ध से प्राप्त 'वीर' मद से ऐसा गर्व होगा, कि हमारे समान कोई वीर नहीं है यो कहने से न केवल मद का निरूपण किया, किन्तु यह बताया कि क्षत्रियों का महत्त्व प्रकट करने वाला साधन वीर्य ही है भगवान् का इसमें हेतुपन कैसे ? इस पर कहता है कि जिसने मेरी बहन बलात्कार से हरण कर वीर्य और शिक्षा का उपदेश दिया है इस कार्य करने से हमको जताया है कि वीर बनो, नहीं तो तुम्हारी स्त्रियाँ यों हरी जाएगी, जिससे बाणों को प्राप्त करूँगा और वीर्य को भो, साधन और बल इन दोनों की प्राप्ति भगवान् के सम्मुख होने का फल है अतः उसके सम्मुख हाँ जाना चाहिए, इसलिए नियोग कहा है ॥२२॥

आभास—विकल्पमानः कुमतिरोश्वरस्याप्रमाणवित् ।

रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथःश्रुत्वा ॥२३॥

श्लोकार्थ—ईश्वर के सामर्थ्य को न जानने वाला, वह कुमति रूमी ब्रकवाद करता हुआ एक ही रथ से भगवान् को कहने लगा कि “ठहर ठहर” ॥२३॥

सुबोधिनी—विशेषण कथ्यमानः असम्बद्ध-मिव भाषमाणः । भगवान् हि महत्या प्रार्थनया तां हृतवान्, न तु बलादिति असम्बद्धता । नन्व-चिन्त्यैश्वर्यं भगवतः श्रुत्वा दृष्ट्वा च कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह कुमतिरिति । ऊहादौ न तस्य सामर्थ्यम् । स हि सर्वं मेव यथाकथञ्चिज्जातमिति भगवच्चरितं मन्यते । तत्र प्रमाणमाह ईश्वरस्या-प्रमाणविदिति । ईश्वरस्य प्रमाण सामर्थ्यं न जानाति । प्रमाणशब्दः आदरणीयपरोऽपि क्वचि-

त्परिमाणवाच्यपि, प्रमाणं परिमाणमिति । यथा अत्रैव । ‘विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वैत्यत्र च । उपसर्गस्य अन्योपसर्गार्थत्वात् न नानार्थत्व’ समुदायस्य । एवं दुर्वुद्धिरेकेनैव रथेन भगवत्स-मीपं गत्वा गोविन्दं भक्तकृपालुं सन्मात्रस्यैवेन्द्रम्, अत एव रुक्मिणीं हृत्वा गच्छन्तं तिष्ठ तिष्ठेत्यब्र-वीत् । द्विहक्तिः आदरे अधिक्षेपे वा । चकारार्त्-स्तुतिवाक्यान्यन्यानि वा ॥२३॥

व्याख्यार्थ—रूमी असम्बद्ध जंमे शब्द कहने लगा, उसके शब्द असम्बद्ध क्यों थे ? जिसका कारण बताते हैं, कि भगवान् ने तो बहुत प्रार्थना करने से उसका हरण किया था, न कि बलात्कार से हरण किया था इसलिए उसके शब्द असम्बद्ध थे, भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य सुनकर तथा देख-कर भी इस प्रकार ब्रकवाद क्यों कर रहा है ? इसके उत्तर में कहा है कि “कुमति” हीन बुद्धिवाला है, जिससे पूर्वापर का विचार नहीं कर सकता है वह यह, सर्व भगवत् चरित जैसे तैसे अकस्मात् हा गया है यों मानता है, क्योंकि भगवान् के सामर्थ्य को नहीं जानता है, “प्रमाण” शब्द आदरणीय अर्थ में भी आता है और कहीं ‘परिणाम’ में आता है, जैसे यहाँ ही “विदुः प्रमाणं वीर्ययोर्वै” इस श्लोक में आया है, उपसर्ग का अन्य उपसर्ग का अर्थ होने से समुदाय का नाना अर्थ पन नहीं होता है, इस प्रकार वह दुर्वुद्धि एक ही रथ में भगवान् के समीप जा कर भक्तों पर कृपा करने वाले सन्मात्र के इन्द्र गोविन्द को, जो कि इस कारण से ही रुक्मिणी को हरण कर ले जा रहा है उनका ठहर ठहर, यों दो बार कहने लगा, दो बार आदर में, या तिरस्कार में कहा जाता है, “च” पद से स्तुति वाक्य वा अन्य है ॥२३॥

आमास—तथात्रते भगवान् स्थितः । तदा यः कृतवांस्तदाह धनुर्विकृष्येति ।

आ-साथ—उस प्रकार कहने से भगवान् ठहर गए तब जो किया उसका वर्णन ‘धनुर्वि-कृष्य’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— धनुर्विकृष्य युद्धं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।

आह चारे क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ॥२४॥

श्लोकार्थ—धनुष को दृढ़ खेंचकर तीन तीर श्रीकृष्ण को मारे और बोला कि यदुकुल कलंक क्षण भर यहां ठहर ॥२४॥

सुवोधिनी—स्तुतिपक्षे मद्बुद्धारमकृत्वैव केवलं रुक्मिणीहरणमयुक्तमिति वाक्यानामर्थः । नवन-
धिकारी कथं कृतार्थो कर्तव्य इत्याशङ्क्य स्वाधि-
कारनिरूपणार्थं युद्धं प्रदर्शयतीति धनुर्विकृष्येति ।
युद्धमिति युद्धु प्रतिज्ञायां दृढम् । भगवन्तमा-
लक्ष्य स्वशौर्यं प्रदर्शयन् । त्रिभिः शरैः अथाल्लो-
कत्रयं जघ्ने । शरो ह्युपर्यावरणभूतो रसानाम्,
तत्र जलस्य पृथिवीं शरो भवति, अन्तरिक्षमपि
वायोः, स्वरपि ब्रह्माण्डस्य, सर्वं भगवते निवेदित-
वानिति वा । हस्तो हि हन्तीति हस्तेन दत्तवा-
नित्यर्थः । न केवलं सर्वस्वनिवेदनमेव कृतवान्,

किन्तु वाक्यमयुक्तवान्, अन्यथा वाचनिकं न
दत्तवानिति स्यात् । आह चार इति । भगवन्तं
प्रत विज्ञापनार्थं गःह । चारे चरणयोग्ये हृदये
सात्त्विके क्षणं तिष्ठ । ननु किं स्यात् स्थित
इत्याशङ्क्याह यदूनामिति । यदूनां कुलं पान्तीति
कुलपाः, कुलपा वा माया, तान् ता वा अंसेन
क्रियाशक्त्या नयतीति तथा । ये केचन यादवानां
रक्षकाः तान् सर्वानेव बँकुण्ठ प्रापयति । अत
एवं भक्तवत्सलः अस्मद्दृढयेऽपि क्षणं स्थितः
अस्मदीयान् अस्मदुपकारिणश्च बँकुण्ठ नेष्यतांति
तदर्थं प्रार्थना ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—ऊपर के श्लोक में “च” का आशय स्तुति वाचक भी कहा है उसका आशय स्पष्ट करते हैं, कि “मेरा उद्धार न कर, केवल रुक्मिणी को ले जाना युक्त नहीं है यों वाक्यों का भाग है”, यदि कहो कि जो अधिकारी नहीं है ‘उसको कृतार्थ’ कैसे किया जाय ? अतः अपना अधिकार दिखाने के लिए युद्ध कर, अपनी शूरवीरता रूप अधिकार से परिचित करते है । पहले तो जो प्रतिज्ञा की, उस पर दृढ़ है इसको सिद्ध करने के लिए धनुष का ऐं च । भगवान् को लक्ष्य कर अपनी शूरवीरता दिखाने लगा, तीन शरों से मानों तीन लोकों का हथियाने लगे, शर रसों के ऊपर का आवरण रूप है, जैसे कि जल का शर पृथिवी है, वायु का शर अन्तरिक्ष है, और ब्रह्माण्ड का स्वर्ग शर है अथवा इस प्रकार सर्व भगवान् को निवेदन किया, हस्त ही गति करना है, इनलिए हाथ से निवेदन किया अर्थात् दिया यों भाव है, केवल सर्वस्व ही नहीं दिया किन्तु वाणी भी निवेदित को है यदि वे निवे. न नहीं करते तो कार्य अधूरा ही जाता है अतः “आह चारे” इस वाक्य से भगवान् को वाणी का निवे-
दन करते हुए प्रार्थना करता है मेरे चरण घरने के योग्य सात्त्विक हृदय मे क्षणमात्र ठहरने का कृपा करो, यों ठहरने से कौनसा लाभ होगा ? आप यादवों के कुल के रक्षक हो तथा यादवों की माया

को अपना क्रिया शक्ति से खेंचते हो जिससे जो कोई भी यादवों के रक्षक हैं उन सब को भी बैकुण्ठ पहुँचाते हैं, अतः 'अस आप भक्तवत्सल हृभार हृदये मे भा क्षण मात्र स्थिते हागे' ता हमें लोंगे का तथा हमारे उपकारियों को भी बैकुण्ठ ले चलोगे, इसलिए यह प्रार्थना है ॥२४॥

श्लोक—कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।

हरिष्येऽद्य मम मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे मन्द ! जंसे कोए को छोड़ हवि ली जाती है, वंसे आप मेरी वहिन को मेरे परोक्ष में चुराकर कहां ले जा रहे हो, छली, कपट युद्ध करने वाले आपका गर्व आज मैं हरण करूँगा ॥२५॥

सुवोधिनी—किञ्च, कुत्र यासीति । जीवानां स्वसा ब्रह्मानन्दो भवति । सम्बन्धमात्रं स्वांघि न आनन्द इति । नतु कदाचिदप्यनुभवः, अतः स्वसंब भवति । तां गृहीत्वा अमदुद्वारमकृत्वा उद्धृतानेव यादवान् उद्धतुं किमर्थं गच्छसीत्यर्थः । मुषित्वेति । परोक्षां हृत्वा । जीवानां निकटेऽपि ब्रह्मानन्दः स्थितः जीवंतं दृश्यते, अनुभवति भगवानेव । ध्वाङ्क्षवदिति । यथा ध्वाङ्क्षं विहाय हविर्नीयते । ध्वाङ्क्षो हविर्न भवति । अन्वत्सर्वं जगद्युत्पन्नं हविर्भवति, भगवान् सर्वयज्ञभोक्ता, तत् सर्वं पशवः, काकं विहाय । तथा सर्वजगदुद्धारार्थमागतः मामेव

विहाय कथं गच्छसीत्यात्मनो धिक्कारः । हविरपि परोक्षमेव गृह्यते । 'परोक्षप्रिया (इव हि) देवाः प्रत्यक्षद्विष' इति । तर्हि त्वयैव काकदृष्टान्त उक्त इति त्वमग्राह्य ऐवेति चेत्, तत्राह हविष्येऽद्य मम मन्देति । मन्द मम स्वस्मिन् दोषात्मकं यद्वशात् त्वया कृपा न विधीयते । मन्दमायिनो वा मन्दा माया अस्यास्तीति । अनेन माया मन्देव क्रियते, नकार्यक्षमा भवति, कूटयोधिनी मायिनो भगवतः स कपटेनैव युद्धं करोति, वस्तुतो मुक्तिं प्रयच्छति । एतादृशे भगवति स्थिते प्रतिबन्धकत्वेन समागत स्वधर्मदूरीकरिष्यामीति वचनं युक्तमेव ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—कहाँ जा रहे हो ? जीवों की वहन ब्रह्मानन्द है, जहाँ भी कुछ सम्बन्ध होता है, वहाँ अंशो का अपना आनन्द ही है, कभी भी उसका अनुभव तो नहीं किया जा सकता है, अतः उसको वहन ही माना जाता है । हम लोगों का उद्धार न कर उसको लेकर जिन यादवों का पहले ही उद्धार कर दिया है पुनः उनके उद्धार के लिए क्यों जा रहे हो ? उसको हमारे परोक्ष में ले जा रहे हो जाँवों के पास ब्रह्मानन्द है जिसको जीव देख नहीं सकते हैं भगवान् ही उस ब्रह्मानन्द का अनुभव

कर रहे है, जंगे कीवे के सिवाय जगत में उत्पन्न पदार्थ हवि है, उन को हवि के लिए लाया जाता है कीवे को छोड़ दिया जाता है भगवान् ही सर्व यज्ञ भोक्ता हैं, वहाँ सर्व काक के सिवाय, हवि हो सकते हैं, जैसे जगत के उद्धार के लिए प्रकट हुए आप मुझे ही छोड़ कर कैसे जा रहे हों ? यों कहने से अपने का घिनकारा है, हवि भी परोक्ष ही ग्रहण की जाती है 'देवता प्रत्यक्ष के द्रुपा हैं, परोक्ष के प्रिय है, यदि कहो कि तूने ही अपना दृष्टान्त देकर काक बनाया है, इसलिए तू ग्रहण करने योग्य नहीं है, तो वैसे जो आपका मद है आज मैं उसको नाश कर दूंगा, हे मन्द ! आप में यह मद रूप दोष है जिससे आप मुझ पर कृपा नहीं करते हो, अथवा "मन्वमादिन" समाप्तान्त पद कर अर्थ करता है, कि आपको माया को मन्द कर देता हूँ । जिससे वह कार्य कर नहीं सके, भगवान् युद्ध तो कपट से ही करते हैं, वास्तव में वे उससे मोक्ष देते हैं, ऐसे भगवान् के प्राप्त होने के समय, प्रतिबन्ध करने वाले अपने धर्म का दूर करूँगा, यों कहना योग्य ही है ॥२५॥

आभास— तहि कथं त्वमुद्धर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मानन्दमस्मभ्यं प्रयच्छेत्प्राह यावन्न मे हतो बाणरिति ।

आभासार्थ— यदि कहो, कि तेरा उद्धार तू किस प्रकार चाहता है ? इसके उत्तर में कहता है, कि "ब्रह्मानन्द" हमको दो, यों "यावन्न मे हतो" श्लोक में वर्णन करता है ।

श्लोक - यावन्न मे हतो बाणः शयीथा मुञ्च दारिकाम् ।

ए यन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा पङ्क्तिव्याध रुक्मिणम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब तक मेरे बाणों से मरे हुए तुमको पृथ्वी पर नहीं मुलाता हूँ उससे पूर्व, रुक्मिणी की छोड़ दे, ये वचन सुन, कृष्ण मुस्कराते हुए, उसके धनुष को तोड़ कर, छः बाणों से रुक्मी की वेधित किया ॥२६॥

सुबोधिनी—मे बाणाः मन्मारकत्वेन समागतानीन्द्रियाणि तैर्यन्निन्न हतः, यदीन्द्रियाणि त्वदसं प्राप्स्यन्ति, तदा ब्रह्मानन्दं नापेक्षन्ते. तदा भक्तिमेव ग्रहीष्यन्ति, तावत्पर्यन्तं ब्रह्मानन्दो देय इत्यर्थः । यतः सा दारिका मुक्तिः संसारं विदारयिष्यति । भक्तेः पूर्वं मुक्तिप्रार्थना युक्तैव । ननु कोऽयमाग्रह इदानीमेव फलं देयमिति, तत्राह शयीथा इति । यावत्त्र-

लये सर्वं संहृत्य शयनं करिष्यसि, ततः पूर्वं माचयेत्यर्थः । एवमुक्तो भगवान् हास्येन तं व्यामोहयन् दुरात्मार्यं मनुकामः समायातीति, स्वयं भगवान् स्त्रीणां हितकर्ता, रुक्मिणी न त्याज्येति, तस्य धनुः छित्त्वा येन शरान् प्रक्षिप्तवान् तत् दुरीकृत्य, पङ्क्तिः शरैः रुक्मिणं विव्याध । षोडा विहितो हि पुरुषः । ततः सर्वाङ्गेषु ताडितवान् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—मेरे बाण, मुझे मारने के लिए आई हुई ये इन्द्रियाँ, उनसे जब तक मैं न मारा गया हूँ, अर्थात् यदि ये इन्द्रियाँ आपका रस पान करेगी, तो ब्रह्मानन्द की इच्छा न करेगी, किन्तु तब भक्ति को ही ग्रहण करेगी। जब तक हो तब तक तो ब्रह्मानन्द देना चाहिए, क्योंकि वह द्वारिका अर्थात् मुक्ति संसार को नष्ट कर देगी, भक्ति से पहिले मुक्ति की प्रार्थना करने योग्य ही है, अब ही फल देना चाहिए यह आग्रह कैसा वा क्यों है ? इस पर कहता है कि “शयीथा” प्रलय में सब को लपेट कर आप शयन करो, उससे पूर्व ही, मेरी मुक्ति करो, इस प्रकार जब भगवान् को कहा, तब भगवान् मुसकराने लगे, जिसमे उसको मोह में डाल दिया, भगवान् ने मन में सोचा कि यह तो दुरात्मा है, मरने के लिए ही आ रहा है स्वयं भगवान् तो स्त्री हितकारी हैं, इसलिए रत्नमणी को छोड़ना योग्य नहीं है, उसके धनुष को तोड़ कर उसके फेंके हुए तीरों को दूर हटा कर छः शरों से स्वामी को बीधा “पुरुष छः प्रकार का है” इसलिए छः शरों से सब अंगों में ताड़ना की ॥ २६ ॥

श्लोक—अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ।

सचान्यद्भनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ॥२७॥

तंस्ताडितः शरोर्घस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ।

स चान्यद्भनुरात्त तदप्यच्छिनदच्युतः ।

पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदच्युतः ॥२८॥

श्लोकार्थ—और आठ बाण चार घोड़ों को, दो सारथी को तथा तीन से ध्वजा को वेधित किया, तब स्वामी ने दूसरा धनुष लेकर पांच तीर कृष्ण के पास फेंके, उन शरों से ताड़ित कृष्ण ने वह भी तोड़ दिया, फिर भी उसने दूसरा धनुष उठाया तो उसको भी भगवान् ने तोड़ दिया ॥२७-२८॥

सुबोधिनी—ततः अष्टभिः द्वाभ्यां द्वाभ्यां एकैकं चतुरो वाहान् अश्वान् विव्याध । द्वाभ्यां च सूतम् । एते त्रिधा छिन्नाः पञ्चापि । ध्वजश्चतुर्धा छिन्नः । एवं साक्षात्परराङ्गानि सर्वाण्येव भिन्नानि । तच्छेदनाथं प्रवृत्तेनैव बाणेन धनुश्छिन्नमिति न धनुषो भेदे पृथक् शरा उक्ताः । तदा सोऽप्यन्यद् धनुरादत्त । भगवानपि प्राणिघातकं धनुर्विहाय अन्यद्भनु-

गृहीतवानिति चकारेण ज्ञायते । तदपि आच्छिनत् ग्रहणमात्रेणैव, तत्र हेतुः अच्युत इति । स्वयमच्युतः, देववरप्राप्तं च धनुः । अतस्तच्छरस्य वैयर्थ्यसम्पादनात् पूर्वमेव तच्छिन्नम्, ततोऽन्यदपि गृहीतवानित्याह पुनरन्यदुपादत्तोति । ‘हिसत्या हि देवा’ इति धनुषः त्विर्ग्रहणम् ॥२७-२८॥

व्याख्यार्थ—रुक्मी के रथ के चार घोड़े थे, एक एक घोड़े को दो दो चरों से बोधित किया, दो शरों से सूत को, ये पांच चार घोड़े और एक सूत तीन प्रकार कट गए, ध्वजा के चार टुकड़े हो गए. इस प्रकार साक्षात् वा परम्परा से सब अंग जुड़े-जुड़े हो गए, उसने तोड़ने के लिए प्रवृत्त वाणसे ही धनुष टूट गया इसलिए धनुष तोड़ने के लिए जुड़े तीरों का नहीं कहा है: तब उसने भी दूसरा ही धनुष टूट गया इसलिए धनुष तोड़ने के लिए जुड़े तीरों को नहीं कहा है, तब उसने भी दूसरा धनुष लिया भगवान् ने भी प्राणियों के घातक धनुष को त्याग, दूसरा धनुष उठाया, यह आशय "च" शब्द से ज्ञात होता है रुक्मी ने जो दूसरा धनुष उठाया था वह लेते ही भगवान् ने तोड़ दिया, क्योंकि आप अच्युत है और धनुष को देवताओं का वर मिला हुआ है अतः उस शर को व्यर्थता होने से, पहले वह धनुष तोड़ दिया, पश्चात् दूसरा भी ग्रहण किया, शास्त्र में कहा है कि "त्रिसत्या हि देवाः" इसलिए धनुष का तीन बार ग्रहण हुआ है ॥२-७२८॥

श्लोक—परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासीशक्तोमरम् ।

यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽन्निच्छनद्विभु ॥२९॥

श्लोकार्थ—उसने लोहे के मुद्गर, पट्टिस, विशूल, ढाल, तन्वार, बरछी, भाला आदि जो जो शस्त्र हाथ में लिए उन सबको प्रभु ने तोड़ दिया ॥२९॥

सुबोधिनी—ततः परिषादीन् गृहीतवान् ।
चर्मासी इति दीर्घः छन्दसः । चर्मादिपदमेकं
तामरान्तम् । किबहुना । यद्यदायुधमादधात् ।

देवतादिप्रेरणया, स्वतो वा तत्सर्वमेवाच्छि-
न्त् । एव करणे सामर्थ्यं विभुरिति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् उसने परिष आदि शस्त्र ग्रहण किए मूल में "चर्मासी" पद दीर्घ है, वह वैदिक है, चर्म से लेकर तोमर तक एक ही पद है, बहुत कहने से क्या लाभ ? वह देवता आदि का प्रेरणा से वा स्वतः जो जो शस्त्र उठाए वे सब तोड़े गए, इस प्रकार करने में सामर्थ्य इसलिए थी जो आपका नाम ही "विभु" है अर्थात् सब कुछ करने में शक्तिमान है ॥२९॥

आभास—ततोऽतियत्नेन सर्वभावेनागत इत्याह ततो रथादवप्लुत्येति ।

आभाष—पश्चात् बहुत जतन से सर्व भाव से आया जिसका वर्णन 'ततो रथाद' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिजिघांसया ।

कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् क्रोध युक्त हस्त में तलवार लेकर रथ से नीचे उतरकर मारने की इच्छा से कृष्ण के पास यों आने लगा ज्यो पतंग अग्नि के पास आता है ॥३०॥

सुबोधिनी—केवलं खड्गपाणिः, न तु पतङ्ग इव पावकमिति । ते हि सूक्ष्माः अग्ना-
चर्मापि । जिघांसयेति जीवननिरपेक्षः आत्मान- वात्मानं पातयित्वा परमार्थदृष्ट्या कृतार्था भवि-
मेव भगवद्द्वारा मारयितुं कृष्णपरमानन्दमभ्य- प्यन्ति, बहिर्दृष्ट्या तु अग्नि मारयिष्याम इति
द्रवत् । युक्तमेव हि प्राकृतं परित्यज्य परमा- बुद्ध्या प्रवृत्ताः स्वयं म्रियन्ते । तथायमपि प्रवृत्त
नन्दो ग्राह्य इति । तथापि शरीरं प्रियं सर्व- इत्यर्थः ॥३०॥
स्यापोति कथं तथा समागत इति चेत्, तत्राह

व्याख्यार्थ—हाथ में केवल तलवार थी, ढाल नहीं थी, मरने की इच्छा से अथवा भगवान् से अपने को मरवाने के लिए, परमानन्द स्वरूप कृष्ण के निकट आने लगा, प्राकृत को छोड़ परमानन्द ग्रहण करना योग्य ही है, यदि कहो कि जब शरीर सब को प्यारा है तब इस प्रकार कैसे आया ? इसका उत्तर देते हैं कि जैसे पतंग अग्नि की तरफ आता है, क्योंकि वे सूक्ष्म अपने को अग्नि में डाल कर परमार्थ दृष्टि से कृतार्थ बन जावेंगे बहिर्दृष्टि से अग्नि को हम बुझा देंगे इस बुद्धि से प्रवृत्त होते हैं, किन्तु अग्नि को न बुझाकर स्वयं मर जाते हैं वैसे यह भी, प्रवृत्त हुआ है यह अर्थ है ॥३०॥

आभास—ततो भगवानविलिष्टकर्मा तस्याभिलषित कुर्वन्, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति च वाक्यं सत्यं कुर्वन्, तन्मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह तस्य चापतत इति ।

आभासार्थ—अनन्तर अविलिष्ट कर्मा भगवान् उस की अभिलाषा पूर्ण करते हुए और "ये यथामां प्रपद्यन्ते" इस वाक्य को सत्यता सिद्ध करते हुए, उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन "तस्य चापततः" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्मं चेधुभिः ।

छित्त्वासिमादधे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—आते हुए उस रुक्म के ढाल तथा तलवार के, बाणों से तिल जितने टुकड़े कर दिए, और तेज तलवार लेकर रुक्म को मारने के लिए उद्यत हुए ॥३१॥

सुबोधिनी—तादृशस्यापि खड्गं चर्म च रघातकमेति निर्जीवान् छित्त्वा तद्घाथं खड्गं
 इषुभिः चिच्छेदा चर्मपि गृहीतं खड्गकोशो वा । गृहीतवानित्याह असिमादघ इति । एतस्मिन्
 तिलशस्त्रेदनं स्वशौर्यव्यापनार्थं म् । तद्गृधिरमेव हते जगति स्वरूपाज्ञानं निवर्ततेव । यतोऽयं
 वा तत्र प्रवहञ्जलात्मकं सत् तस्य परलोक उप- रुक्मी मुखो भगवदद्विट् । अतो भगवान् तं हन्तु-
 तिष्ठेतेति तत्सतिलं कृतवानित्यर्थः । एवं धनु- मुद्यतो जातः, न तु मारितवान् ॥३१॥

व्याख्या—एसे को भी तलवार और ढाल अथवा म्यान को तीरों से तोड़ दिए, ढाल भी
 ग्रहण को थी अथवा म्यान ग्रहण की थी, अपना घूरवीरता को प्रसिद्ध करने के लिए तिल के समान
 टुकड़े किए हैं, यों करने से जो रुधिर बहने लगा वह जल रूप होकर, परलोक में मिलने वाला हो
 गया वह तिल सहित करने के लिए हो असि (तलवार) आदि के टुकड़े तिल के समान किए हैं जिससे
 पितृपुत्र को पितृलोक में तर्पण के लिए तिलोदक का सम्पादन हो गया, धनुष तो घात करने वाला
 नहीं है, जिससे जड़ पदार्थों को काटकर उसके मारने के लिए तलवार ग्रहण की है, इसके मरने पर
 जगत् में स्वरूप का अज्ञान मिटेगा ही, क्योंकि यह रुक्मी भगवान् का मुख्य शत्रु है, अतः भगवान्
 उसको मारने के लिए उद्यत हुए, न कि मारा ॥३१॥

आभास—एवं स्वरूपाज्ञाननाशो मायाया हितकारी न भवतीति रुक्मिणी तन्निघो-
 धार्थं प्रवृत्तेत्याह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वरूप के अज्ञान का नाश, माया का हित करने वाला नहीं होता
 है, इसलिए “रुक्मिणी” उसका निषेध करने के लिए प्रवृत्त हुई जिसका वर्णन “दृष्ट्वा” श्लोक में
 करते हैं ।

श्लोक दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला
 पतिर्वा पादयोर्भर्तुं स्वात् करुणं सती ॥३२॥

श्लोकार्थ—भ्राता को मारने का कृष्ण का उद्यम देख, सती रुक्मिणी भय से
 विह्वल हो, पति के चरणों में पड़कर करुण वचन कहने लगी ॥३२॥

सुबोधिनी—रुक्मिणी प्रार्थयितुमुवाच । तस्या उद्योगः । तत्रापि भ्राता, तस्यापि वधो-
 यद्यपि द्रुष्टो भवति, तथापि स्वार्थं तावत्करो- योः, । तत्रापि वधात्पूर्वं स्वयं दृष्टः स्वयं च
 तीति । यदर्थं यो यतते, तेन प्रतिकर्तव्यमिति, रुक्मिणी तत्सम्बन्धिनी । पश्चाद्भूयेन विह्वला

जाता । क्रोधे कदाचिदात्मानमपि मारयेत्, लोके चापकीर्तिर्भवेत्, बलाद्भगवन्तमाहूय भ्रातरं मारितवतीति बहव एव पक्षाः भयहेतवो वर्तन्ते । अतो भयैः कृत्वा विह्वला स्वयमपि शुष्कानना जाता । अत्यन्त विज्ञा उपायान्तरमलभमाना मत्पतिरयमिति भर्तुः पादयोः पतित्वा उक्तवती । चरणपातेन देहेन निवारणम् । विह्वल-

तया मनसा निवारणम् । वाचा च निवारयति । नन्वीश्वरो भगवान्, कथमेतन्निवारितो निवर्ततेति चेत् तत्राह करुणमिति । करुणं यथा भवति, तथा उवाच, नतु प्रोढ्या । किञ्च । पतिव्रताया न ह्यन्य उपायोऽस्ति सर्वत्र भर्तृ प्रार्थनाव्यतिरेकेण, तदाह सतीति ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—रुक्मिणी प्रार्थना करने के लिए ये वचन कहने लगी यद्यपि दुष्ट है, तो भी जो कर रहा है, वह स्वार्थ के लिए कर रहा है, जो जिस लिए प्रयत्न करता है, उसका यह कार्य पूरा करना चाहिए, इसलिए उसका उद्यम है, उसका भी भाई उसके भी वध का उद्योग ? उसमें भी बध से पहले स्वयं आपने देखा है, और रुक्मिणी उसको सम्बन्धी है, इसलिए उद्यम आदि देख विह्वल हो गई है, क्रोध आने पर कभी अपने को भी मार डाले, जिससे लोक में निन्दा अपयश होगा, अपयश के कारण को स्पष्ट किया जाता है कि रुक्मिणी ने जबदंस्तो से भगवान् को बुलाकर भ्राता को मरवाया है, इस प्रकार बहुत पक्ष भय के कारण के हो सकते हैं, अतः भयों के कारण विह्वल होने से शुष्क मुखवाली हो गई है, बहुत चतुर होने से दूसरा कोई इसका उपाय नहीं है, यह निश्चय कर, ये मेरे स्वामी हैं इसलिए इनके चरणों में गिरकर कहने लगी, रुक्मिणी तो मेरा भाई है इसका वध न करो, यह प्रार्थना देह, मन और वाणी से करने लगी, चरणों में गिर कर देह से भ्राता के वध को रुकवाने लगी, विह्वलता दिखाकर मन से रुकवाने लगी, भगवान् ईश्वर हैं, वे इसके रोकने से कैसे रुकेंगे ? यदि यों कहो, तो कहते हैं कि करुण वाणी से प्रार्थना की, भगवान् दयालु हैं, करुणा के वचनों से द्रवित हो जाते हैं, फिर उसमें विशेषता यह है कि पतिव्रता के पास सर्वत्र पति को प्रार्थना करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए रुक्मिणी को "सती" विशेषण दिया है ॥३२॥

आभास—तस्या वाक्यमाह योगेश्वरेति ।

आभासार्थ—“योगेश्वराप्रमे” श्लोक से उसके वचन कहते हैं ।

श्लोक—योगेश्वराप्रमेयात्मन्देवदेव जगत्पते ।

हन्तुं नाहंसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे योगेश्वर ! अप्रमेयस्वरूप ! हे देवों के देव ! हे जगत् के पति ! हे कल्याण ! हे महाभुज ! यह मारने योग्य नहीं है क्यों कि यह मेरा भाई है ॥३३॥

सुबोधिनी—ननु मारणार्थं समागतः, कथं निवारयंत इति चेत्, तत्राह योगेश्वरेति । भगवान् योगस्य नियन्ता अनेकानेवोपायान् जानाति, किं वधेनेति भावः । अनेनैव वाक्येन भगवता वधानु-कल्पो मुण्डनं कृतम् । तच्च रुक्मिण्या मदुक्तमेव कृतमिति ज्ञात्वा, मुण्डनमनिवार्यं, वाचाप्यनुक्त्वा, अन्तरेव तापं कृतवती । तदर्थं बलभद्रस्य सान्त्व-नमित्यनवद्यम् । अनेन मारयितुं समागतः भ्राता तव मारयेच्छेत्, तथा तव सुखं भवेदित्युपा-लम्भोऽपि निवारितः । किञ्च । अप्रमेयात्म-न्निति । प्रमातुमप्ययोग्य आत्मा स्वरूप यस्य, किं

पुनः क्रियाविषयो भविष्यतीति शङ्कापि निवा-रिता । क्रिययैवानिष्टशङ्केति । किञ्च । देवाना-मपि देवस्त्वम्, देवा एवामराः, तत्र तव समागत-स्यापि का चिन्ता भवेत् । किञ्च । जगत्पत इति । तस्यापि त्वं पतिः रक्षकः, अतः शिक्षेव कर्तव्या । अत एव हन्तुं नार्हसि, सुतरामिदा-नीम् । कल्याण अद्यैव कृतविवाहः, तत्रापि मे भ्रातरम् । शालको हि विवाहदिवसे मान्य इति । पश्चादपकारं करिष्यतीति चेत्, तत्राह महाभु-जेति । महाद् भुजः क्रियाशक्तियस्येति सम्बोधनेन समाधानार्थं सामर्थ्यं स्मारितम् ॥३३॥

व्याख्यानार्थं—भगवान् मारने के लिए उद्यमशील हुए हैं क्योंकि भगवान् को मारने के लिए आया है, वैसे सम्यक् रुक्मिणी कैसे रोकती है, कि इसको मारो मत इसके उत्तर में कहा है, कि रुक्मिणी भगवान् को कहती है आप योगेश्वर हैं, इसलिए योग के नियन्ता हो, जिससे उसको दण्ड देने के अनेक उपायों को जानते हो, तो वध करने से क्या लाभ ? इस रुक्मिणी के वचनों से ही भगवान् ने मारने के बदले उसके शिर का मुण्डन किया, जिसको देख रुक्मिणी ने समझा कि मेरे कहने से ही भगवान् ने इसका वध न कर मुण्डन किया है, इस कारण से मुण्डन में रुकावट न की । वाणी से अप्रसन्नता भी प्रकट नहीं की, अन्तःकरण में दुःख करने लगी, इस मुण्डन के लिए भी बलभद्रजी ने सान्त्वना दी, यों सब सुन्दर हो गया । बलरामजी के इस प्रकार रुक्मिणी को समझाने से बलरामजी ने अपने को उपालम्भ से बचा लिया, यों न होता, तो रुक्मिणी कदाचित् अपने भाई को कृष्ण से मरा हुआ देख, बलरामजी को कहती, कि अब तो आप प्रसन्न हुए, इस प्रकार के उपालम्भ से बच गए ।

भगवान् क्रिया का विषय बनेंगे अर्थात् भगवान् ने इस प्रकार का मेरे भ्राता का मुण्डन आदि से मृत्यु किया है, ऐसी शंका मिटाने के लिए भगवान् को “अप्रमेयात्मन्” कहा है अर्थात् आपका स्वरूप कोई समझ नहीं सकता है, कि यह कार्य क्यों हुआ, तथा कैसे हुआ, इसमें कौनसा रहस्य है, क्रिया होने से ही अनिष्ट की शंका होती है जहाँ क्रिया ही नहीं वहाँ अनिष्ट कैसा ? आप देवों के भी देव हैं, देव ही अमर हैं तो उनके भी देव जो आप यहाँ पधारें हैं तो फिर चिन्ता क्यों की जाय ? विशेष में आप जगत् के रक्षक हैं, वे मारेंगे तो नहीं, किन्तु शिक्षा ही कर्तव्य है, अतः किसी को मारना आपको योग्य नहीं है फिर अब तो आप कल्याण स्वरूप है अर्थात् विवाह कर वर राजा बने हैं ऐसे आनन्द के समय में वध तो नहीं करेंगे उसमें भी विशेषता यह है, कि यह तो मेरा भाई है, आपका साला है, विवाह के दिनों में तो साले का आदर किया जाता है, यदि आप

उत्तर में कहो, कि मैं अब छोड़ दूँ तो यह पीछे अपकार करेगा, इसके उत्तर में कहती है, कि महा-भुज होने से आप में महान् सामर्थ्य है: यदि कुछ भी अपकार करे तो उसको उस समय दण्ड देने में आप समर्थ हैं ॥३३॥

आभास—एवं विज्ञापितः वधाग्निवृत्तो वधानुक्त्वं कृतवानित्याह तथा परि-
त्रासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी की प्रार्थना करने पर भगवान् ने रुक्मी को मारा नहीं, वध के बदले में, उसका मुण्डन किया, जिसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—तया परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।

कातर्यं विस्रंसितकेशमालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि डर के कारण कम्पित अंग वाली, शोक से शुष्क कण्ठ वाली तथा निरुद्ध कण्ठ वाली कायरता से गिरे हुए केश तथा माला वाली, रुक्मिणी ने भगवान् के पाद पकड़ लिए, जिससे करुणा युक्त हुए भगवान्, रुक्म के वध से निवृत्त हो गए ॥३४॥

<p>सुबोधिनी—परित्रासेन विकम्पितमङ्गं यस्याः । शोकेन च शुष्यन्मुखं रुद्धश्च कण्ठो यस्याः । कातरतया विस्रंसिताः केशाः मालाश्च यस्याः..। गुणत्रयकार्यं तस्यां पूर्णं जातमित्युक्तं</p>	<p>भवति । परित्रासः सत्त्वस्य, शोकस्तमसः, कातरता रजस इति । एवं विद्यमानानां गुणानामपगमात् केवलं सा दीनेति तादृश्या गृहीतपादः करुणावानेवं न्यवर्तत ॥३४॥</p>
---	--

व्याख्यान—भय से जिसके अंग काँप रहे हैं, शोक से जिसका मुख शुष्क हो गया है और कण्ठ रुक गया है, कायर होने से केश मालाएँ जिसके गिर रहे हैं, यों होने से तीन गुणों का कार्य उत्तममें पूर्ण हो गया जैसा कि सजोगुण का कार्य भयभीत होना, तमोगुण का कार्य शोक होना और रजोगुण का कार्य कायर होना, इस प्रकार, विद्यमान गुणों के दूर हो जाने से वह दीन ही हो गई, वैसे तो कोई अन्वाश्रय न जान कर भगवान् के चरण पकड़ लिए जिससे भगवान् दया से आर्द्र हो रुक्मी के वध से निवृत्त हो गए ॥३४॥

श्लोक—चंचलेन वद्ध्वा तममाधुकारिणं सशमश्रुकेशं प्रवपन्व्यरूपयत् ।

तावन्मर्दुः परसैन्यमुद्धतं यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥३५॥

श्लोकार्थ—दुष्ट कर्म करने वाले उसको, वस्त्र से बान्धकर मूँछ सहित मूँड मूँड के विरूप किया, यहाँ भगवान् ने यह किया, वहाँ जैसे हाथी कमलिनी का मर्दन करते हैं, वैसे वीर यादवों ने अभिमानी शत्रुओं की सेना का मर्दन कर दिया ॥३५॥

सुवोधिनी—वघानुकल्पो हि वपनं मुख्यम् । द्रविणादानं च । स्थानान्निर्वापणं तु तेनैव प्रतिज्ञातम् । अतस्तरयैव चंचलेन चोरवत्तं वद्ध्वा । स हि रुविमणीं नेतुभागत इति चोरदण्डः । तं प्रसिद्धम् । प्रसिद्धस्य तावतैव महती पीडा भवतीति । ततः असाधुकारिणं घातकं सशम-श्रुकेशं शमश्रुकेशसहितं तं प्रकर्षेण वपन्, सेवकेन प्रेरणया विकृतरूपं कृतवान् । क्वचित्केशाः शमश्रूणि च रक्षिताः, क्वचिन्मुण्डिताः, यथैव विकृतो भवति । प्रायेण एवंरूपः स सर्वदैव स्थितो यावन्मरणम् । अन्यथा भगवानेवं न कुर्यात् । यादवगवान् विरूपं करोति, तावत्तस्य परस्य शत्रोरुद्धतं सैन्यम् । न केगलमेतद्दोषेणैव सैन्यं हतम् । किन्तु सैन्यमपि दुष्टमिति तथा कृतवन्तः । अत्रत्या अपि समर्था इत्याह यदु-प्रवीरा इति । अनायासेन मारणे दृष्टान्तः नलिनीं यथेति । बहवो वीराः गदसङ्कर्षणादयः, एका चाक्षौहिणी, अतो नलिनीमित्येकवचनम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—वघ का मुख्य अनुकल्प मुण्डन है और द्रविणा दान स्थान से निकालने को तो उसने ही प्रतिज्ञा की थी, अतः उसके ही वस्त्र से चोर की भाँति उसको बान्धा, क्योंकि वह रुविमणी को लेने के लिए आया था, इसलिए चोर जैसा दण्ड दिया गया 'उमको' शब्द कहने का आशय है कि वह प्रसिद्ध अनिष्टकर्म करने वाला घातक होने से दुष्ट है, अतः प्रसिद्ध को, इतनी से ही बड़ी पीडा होती है, जिससे भगवान् ने सेवक द्वारा उसका मूँछ सहित शिर मूँडवा के विरूप रूपी वध कर दिया, विरूप शब्द का आशय है कि मुण्डन एक विचित्र प्रकार से हुआ, जैसे मूँछों का कुछ भाग काट दिया कुछ रखा वैसे ही शिर के बाल भी कहीं काटे कहीं छोड़ दिए बाड़ी के बाल भी यों ही किए, जिससे वह विरूप हो गया इसका यह विरूप मरण पर्यन्त रहा, क्योंकि भगवान् ने इसको वध के बदले यह सजा दी थी अतः इसी प्रकार वालों को समूल छेदन किया जिससे वे पुनः निकलें ही नहीं, यदि वंसा न हो, तो भगवान् इस प्रकार केवल नाम मात्र मुण्डन करावे ही नहीं, जब तक भगवान् उसको विरूप करते हैं, तब तक उस शत्रु को अभिमानी सेना को वीर यादवों में कुछ भी परिश्रम के बिना जैसे हस्ती कमलिनी को उखाड़ता है, वैसे ही नष्ट कर दिया सेना को केवल स्वमी के दोष के कारण नाश नहीं किया, किन्तु यह सेना भी दुष्ट है, इसलिए नाश किया, यादवों में गद संकर्षण आदि बहुत वीर थे और एक अक्षौहिणी भी थी, अतः "नलिनी" एक वचन दिया है ॥३५॥

आभास—एवं भगवत्कृतं रुक्मिनिग्रहणं निरूप्य भगवतः सकाशात् ज्येष्ठस्य बल-
भद्रस्य कृतं सान्त्वनाह साधैरेव सप्तदशभिः कृष्णान्तिकमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का किए हुए रुक्मी के निग्रह का निरूपण कर, भगवान् को तरफ से ज्येष्ठ बलरामजी ने जो सान्त्वना की, उसका वर्णन "कृष्णान्तिकं" से साढ़े सत्रह श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—कृष्णान्तिकमुपब्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।

तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा संकर्षणो विभुः ।

विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमन्नबोत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे बलभद्र आदि श्रोकृष्ण के समीप आए, वहाँ रुक्मी को देखा तो वह विरूप मरे हुए के समान हो गया था, तब विभु संकर्षणजी ने दया कर बन्धन में पड़े हुए को छोड़ कर कृष्ण को कहने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी—मुख्यात्र रुक्मिणी समाधेया । मध्यमो रुक्मो । प्राकृतः सहायराजानः । अतः सेनया भगवतोऽपि कनिष्ठया ते हताः, भगवता च मध्यमः, भगवज्ज्येष्ठेन च सान्त्वनमुक्तमिति युक्तमत्र प्रकरणत्रयम् । सर्व एव तद्वलं हत्वा समागताः कृष्णान्तिकमुपब्रज्य विकृतं रुक्मिणं ददृशुः । तथाभूतमिति । विशेषतो न वक्तव्यम्, सोऽपि मूर्च्छितप्रायस्तिष्ठतीति । बधानुकूलं निरूपयितुमाह हतप्रायमिति । विशेषतो रामस्तं तथाभूतं दृष्ट्वा सम्यक् कर्षणक्षयः सखि-
बपन च कर्मोन्निवारं समाश्रयतीति, तत्रापि सङ्करं एव कर्तेति, भगवतः तत् कर्तव्यं न

भवतीति, स्वयं सङ्कर्षणः हन्तुमपि विभुः समर्थः । भगवता बद्धं विमुच्य कृष्णमन्नबोत् । ननु कथमेवं भगवत्कृतमन्यथा कृतवान्, तत्राह कर्षण इति । कर्षणा हि भगवता दुःखं प्रापितेष्वेव पुरुषेषु कृपया प्रतीकारार्थं यतन्ते । ननु तथापि भगवन्तं पृष्ट्वा तथा विधेयम्, किमिति स्वयमेव मोचितवान्, तत्राह भगवानिति । बलभद्रे आविर्भूतो भगवानेव मोचितवानित्यर्थः । एतदन्ता मध्ये सङ्कर्षण कथा, विशिष्टा त्वग्रे वक्तव्या । अत एव कृष्णमन्नबोत् । अत्र कृष्णपदं 'कृष्णो द्वितियः केशवः संबभूवे'ति कृष्णपुरम्, अतो ज्येष्ठ-
त्वान्नानोचित्यम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यहाँ समाधान कर, सान्त्वना देने के जो याग्य है, उनमें मुझ रुक्मिणी है, मध्यम रुक्मी है और शेष प्राकृत राजा लाग हैं, अतः उनको भगवान् से भी कनिष्ठ सेना ने ही मारा है, भगवान् मध्यम में रहे और रुक्मी को भगवान् क बड़े भ्राता ने सान्त्वना दी, ये तीनों ही प्रकरण

युक्त ही हैं, सब यादव, उस सेना को नष्ट कर आए, कृष्ण के पास जाकर विरूप रुक्मी को देखा, विशेष न कह कर केवल 'तथाभूत' कहा अर्थात् वह मूर्च्छित जैसा वहाँ पड़ा था भगवान् ने वध के बदले में जो मुण्डन कर विरूप किया था, जिससे वह मरे हुए के समान हो गया था। राम विशेष प्रकार से उसको बैसा देख, शिखा सहित वपन का कार्य सम्यक् प्रकार से, कर्षण कार्य होने से, यह कर्म अधिकार विना हुआ है। इस कर्म का कर्ता संकर्षण ही है, भगवान् का यह कार्य नहीं है, स्वयं संकर्षण मारने में भी समर्थ है तो मुण्डन आदि कर्म करने का भी उनका अधिकार है इसलिए भगवान् से बान्धे हुए को खोल, छोड़कर कृष्ण को कहने लगे। शंका करते हैं, कि जो भगवान् ने किया है उसको अन्य प्रकार बलराम ने कैसे किया ? इसका उत्तर देते हैं कि "दयालु" हैं जो दयालु होते हैं, वे भगवान् से जिनको दुःख मिला है कृपा कर उनका भी प्रतीकार के लिए प्रयत्न करते हैं, यदि कहो तो भी भगवान् से पूछकर यों करना चाहिए था आपने स्वयं ही कैसे बन्धन से मुक्त कर दिया ? इसके उत्तर में कहा है, कि "भगवान्", मुक्त करने वाले बलराम नहीं है, किन्तु वह बलराम में विराजमान भगवान् ने ही मुक्त किया है, बीच में संकर्षण की कथा इतनी ही है, विशेष तो आगे कही जाएगी इस कारण से ही कृष्ण को कहने लगे, यहाँ "कृष्ण" पद शास्त्र में कहे हुए "कृष्णो द्वितीयः केशवः संवभूव" इस वाक्यानुसार जो कृष्ण है वह समझना चाहिए अतः बलरामजी बड़े हैं जिससे योग्यता नहीं है ॥३६॥

आभास—भगवन्तं प्रति कृतस्थाननुमोदनमाह असाधिवदमिति ।

आभासार्थ—“असाध्वि” श्लोक में बलरामजी भगवान् के किए हुए मुण्डन आदि का अनुमोदन नहीं करते हैं ।

श्लोक—असाधिवदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् ।

वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण आपने यह बुरा कार्य किया है इससे अपनी निन्दा होगी यह कार्य हम को नहीं करना चाहिए, क्योंकि दाड़ी मूँछ मुण्डवाकर सुहृदों का विरूप करना उनका वध है ॥३७॥

सुबोधिनो—यत् कृतं तदग्रे वक्तव्यम् । तदसाधिवे । मरणानन्तरमेव हि सर्वशौरं विधीयते । किञ्च । यत्कृतं तदस्मत्कृतम्, अस्मत्तः कृतम्, वयमेव हेतवः सङ्कर्षणरूपाः । न तु

वामनस्तव कार्यम्, यतो जुगुप्सितमेतत् । परमार्थतोऽप्यमर्थः । व्यवहारेऽपि यद्यप्यस्य वपनं कर्तुं युक्तम्, अयमेतदहं एव, तथाप्यस्मज्जुगुप्सितमस्माकं तु नोचितमित्यर्थाः । अधमभक्षकाया-

प्युत्तमेर्नाधमं भक्षयं दीयते, तदेवाह वपनं श्म-
श्रुकेशानामिति । श्मश्रूणां केशानां च सुहृदः
सकाशात् वंरूप्यं वध एव । अतः सुहृत्त्वात्
वधोऽनुचितः । एतदपि रुक्मिणोसान्वनार्थमेवेति
ज्ञायते । उपसहारवलीयत्त्वात् । उभयस्या-
प्रकरणित्वात् ॥३७॥

व्याख्यार्य - जो किया वह आगे कहना योग्य नहीं है, वह बुरा है मरने के पीछे ही सर्व मुण्डन करवाया जाता है. किन्तु, जो किया वह हमारा किया हुआ है हम से ही हुआ है, हम संकर्षण रूप ही इसमें कारण है न कि आप जो स्वामी हैं उनका यह कार्य है क्योंकि यह कार्य निन्दनीय है परमार्थ रूप से यही अर्थ है, हालांकि, व्यवहार के अनुसार इसका मुंडन कराना योग्य है यह इसके ही योग्य है, तो भी यह अपने करने योग्य नहीं है, यदि कोई मनुष्य मांसादि अधम भोजन करने वाला हो, उसको भी उत्तम पुरुष वंसा अयोग्य भोजन नहीं देता है क्योंकि वंसा भोजन देने से, उत्तम पुरुष की ही निन्दा होती है सन्वन्धियों की तरफ से दाढी मूँछ आदि केशों का मुण्डन कराकर विरूप करना सम्बन्ध वाले का वध ही है, अतः सम्बन्धी होने से इस प्रकार भी वध करना उचित नहीं है, ये शब्द जो बलरामजी ने कहे वे विशेष में रुक्मिणी की सान्त्वना कराने के लिए ही कहे, यों समझा जाता है, दोनों का प्रकरण नहीं होने से भी उपसहार बलवान होता है ॥३७॥

आभास—अतस्तामेव साक्षात् सान्त्वयति मेवास्मानिति ।

आभासार्थ—इस कारण से, उसको ही "मेवास्मात्" श्लोक से साक्षात् सान्त्वना देते हैं ।

श्लोक—मेवास्मान्साध्यसूयेथा भ्रातृर्वरूप्यचिन्तया ।

सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक्पुमान् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे साध्वि ! तेरा भाई विरूप हुआ है, इस चिन्ता से हमें दोष मत देना, क्योंकि प्रत्येक पुरुष अपने किए का फल सुख वा दुःख भोगता है दूसरा कोई सुख दुःख देने वाला नहीं है ॥३८॥

सुधोधिनी—हे साध्वि । पतिव्रताया भर्तृ-
कृतं मन्तव्यमिति धर्मः । अतएव अस्मान्सर्वानेव
भासूयेथाः, दोषारोपेण मा विचारय । यद्यपि
मावकचित्तमपि समीचीनम्, भाव्ये च न दोषः
कोऽपि, तथापि भ्रातृर्वरूप्यचिन्तया तद्धर्मारोपात्
कदाचिदसूया भवेत्, तां निवारयति । ननु
लौकिकदृष्ट्या कर्तव्यैवासूया, कथं जरासन्धो
मुक्तः, केवलः कथमयं मुण्डित इति चेत्, तत्राह
सुखदुःखद इति । स्वकर्मवशादेव सुखदुःखानु-
भवः । सङ्कर्षणो हि ज्ञानप्रधानः । अन्यथा

सर्वान् (न) मारयेत् । नायं हन्ति न हयत ।
इति तत्र सिद्धान्तः । तथा अत्रापि कर्मणैव सर्व-
मिति तदनुसारेणात्रापि बोधनम् । अतोऽयं साधा-
रण इति, सोऽपि शृणोतीति कर्ममार्ग एव
बोधितः । अत एव स्वयं स्वस्य सुखदुःखदः,

अन्यो न भवति । तत्र वेनुमाह स्वकृतभुगिति ।
कर्मणि स्वस्य स्वातन्त्र्यात् तत् फलमपि कर्तृया-
म्येव भवति । अन्यथा कृतहानाकृताभ्यागम-
प्रसङ्गः ॥३८॥

व्याख्यायं—पति के लिए हुए कर्म को मान देना, पतिव्रता स्त्री का धर्म है, इस कारण से तू हम सब पर क्रोध मत कर, हम पर दोष के आरोपण का विचार भी न कर। हाँनाकि, भावना करने वाला चित्त भी श्रेष्ठ है, भावना करने में कोई भी दोष नहीं है, तो भी भाई के विरुद्ध होने को चिन्ता से, उस धर्म के आरोप करने पर कदाचित् क्रोध आ जाय ? तो उसका निवारण करते हैं, आप कहते हो, वह उचित है, तो भी लौकिक दृष्टि से क्रोध तो करना चाहिए, जरासन्ध को तो मुक्त कर दिया और इसका मुण्डन कैसे किया ? ये दो विपरीत कार्य कैसे हुए ? इस शंका के समाधान के लिए कहा, कि अपने धर्म के आधीन होने से, सुख और दुःख का अनुभव होता है, संकर्षण में ज्ञान मुख्य है, यदि ज्ञान प्रधान न होता तो सब को मार डालते “नायं हन्ति न हन्यते” वहाँ यह सिद्धान्त पक्ष लागू है । वैसे यहाँ सब कर्म से हुआ है, कर्म के सिद्धान्त के अनुसार ही ज्ञान कराया है अतः यह साधारण पक्ष है, वह भी सुन रहा है, इसलिए यहाँ कर्म मार्ग ही समझाया है, अतएव स्वयं ही अपने आपको सुखदुःख देने वाला है, दूसरा देने वाला नहीं है, नहीं तो कृत की हानि न किए हुए के आने का, प्रसंग उपस्थित हो जावे ॥३८॥

आभास—एवं प्रतिबोधिते केवलमस्मदपराधमेव स्थापयति बलभद्रो, न स्वापरा-
धमिति अतुल्यता प्रतिभाता, अतः पुनस्तां बोधयितुं भगवन्तमाह बन्धुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार समझाने से बन्धिणो समझेगी कि बलभद्रजी केवल हमारे पर ही अपराध डालते हैं, अपना अपराध प्रकट नहीं करते हैं, इसलिए भेद हुआ, अतः पुनः अन्य प्रकार से उसको बोध कराने के लिए “बन्धुर्वंधाहं” श्लोक से भगवान् को कहने लगे ।

श्लोक—बन्धुर्गंधाहंबोधोऽपि न बन्धोर्गंधमहंति ।

त्याज्यः स्वैनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण यदि सम्बन्धो मारने के योग्य अयत्न करे तो भी, सम्बन्धी को चाहिए कि अपने नातेदार को न मारे, वह तो अपने ही अपराध से मरा हुआ है फिर उस मरे हुए को मारने से क्या ? ॥३९॥

मुबोधिनी वधमर्हति येन दोषेण तादृशो दोषो यस्य स वदाहं दोषः पुरुषः । तादृशः वन्धोः साक्षाद्बध नाहंति । अन्यथा वन्धुत्वं न स्यात् । अत्रुरेव वधकर्ता । अयोग्यं कुर्वन् अयुक्त एव भवति । ननु यथा स्वधर्मः, स न मारणीय इति, तथा तस्यापि धर्मः, अतिक्रमो न कर्तव्य इति । स चेत् स्वधर्मं न कुर्यात्, कथमन्यः कुर्यादिति चेत्, तत्राह त्याज्य इति । वस्तुतस्तु तेन स्वधर्म-स्त्यक्त इति न स्वेनापि स्वधर्मस्त्यक्तव्यः, तथा सत्युभयोरेव तुल्यता स्यात् । अथ तत्कर्म सार्थकं कर्तव्यमिति स्वोद्यमः, तत्राप्युच्यते । स्वेनैव दोषेण हतः । पुनः किमर्थं हन्यत इति । न हि

तत्कर्मणा प्रेरितत्वं स्वस्य युक्तम् । तत्कर्म स्वय-मेव अन्यं प्रेरयेत् । अतः कर्मणैव हतः, तदङ्गत्वे स्वस्य हानिरिति । भिन्नतया स्वयं चेन्मारयेत्, तदा पिष्टपेषणमेव भवेदिति, किं हन्यत इति प्रश्नार्थं आक्षेपार्थो वा । पिष्ट्वापि वेदे प्रेष-उक्तः । अणुनि कुस्तादिति, तस्य प्रयोजनं मेध्य-त्वायेति श्रुतावेवोक्तम् । तथा अयमपि पवित्रो भवतु, मोक्षं वा प्राप्नोत्विति प्रश्नार्थो भवति । एवमेवेति चेत्, तत्राह किं हन्यत इति । न हन्तव्य एव, किन्तु त्याज्यः । दुष्टं हि न संस्क्रियते, अयं तु दुष्ट एवेति न संस्कारमर्हतीति भावः ॥३६॥

व्याख्या—मारने का अपराध करने वाला भी सम्बन्धी साक्षात् मारने के योग्य नहीं है, यदि मारा जायगा तो वन्धुपन का सम्बन्ध न रहेगा, वध करने वाला शत्रु ही होता है, जो अयोग्य कर्म करता है, वह अयोग्य हो होता है, यदि कहो कि जैसे अपना धर्म है, कि उसको न मारना चाहिए वैसे उसका भी धर्म है, अतिक्रम नहीं करना चाहिए यों यदि वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है तो दूसरा अपने धर्म का पालन कैसे करे ? यदि यों कहो तो, इसका उत्तर है, कि वह मारने योग्य नहीं है, किन्तु उसको छोड़ देना चाहिए क्योंकि वास्तविकता का विचार किया जाय तो उसने अपने धर्म का त्याग किया तो क्या ? हम भी अपना धर्म छोड़ देवे, यों करने से दोनों समान हो जावेंगे वह कर्म सार्थक करना चाहिए इसलिए अपना उद्यम है, इस पर मैं कहता हूँ कि, वह अपने ही अपराध से मरा हुआ है उसको फिर मारने से क्या ? वा किस लिए मारा जाय ? उसके कर्म से प्रेरित हो, अपने को उस प्रकार करना अपने को योग्य नहीं है, उसका कर्म स्वयं दूसरे को प्रेरणा करेगा, अतः कर्म ने ही उसको मार दिया है, यदि हम उसके अंग बने, तो अपनी ही हानि है, भिन्नपणे से यदि स्वयं मारे, तब पिष्ट पेषण ही होगा, इसलिए क्यों मारा जावे ? इस प्रकार कहना प्रश्न के वा आक्षेप के लिए है, पीस कर भा उसको वेद में "पेष" कहा है, अणु किए जावे, यों करने का प्रयोजन है, कि वह यज्ञ के लिए योग्य पवित्र हो, इस प्रकार श्रुति में कहा गया है, वैसे यह भी पवित्र हो, वा मोक्ष को प्राप्त होवे इस प्रकार प्रश्नार्थ होता है, यदि यों ही है, तो भी क्यों मारा जाता है ? अर्थात् इसको नहीं मारना चाहिए, किन्तु छोड़ देना चाहिए, क्योंकि

जो दुष्ट है, वह संस्कार करने योग्य नहीं है, संस्कार करने से भी वह पवित्र वा श्रेष्ठ हो कर सुघरेगा नहीं ॥३६॥

आभास—एगं शास्त्रार्थतः स न वड्यो भवतीति निरूप्य, लोकन्यायेनापि न वड्यत इति निरूपयति क्षत्रियाणामयं धर्म इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यों शास्त्र के अर्थ अनुसार वह मारने योग्य नहीं है यह निरूपण कर अब लोक न्याय से भी वह मारा नहीं जा सकता है, यह “क्षत्रियाणामयं” दो श्लोकों में निरूपण करते हैं ।

श्लोक—क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिमितः ।

घ्रातापि घ्रातरं हन्याद्येन घोरं तमस्ततः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भाई भी भाई को मारे यह क्षत्रियो का घोर धर्म प्रजापति ने बनाया है जिससे घोर अज्ञानान्धकार हो होता है ॥४०॥

सुतोषिनी—ननु यो मारयितुमायाति, स मार्यत इति, ‘जिघांसन्तं जिघांसीया’ इति लाल वेदाभ्यां हननं तस्य युक्तम्, तत्कथं निबिध्यतं इति चेत्, तत्रोच्यते, किं हत इति हन्यते, अयुक्तं करोतीति वा । तत्र नाद्यः । अभावात् । प्रकृते असम्भवाच्च । अयुक्तता तु नास्तीत्याह । क्षत्रियाणामयं घोररामको धर्मः प्रजापतिनेन विनिमितः । त्रिविधा हि धर्माः, शान्तो घोरो विभूड-श्चेति । तत्र शान्तो ब्राह्मणेषु स्यापितः । घोरः

क्षत्रियेषु । विभूडो वैश्यशूद्रयोः । अतः अयं परिदृश्यमानः तोक्ष्णशास्त्राणि गृह्णत्वा स्वप्रवृत्ति प्रदर्शयन्निवाह । तत्र न सम्बन्धापेक्षेत्याह घ्रातापि घ्रातरं हन्यादिति । नन्वेवं सत्ययं धर्म एव चेत्, तर्हि कथं घोरः स्यात्, तत्राह येन घोरं तम इति । तत्रो घारमेव तमो भवति । अज्ञानमत्र तमः, तदपि भवानकम् । एवं कर्मणा देत्यत्व भवतीत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ—जो मारने के लिए आता है वह मारा जाता है, जैसा कि कहा है “जिघांसन्तं जिघांसीयात्” इसलिए लोक तथा वेद के अनुसार उसको मारना ही योग्य है, तब आप निषेध कैसे करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं, कि क्या (त्रिगुणे) नाश किया वह मारा जावे ? अथवा अनुचित करता है, इसलिए मारा जावे, इनमें पहना तो है ही नहीं, क्योंकि मारने का अभाव ही है उसने किसी को अब तक मारा नहीं और चालू प्रसंग में मारे वह असम्भव है, मारने में अयोग्यता तो नहीं है, क्योंकि क्षत्रियों का यह घोर धर्म प्रजापति ने बनाया है ।

धर्म तीन प्रकार के हैं १—शान्त, २—घोर और ३—विमूढ, उनमें से शान्त धर्म ब्राह्मणों में स्थापित किया है, घोर धर्म क्षत्रियों में, विमूढ धर्म वैश्य और शूद्रों में स्थापित किया है, अतः यह प्रकट देखने में आने वाला तीक्ष्ण शस्त्र ग्रहण कर अपना प्रवृत्ति दिखा रहा है, वहाँ सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, ऐसी दशा में “भ्राताऽपि भ्रातरं हन्यात्” भाई भी भाई का वध करे, यदि इस प्रकार किया हुआ कर्म भी यदि धर्म हो, तो उसको “घोर” कैसे कहा जाता है, जिस कर्म से घोर अज्ञान अन्धकार हो वह भी भयानक होवे तो उस कर्म से दैत्यपन होता है, अर्थात् जो ऐसा घोर कर्म करता है वह दैत्य बन जाता है ॥४०॥

आशास—ननु सत्यं यदि युद्धमेव कुर्यात्, तदा अशस्त्रं विरथं कृत्वा तं शत्रुस्त्यजेत्, अयं त्वसभ्यं बहु वदतीति मुखरत्वान्मारणीय एवेति चेत्, तत्राह राज्यस्येति । तेषाम-सभ्यवचनमपि प्रजापतिविनिमित्तमेव । तत्र साधारण्येन षट् हेतून् निर्दिशति । राज्यं ।

आभासार्थ—आपका यह कहना सत्य है कि यदि युद्ध भी करे तो उसको शस्त्र रहित और रथ विहिन कर छोड़ देना चाहिए अर्थात् मारना नहीं चाहिए, किन्तु यह तो बहुत असभ्य वचन कहता है इसलिये इस वक्रवाद अप्रिय कहने वाले को तो मारना ही चाहिए, इस प्रकार कृष्ण के विचार जान बलरामजी “राज्यस्य” श्लोक में इसका निराकरण करते हैं । उनके इस प्रकार के असभ्य वचन भी प्रजापति के हो रहे हुए हैं, उसमें साधारणता से छः हेतुओं को बताकर समझाते हैं ।

श्लोक — राजज्य भूमेऽवित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः ।

मःनिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥४१॥

श्लोकार्थ—राज्य, भूमि, धन, स्त्री, मान अथवा अन्य को हेतु बनाकर लक्ष्मी के मद से अन्ये बने हुए अभिमानी दूसरों का अपमान करते हैं किन्तु उसका वध अथवा वध के समान मुण्डन आदि नहीं कराते हो अतः तुममें इसका (रुचिम का) मुण्डन किया वह उचित नहीं किया है यों बलरामजी ने कृष्ण को उपालम्भ्य दिया ॥४१॥

सुवोधिनी—चेत्कस्यचित्केनचिद्घृतं तदा स क्षत्रियः । अन्यथायं न मारयिष्यतीति । राज्ये वं गते केवलं जीवनपयुक्तमिति मरणार्थं शत्रून् क्षिपन्ति । श्रीमदान्धा अपि क्षिपन्ति । पूर्वं श्रिया

जातो यो मदः तेन अन्धाः विवेकरहिताः, अतः क्षेपो युक्त एव । एवं भूमेः राज्यकदेशस्य वा । वित्तस्य धनस्य । स्त्रियोयं मानस्य वार्यं तेजसो वार्यं । एवं षण्णामर्थे क्षिपन्ति । तत्रापि ये

मानिनः । अनुक्तसर्वहेतुसमुच्चयार्थमह अन्यस्य | अपि युक्त एवेति न ह्यननुचितमिति भावः १॥
वा हेतोरिति । युक्तश्चायमर्थः । अतोऽस्य क्षेपो-

व्याख्यार्थ—किसी ने किसी का राज्य ले लिया तो वह क्षत्रिय है, नहीं तो यह न मरवाएगा, राज्य जाने पर जो जीवन है वह अयोग्य है अतः मरने के लिए शत्रुओं को दूर फेंक देते हैं, लक्ष्मी के मद से जो अन्धे बने हैं वे भी फेंक देते हैं अर्थात् वे उनको पूछते ही नहीं हैं, कारण कि लक्ष्मी से उत्पन्न मद से अन्धे यानि विवेक हीन हो गए हैं अतः वे फेंके, तो उनकी दृष्टि में यह कार्य योग्य ही है इस प्रकार, राज्य के एक भाग में भूमि, धन, स्त्री और मान तथा तेज के लिए भी फेंक देते हैं, अर्थात् उनसे सर्व प्रकार का सम्बन्ध तोड़ देते हैं, इस प्रकार इन छ के अथवा कोई बंसे दूसरे हेतु के कारण जो सम्मान वाले हैं, वे यों करते हैं वह योग्य ही है अतः इनसे व्यवहारिक सम्बन्ध तोड़ देना ही योग्य है न कि मारना उचित है, कहने का यह भाव है ॥४१॥

आभास-ननु न ह्यत एव मयाप्ययम्, किमित्युपालम्भः क्रियत इति चेत्, तत्राह तवेयं विषमा बुद्धिरिति ।

आभासार्थ—मैंने भी इसको मारा नहीं है, फिर आप उपालम्भ क्यों दे रहे हो ? यदि यों कहो, तो इसका उत्तर है “तवेयं विषमा बुद्धिः” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् ।

यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृद्रां भद्रमक्षयम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—दुष्ट हृदय वालों की सर्व भूतों में ज्यों विषम बुद्धि होती है त्यों तुम्हारी यह बुद्धि विषम है, जो सुहृदों के अक्षय मुण्डन को वधानुकल्प नहीं समझ केवल निरूपण ही मानते हो ॥४२॥

सुबोधिनी—अयं न ह्यत इति वा बुद्धिः, सा तव विषमा, न समा । यदि नापकृतः स्यात्, तदा समा स्यात् । यदि वा वधं कुर्याः, तथापि लोकन्यायेन समा स्यात् । यत्तु सुहृदां भद्रमभद्रं मन्यसे, तत्राप्यक्षयं तदभद्रं न दिनमात्रेणाप-

गच्छति, किन्तु यागज्जीवं तिष्ठति । नन्वस्त्येव लोके विषमा बुद्धिः, को दोष इति चेत्, तत्राह । सर्वभूतेषु दुर्हृदामेव विषमा बुद्धिर्भवति, न तु तव, न वा सुहृदाम् । येषां हि चित्ते कापत्यम्, तेषामेते प्रकाराः, ननु शुद्धचित्तानामित्यर्थः ।

सर्वभूतेषु वा मध्ये दुहं दामभद्रं मन्यस इति । नम, तत्राप्यक्षयं त्वं मन्यस इति तव विषमा
 असुरद्विडिति वाक्यात् । दुहं दां वा सर्वभूतेषु बुद्धिः । अथवा । दुहं दामभद्रं सुहृदां भद्रं सदा
 लोमादिष्ववयवेयु अभद्रं मन्यस इति । भद्रं क्षीरं मन्यस इति । एतत्तव ब्रह्मणः अयुक्तम्, विषमा
 वा विपरीतलक्षणया अभद्रमेव । भूतानां मध्ये द्विबुद्धिरित्यर्थः ॥४२॥
 दुहं दां भद्रम्, सुहृदामभद्रम्, एतादृशमपि मुण्ड-

व्याख्यार्थ—यह मारा नहीं गया है ऐसी जो तुम्हारी बुद्धि है वह असमान है, जो अपकार
 पने न कि या होता, अर्थात् मुण्डन न किया होता. तो समान होती यदि वध भी कर दिया होता,
 तो भी लोक न्याय से (बुद्धि समान कही जाती जो कि तुम, सुहृदों के मुण्डन को केवल विरूप होना
 ही मानते हो, किन्तु वह मुण्डन भी वैसा नहीं है कि वे वाल फिर निकल जाएंगे जिससे विरूपता
 नष्ट हो जावेगी, किन्तु वह जीवन पर्यन्त रहने वाला और सदा अशोभा-कर है जिससे यह वध ही
 है, यदि तुम कहो कि लोक में तो बुद्धि विषम करनी ही पड़ती है इसमें कौनसा दोष है ? इसके उत्तर
 में बलरामजी कहते हैं कि, सर्वभूतों में दुष्ट हृदय वालों की ही विषम बुद्धि होती है, न तुम्हारी होनी
 चाहिए और न शुद्ध हृदय वालों की ही, जिनके चित्त में कष्ट रहता है उनके ये ढंग हैं, न कि, शुद्ध
 चित्त वालों के ? कहने का आशय यह ही है । तुम असुरों के शत्रु हो इस वचनानुसार सर्व प्राणियों
 में जो दुष्ट चित्त वाले हैं, उनका तो मुण्डन न होकर वध होना ही योग्य है, यो मानते हो, अथवा
 दुष्टों के केश आदि अवयवों को ही वध मानते हो, भूतों में जो दुष्ट हैं, उनका तो मुण्डन और जो
 सुहृद हैं उनका मुण्डन भी नहीं । किन्तु तुमने तो ऐसा मुण्डन किया है वह तो अक्षय, (जीवन
 पर्यन्त) रहने वाला है, इसलिए तुम्हारी बुद्धि असमान है अथवा दुष्टों का वध, शुद्ध हृदय वालों का
 सदा मुण्डन मानते हो, यों करना भी आप ब्रह्म को योग्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार की बुद्धि विषम
 कही जाती है ॥४२॥

आभास— एवं चतुर्भिः तत्सन्तोषार्थं भगवदुपालम्भनमुक्त्वा, तावताप्यपरितुष्य-
 माणां ज्ञानेन बोधयति मात्ममोह इति सप्तभिः । भगवान् सधर्मोऽस्या बोधं कर्तुं शक्त
 इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार चार श्लोकों से रुक्मिणी के सन्तोष के लिए भगवान् को उलाहना
 दिया, उससे भी उसकी प्रमन्नता न हुई अतः ज्ञानोपदेश से “आत्ममोह” श्लोक से सात श्लोकों में
 समजाते हैं, धर्म सहित भगवान् इसको ज्ञान कराने में सभ्य है ।

कारिका—स्वरूपाज्ञानानात्वे देहादीनां च शत्रुता ।

दोषत्रयं निरूप्यादौ आत्मधर्मनिरूपणम् ॥१॥

स्वप्रकाशोऽयमात्मा हि असङ्गश्च निरूप्यते ।
जन्मादिदोषास्त्वन्यस्य अतस्तेनैव दुष्यति ॥२॥
असंसर्गाग्रहो भ्रान्तः दृष्टन्तेर्विनरूप्यते ।
ततोपसंहृतिषु का ज्ञानेनाज्ञाननुत्तये ॥३॥

कारिकार्थ—अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान जब नहीं रहता है, तब नानात्वदृष्टि से देहादि की शक्तुता होती है, जिससे तीन दोष उत्पन्न होते हैं उनका आदि मे निरूपण कर पश्चात् आत्मा के धर्म का निरूपण करते हैं ।१।

यह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है और असंग है यों निरूपण किया जाता है, जन्म आदि दोष आत्मा के नहीं हैं, किन्तु दूसरे के (देह के) हैं, अतः उन से आत्मा दूषित नहीं होती है ।२।

असंसर्ग का आग्रह दृष्टान्तों से भ्रान्त निरूपण किया है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति के लिए उपसंहार योग्य है ।३।

सुबोधिनी—‘तरति शोकमात्मवित् श्रुतेः शोकतरणं ज्ञानेनैव भवतीति ज्ञानमुपदिशति । अत्र ज्ञानं देहादव्यतिरिक्तात्मज्ञानम्, तावतैव देहा-
व्यासे जातो मोहः अगच्छति । ततस्तस्मिन्नाकर्णार्थं तत्सामग्रीं प्रतिपादयति आत्ममोह इति ।

व्याख्यार्थ—“तरति शोकमात्मवित्” इस श्रुति के अनुसार ज्ञान से ही शोक को तरता है, इसलिए ज्ञान का उद्देश करते हैं यहाँ ज्ञान का तात्पर्य है देह से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान, ऐसे ज्ञान से ही देह आदि अध्यास से उत्पन्न मोह नाश होता है इस कारण से उस मोह के निराकरण के लिए उतको सामग्री का “आत्ममोह”, श्लोक में प्रतिपाद करते हैं ।

श्लोक—आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया ।

सुहृद्दहं दुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—मनुष्यों को यह जो देहादि में मोह होता है, वह देव की माया से बनता है, देह में जिनकी आत्म बुद्धि हो जाती है उनकी सुहृद् दुहृद् और उदासीन इस प्रकार को भेद बुद्धि होती है ॥४३॥

सुबोधिनी—आत्मनोऽयं मोहः। अज्ञानानन्तरं दोषे आविर्भूते या मूर्च्छां स मोहं इति व्यवहियते। तथात्रापि आत्मनः अज्ञाने शरीराहंभावे च प्रादुर्भूते सुहृद्दुहृदित्यादिवुद्धिर्वोधमपि न विषयीकरोतीति मोहो भवति। स ज्ञ. पश्चादिषु तथा नास्तीति नृणामित्युक्तम्। देवादीनां तथात्वेऽपि व्यवहाराभावान्नोक्तम्। एष इति प्रदर्शनम्। देवस्य भगवतो माययेति मोहकारणं माया निरूपिता। अन्यथा प्रत्यक्षादिषु श्रुत्यादिषु च प्रमाणेषु विद्यमानेषु प्रत्यहमेतस्य वृद्धिर्न स्यात्। देवानां माया नृणां दुस्तरा भवतीति, यया नृणां माया पशूनाम्। अतो देवपदम्। सुतरामेव

पुरुषोत्तममाया सर्वेषामेव दुस्तरा। मायायास्त्रिगुणत्वात् मोहेऽपि त्रिगुणतामाह सुहृद्दुहृदुदासीन इति। उदासीनः सात्त्विकः सुहृद्वाजसः। मायया यदा मोहः, तदा सर्वत्र चेन्निर्निमित्तं व्यर्थमेव ज्ञान स्यादिति निर्मित्त एवैतदित्याह इति देहात्म-मानिनामिति। अमुना प्रकारेण देहमेवात्मानं मन्यन्ते, यदा मायया अन्येन वा देहात्मबुद्धिर्दृढा भवति, तदैते दोषाः सम्भवन्ति। ततस्तेषामुप-कारापकाराभ्यां इदानीमनुभूयमानो मोहः प्रादु-र्भवतीति देहात्मभावो मुख्यतया निवार्य इत्यर्थः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—आत्मा का यह मोह है, अज्ञान के बाद जब दोष उत्पन्न होता है, तब जो अज्ञानता होती है वह मोह नाम से व्यवहार में अर्थात् कहने में आती है, जैसे यहाँ भी आत्म स्वरूप के अज्ञान होने पर, जो शरीर में अहंभाव उत्पन्न होता है, उससे यह मित्र है अच्छा है, यह शत्रु है दुष्ट है, और यह उदासीन है, ऐसी भेद बुद्धि हो जाती है, वह बुद्धि ज्ञान को अपना विषय नहीं कर सकती है अर्थात् भेद मिटा नहीं सकती है इसलिए मोह होता है, वह पशु आदि में वैसे नहीं होता है, अतः मनुष्यों को होता है, इसलिए "नृणां" पद दिया है देवादिकों में वैसे होने पर भी, देव नहीं कहा जिसका कारण यह है, कि वे व्यवहार में यहाँ नहीं आते हैं, "एष" पद देकर सामने प्रत्यक्ष है, यह दिखाया है, मोह क्यों होता है, जिसका कारण बताते हैं, कि यह देव की ही माया है, जो मनुष्यों में मोह उत्पन्न करती है, यदि यह मोह, माया उत्पन्न करने वाली न होती तो श्रुति-आदि प्रत्यक्ष इतने-प्रमाण शास्त्रों, के विद्यमान होते हुए, इस मोह की वृद्धि न होनी चाहिए, किन्तु वृद्धि होती ही रहती है, इससे यह माया ही मूल कारण है, एवं यह देवमाया मनुष्य पार नहीं कर सकता है क्योंकि दुस्तर है, जैसे मनुष्यों की माया को पशु पार नहीं कर सकते हैं इस कारण से 'देव' पद दिया है, सुतराम, पुरुषोत्तम की माया तो देवों को भी दुस्तर है, माया तीन गुणों वाली है इसलिए मोह भी तीन गुणों वाला हुआ है, जैसे कि सुहृद्, दुहृद् और उदासीन, उदासीन सात्त्विक है, सुहृद् राजस है,

देहादिवैलक्षण्यात् देवतिर्घङ् भनुष्यादिभावमाप-
द्यत इति न कोऽपि दोषः । सर्वेषामपि देहिना-
मिति । यतः सर्वेऽपि देहिनः, 'दिह उपचय' इति
उपचयादिमन्तः । अतो वृद्धिहासावात्मनः परि-
च्छेदेनोपपद्येत इति व्यापकत्वे अङ्गीक्रियमाणे
एकेनैव चरितार्थंतेति नानात्वं व्यर्थम् । 'नाना-
त्मानो व्यवस्थात' इति स्मृतिस्तु धर्ममर्यादाय^१
नानात्मत्वं स्वीकर्तव्यमिति दोषगुणव्यवस्थया इव
व्यवस्थानिरूपिका । यथा पञ्चमहाभूतानि । एक-
श्चात्मा सर्वसङ्घातेषु तुल्यः, तथापि कश्चि-
च्चाण्डालः, कश्चिद्ब्राह्मण इति धर्मव्यवहारार्थमेव
विभागः कल्पितः । सामग्र्यामधर्मो धर्मो वा
प्रविष्टः तथा सम्पादयतीत्यपि पक्षे धर्माधर्मयोरेव
नियामकं वाक्यादतिरिक्तं विषये नास्तीति व्यव-

स्थार्थमेव तत्कल्पना वक्तुं युक्ता । उत्क्रमादयस्तु
न्यायमतेऽपि न सन्ति । भगवन्मते तु भगवत इव
तस्यापि गमनागमने संभविष्यतः । तत्रापिश्वर-
पदप्रयोगात् । 'शरीरं यदवान्मोति यच्चाप्युक्रामती-
श्वर' इति वाक्यादन्नह्यवादेऽप्ययमेव सिद्धान्तः ।
तस्मात्सर्वत्रैक एवात्मेति युक्तम् । तर्हि कथं भेद-
प्रतीतिरिति चेत् तत्राह नानेव गृह्यते मूर्धेरिति ।
अत्यन्ताकुशलैर्नाना गृह्यते । तैरपि क्वचिन्नानात्वं
नानुभूयते, पुत्रादिषु अवयवेषु च वैलक्षण्ये भास-
मानेऽपि । अन्यथैको देह इति न स्यात् । अत
उक्तमिवेति । तत्र स्पष्टप्रतीत्यर्थं साकारनिरा-
कारौ दृष्टान्तयति । यथा ज्योतिरिति साकारे ।
यथा नभ इति निराकारे । ताणः पाणः । घटा-
काशो मठाकाश इति ॥४४॥

व्याख्यार्थः--सब देहों में आत्मा^१ एक ही है, क्योंकि वह 'पर' है अर्थात् नियन्ता है, यदि
वैसे न हो देह से परिच्छिन्न हो, तो देह के आधीन बनजावे, देह में रहते हुए भी आत्मा स्वतन्त्र है,
यह अनुभव किया जाता है, देहान्तर में स्वतन्त्रता का अभाव तो, वहाँ अनुसन्धान के अभाव से
दीखता है, इस प्रकार जब अखण्ड अर्द्ध का भान होता है, तब सर्वत्र आत्मबुद्धि होती है अथवा
आत्म शब्द से भगवान् कहा जाता है, जीव उसके आभास ही हैं, 'पर' एक ही है, भगवान् के विद्य-
मान होते हुए इसका निरूपण करना युक्त युक्त नहीं है, इसलिए, कहते नहीं, यह अर्थ योग्य है, कि
सर्व देहों में जो आत्मा भगवान् है वह एक ही है क्योंकि वह आत्मा यानि व्यापक है, यदि सर्वत्र
एक न होवे, तो आत्मापन नष्ट हो जावे । यदि आत्मा भगवान् को अणु-परिमाण माना जावे, तो
देह में भी व्याप्त होकर न रह सके, प्रकाश को तरह गुणों की व्याप्ति होने पर, चैतन्य लक्षण वाले
गुण का सिकुड़ना और बढ़ना अंगीकार करना चाहिए, उसमें भी नियामक देह ही है, इसलिए धर्मों
ही नियामक है, धर्म का नियामकपन स्वीकार करने से क्या फल होगा ? जैसे यह जगत् ब्रह्माण्ड
पद से एक ही समझा जाता है, यदि एक न समझा जाए, तो उसका एकपने से निर्देश न होवे, वैसे

१—जीव व्यापक है यह स्मार्तवाद है उसको लेकर यहाँ कहा है, उपनिषद्-वाद के अनुसार जीव
अणुवाद है वह यहाँ नहीं कहा है कारण कि स्वामी असुर है वह उपनिषद्-वाद सुनने के योग्य नहीं है,

आत्मा का उपदेश भी समझना चाहिए। जैसे सुवर्ण अथवा मृत्तिका अनेक प्रकार की आकृति में होते हुए भी, एक ही दीखती है, इसी प्रकार आत्मा भी देह आदि को विलक्षणता से, देव, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भाव को ग्रहण करते हैं, यों होते हुए भी कोई आत्मा में दोष नहीं, सर्व देह धारी उपचय (वृद्धि, ह्रास) आदि वाले हैं, अतः वृद्धि वा ह्रास आत्मा में परिच्छेद से बनता है इसलिए आत्मा का व्यापकत्व मानने से एक से ही चरितार्थता हो जाती है जिससे नानापन मानना व्यर्थ है, "नानात्मानोव्यवस्थातः" यह स्मृतिवाक्य धर्म मर्यादा के लिए है, उसके लिए ही नानात्व स्वीकार करना चाहिए, जिससे लोक में गुण और दोष को व्यवस्था हो सके अतः इस तरह यह व्यवस्था का निरूपण करने वाली है, जैसे पंच महाभूत और एक आत्मा सब देहों में समान है, यों होते हुए भी, कोई चाण्डाल है, और कोई ब्राह्मण है, ये विभाग कर्म, धर्म के व्यवहार चलाने के लिए ही बनाए हैं, सामग्री अर्थात् वस्तुओं में अधर्म वा धर्म का प्रवेश हुआ है, इस प्रकार शास्त्र सम्पादन करता है, अतः अशुद्ध वा शुद्ध एवं इससे अपवित्रता पवित्र होगी, वा पाप पुण्य होगा इस विषय में व्यवस्था के लिए शास्त्र वाक्य के प्रमाण सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिए यह समस्त कल्पना व्यवस्था के लिए है, वह योग्य ही है उपक्रम आदि तो न्यायामत में भी नहीं है। भगवन्मत में तो भगवान् की तरह उसके भी गमन आगमन होंगे, क्योंकि वहाँ भी इसलिए ईश्वरपद का प्रयोग किया है, जैसे कि "शरीरं यदवान्तीति यश्चायुत्क्रामतीश्वरः" इस वाक्य से ब्रह्मवाद में भी यह ही सिद्धान्त है, इससे सर्वत्र एक ही आत्मा है यह मानना ही उचित है, यदि कही कि जव सर्वत्र एक ही परमात्मा है तो फिर भेद की प्रतीति क्यों होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "नानेवगृह्यते मूढैः" जो निपट बे-समझ हैं वे एक को नाना को तरह देखते वा समझते हैं मूढ भी कहीं नानापन का (तरह २) का अनुभव नहीं करते हैं जैसे पुत्र आदि में और अवयवों में दीर्घ ह्रस्वादि विलक्षणता होते हुए भी उनको नाना नहीं समझते हैं यदि समझें तो देह एक नहीं कही जावे, अतः गोपा यों कहा है, वहाँ स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए साकार और निराकार के दो दृष्टान्त देते हैं—जैसे चन्द्र साकार है जिसकी जल में अनेक प्रतीति मात्र होती है तथा आकाश निराकार है जिसकी घट तथा मठ में भेद प्रतीति होती है जिससे कहा जाता है यह घटाकाश है यह मठाकाश है, इस प्रकार की भेद प्रतीति माया से मूढ बने हुए मनुष्यों को होती है, ज्ञानियों को तो सर्वत्र एक ही दीखता है ॥४४॥

आभास—ननु तर्हि देहात्मबुद्धिः कथं गच्छतीत्याशङ्क्य वैलक्षण्यानुसन्धानेनेति आत्म वैचलण्यं देहस्य वदन् अपकारित्वमप्याह देह आद्यन्तवानेष इति ।

आभासार्थ—तब देह में जो आत्म बुद्धि हुई है वह कैसे नष्ट होगी ? जिसका उत्तर "देह आद्यन्तवान्" श्लोक में देते हुए कहते हैं कि देह और आत्मा में विलक्षणता का अनुसन्धान करने से और देह का अपकारीपन भी इसमें बताते हैं ।

श्लोक—देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः ।

आत्मन्यविद्ययां क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—द्रव्य, प्राण, और गुण स्वरूप यह देह आदि अन्त वाली है; अविद्या से आत्मा में उसकी कल्पना की गई है, जिससे वह देह, जीव को संसार में पटके हुए है । ४५॥

सुबोधिनी—आत्मा नित्यः । यो हि देशापरिच्छिन्नः, स सुतरां कालपरिच्छिन्नः, देशापरिच्छेदस्य व्यापकत्वात् । अत आत्मत्वादेव कालापरिच्छेदः सिद्धः । देहस्तु आद्यन्तवानुभयावधियुक्तः, प्रागभावप्रध्वसाविव व्यावर्तितौ । एष इति परिहृश्यमानः, मृतानामेन्तः मुण्डस्योत्पत्तिरिति प्रदर्शनस्य सार्थकता । अथवा । विद्यमानस्य देहस्य जन्ममरणयोरदृष्टत्वात् स्वव्यतिरिक्तस्यैव प्रत्यक्षसंवादात् श्रुतेः प्रामाण्यं मन्यते यस्तं प्रत्याह एष इति । एवं सदातनत्वासदातनत्वाभ्यां विलक्षण्यमुक्त्वा गुणातीतत्वसगुणत्वाभ्यां विलक्षण्यमाह द्रव्यमधिभूतम्,

प्राणा आध्यात्मिकः, गुणा आधिदैविका इति । एत एव देहेन्द्रियदेवतारूपाः, आत्मा स्वरूपं यस्य । किञ्च । आत्मन्यविद्यया क्लृप्त इति । विलक्षण्यत्रयम् । आत्मा आधारः । आधेयो देहः, सिद्ध आत्मा, स्वतः क्लृप्तो देहः, (विद्यया) अविद्यया चार्थस्थाने कृतः । आत्मा तु स्वत एव प्रवृत्त इति । अनिष्टेष्टजनकत्वविलक्षण्यमप्याह संसारयति देहिनमिति । स्वस्मिन्नभिमानमात्रे आत्मानं देहः संसारे पातयति । आत्मा तु देहस्य हितमेव वाञ्छतीति । एवं षोडा विलक्षण्यं निरूपितम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्म नित्य है, जो देश से अपरिच्छिन्न है, वह व्यापक होता है जिससे वह काल से भी अपरिच्छिन्न है, अतः आत्मपन से ही काल से अपरिच्छेद सिद्ध है देह तो आदि और अन्त वाली होने से देश और काल दोनों की अवधियुक्त है अतः देशकाल परिच्छिन्न है, 'प्राग' भाव और 'प्रध्वंसाभाव' की तरह दोनों का निवारण किया "एष" पद का भाव है कि जो सामने दीख रहा है, मर गए हुए देहों का अन्त दीखता है और अवयव रहित देह की गर्भपात होने पर उत्पत्ति दीखती है इसलिए देह सदैव अवयव वाला नहीं है, अतः प्रदर्शन कहने की सार्थकता होती है, अथवा विद्यमान देह के जन्म मरण का अदृष्टन होने से अपने से पृथक् के ही प्रत्यक्ष संवाद से जो श्रुति का प्रमाण मानते हैं उनको कहता है कि "एष" सामने दीखने वाला सदैव अथवा स्वल्प काल रहने से दोनों में विलक्षणता बताकर अब सगुण और निर्गुण से विलक्षणता कहते हैं द्रव्य अधिभूत, प्राण आध्यात्मिक और गुण आधिदैविक, ये ही देह और इन्द्रियों के देवता रूप हो स्वरूप जिसके हैं, किञ्च आत्मा में अविद्या से कल्पित है, इस प्रकार तीन विलक्षणताएँ हैं, आत्मा आधार है, देह आधेय है, आत्मा सिद्ध है, देह स्वतः कल्पित है जिसकी अविद्या से आत्मा में कल्पना की गई है पर आत्मा तो स्वतः ही प्रवृत्त हुए हैं, अनिष्ट और इष्ट करने से भी विलक्षणता बताते हैं, अपने में केवल अभिमान

के कारण देह, आत्मा को, संसार में पटकती है और आत्मा तो देह का हित हो चाहती है, इस प्रकार देह और आत्मा में छ प्रकार से विलक्षणता बताई है इस विलक्षणता के अनुसन्धान करने से देह में हुई आत्म बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥४५॥

आभास—किञ्च । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुत्या आत्मनः सङ्गाभावो निरूप्यते । देहस्तु सर्वसङ्गयुक्त इति वैलक्षण्यं निरूपयितुं आत्मन एव धर्मानाह नात्मन इति ।

व्याख्यान्य—“असंगो ह्ययं पुरुषः” इस श्रुति के अनुसार आत्मा असंग है यह निरूपण हुआ है, देह तो सर्व संग से युक्त है इस विलक्षणता को कहने के लिए आत्मा के ही धर्म “नात्मनः” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगो वासता सति ।

तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्ह्यग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे सती ! कारण रूप आत्मा के, न तो दूसरे देह आदि के साथ संयोग है और न वियोग है, क्योंकि अद्यात्म अधिभूत और अधिदेवत ये आत्मा के कार्य हैं और आत्मा ही से प्रकाशित होते हैं, जिससे आत्मा से भिन्न नहीं हैं, छुदे होने के सिवाय संयोग वियोग हो नहीं सकते हैं, जैसे चक्षु इन्द्रिय और रूप का प्रकाशक सूर्य है ये दोनों तेजस् हं जिससे ये सूर्य के कार्य हैं और सूर्य कारण है इससे सूर्य से भिन्न नहीं है ॥४६॥

सुबोधिनी—अस्यात्मनः अन्येन देहेन संयोगो वा वियोगो वा नास्ति । वियोगो हि संयोगपूर्वक इति संयोगे निषिद्धे अवयवभेदेन संयोगाभावः । संयोगोऽपि तिष्ठत इति सिद्धसाधनतामाशङ्क्य उभयं निषेधति, संयोगोऽपि नास्ति । कदाचित्संयोगोऽपि निषिद्धो वियोगेन । ननु संयोगवियोगयोः भावाभावरूपत्वे कथमुभयाभावः, प्राप्तस्यैव नानिषेध इति न नियमः,

सम्भावितस्यापि निषेधात्, तस्माद् असतेति । असता देहेन आत्मनो न संयोगवियोगो, यथा रज्जुसर्पयोः । न हि सर्पस्य कोऽप्यंशो रज्जो भवति । ननु प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां देहस्य परिदृष्टत्वाद् अनुमानप्रत्यक्षश्रुतिभिः आत्मनोऽपि प्रतीतेः वैलक्षण्यस्य चोक्तत्वात् वियोग एवास्तु, कथमुभयाभाव इति चेत् । ननुक्तमसत्त्वादिति तदेव प्रमाणसिद्धत्वान्न भविष्यतीत्याशङ्का, तत्र हेतु-

माह तद्धेतुत्वात्प्रसिद्धेरिति । तस्य देहस्य प्रसिद्धेः उत्पत्तेर्ज्ञेयत्वात् । आत्महेतुत्वादात्मभासेव देहो भासत इति पृथक् स्थित्यभावात् संयोग-वियोगो न भवतः । पृथक्लब्धसत्ताकावेव संयुक्तो वियुक्तो वा भवत इति लोकस्थितिः । अत एवोत्पत्तौ यद्वदधीनम्, तन्न न संयोगः सम्बन्धः । यथा द्रव्यगुणयोः, यथा वा ज्ञातो ज्ञानविषययोः, तथापि उभयोः सत्त्वात्ममवायः स्तरूपं वा सम्बन्धोऽङ्गीकृतः । अत्र देहस्यासत्त्वात् अन्यतरस्य निःस्वभावत्वात् रज्जुसर्पवत् न स्वरूपसम्बन्धः । समवायोऽपि निराकरिष्यते । सर्वथापि संयोग-

वियोगो तु न भवतः । प्रकाश्यप्रकाशकयोः सम्बन्धाभावाय दृष्टान्तमाह दृश्रूपाभ्यामिति । नेत्राधिष्ठातृो वेषता यः सूर्यः तेन लब्धसत्ताकं चक्षुः विषयं गृह्णाति । न हि तेनापि तयोः संयोगवियोगो भवतः । एतत्स्यार्थस्य परिज्ञान-मधिकारिण एव भवतीति । न हि प्रतिबिम्बेन सह दर्पणेन वा मुखस्य कोऽपि सम्बन्धोऽस्ति । सतीति सम्बोधनं उक्तविश्वासाय । अनेन देहा-दिभ्वनासत्त्वर्थं वराग्यमपि सूचितम् । स्वास-कर्यं तत्सिद्धिः, अन्यथा तदभाव इति ॥४६॥

व्याख्यार्थ—इस आत्मा का देह से संयोग वा वियोग नहीं है, पहले संयोग हो तो अनन्तर वियोग होवे इसलिए संयोग का निषेध किया, क्योंकि अब्यय भेद से संयोग का अभाव है, संयोग भी स्थित होनेवाले का होता है, इसलिए सिद्ध की साधनता से शंका कर दोनों का निषेध करते हैं, संयोग भी नहीं है और वियोग भी नहीं है कदाचित् संयोग भी वियोग से निषिद्ध किया है, जब संयोग भावरूप है और वियोग अभावरूप है तब दोनों का अभाव कैसे बन सकेगा ? प्राप्त का अनिषेध नहीं, वैसा नियम नहीं है, हो सकने वाली बात के भी निषेध से भी इस पर कहते हैं कि, देह असत् है इसलिए वैसी देह से सत् आत्मा का संयोग वियोग नहीं हो सकता है, जैसे रज्जु और सर्प का संयोग वियोग नहीं हो सकता है सर्प का कोई भी अंश रज्जु में नहीं होता है, यदि कहो कि प्रत्यक्ष और श्रुति से देह को देखने से तथा अनुमान प्रत्यक्ष तथा श्रुति में आत्मा की भी प्रतीति होने से, एवं दोनों में विलक्षणता भी कही है जिससे जब वियोग ही है, तब दोनों का अभाव कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि पहले ही कह दिया है, कि देह आदि असत् होने से और वह असत् प्रमाण सिद्ध है, जिससे ऐसी शंका बन नहीं सकती है, उसमें हेतु कहते हैं कि "तद्धेतुत्वात्प्रसिद्धेः" उस देह को उत्पत्ति और ज्ञान प्रसिद्ध हो रहा है, यों होने में आत्मा ही कारण है, आत्मा के प्रकाश से ही देह भास रहा है, इससे उसकी पृथक् स्थिति नहीं है, जिससे संयोग वियोग नहीं बनते हैं, जिनको सत्ता पृथक् हो, उन में ही संयोग और वियोग बन सकते हैं. इस प्रकार लोक की स्थिति है, इस कारण से ही जो जो उत्पत्ति के आधीन है वहाँ संयोग सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे द्रव्य और गुण में और ज्ञान होने में,

१—वह अभ्युदसिद्धान्त मायावाद है, जिसका उपदेश बलरामजी ने असुर स्वामी के कारण किया है, पुराणों में इस प्रकार मायिक सिद्धान्त कहा है वह वराग्य को उत्पन्न करने के लिए कहा है ।

ज्ञान-तथा विषय-का संयोग नहीं हो सकता है, तो भी दोनों के होने से समवाय और स्वरूप सम्बन्ध माना गया है, यहाँ देह के असत् होने से, दूसरे के स्वभाव-रहित होने से रज्जु और सर्प की भाँति स्वरूप सम्बन्ध नहीं है, समवाय का भी निराकरण होगा, सर्व प्रकार संयोग और वियोग तो नहीं होते हैं, प्रकाश्य और प्रकाशक के सम्बन्ध का अभाव ही है इसमें दृष्टान्त देते हैं "दृगपाभ्यां" नेत्र का अधिष्ठाता देव सूर्य है, उससे नेत्र सत्ता प्राप्त कर विषय को ग्रहण करते हैं, सूर्य से उन नेत्रों का संयोग वियोग नहीं होता है, इस सदर्थ का पूर्णज्ञान अधिकारी को ही होता है मुख का दर्पण वा प्रतिबिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, रुक्मिणीजी को हे सति यह विशेषण-इसलिए दिया है कि तू मेरे कहने पर विश्वास करेगी, क्योंकि तू पतिव्रता-हूँ, इस प्रकार के उपदेश से आदि में आसक्ति न होवे और वैराग्य भी होवे, ऐसी सूचना दी है अपनी आत्मा में आसक्ति से ही देहादि में अनासक्ति तथा संसार से वैराग्य की सिद्धि होती है, जो वह नहीं है, तो देहादि में अनासक्ति और वैराग्य का भी अभाव है ॥४६॥

आभास—ननु जननादयो हि प्रत्यक्षानुमानश्रुतिभिर्जीवस्य प्रतीयन्ते ततश्च सङ्घातस्यैव तथातवात् देहस्यासत्परवे आत्मन एव भविष्यन्तीति संयोगे निराक्रियमाणे असत्त्वे हेतुना विपरीतमापतितम्, सर्वे दोषा आत्मन्येव समागता इति चेत्, तत्राह जन्मादयस्त्विति ।

आभासार्थ—प्रत्यक्ष अनुमान और श्रुति से जन्म आदि जोव के ही प्रतीत होते हैं, उससे संघात की भी वैसी प्रतीति होती है; यदि देह को असत् कहोगे तो आत्मा को ही कहोगे, इसलिए संयोग के निराकरण से, असत्त्व, हेतु से विपरीत ही होगा, अर्थात् सर्व दोष आत्मा में ही आ गए यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर "जन्मादयः" श्लोक देखिए ।

श्लोक—जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।

कलानामिव नैवेन्दोमृत्तिह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥

श्लोकार्थ—जन्म आदि विकार देह के हैं, आत्मा के कभी नहीं, जैसे चन्द्रमा में जो वृद्धि क्षय दोखता है वह कलाओं का है चन्द्रमा का नहीं है, अमावस्या में जो तिरोभाव होता है, वह कला का है किन्तु अज्ञ चन्द्रमा का समझते हैं वैसे ही देह के तिरोभाव से आत्मा का नाश जानते हैं ॥४७॥

सुबोधिनी - तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति । जन-
नादयः देहस्यैव । येन प्रकारेण देहस्य सिद्धिः,
तेनैव प्रकारेण जन्मादीनाम् । तेषां च देहसम्ब-
न्धित्वस्य च तत एव सिद्धेः । अत उभयोरस-
त्वात् जन्मादयोऽपि देहस्यैव । योग्यं योग्येन
संबध्यत इति । सर्पश्चलतीति समाशति भक्षय-
तीति च यथा सर्पधर्मा एव, एवं जन्मादयोऽपि
देहधर्माः, यतो विक्रिया । नह्यात्मनः सर्वविक्रि-
यारहितस्य विक्रियाः सन्ति । बवचिदिति । ज्ञाना-
नन्तरं न सन्तीति इष्टमेवेति पक्षं व्यावर्तयति ।
न हि नायं सर्प इति बोधानन्तरमेव सर्पाभावः ।
किन्तु प्रतीतदशायामपि । तत ज्योतिः शास्त्र-
सिद्धं दृष्टान्तमाह कलानामिवेति । इन्दीः कलानां

पञ्चदशसङ्ख्याकानां एकेन दिनेन एकस्या
नाशः नतु चन्द्रस्य । स हि अम्मयः, सूर्य-
किरणास्तत्र प्रतिबिम्बन्ते, अपगच्छन्ति चेति
कालविदः । ननु सर्वोऽपि चन्द्रः अमावास्यायां
क्षीयत इति नवो नवो भवति जायमान इति च
कथं कलानां क्षय इति चेत्, तत्राह न अस्य
जीवस्य चन्द्रस्य च कुहूरेव मृतिः । नतु कुह्नां
तस्यादर्शनकृतमपि मरणम्, तथास्य काल एव
मृतिः । सच कालः कदाचित्तं प्रकाशयति देह-
सम्बन्धेनोच्चावेनापि, कदाचिन्नेति तस्योक्तान्त्या-
दयो निरूप्यन्ते । नतु वस्तुतस्तस्य मरणम् । मरणे-
उभयोर्वियोगाद्देहस्य च पृथक् स्थितत्वात् प्रथ-
ङ् निराकरणप्रयासः ॥४७॥

व्याख्यार्थ - "तु" शब्द दूसरा पक्ष बतलाता है. जन्म मरण आदि देह के ही हैं,
जिस प्रकार देह की सिद्धि होती है वैसे ही जन्म आदि की भी होती है उनका देह से सम्बन्धित
होने से ही सिद्धि है अतः दोनों के असत् होने से जन्म आदि भी देह के ही हैं, योग्य को योग्य से ही
सम्बन्धित किया जाता है. सर्प चलता है अर्थात् जाता है और काटता है ये सब जैसे सर्प के ही
धर्म हैं. वैसे जन्म आदि भी देह के ही धर्म हैं, क्योंकि विकार वाले हैं, वैसे विकार वाले धर्म,
विकार रहित आत्मा के धर्म कभी नहीं होते हैं "बवचित्" पद का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं,
कि ज्ञान के बाद ये नहीं हैं, यों इष्ट ही है इस पक्ष को बदलता है यह सर्प नहीं है इस प्रकार ज्ञान होने
के बाद ही सर्प का अभाव होगा, किन्तु प्रतीत दशा में भी, इसमें ज्योतिष शास्त्र सिद्ध दृष्टान्त कहते
हैं, "कलानामिव" चन्द्रमा की पन्द्रह कला हैं प्रति दिन एक कला का तिरोधान होता है. न कि चन्द्रमा
का, वह तो जलमय है, सूर्य की किरणों का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वे किरणें कम होती हैं यों
काल को जानने वाले कहते हैं । आप यों कैसे कहते हो कि चन्द्रमा नाश नहीं होता है अमावस्या
को सारा चन्द्रमा नाश हो जाता है, फिर वह नवीन होकर उत्पन्न होता है, इस-प्रकार होता है
फिर आप कैसे कहते हो कि कलाओं का क्षय होता है ? ऐसा कहो, तो उसका उत्तर देते हैं, इस
जीव की ओर चन्द्रमा का अम वस्था ही मृत्यु है, अमावास्या में उसका दर्शन न होना कोई मृत्यु
नहीं है, उसकी ही मृत्यु है. वह काल कभी उसको प्रकाशित करता है और कभी बड़ा और कभी
छोटा कई भेद करता है, तथा कभी नहीं, इस प्रकार उसकी उत्क्रान्ति आदि का निरूपण किया
जाता है. न कि वास्तविक उसका मरण है, मरण में दोनों का वियोग होता है और देह तो पृथक्
स्थित होने से पृथक् के निराकरण के लिए यह प्रयास है ॥४७॥

आभास—ननु मिथ्याभूतेन सह कदाचित्सम्बन्धो भवति । यथा रज्जुसर्पेण, देहेन तु सम्बन्धः आभूतसंप्लवमिति दृष्टान्तगेषम्यात् देहस्य सत्यत्वं आत्मनो वा सम्बन्धित्वं भवत्विति चेत्, तत्राह यथा शयान इति ।

आभासार्थ—मिथ्या पदार्थ से सम्बन्ध तो किसी समय होता है, जैसे रज्जु का सर्प से, आत्मा का तो देह से पूर्व से ही सम्बन्ध चला आ रहा है इसलिए विषम दृष्टान्त होने से देह सत्य होने चाहिए और उससे आत्मा का सम्बन्ध भी मानना चाहिए, यदि यों कहते हो तो इस का उत्तर “यथा शयान” श्लोक है ।

श्लोक—यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च ।

अनुभुक्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—जैसे सोया हुआ पुरुष, पदार्थ आदि नहीं होते हुए भी भोक्ता बनता है और विषयों का फल सुख भी लेता है, वैसे ही अज्ञान दशा में यह अज्ञ संसार को प्राप्त करता है ॥४८॥

सुबोधिनी—न हि कदाचिदेव भवति यत्त-
देव मिथ्या भवतीति नियमोऽस्ति कश्चित्,
अपि तु सर्वदैव दृश्यमानमप्यसद्भवति । यथा
यदैव शेते, तदैव असत्यप्यर्थे आत्मानं देहं
विषयान् स्रक्चन्दनादीन् फलं सुखं चानुभवति ।

न चैतावता तेषां सत्यता भवति । ‘मायामात्र’
मिति सूत्रे तथा निर्णयात् । तथैव अबुधः
शयान इव भवं संसारं प्राप्नोति, निद्रावद-
ज्ञानमित्यर्थः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—जो किसी समय हो, वह मिथ्या है ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु सर्वदा ही देखने में आने वाला भी असत् होता है, जैसे जब ही शयन करता है तब ही पदार्थ न होते हुए भी, माला चन्दन आदि विषयों के सुख और फल का अनुभव करता है यों होने से वे सत्य नहीं हो जाते हैं “मायामालम्” इस सूत्र में निर्णय किया है कि वह केवल माया है वैसे ही अज्ञानी सोए हुए की तरह संसार को प्राप्त होता है, निद्रा की तरह अज्ञान है, इस प्रकार अर्थ है ॥४८॥

आभास—अतो अज्ञानेनैव देहप्रतीतेः नेहस्य च मिथ्यात्वात् देहसम्बन्ध एव आत्मनः परिच्छेदप्रतीतिः, परिच्छेदे एव च शत्रुमित्रादिप्रतीतिरिति, परम्पराया अज्ञानमेव मूल-मिति तत्त्वज्ञानेन तन्निराकरणं कर्तव्यमित्याह तस्मादिति :—

आभासार्थ - अतः अज्ञान से ही देह की प्रतीति हो रही है, देह का सम्बन्ध ही आत्मा के परिच्छेद को प्रतीति कराता है, परिच्छेद के कारण ही शत्रु तथा मित्र आदि की प्रतीति हो रही है, यों होने की जड़, परम्परा का अज्ञान है, इसलिए इस अज्ञान का तत्त्वज्ञान से निराकरण करना चाहिए जिसको "तस्मादिति" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।

तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिसिमत ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे पवित्र मन्द हासवाली ! इस कारण से अज्ञान से उत्पन्न आत्मा को शोष और मोह देने वाले शोक को तत्त्व ज्ञान से त्याग कर शान्त हो ॥४६॥

<p>मुबोधिनी शोकस्तु विषमबुद्धिजन्य इति अज्ञानकृत एव । शोकस्य परित्यागाय दोषद्वयमाह । आत्मनोऽन्तःकरणस्य शोषो विमोहनं च यस्मादिति । ततः अत्यपकारित्वात्तदज्ञानं</p>	<p>तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भवेत्युपदेशः, प्रार्थना वा । शुचिस्मित इति । सहज एव तव प्रसाद इति कृत्रिमनिराकरणं नात्यन्तं क्लेशेन कर्तव्यमिति सूचितम् ॥४६॥</p>
---	---

व्याख्यार्थ—विषम बुद्धि से शोक उत्पन्न होता है, इसलिए वह अज्ञानकृत ही है, शोक को क्यों छोड़ा जाय ? उसका उत्तर है, कि शोक से दो प्रकार की हानि होती है एक-अन्तःकरण का सूखना वा क्षय तथा भ्रम में पड़ना बहुत अपकारी होने से, इस अज्ञान को तत्त्वज्ञान से मिटाकर शान्त हो, इस प्रकार उपदेश वा प्रार्थना की गई है, "शुचिस्मिते" आप पवित्र सुन्दर हासवाली होने से, आपका सहज ही अनुग्रह है, इस प्रकार इस कृत्रिम अज्ञान का निराकरण अत्यन्त क्लेश से नहीं करना चाहिए, यों भी सूचित किया ॥४६॥

आभास—एवमुपदिष्टज्ञानं भगवत्सान्निध्यात्फलितमित्याह एवं भगवतेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपदेश किया हुआ ज्ञान, भगवत्सन्निधि होने से सफल हुआ, जिसका वर्णन "एवं भगवता" श्लोक से श्री शुकदेव जो कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच

श्लोक— एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता ।

वेमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समाधे ॥५०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि भगवान् राम ने जब हविमणी को इस प्रकार समझाया तब हविमणी ने मन-मुटाव त्यागकर विक्षेपवाले मन को ज्ञान से स्थिर कर लिया

सुवोधिनी—ननु भगवत्सिद्धान्तं परित्यज्य | घिता । जानस्य च प्रयोजन तस्या वैमनस्य-
 ज्ञानसिद्धान्तः किमिति बोधितः, तत्राह तन्वीति । परित्यागमात् जातम्, भगवति या दोषबुद्धि-
 भगवानिति च । न हि भगवान् विरुद्धे स्वसि- स्थिता, सा गता । ततः विक्षिप्तं मनः बुद्ध्या
 द्धान्तं कथयति । मुक्तानामेव तत्राधिकारात् । समाहितमपि कृतवती । एको भगवद्विषयको
 इयं च तन्वी विषयपरा । रामश्च साधनपरः । दोषः । अपरो विक्षेपेण तस्या एव दुःखदः ।
 अतो हेतुत्रयस्यापि तथात्वात्, ज्ञानेनैव प्रतिबो- उभयनिवृत्तिर्ज्ञानफलम् ॥१५०॥

व्याख्यार्थ—भगवदीय सिद्धान्त को छोड़, ज्ञान सिद्धान्त का ज्ञान राम ने क्यों दिया ? जिसके उत्तर में कहा है, कि यह तन्वी है अर्थात् विषय परायण है और राम साधन परायण हैं । जो भगवान् के परायण न हो कर, विषय परायण होता है, उसको भगवान् अपना सिद्धान्त नहीं कहते हैं, क्योंकि उस सिद्धान्त के अधिकारी मुक्त ही हैं, अतः इन तीन कारणों से, इसको ज्ञान से ही समझाया है, ज्ञान का प्रयोजन व फल उसका मन मुटाव मिट जाना हुआ, और भगवान् में जो दोष बुद्धि थी वह भी नष्ट हुई, पश्चात् विक्षेप वाले मन को, ज्ञान से शुद्ध किया अर्थात् विक्षेप आदि नष्ट हो गए उसको भगवान् में जो दोष बुद्धि थी वह और दूसरा विक्षेप, ये दो ही दुःख देने वाले थे, उन दोनों की निवृत्ति ज्ञान का फल है ॥१५०॥

आभास—एगंरुक्मिण्याः समाधानमुक्त्वा रुक्मिणः परित्याग एव उभयेषां सुखदो भवतीति तत्परित्यागमाह प्राणावशेष इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी का समाधान कह कर अब रुक्मी का त्याग ही दोनों के लिए सुखकारी है, इसलिए “प्राणावशेष” श्लोक से उसके परित्याग को कहते हैं ।

श्लोक—प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हंतवलप्रभः ।

स्मरन्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥१५१॥

श्लोकार्थ—जिसकी सेना और प्रभाव को शत्रुओं ने नाश कर दिया है वंसा रुक्मी वहाँ से प्राण बचाकर आया है उसको तो वह भूल गया है किन्तु आपने जो विरूप किया है वह उसको याद कर रहा है, और अपनी प्रतिज्ञा को विफल समझ रहा है ॥१५१॥

सुवोधिनी—बलभद्रेण मोचनेऽप्यसहायात् | हतं वलं प्रभा च यस्य । द्विड्भिरेव । तस्या-
 अन्येन मारणं संभवतीति द्विड्भिस्तृप्त उक्तः । | न्यद्विस्मृतम्, विरूपकरणं तु स्मरति । जातेऽपि

विरूपे यदि स्वाभिलषितः कश्चिद्विद्येत्, तदा कृतवान् । भगवता हि तस्य भगिनी परिगृही-
न तथा खिन्नो भवेत् । किन्तु वितथः आत्मनो तेति ॥११॥
मनोरथो यस्य । तथापि स्वप्रतिज्ञां नान्यथा

व्याख्यार्थ—बलरामजी इसको छोड़ देने को तो कहते हैं, किन्तु अकेला होगा कोई इसका सहायक न होगा, तो दूसरे इसको मार डालेंगे ? इस शंका का निवारण करते हैं, कि शत्रुओं ने इसकी सेना और प्रभाव को नष्ट करने के बाद इसको छोड़ दिया है, जिससे इसको अन्य मारेंगे यह भय नहीं रहा है, इसने और सब्भुला दिया है किन्तु विरूप होना तो अब तक स्मरण कर रहा है, जिससे खेद युक्त है, यदि विरूप होने पर कार्य सिद्ध हो जाता तो खिन्न न होता किन्तु अब तो जिस कार्य के लिए आया था वह भी जिसका सिद्ध न हुआ अतः अपनी प्रतिज्ञा को त्यागा नहीं है भगवान् ने इसकी बहिन् का हरण किया है जिसको वह भगवान् से छुड़ा नहीं सकता है अतः स्वदेश कुण्डिन-पुर को लौटना इसके लिए अशक्य हो रहा है ॥११॥

आभास—अत एव कुण्डिनपुरं परितप्यज्य अन्यत्रैव स्थित इत्याह अहत्वेति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही कुण्डिनपुर न जाकर दूसरे स्थान पर स्थित हुआ, जिसका वर्णन “अहत्वा” श्लोक में किया हुआ है ।

श्लोक—अहत्वां दुर्मतिः कृष्णमप्रन्वृह्य यवीयसीम् ।

चक्रं भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम् ।

कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युवत्वा तत्रावसद्गुषा ॥१२॥

श्लोकार्थ—उसकी प्रतिज्ञा थी कृष्ण को मारे बिना और छोटी बहिन् को लाए बिना कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा, यह पूर्ण न होने पर भोजकट महान् नगर बनवाकर क्रोध से पूर्ण रुक्म वहाँ रहने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी—यतोऽयं दुर्मतिः, अतस्तत्तवाव-
सत्, यत्त मुण्डितः । भोजो हि मृतकर्मटग्राहकाः ।
जात्यपकर्षे भोजाद्यवन इति यवनात्पूर्वं निरु-
पितः । तस्य कट इति मरणपर्यन्तं तत्रैव स्था-
स्यामीति तस्य ग्रामस्य नाम भोजकटमिति
कृतवान् । यद्यपि न कोऽपि पुरुषार्थः नह्यसत्प्र-
तिज्ञायाम् अपालने कश्चन दोषोऽस्ति, तथापि
भ्रातृत्वाद्रोषेण तत्रैव स्थितः ॥१२॥

व्याख्यायं—वह वहाँ ही रहने लगा, जहाँ मुण्डन हुआ और भोजकट नगर बनाया था क्योंकि दुर्मति है, भोज जाती वह है, जो मृतकों के कपड़े लेते हैं जाति का अनर्कष दिखाने के लिए यवन से पहले कहा है, कि भोज से यवन हुए हैं, मरण पर्यन्त यहाँ रहूँगा, इसलिए इस नगर का नाम भोज कट धरा है हालांकि, यों करने से कोई पुरुषार्थ नहीं है, तथा झूठी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करने में कोई दोष नहीं है, तो भो भाईपने से क्रोध आने से वहाँ ही रह गया ॥१२॥

आभास—ततो भगवतः कृत्यमाह भगवानिति ।

आभासार्थ—इसके बाद भगवान् ने जो किया वह “भगवान् भीष्मक” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—भगवान्भीष्मकसुतामेवं निजित्य भूमिपान ।

पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरुद्वह ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे कुरुद्वह ! भगवान् ने इस प्रकार राजाओं का जात कर भीष्मक की कन्या को अपने पुर में लाकर विधि पूर्वक उससे विवाह किया ॥१३

सुबोधिनी—यदा सर्वथा निर्दुष्टा सर्वैस्त्य-
क्तममत्वा, तदापि भगवान् वीर्यशुक्लेन विवाहं
कर्तुम्, एवं प्रकारेण भूमिपान् निजित्य, गान्ध-
वंन्यायेन तामगृहीत्वा, उपनयनवत् विवाहस्यापि
संस्कारत्वात् सर्वसम्मत्यर्थं स्वपुरीमानीय उपयेमे,

निधानपूर्वकं विवाहं कृतवान् । क्षत्रियाः प्रायेणैवं
न कुर्वन्तीति भगवानपि न कृतवानेव । किन्तु
सद्बुद्धयर्थं वदतीति शङ्का स्यात्, तत्परिहरति
संबोधनेन कुरुद्वहेति ॥१३॥

व्याख्यायं—भगवान् ने देखा कि यह सब प्रकार से निर्दोष है और मुझे ही वरण करना चाहती है, राजा लोग यों करना नहीं चाहते हैं, तब अपना वीर्य (पराक्रम) रूप शुक्ल देकर विवाह करना योग्य समझ, आए हुए भूपतियों को जीत लिया और हस्तिमणी को ग्रहण किया किन्तु, गन्धर्व नैति से उसको ग्रहण न कर जैसे बालक का द्विजत्व सिद्ध के लिए यज्ञोपवीत संस्कार है, वैसे ही कन्या के लिए विवाह संस्कार है, अतः सर्व सम्मति से अपनी पुरी में लाकर विधि पूर्वक विवाह किया, क्षत्रिय तो बहुत करते यों नहीं करते हैं, भगवान् ने भो नहीं किया है, केवल सद्बुद्धि के लिए कहा है, इस प्रकार की शंका मिटाने के लिए राजा को “कुरुद्वह” विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आप कुरु कुल में उत्पन्न हुए हो अतः विश्वास करो कि भगवान् ने विधिवत् विवाह किया है ॥१३॥

आभास—सर्वेषां सम्मत्या विवाहः कृत इत्यत्र निदर्शनार्थं महोत्सवमाह तदा महोत्सव इति ।

आभासार्थं—सर्व सम्मति से जो विवाह किया उसके प्रदर्शन के लिए “तदा महोत्सवो” श्लोक में यहां वह वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्या गृहे गृहे ।

अभूदनन्यभावाणां कृष्णे यदुपतो नृप ॥५४॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! यादवों के पति कृष्ण में, अनन्य भाव वाले, मनुष्यों के हरेक घर में उस समय यदुपुरी में महान् उत्सव हुआ ॥५४॥

सुवोधिनी—नृणामिति न केवलं बन्धूनाम्, अपि तु सर्वेषामेवेत्याह । यदुपुर्या द्वारकायाम्, तत्र न कोऽपि विसम्मत इत्यर्थः । यादवानामपि वंमनस्यं परस्परं संभवतीति तदर्थमाह अनन्य-भावानामिति । ननु यादवा उद्धताः, कथमन-

न्यभावा जाता इत्याशङ्क्याह कृष्णे यदुपता-विति । यदा यादवानां भगवान्पतिर्जातः, तदा ते तथा जाता इत्यर्थः । नृपेति सम्बोधनं विश्वा-सार्थम् । यथा भवान् जात इति ॥५४॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में “नृणां” पद का भाव यह है, कि केवल वान्धवों के घरों में उत्सव नहीं हुआ, किन्तु समस्त जनता के घरों में महान् उत्सव हुआ, इसलिए उसको पुष्ट करने के लिए “यदुपुर्या” पद दिया है अर्थात् सारी यदुपुरी में महान् उत्सव हुआ, तात्पर्य है कि सारी नगरी में कोई भी उत्सव के विपरीत नहीं था, यह कैसे सम्भव है, जब कि यादवों का परस्पर वंमनस्य होना सम्भव है, इसके उत्तर में कहते हैं, कि परस्पर वंमनस्य भले हो, किन्तु उन सबका कृष्ण में अनन्य भाव था क्योंकि श्रीकृष्ण यादवों के पति हैं, हालांकि, यादव स्वभाव से उद्धत होते हैं, तो भी अपने पति होने से श्रीकृष्ण में अनन्य भाव वाले हैं जब भगवान् यादवों के पति हुए तब वे वंसे अर्थात् अनन्यभाव वाले बने, नृपः यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है, जैसे आप हुए हैं ॥५४॥

आभास—भगवता पारिवर्हमपरस्मिन्विवाहे न प्राप्तमिति, तदभावे विवाहशोभा च न तथेति तदर्थमाह नरा नायः प्रमुदिता इति ।

आभासार्थ - प्रत्येक विवाह में वर को दहेज मिलता है यहाँ तो भगवान् को दहेज न मिलने से विवाह में शोभा न हुई होगी ? इसके उत्तर में यह श्लोक "नरा नार्यः" कहते हैं जिसने विवाह की शोभा विशेष हुई ।

श्लोक — नरा नार्यः प्रमुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ।

पारिवर्हमुपाजह्नुर्वरयोश्चित्रवाससोः ॥५५॥

श्लोकार्थ—नगरी के नर तथा नारियों ने प्रसन्न होकर और उज्ज्वल मणियों के कुण्डलों को धारण कर, सुन्दर वस्त्रादि से अलंकृत कर बधु के लिए अनेक उपहार दिए ॥५५॥

सुवर्द्धिनी—स्वयमलङ्कृताः पूर्णाः वरयोक्ति- | चेत्, तत्राह वरयोरिति । वरयोस्तथा कतंव्य-
त्रवाससोः अलङ्कृतयोरपि पारिवर्हमुपाजह्नुः । | भवेति । यथैव दाक्षिणात्यावारः ॥५५॥
ननु नियमाभावत् किमिति तथा कृतवन्त इति |

व्याख्यानार्थ—नगरी के नर तथा नारियाँ पूर्ण रीति से अलंकृत होकर, इसी प्रकार सुन्दर वस्त्र आदि से समलंकृत जो वर बधु, उनको भेट दो, नगरवासियों के भेट देने का कोई नियम नहीं है, तो नियम विरुद्ध इन्होंने वैसा क्यों किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि "वरयो." बधु वर को उपहार देना ही चाहिए, इसलिए दिया, जैसे ही दाक्षिणा का शिष्टाचार है ॥५५॥

आभास—विवाह एव प्रथममुपस्थित इति, अकस्माच्च भगवानागत इति विशेष-
तस्तदर्थमलङ्करणभावेऽपि स्वभावत एवालङ्कृतेत्याह सा वृष्णिपुरीति ।

आभासार्थ—पहले ही विवाह की तैयारी हो रही थी अचानक भगवान् भी पधार गए इसलिए विशेष प्रकार से उनके वास्ते नगरी को अलंकृत न करने पर भी वह स्वभाव से ही अलंकृत थी जिसका वर्णन "सा वृष्णि" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक — सा वृष्णिपुयुं लभितेन्द्रकेतुभिर्वाचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः ।

वभो प्रतिद्वायुं पक्लृप्तमङ्गलैरपूणकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥

श्लोकार्थ—उस समय वह द्वारका ऊँचे इन्द्रध्वज, विचित्र मालाएं, वस्त्र, रत्न और तोरणों से शोभित थी और प्रत्येक द्वार पर मांगलिक साजों से सजी हुई थी,

जसे कि जल से भरे हुए घड़े, अगर, धूप व दीपकों की जगमग से सुशोभित हो रही थी ॥५६॥

सुबोधिनी—मा द्वारका उत्तभिर्नः ऊर्ध्वं तोरणानि च स्वभावत एव । विशेषतोऽपि प्रति-
 न्यापितेरिन्द्रादप्युच्चैः स्वर्गपयन्त गतैः केतुभिः द्वारि उपबलूमानि मङ्गलानि । आपूर्णाः कुम्भाः
 ध्वजचिह्नै रन्यैश्च यभा । अथवा । इन्द्रकेतुः अगुरुधूपाः दीपाश्च । एवमुपरि मध्ये अधश्च
 पारिजातः, सुधर्मादिश्च, अन्ये च कल्पवृक्षाः । निवासस्थानानां शोभा निरूपिता ॥५६॥
 विचित्राणि माल्यानि अम्बराणि रत्नमयानि

व्याख्यान्यर्थ—वह द्वारका स्वर्ग पयन्त गई हुई उब ध्वजाओं से सुशोभित हो रही थी, अथवा
 इन्द्र केतु अर्थात् पारिजात और सुधर्म आदि वृक्ष एवं अन्य कल्प वृक्ष उनसे सुशोभित थी विचित्र
 पण्य. बहुज. और रत्नमय तोरणों से शोभा. से हो. जो सा पा. रत्नो. प्रो. और. यद्र. विशेषता. भरो. हो रही.
 थी कि प्रत्येक द्वार पर मंगल साज सजाए गए थे जैसे कि जल से भरे हुए घड़े, अगर के धूप तथा
 दीप जल रहे थे, इस प्रकार ऊपर, मध्य और नीचे के निवास स्थानों को शोभा का निरूपण किया
 ॥५६॥

आभास—मार्गाणामाह सित्तमार्ग इति ।

आभासार्थ—अब “सित्तमार्ग” इन श्लोकों से मार्गों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सित्तमार्ग मद्दच्युद्धिराहृतप्रेष्ठभूमुजाम् ।

गजंद्वास्सु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥

कुरुसृञ्जयकैनेयविदभंयदुकुन्तयः ।

मिथो मुमुदिरे तस्मिन्संभ्रपात्परिधावताम् ॥५८॥

श्लोकार्थ—बुलाए हुए प्रिय राजाओं के हस्तियों के मद से, उत्पन्न जल के गिर
 जाने से, मार्ग सित्तित हो रहे थे, द्वारों पर जो सुधारियाँ और केले के वृक्ष लगाए थे
 उनसे नगरी का शोभा विशेष हो रही थी हर्ष के मारे चारों ओर दीड़ते फिरते जो
 द्वारकावासी, उनके मध्य में कुरु, सृञ्जय, कंकैय, विदभं, यदु तथा कुन्ति इन देशों के
 राजा भी परस्पर आनन्दित हो फिर रहे थे ॥५८॥

सुबोधिनी—आहूता ये प्रेषाः प्रियतमा नावकाशो जात इत्यर्थः । द्वारि तु कृतमित्याह
 राजानः तेषां मद्दच्युद्धिः गजगण्डिनःसृतमदरेव द्वाःस्विति । परामृष्टाः परितः स्थापिताः च
 सित्तमार्गा जाता । अतो विशेषतः सम्मार्जनादौ रम्भादयः तैरुपशोभिता । जाते (ति) विवादे

पश्चादानीय कृतमिति परामर्शः । षड्विधा अपि कर्त्र्या अन्योन्यवैरं विहाय स्वभावतो द्वेषयुक्ता अपि रुक्मिण्या सहिते भगवति मिथो मुमुदिरे । कौरवा दुर्योधनादयः, सुखपाः पाण्डवाः, पाञ्चाला वा घृष्टद्युम्नादयः । ते ह्य भये अन्योन्यवैरिणः । कंकेया विदभश्च । तथा यादवाः कुन्तयश्च । तत्रिविधा अपि परस्परविरोधिनः परस्परमेव मुमुदिरे । किञ्च । संभ्रमात्परिधावतां सम्बन्धिनीर्षि जाताः । उत्सवसभृत्करणार्थं तदीयाः सर्व एव व्यापृता जाता इत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यान—बुलाए हुए प्रियतम भूपतियों के हस्तियों के गण्ड स्थल से निरृत मजल से पुरी के मार्ग सिंचित हो गए थे, अतः उनको विशेष स्वच्छ करने का अवसर ही न मिला । द्वारों पर जो सजावट की, उसका वर्णन करते हैं, चारों तरफ जो केले के खम्भ, उनसे पुरी सुशोभित थी, विवाह हो जाने पर फिर आकर विधि पूर्वक विवाह किया, इस प्रकार सबका विचार था, छ प्रकार के क्षत्रिय जिनका परस्पर स्वभाव से ही द्वेष चला आता है, वे भी आपसी वैर का त्याग कर रुक्मिणी सहित भगवान् के दर्शन कर आनन्द मग्न हो गए, दुर्योधन आदि कौरव, पाण्डव, पांचाल अथवा घृष्टद्युम्न आदि वे दोनों परस्पर शत्रु हैं, कंकेय और विदभं, वैसे यादव और कुन्ति वे तीनों भी आपस में शत्रु हैं, किन्तु इस समय परस्पर प्रसन्न हो उत्सव मनाने लगे, और आदर से फिरते हुए परस्पर, सम्बन्धी बन गए, उत्सव का पूर्ण पोषण करने के लिए वे सब ही उसमें संलग्न हो गए ॥१८॥

आभास—न केवलं यदुपुर्यामिव सम्भ्रमः, किन्तु सर्वत्रैव लोके संभ्रमो जात इत्याह रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वेति ।

व्याख्यान—केवल यदुपुरी में हो सम्भ्रम नहीं हुआ किन्तु लोक में सर्व स्थानों पर यह सम्भ्रम हुआ जिसका वर्णन "रुक्मिण्या" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ।

राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्विस्मिता भृशम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—जहाँ तहाँ से भगवान् के रुक्मिणी का आश्चर्य से किए हुए हरण सुनकर राजा और राज कन्याएँ बहुत अचम्भे में पड़ गए ॥१९॥

मुबोधिनी—आश्चर्यहरणं भगवत्कृतं श्रुत्वा हतगिति । राजकन्याश्च विस्मिताः । अस्मानपि इतस्ततो गीयमानम् । सर्वत्र श्रुत्वात् असम्भाव-नेष्यतीति ॥१९॥
नारहितम् । राजानो विस्मिता जाताः, कथमेवं

व्याख्यान—भगवान् ने आश्चर्यजनक जो रुक्मिणी का हरण किया था, उसको जहाँ तहाँ गाया हुआ सुनकर, राजा लोग आश्चर्य चकित हो गए और कहने लगे कि इस प्रकार कैसे हरण कर सके, राजाओं की आश्चर्या में प्रसन्न हुए, राजाओं के हृदयों में उत्सव का हरण कौरवों के हरण का कथा सब स्थानों में सुनने से असम्भावना भी मिट गई ॥१९॥

आभास—एवं विजिष्टानां परमोत्सवमुवत्वा साधारणानामपि परमोत्सवमाह द्वारकायामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विशेष पुरुषों का महोत्सव कहकर साधारण जनता का महोत्सव “द्वारकायां” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—द्वारकायामसूद्राजन् महामोदः पुरोकसाम् ।

रुक्मिण्या रमयोतेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् द्वारका के साधारण नगर वासियों को महान् हर्ष हुआ क्योंकि लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण के लक्ष्मी रूपी रुक्मिणी के साथ दर्शन हुए ॥६०॥

<p>सुबोधिनी—पुरोकसः साधारणाः नगरवासिनः नगरव्यापार एव निम्नः । तेषामपि महामोदो जातः । यद्यपि तेषां विवेको नास्ति, तथापि वस्तुसामर्थ्यादेव ते तथा जाताः । तदाह । रुक्मिण्या रमया लक्ष्म्या उपेतं सहितं कृष्णम्,</p>	<p>स्वीणामेव हितार्थे अवतीर्णम्, श्रियः पतिं दृष्ट्वेति नित्यं हरिः श्रीसहितः । आविर्भावस्तु केवलेत्येवेति पुरवासिनां नित्यं स्त्रीप्रधानानां तथा मोदो न भवेत् । अधुना तु पूर्णशक्तिरेकैव जातेति महानेव मोदः संतोषो जातः ॥६०॥</p>
---	---

व्याख्यार्थ—नगर में रहने वाले जो साधारण जन घन्घे रोजगार में ही लगे रहते हैं, उनको भी महान् हर्ष हुआ, हाँलाकि उनको विवेक नहीं है तो भी वस्तु की सामर्थ्य से ही आनन्द हुआ, वह वस्तु सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, स्त्रियों के हित के लिए अवतार धारण करने वाले, लक्ष्मी के पति श्रीकृष्ण के लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणी के साथ दर्शन हुए यों तो भगवान् सदैव लक्ष्मी के साथ विराजते हैं किन्तु जब अवतार लेते हैं तब आप अकेले ही प्रवृत्त दर्शन देते हैं वैसे अकेले स्वरूप के दर्शन पुरवासियों को आनन्द होवे, क्योंकि वे नित्य स्त्री प्रधान हैं, अर्थात् वे सदैव स्त्रियों को साथ ही रखते हैं जिसे स्त्रियों का ही आदर करते हैं, अतः भगवान् को भी स्त्री सहित देख कर ही प्रसन्नचित्त हुए अब तो इस स्वरूप में पूर्ण शक्ति इकट्ठी हुई है इसलिए बड़ा ही मोद यानि सन्तोष उत्पन्न हुआ है ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध के ५१ वें अध्याय की

श्रीमद्बल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी ‘संस्कृत टीका’ के राजस साधन

अवान्तर प्रकरण, का पाँचवाँ अध्याय, हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग सोरठ

इयाम जब रूकमिनी हरि सिधाए ।

साल्व, दंतवक्र वारानसी की नृप, चढे दल साजि मनो अन्न छाए ॥

सांग की झलक चहुँदिसा चपला चमक, गज गरज सुनत दिग्गज डराए ।

स्याम बलराम मुधि पाइ सन्मुख भए, वान वग्धा करन लागे सारे ॥

रकमिनी भय कियो स्याम धोरज दियो, वान सो बान तिनके निवारे ।

राम हल मुसल प्रभारि धारयो बहुरि, पेलि के रथ सुभट बहु संहारे ॥

रुण्ड भकरुण्ड भुकि परे धर धरनि पर, गिरत ज्यो बेग करि वज्र मारे ।

जरासन्ध जीव ले भज्यो रनखेत ते, साल दंतवक्र या विधि पराए ॥

प्रात के समय ज्यो भानु के उदय, तम ले होइ जात उडुगन नसाए ।

गह्यो भगवान सिमुपाल को जीवतै, ताहि सौ वचन या विधि उचारे ॥

पुरुष को भाजिबे तैं मरन है भलो, जाइ मुरलोक द्वारे उचारे ।

बहुरि भगवान सिमुपाल को छाड़ि दियो, गयो निज देस को सो खिस्याई ॥

सस्त्र धन छांडि के भाजि नरपति गए, जादवनि ले सु हरि दियो लुटाई ।

रुकुम यह सुनि चल्थो सोह करि नृपति सौं, स्याम बलराम को बांधि ल्याऊँ ॥

आइ ह्यौ कह्यो सिमुपाल सौं मैं नहीं, आपनी बल तुम्हें अब दिखाऊँ ॥

वान वरवा लग्यो करन इहि भाँति कै, कृष्ण जु तिन्हें छिन में निवारे ।

आपने बान से काटि ध्वज-रुम को, अस्व अरु सारथी तुरत मारे ॥

रुम भू परयो उठि जुद्ध हरि सौं करयो, हरि सकल सस्त्र ताके निवारे ।

बहुरि खिसियाइ भगवान के ढिग चल्थो, चलत ज्यो पतंग दीपक दिहारे ॥

खड्ग ले ताहि भगवान् मारन चले, रूकमिनी जोरि कर विनय कीन्हौ ।

दोष इन कियो भीहि छमा प्रभु कीजिये भद्र करि स स जिव दान दोन्हौ ॥

राम अरु जादवनि सुभट ताके हने, रुधिर करि नौर सरिता बहाइ ।

सुभट मनु मकर अरु केस सँवार ज्यो, घनुष मछ चर्म कूरम बनाई ॥

बहुरि भगवान के निकट आए सकल, देखि के रुम को हंसे सारे ।

कह्यो भगवान सौं कहा यह कियो तुम, छाडिबे तैं भलो हुती मारें ॥

मरे तैं अप्सरा आइ ताको बरति, भाजि है देखि अब येह नारो ।

प्रभु तुम्हरो मरम रुम जान्यो नहीं, छाडि दीजे याहि अब मुरारी ॥

रुम सिर नाइ या भाँति विनती करो, बुद्धि बल मर्म तुम्हरो न जानौ ।

प्रभु तुम अनन्त तुम तुमहि कारन, करन मैं कौन भाँति तुमको पछानौ ॥

दीन बन्धु कृपासिधु कहना करन, सुनि विनय दया करि छांडि दोन्हौ ।

बहुरि निज नगर पैठ्यो न सो लाज करि, तहैं पुनि आपनो वास कीन्हौ ॥

आइ भीषम दियो दाइज ता ठौर बहु, स्याम आनन्द सहित पुर सिधाये ।

सुनत द्वारावती माहि-उत्सव भयो, सूर जन मंगलाचार गाये ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वासुदेवचरणाकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५१वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ५२वां अध्याय

राजस-साधन-अवान्तर-प्रकरण

“षष्ठं अध्याय”

प्रद्युम्न का जन्म और शम्बरासुर का वध



कारिका—निरूपितो भगवतो भार्यायास्तु परिग्रहः ।

षष्ठाध्याये तु पुत्रस्य स्वीकारोऽत्र निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्वाध्यायों में भगवान् ने रुक्मिणी को भार्यापन से स्वीकार किया, यह निरूपण हुआ, अब छठे अध्याय में पुत्र की स्वीकृति का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—लोके हो पुत्र भार्याणां सम्बन्धे स्याद्धि संसृतिः ।

दुष्ट भावेषु संसृष्टास्त्वत्र कृष्णेन मोक्षिताः ॥२॥

कारिकार्थ—लोक में पुत्र तथा भार्या से सम्बन्ध होने पर ही संसार होता है, यहाँ दुष्ट भावों से निर्मित हैं अर्थात् भगवान् में विपरीत भाव करते हैं, उनको कृष्ण ने मुक्त कर दिया ॥२॥

कारिका-- न चापि भगवान् कृष्ण. कमप्यत्र निवारयेत् ।

भागिनं यत्र यो भागी निवृत्ते हरिसाद्भवेत् ॥३॥

कारिकार्थ—भगवान् कृष्ण यहाँ किसी भी भागी का निराकरण नहीं करते हैं, जहाँ जो भागी (अंशविशिष्ट) निवृत्त होता है, वह हरि के साथ मिल जाता है ॥३॥

कारिका—अतः शम्बर निमुक्तः पुत्रो जात इतीर्यते ।

पुत्रत्वं च न कालादे. किन्तु स्वेच्छात एव हि ॥४॥

कारिकार्थ—अतः शम्बर से छूटा हुआ पुत्र हुआ, यों कहा जाता है, यह पुत्रत्व काल आदि कारण से नहीं है, किन्तु अपनी इच्छा से ही हुआ है ॥४॥

कारिका--तादृशस्य ही जीवस्य ततः काम कथोच्यते ॥४३॥

कारिकार्थ--इस कारण से वैसे जोव की काम कथा कही जाती है ॥४३॥

—: इति कारिका सम्पूर्णां :—

आभास—पूर्वाध्यायैः भार्येच्छया भगवता भार्या कृता । अत्रापि पुत्रेच्छया भगवता कामः पुत्रः कृत इत्याह कामस्त्विति ।

आसाभार्थ—पूर्वाध्यायों में यह वर्णन हुआ है कि भगवान् की भार्या होने की इच्छा थी, जिससे उसको भगवान् ने अपनी भार्या बनाई, यहाँ भी प्रद्युम्न की इच्छा थी कि मैं भगवान् का पुत्र बनूँ, इसलिए भगवान् ने काम रूप प्रद्युम्न का पुत्रत्व से स्वीकार किया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी "कामस्तु" श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्रागुद्रमन्युना ।

देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—जो वासुदेव का अंश रूप काम महादेव के क्रोध से पहले दग्ध हो गया था, वह फिर देह प्राप्ति के लिए उस प्रभु की शरण गया अर्थात् उनमें प्रविष्ट होकर उससे उत्पन्न हुआ ॥१॥

श्लोक—स एव जातो वंदर्भ्या कृष्ण वीर्यं समुद्भवः ।

प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥२॥

श्लोकार्थ—वह ही श्रीकृष्ण की क्रिया शक्ति रूप वीर्य से रुक्मिणी से जन्म लेकर, प्रद्युम्न नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो पिता श्रीकृष्ण से सर्व प्रकार न्यून नहीं था ॥२॥

सुबोधिनो—वैदर्भी भक्ति प्रधानेति । भगवतो वीर्यमत्र क्रियाशक्तिः, नत्वन्नमयम् । क्रिया हि सतो भवति । चिद्रूपः स्वयम् । सदंशमेवापेक्षते । सदंशे निर्गलितं रूपं क्रियाशक्तिरिति क्रियाशक्तौ भाविभूतः । तदुक्तम् । कृष्णवीर्यं समुद्भवो यस्येति । एवकारो जीवान्तरप्रवेशाभावाय । अत एव लोके प्रद्युम्न इति विख्यातः । प्रकर्षोऽणुद्युम्नं

यस्मादिति । रुक्मिण्यंशसम्बन्धात् आनन्दांशोऽपि तत्र सिद्धः । उत्पादकश्च प्रद्युम्न इति तस्याभिलषितमेव नाम जातमित्युक्तम् । एवमपि भगवदिच्छा चेन्नानुगता स्यात्, तदा अक्षयदेहो न भविष्यतीति भगवत्सारूप्यं प्राप्तवानित्याहुः पितुः सर्वतोऽनवम इति । अवमः क्षयः केनाप्यंशेन अन्यून इत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यानार्थ—वैदर्भी (रुक्मिणी) में भक्ति मुख्य है । श्लोक में 'कृष्ण वीर्यं समुद्भवः' पद कहा है जिसमें 'वीर्य' शब्द से यह भ्रम होता है कि यह वीर्य अन्न से उत्पन्न होने से अन्नमय होगा, अतः इस भ्रम निवारणार्थ स्पष्ट कहते हैं कि यहां 'वीर्य' शब्द से भगवान् की क्रियाशक्ति कही है, नहीं कि अन्नमय वीर्य कहा है, भगवान् की क्रियाशक्ति उनके सदंश से उत्पन्न होती है, काम स्वयं तो चिदंश है, उसको सदंश की ही अपेक्षा थी, जिससे वह सदेह होकर प्रकट हो सके क्योंकि देह सदंश से बनती है, इसका भावार्थ है कि प्रद्युम्न की देह भगवान् का सदंश है, सदंश में पड़ा हुआ रूप क्रियाशक्ति है, इसलिये क्रियाशक्ति में प्रकट हुआ, अतः कहा है कि 'कृष्ण वीर्यं समुद्भवः' कृष्ण के वीर्य में (क्रिया शक्ति में) जिसका (प्रद्युम्न का) प्राकट्य हुआ है, 'एव' पद श्लोक में देकर यह सिद्ध किया है, कि इसमें (प्रद्युम्न में) कोई जीव नहीं है इसलिए ही लोक में 'प्रद्युम्न' नाम से प्रसिद्ध हुआ है अर्थात् जिससे विशेष तेज व बल प्रकट होता है, इस प्रकार उसका अभिलषित ही नाम पड़ा, इस प्रकार होने पर भी यदि भगवान् की इच्छा वैसी, न हो, तो वैसी अक्षय देह की प्राप्ति न होती, इस तरह भगवत्सारूप्य को प्राप्त हुआ जिससे पिता से किसी प्रकार कम न हुआ ॥ २ ॥

आभास—एतन्मध्ये नारदेन शम्बरौ बोधितः । यावदयं निदंशो न भवति, तावन्मारणीयः । अन्यथा भगवद्वस्तस्पर्शं अवध्यो भविष्यतीति । स हि कामस्य शत्रुः । यदा सर्वेषामेव भागो निर्मुक्तो भवति तदैव भगवान् पुत्रत्वेन ग्रहीष्यतीति । एवमुक्तस्य शम्बरस्य वृत्तान्तमाह ।

आभासार्थ—इसी बीच में नारद ने शम्बर को जतादिया कि जब तक यह दश दिन कान हो उसके पहले ही इसको मार डालना चाहिये, यों नहीं किया जायगा तो दश दिन के

अन्तर भगवान् के हस्त का रक्षार्थ हो जाने से, यह अवध्य होगा अर्थात् कोई भी इसको मार न सकेगा, वह काम का शत्रु है, जब सर्व के भाग से यह छूटेगा तब भगवान् इसको पुनः प्रहण करेंगे, नारद के कहने पर जो शम्बर ने कृत्य किया, उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा लोकमनिर्दशम् ।

स विदित्वात्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यादानृहम् ॥३॥

श्लोकार्थ—अपनी इच्छानुकूल रूप धारण करने वाला वह शम्बर उसको अपना शत्रु जान कर दस दिन के, भीतर ही, उस बालक का हरण कर समुद्र में फेंक कर धर गया, ॥३॥

मुबोधिनी—कामरूपी स्त्रीरूपेणान्तः प्रविष्टः । न्तरान्नारदादित्सद्यवसेयम् । उदन्वति समुद्रे कातरूपमस्मिन्वतंत इति सजातोयेन सजातोयो हृत इति न रक्षकैर्देवैः स रक्षितः । अत एवानिर्दशं दशाहात्पूर्वमेव तोकं बालकं हृत्वा । न निर्गतानि दशाहानि यस्येति । अहःशब्दस्य लोपः । समुद्रो भक्षयिष्यतीति समुद्रे प्रक्षिप्तवान् ॥३॥

व्याख्यान—यथेच्छरूप धारी शम्बर ने स्त्री रूप धारण किया उस रूप से वह भीतर गया, शम्बर पुरुष है इसलिए इसमें काम रूप है ही, अतः एक ही जाति वाले ने जाति वाले का हरण किया, इसलिए रक्षक देवों ने भी इसकी रक्षा नहीं की, अतः दशाह से पहले ही बालक का हरण किया, क्यों हरण किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि शम्बर ने इसको अपना शत्रु समझा इसलिए हरण किया, नारद से यह ज्ञान पाया था यों कि यह बात ध्यान में रखना इसलिए हरण के बाद समुद्र में उस बालक को फेंक कर अपने घर गया (उसे) मारा क्यों नहीं समुद्र में क्यों फेंका ? इसका समाधान करते हैं, बालक को “नहीं मारना चाहिए” ऐसी आज्ञा है, जिसका भोग, काल नहीं करता है उसका ही सब आदर करते हैं, उसको प्राकृत मानकर समुद्र में फेंक दिया, मन में यह विचार किया कि समुद्र स्वयं इसका भक्षण कर लेगा, इस विचार से समुद्र में फेंका ॥३॥

आभास—ततः समुद्रो विपरीतं कर्तुं मत्स्यग्रासं कारयित्वा तस्यैव गृहं प्रेषयामासेति निरूपयति तं निर्जगार बलवानिति ।

आभासार्थ—पश्चात् समुद्र ने तो शम्बर के विचार के विपरीत किया, अर्थात् उसको मत्स्य का प्राप्त करवाकर उस (शम्बर) के ही घर भिजवाया जिसका वर्णन “तं निर्जगार” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं निर्जगार बलवान्मोनः सोऽप्यपरैः सह ।

ततो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥४॥

श्लोकार्थ—समुद्र में बलवान मत्स्य ने उसको ग्रस लिया, पश्चात् उस मत्स्य को भी दूसरे मत्स्य के साथ मच्छजोवियों ने बड़ी जाल से पकड़ लिया ॥४॥

सुबोधिनो—स हि सचेतनो बालकः । गिलने प्रतिबन्धं करोतीति तदर्थमाह बलवानिति । सोऽपि मोनैरपरदुर्बलेर्मनिः सह तदीयः महता जालेन गृहीतः । ततोऽपि जालस्य महत्त्वं बल-
वत्त्वं च । मत्स्यजीविभिरिति तेषां तदुद्यमः सहजः । अतो नात्र अधिकः प्रयासो निरूपणीयः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह था तो बालक किन्तु उस अवस्था में भी चेतन्य था जिससे वह ग्रसने में रूकावट करेगा, इसी कारण से, कहा है, कि वह निगलने वाला मत्स्य साधारण मत्स्य न था, किन्तु बलवान् था, जिससे वह बालक होते हुए भी रूकावट करने में सफल न होवे, वह निगलने वाला मत्स्य दूसरे जो निर्बल मत्स्य उसके साथ थे उन समेत बड़े जाल से पकड़ा गया, इससे जाल का भी महत्व और बलवत्त्व बताया । पकड़ने वाले मत्स्य जीवी थे उनका यह उद्यम सहज है, अतः इस विषय में अधिक प्रयास निरूपण करने योग्य नहीं है ॥४॥

आभास—ततः शम्बरः कैवर्तानामधिपतिः प्राणमहामत्स्येः कैवर्तः स मत्स्यः तस्मै दत्त इत्याह तं शम्बरायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् धीमरों के अधिपति शम्बर को, उन धीमरों ने वह मत्स्य दिया, जिसका वर्णन “तं शम्बराय” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्नु रूपायनम् ।

सूदा महानसं नीत्वा वदन् वधितिनर्ताद्भुतम् ॥५॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यं न्यवेदयन् ।

श्लोकार्थ—धीमरों ने बड़े मच्छ को लाकर शम्बर को भेंट किया रसोईयों ने रसोड़े घर में लेजा कर उस अनूठे मच्छ को छुरी से चीर डाला, जिसके उदर में बालक को देखा, वह बालक मायावती को दे दिया ॥५॥

सुबोधिनो—उपायनमुक्त्वाऽप्युपायनम् । सोऽप्य-
विचार्यैव सूदेभ्यः पाचकेभ्यो घातकेभ्यो वा दत्त-
वान् । सूदाः पुनः महानसं स्थानं नीत्वा अब-
द्यन् । ततः अद्भुतं बालकं तस्य उदरे दृष्ट्वा
मायावत्यं न्यवेदयन् । सा हि रतिः कामस्य
भार्या आसीत् । ततो दग्धे कामे तद्भार्या यदा
शम्बरेण नीयते, तदा माया तस्यां प्रविष्टा । तदा
मायावतीति नाम प्राप्तवती । सा च तेन प्रतिक्षणं
मायया मोहितेन पाकाध्यक्षा निरूपिता । ततो
बालकः मायावत्या दृष्टः ।

व्याख्यार्थ—“उपायन” पद का भावार्थ है श्रेष्ठ भेंट, उसने भी बिना विचार किए ही रसो-

ईयों को वा घातकों को दी, रसोईयों ने उसको रसोई घर में ले जाकर मार डाला, पश्चात् उसके उदर में अद्भुत बालक देखा, जिसको मायावती को दिया, वह मायावती रति नामवाली काम की पत्नी थी, जब काम शम्भु देव के क्रोधाग्नि से जल गया तब उसको स्त्री रति को शम्बर ले आया जिसमें माया प्रविष्ट हो गई, तब उसका नाम मायावती प्रसिद्ध हुआ, माया स प्रतिक्षण मोहित उसने इसको रसोई घरको अध्यक्षता बनाई, पश्चात् मायावती ने वह बालक देखा ॥५३॥

आभास—कोऽप्ययं कपटैन मां ग्रहोष्यतीति भयाच्छङ्कितचित्ता जाता, ततो नारदः पुनरागत्य तां बोधितवानित्याह नारदोऽकथयदिति ।

आभासार्थ—मायावती इस बालक को देख, भयपूर्वक चित्त में शंकित हुई, कि यह जो कोई भी है वह मुझे ग्रहण करेगा, अनन्तर नारद ने आकर इस मायावती को समझाया, जिसका वर्णन “नारदो कथयत्” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नारदोऽकथयत्सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।

बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ॥६॥

श्लोकार्थ—नारद ने शंकित चित्तवाली मायावती को यह बालक कौन है ? किससे उत्पन्न हुआ ? मत्स्य के उदर में कैसे प्रविष्ट हुआ ? यह सब कथा सुना दो ॥६॥

सुबोधिनी—बालस्य तत्त्वं कामदेवं उत्पत्तिं सात्त्विकं राजसं तामसं च । यद्ययं मत्स्योदरे कृष्णान्नारदप्रेरणया शम्बरद्वारा मत्स्योदरनिवेशनम् । ततोऽन्नागमनं तु स्पष्टमेवेति त्रयमुक्तम् । विवाहा अयुक्ताः स्युः ॥६॥

व्याख्यानार्थ—यह बालक काम है, कृष्ण से उत्पन्न हुआ है, मेरी प्रेरणा से शम्बर द्वारा समुद्र में फेंकने से इसने मत्स्य के उदर में प्रवेश किया, पश्चात् यहाँ आना तो स्पष्ट ही है, जो आपने देखा ही है, इस प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन ही बात समझा दो, जो यह मत्स्य के उदर में प्रविष्ट नहीं होता तो आगे भगवान् जो स्त्री विवाह काम पूर्वक करते वे अयोग्य दीखते ॥६॥

आभास—ततस्तया ज्ञात्वा स गृहीत इति वक्तुं तस्याः स्वरूपमाह सा चेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जब मायावती ने उस बालक का स्वरूप जाना कि यह कामदेव मेरा पति है, तब उसका ग्रहण किया, यह बताने के लिए “सा च” श्लोक में उस मायावती के स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सा च कामस्य च पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।

पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ॥७॥

श्लोकार्थ—वह यशस्विनी रति नाम वाली कामदेव की स्त्री, दग्धदेह वाले अपने पति के देह की उत्पत्ति की प्रतीक्षा कर रही थी ॥७॥

सुबोधिनी—तस्याः आकाङ्क्षित एवायं स्थितः । चकारस्त्वर्थसमुच्चयार्थः । नारदः अकथयत् । साप्याकाङ्क्षायुक्तेति । कामयैव पत्नी, न तु कामेन यस्य कथञ्चित् । रतिरिति तस्या नामेति प्रसिद्धिः । अनेन लोकेऽपि तस्या निन्दाभाव उक्तः । यथा कामः पुरुषेषु, तथा रतिः स्त्रीषु प्रतिष्ठितेति प्रसिद्धिः । किञ्च । यशस्विनी

प्राप्तयशाः । अतो यशःसम्बन्धात् नापकीतिसम्भावना । नन्वेतादृशो भर्तृमरणे वेद्यव्यधर्मपरिपालनाय योग्या कथं रूपान्तरस्थपति गृहीतवती, तत्राह पत्युनिर्दग्धदेहस्येति । न हि पतिमृतोऽस्ति । अन्यथा जगदुत्पत्तिरेव न स्यात् । किन्तु देह एव दग्धः, तस्योत्पत्तिमेव प्रतीक्षते ॥७॥

व्याख्यार्थ—यह कामदेव उसकी आकांक्षा करता हुआ स्थित था, अर्थात् रतिकी प्राप्ति कब और कहाँ होगी, ऐसा विचार एव इच्छा कर रहा था श्लोक में “च” पद अर्थ समुच्चय के लिए दिया हुआ है, नारद ने कहा कि, वह भी इसकी आकांक्षा वाली है, काम की ही पत्नी है, न कि काम के कारण जिस किसी और की, उसकी “रति” नाम से सर्वत्र प्रसिद्धि है इस कारण से लोक में भी इसकी निन्दा नहीं हो रही है, यों कहा है जिस प्रकार पुरुषों में काम प्रतिष्ठित है वैसे ही स्त्रियों में रति प्रतिष्ठित है, यह प्रसिद्ध ही है और विशेष यह है कि इस ने यश प्राप्त किया है अतः यश से सम्बन्ध होने के कारण अपकीर्ति की सम्भावना भी नहीं है वैसे यशस्विनी होने से, तो इसके पति के मर जाने पर वैधव्य धर्म पालन करना ही योग्य था न कि अन्यरूप में स्थित पति को ग्रहण करना चाहिए, इस शंका के मिटाने के लिए कहते हैं कि “पत्युनिर्दाद्य देहस्य” पति मरा नहीं था, जो वह विधवा हुई ही उसका केवल शरीर ही जला था, यदि यह मर गया होता तो जगत की उत्पत्ति ही न हावे, किन्तु देह ही दग्ध हुई थी, जिससे देह की उत्पत्ति की ही प्रतीक्षा कर रही थी ॥७॥

आभास—तस्यास्तन्नागमने हेतुमाह निरूपितेति ।

आभासार्थ—वहाँ उसके आने में क्या कारण है वह “निरूपिता” श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक — निरूपिता शम्बरेण सा सूपोदनसाधने ।

कामदेवं शिशु बुद्ध्वा चक्रे स्नेह सदाभके ॥८॥

श्लोकार्थ—उस “मायावती” को शम्बर ने दाल भात बनाने के लिए रसोई घर में नियुक्त कर रखी थी, वहाँ जो बालक मिला वह कामदेव था अतः उस बालक से प्रेम करने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—सूपोदनानां पाचने । सा हि रिणी भवतीति तद्रक्षार्थं पाकस्थाने नियुक्ता । मायां जानाति सूपकारणाम् । तन्माया प्राणहा- अनेन भक्ष्यभोज्यादिसम्पत्तिः तस्याः सिद्धा ।

लोकाः तस्याः पुत्रत्वेन तं जानन्ति । सा तु न बुद्ध्वा, तत्रापि देवं पतिं शिशुत्वेन समागतम्, पुत्रत्वेन तं प्रति पालितवती, अपि तु काममेव अभङ्गे स्नेहं चक्रे ॥८॥

व्याख्यार्थ—दाल भात के पकाने में शम्बर ने इसको नियुक्त किया, कारण कि रसोईयों के छल कपट को वह जानता था उनके छल कपट प्राणों का हरण करने वाले होते हैं उस छल कपट से प्राणों की रक्षा हो। तदर्थ इसको रसोई घर में रखा था इससे भक्ष्य भोज्य आदि सम्पत्ति तो इसके पास ही है लोक तो बालक को इसका पुत्र ही समझते हैं, परन्तु वह तो इसका पुत्रयन से पालन नहीं करती थी किन्तु यह कामदेव मेरा पति है यों जान कर उसका केवल पालन नहीं किन्तु साथ में स्नेह भी करती थी ॥८॥

आभास—ततोऽल्पेनैव कालेन मत्स्योदरसम्बन्धात् भगवत्सम्बन्धाच्च सप्तम एव वर्षे यौवनं प्रादुर्भूतमित्याह नातिदीर्घेण कालेनेति ।

आभासार्थ—पश्चात् थोड़े ही काल में अर्थात् सातवें वर्ष में ही वह युवा हो गया कारण कि उसका एक तो मत्स्य के उदर से सम्बन्ध हुआ था और दूसरा भगवान् से सम्बन्ध हुआ था इन दोनों कारणों से शीघ्र यौवन आगया जिसका वर्णन “नातिदीर्घेण” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नातिदीर्घेण कालेन स काष्ठीं रूढयौवनः ।

जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च दिभ्रमम् ॥९॥

श्लोकार्थ—थोड़े ही काल में वह प्रद्युम्न तरुण हो गया, जो स्त्रियाँ देखती थी उनके मन का हरण हो जाता था ॥९॥

सुवोधिनी—षोडशे वर्षे यौवनप्रादुर्भावः, कस्यचित् द्वादशे, कस्यचिदष्टम एव । अयं नाति-दीर्घः कालः, यतः कार्ष्णिः पितुः पुत्रः । रूढं यौवनं यस्य । तदा वीक्षन्तीनां विभ्रम जनया-मास । युवतीनां यथा मनोवृत्तिः, तदा सर्वजनीनां यौवनम् । अन्यथा अलौकिकमेव यौवनं स्यात् । किंबहुना वीक्षन्तीनां देवस्त्रीणामपि जनयामास ॥९॥

सुवोधिनी—सोलह वर्ष में यौवन प्रकट होता है, किसी की बारह वर्ष में और किसी की आठवें वर्ष में ही प्रकट हो जाती है यह बड़ा लम्बा समय नहीं है क्योंकि कृष्ण का पुत्र है अतः जैसा पति वैसा पुत्र, इस कारण से शोघ्र सातवें वर्ष में जवान हो गया, उस समय ही देखने वाली स्त्रियों में काम चेष्टा उत्पन्न हो जाती थी जब युवतियों की इस प्रकार की मनोवृत्ति होती है तब समझना चाहिए कि इसमें पूर्ण यौवन प्रकट हो गया है नहीं तो वह यौवन अलौकिक हो होता है, विशेष बया कहा जाय, केवल मानव स्त्रियों के मन का हरण नहीं होता किन्तु देव स्त्रियों में भी देखने से इसी प्रकार चेष्टा हो जाती है ॥९॥

श्लोक—सा तं पति पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।

सबोडहासोत्तभितभ्रुवैक्षती प्रीत्योपतस्थे रतिःङ्ग सौरतः ॥१०॥

श्लोकार्थ—कमल दल के सदृश नेत्र वाले, लम्बी बाहुवाले, मनुष्य लोक में सुन्दर उस अपने पति को वह रतिरूपा मायावती लज्जा युक्त एवं मुसकान सहित ऊँची की हुई भृकुटी से ईक्षण करने लगी तथा प्रेम पूर्णक सुरत सम्बन्धी भावों से सेवन करने लगी ॥१०॥

सुबोधिनी—ततः पतित्वात् चिरमभिलषितत्वात् योवनविलम्बः प्राप्तौ योवने तमुपतस्थे । एतदग्रिमकार्यार्थं निरूप्यते पद्मदलायतेक्षणमिति । कामोद्बोधकत्वात् कामत्वाच्च । तस्याः सङ्गाभावेन स्थातुमशक्तिमाह प्रलम्बबाहुमिति । उपगूहनसामर्थ्यं सर्वाङ्गसुखस्वाय । नरलोकसुन्दरमिति । तादृशे मोह उचित एवेति हेतुशक्तः स्वभावोद्विग्नार्थम् । प्रथमतो ब्रीडा नवसङ्गमं भावयति ।

ततो जाते रसे हासः । उभाभ्यामुत्तम्भिता या भ्रूः । सङ्गेच्छां पातिव्रत्यं च कटाक्षदर्शनेन सूचयन्ती प्रीत्या उपतस्थे । इदमुपस्थानं न देवताराधनमिव, किन्तु सौरतैः सुरतभावैः, यत इयं रतिः । ततः प्रद्युम्नः क्रियाशक्त्यैवाविर्भूत इति ज्ञानाभावस्तस्य प्रकाशयते भगवद्बलक्षय्याय । अन्यथा तुल्यतैव स्यात् । यदि ज्ञानशक्तिरपि भवेत् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर बहुत समय से पति प्राप्ति की अभिलाषावाली रतिरूपा मायावती को बालरूप में पति मिला, योवन आने में भी विलम्ब हुआ जब योवन आ गया तब पति होने से उसको सेवा करने लगी आगे जो कार्य होने वाला है उसके लिए यह निरूपण किया जाता है कि वह पति के साथ जिसके कमल दल के समान नेत्र थे, ऐसे नेत्रों से यह जताते हैं कि काम को जगाने वाले तथा काम रूप है, लम्बी बाहु वाला है इस से यह बताया कि रति के संग के सिद्धाय स्थिति असमर्थ (अशक्त) है, तथा लम्बी भुजाओं से यह भाव बताया है कि सर्व अंगों में सुख देने के लिए आलिंगन का सामर्थ्य है, मनुष्य लोक में सुन्दर नर है, जिसका भाव बताते हैं कि वैसे सुन्दर में ही मोह उत्पन्न होता है अतः स्वभाव के मिलने के लिए इसमें मोह योग्य हा है, स्त्रियों में जो प्रथम लज्जा का प्रदर्शन होता है वह नवीन संगम की भावना का द्योतक है अतः मायावती ने पहले लज्जा को, इसके बाद जब नवसंगम में रस उत्पन्न होता है तब हास होता है इन दोनों से ऊपर उठी हुई भोह मिलन की इच्छा का एवं पातिव्रत्य का कटाक्षों द्वारा सूचना करती हुई, प्रीति से पास प्राप्त हो जाती है यह पास आना देवताओं की आराधना के समान नहीं है, किन्तु सुरत भावों से परस्पर मिलन है, क्योंकि यह रति है, प्रद्युम्न क्रिया शक्ति से ही प्रकट हुआ है इस से उसमें ज्ञान का अभाव दीखता है जिससे ही प्रद्युम्न की भगवान् से विलक्षणता (भेद) प्रकट होती है, जो ज्ञान शक्ति हो तो प्रद्युम्न की भगवान् से समानता हो जावे ॥१०॥

श्लोक—तामाह भगवान्काष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।

मातृमावमतिरुग्र वर्तसे कामिनी यथा ॥११॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न माता को कहने लगा कि हे माता ! आप की बुद्धि विपरीत हो गई है, जो मातृभाव को छोड़ कामिनी की तरह कर रही हो ॥११॥

सुबोधिनी—तामाहेति । भगवान् धर्मपरः, यतः कार्णः । मर्यादार्यमवतीर्णः । सदानन्दाङ्-कुरोऽपि सदानन्द एवेति अपेक्षाभावाद्वा तथोक्तवान् । मातरिति सम्बोधनात् अज्ञानम् । व्यवहारे तथात्वात् । अनेन कामस्य धर्मविरोधित्वं सहजं निरूपितम् । अन्यथा मानुषदमुच्चार्य पञ्चा- तस्यां सङ्गं न कुर्यात् । लौकिकी भाषेयमिति पारमार्थिको विरोधः । माता हि मानं पालयति स्वस्य अन्यस्य च । न हि विवृतेष्वङ्गेषु मानं तिष्ठति । अतः सर्वप्राणिनामेव माता संरक्ष्या । अतो मातृभावं परित्यज्य गुप्तं काम दूरीकृत्य यथा कामिनी प्रकटकामा तद्वद्वर्तस इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् होने से धर्म में तत्पर है, क्योंकि कृष्ण की सन्तति है, और मर्यादा के लिए प्रकट हुआ है, सदानन्द का अंकुर भी, सदानन्द ही होता है अतः उसको किसी की भी अपेक्षा नहीं, जिससे यों कहा, कि हे माता ! इस सम्बोधन देने से अज्ञान प्रकट किया है, किन्तु व्यवहार में यों होने से. इससे काम, धर्म का सहज विरोधी है, यह निरूपण किया, यदि व्यवहार से माता शब्द न कहा हुआ होता तो, अनन्तर इससे संग न करे, किन्तु किया है अतः यह कहना व्यवहार मात्र है, यह भाषा लौकिकी है, जिससे इसमें परमार्थिक कोई विरोध नहीं है माता तो अपने और अन्य के सम्मान की रक्षा करती है, फीले हुए अङ्गों में सम्मान नहीं रहता है, अतः सर्व प्राणियों को ही माता सम्यक् रीति से रक्षा करने योग्य है, अतः मातृभाव का त्याग कर, गुप्त काम को दूर कर, जैसे कामिनी अपनी कामना प्रकट दिखाती है उसी तरह तू कर रही है ॥११॥

आभास—तदा तिरोहितज्ञानमेतं मत्वा अज्ञानादुक्तमनुक्तमिति बोधयति भवान्प्रा- रायणसुत इति ।

आभासार्थ—मायावती ने समझ लिया, कि अपने स्वरूप का ज्ञान इसका तिरोहित हो गया है, अतः इसने जो कहा है, वह अज्ञान से कहा है इसलिए इसका कहा हुआ न कहने के समान है, अतः इसको इसके स्वरूप का ज्ञान कराना चाहिए, इस विचार से “रति” इसको “भवान्प्रा- रायणसुत” श्लोक से स्वरूप ज्ञान कराती है ।

रतिरुवाच—

श्लोक—भवान्प्रायणसुतः शम्बरेण हृतो गृह्यात् ।

अहं ते दयित्वा पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो ॥१२॥

श्लोकार्थ—रति कहने लगी—कि आप श्रीकृष्ण के पुत्र हैं, शम्बासुर ने सूतिका गृह से आपका हरण किया है, मैं आपकी स्त्री “रति” हूँ और आप कामदेव हैं ॥१२॥

सुबोधनी—स हि शम्बरं पितरं तां च मातरं मन्वते । तन्निषेधार्थमाह नारायणमुत इति । एकनिषेधेनैव इतरस्य सिद्धत्वात् । स्वरूपं चाग्रे वक्तव्यमिति निरूपयति । नारायणपुत्रः कथ-मज्ञात इत्यत्रोपपत्तिमाह गृहाच्छम्बरेण हृत इति । साधारण्यपि घात्रो मानृवदेव परिपालयेति चेत्, तत्राह अहं ते दयिता पत्नोति । दयिता-त्वाहोक्तस्यागं नार्हति । पत्नोत्वान्न वेदतः । तथापि लोके प्रसिद्धचभावान् कथमेवमिति चेत्, तत्राह रतिरिति । भवांश्च काम इति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वह शम्बर को पिता और मायावती को माता मानता है यों नहीं है, इसका ज्ञान कराने के लिए मायावती बालक को कहती है कि आप नारायण के पुत्र हैं इसलिए शम्बर आपके पिता नहीं है और मैं माता नहीं हूँ यों कहकर आर कौन हैं, वह कहती है, कि आर नारायण के पुत्र हैं इस पर यदि बालक पूछे, कि नारायण का पुत्र हैं तो यहाँ कैसे आया ? इसलिए उसके पूछने से पहले ही, बतला देती है, कि शम्बर ने सूतिका गृह से आपका हरण किया है, यदि बालक कहदे, कि साधारण घात्री को माता की तरह पाला एवं समझा जाता है, इसलिए प्रथम हो बतला देती है, कि मैं घात्रीवत् नहीं हूँ किन्तु आपको दयिता (स्त्री) एवं पत्नी हूँ, दयिता (स्त्री) होने से लौकिक रीति के अनुसार भी मैं त्याग के योग्य नहीं हूँ और पत्नी होने से, वेद शास्त्र रोत्यनुसार भी आप मेरा त्याग नहीं कर सकते हैं—यों माना जाय तो भी लोक में इस बात का पता नहीं है, यदि यों कहे तो बतार देती है, कि मैं “रति” आपका स्त्री हूँ और आप कामदेव मेरे पति हो ॥१२॥

आभास—कामस्य कथमत्र शत्रुगृहे स्थितिरिति, तत्राह एष त्वेति

आभासार्थ—मैं काम हूँ तो यहाँ शत्रु गृह में मेरा निवास कैसे हुआ ? इसका उत्तर “एष त्वा” श्लोक में देती हैं ।

श्लोक—एष त्वाग्निदंशं सिन्धुवाग्निपच्छम्बरोऽसुरः ।

मत्स्योऽप्रसोत्तदुदारादिह प्राप्तो भवान्प्रभो ॥१३

श्लोकार्थ—इस शम्बासुर ने आपके जन्म को दस दिन भी न हुए, उस समय आपको समुद्र में फेंक दिया, वहाँ आपको मत्स्य निगल गया, उसके पेट में से निकलने के अनन्तर आप यहाँ प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

सुबोधनी—एष त्वामिति । असुरत्वात्तथा-करणम् । मत्स्यो हि स्वजातिघातो । तदुदारादिह प्राप्ति इत्यनेनसोऽपि हतो निरूपितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—शम्बर असुर है इस कारण से यों किया अर्थात् शिशु अवस्था में आपको समुद्र में फेंक दिया मत्स्य अपनी ज्ञातिका घात करते हैं, उसके उदर से यहाँ प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार इसने इसको भी मारा यह निरूपण किया है ॥१३॥

आभास—शम्बरः परमवशिष्यते, अतस्तं जहोत्याह तमिममिति ।

आभासार्थ—शेष शम्बर बचा है, अतः “तमिमं” श्लोक से कहती है कि इसको मारो ।

श्लोक—तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ।

मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥१४॥

श्लोकार्थ—अग्ने इस दुर्धर्षं और अजेय शत्रु को मारो, यह सैंकड़ों माया के प्रकार जानता है, अतः इसको मोहन आदि मायाओं से ही मारो ॥१४॥

सुबोधिनो—सावधानत्वाय तस्य गुणानाह दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुं मायाशतविदमिति । दुर्धर्षत्वात् न लौकिकोपायेन मारयितुं शक्यः । अग्नेन विषदानादिप्रकारा अपि व्यावर्तिताः । दुर्जयत्वात् क्षत्रियधर्मोणापि मारयितुमशक्यः । शत्रुत्वान्नोपेक्षणीयः । आत्मन इति । घातादेव निवर्तते, नान्यथेति सूचितम् । तर्हि अलौकिकयुद्धेन मारणीय इति पक्षं निवारयति मायाशतविदमिति ।

तर्ह्यवध्यः कथं मारणीय इति चेत्, तत्रोपायमाह । त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः सहितः इमं जहि । आदो मोहय, ततस्तन्मायाः प्रतियोगिमायाभिर्दूरीकुरु असुराणां हि माया भगवानिति, तस्मादेवंवित् सर्वैरेव प्रकारेः उपासीते'ति उपासनायास्तुल्यत्वः । अनेकधोपासकस्य विशिष्टत्वाच्च मोहनादिभर्मायाभिस्तन्मायादूरीकरणं युक्तमेव ॥१४॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न को सावधान करने के लिए उसके गुणों का वर्णन करती है, दुर्धर्ष^१ है, इसलिए विषदान आदि लौकिक प्रकार से यह मरेगा नहीं, दुर्जय^२ है, इसलिए क्षत्रिय धर्म युद्ध से भी मरेगा नहीं, जो उपेक्षा की जाय, वह करनी भी योग्य नहीं है, क्योंकि अपना शत्रु है जो अलौकिक युद्ध से मारा जाय, इस सिद्धान्त का भी निवारण करती है । क्योंकि सैंकड़ों प्रकार की माया जानने वाला है, तो जो अवध^३ है, वैसे को कैसे मारा जाय इसका उपाय कहिये, आप इसको अपनी मोहन आदि मायाओं से मारो, पहले इसको मोहित कर अर्थात् भ्रम में डाल दें, इसके बाद उसकी माया के प्रतिद्वन्द्वी मायाओं से इसकी माया को हटा दें, असुरों का भगवान् माया है, इसी कारण से इस प्रकार जानकार हो सर्व प्रकार उपासना तुल्य होने से, उपासना कर अर्थात् आप भी माया का आश्रय लेकर इसको मार, अनेक प्रकार से उपासना करने वाले उपासक की विशेषता होती है अतः मोहन आदि मायाओं से उसकी माया को दूर करना योग्य ही है ॥१४॥

ग्रामास—ननु यथा ममाज्ञानम्, एवं तस्यापीति, ज्ञाने सत्येव अपकारित्वात्, न मारणीय इति चेत्, तत्राह परिशोचतीति ।

ग्रामासार्थ—जैसे मुझे अज्ञान है, वैसे ही उसको भी अज्ञान है, ज्ञान होने पर ही अपकारीपन समझा जाता है । इसलिए इसको मारना नहीं चाहिये ? यदि आप यों कहो तो इसका परिणाम जो होगा वह 'परिशोचति' श्लोक में बताती है ।

श्लोक—परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।

पुत्रस्नेहाकुला दीना चित्सा गौरिवानुरा ॥१५॥

प्रमाष्येवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।

मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—टिटहरी के बच्चे चले जागे तो जैसे वह सोच करती है, वैसे तेरी माता भी तुम्हारे जाने से शोक कर रही है; जैसे बछड़ा बिना गौ व्याकुल होती है, वैसे तेरो दोन माता भी पुत्र स्नेह के कारण आकुल हो रही है; यों कहकर महात्मा प्रद्युम्न को मायावती ने सर्व मायाओं को नाश करने वाली महामाया प्रदान की ॥१५-१६॥

सुबोधिनी --माता हि दयापात्रम्, अतस्तदु-
दुःखदूरीकरणार्थं मारणीय एवेति भावः । ते
मातेति सम्भावनया द्रवति. तस्या इक्षिमणोत्वं
वा वैदर्भीत्वं वा न शोकनिवारकमिति तन्नोक्तम् ।
कुररी विवेकरहिता, सा रात्रौ शोचति । अनेन
निद्राभावोऽपि सूचितः । गतप्रजेति शोकहेतुः ।
गता केनचिदपहृता प्रजा यस्याः । नष्टायां पुन-
रावृत्तिश्छाभावात्तथा न शोकः । सापि प्रजा
पुत्ररूपेति नान्तःशोकमात्रं जनयति, किन्तु सर्व-
देहेन्द्रियाणां सर्वक्रियाराहित्यमपि करोतीत्याह
पुत्रस्नेहाकुलेति । पुत्रस्नेहोऽत्यन्तं व्याकुलतां
सम्पादयतीति लोकप्रसिद्धिः । किञ्च । पितृभ्रात्रा-
दिभिः विरोधात् परित्यक्ता । एवं बन्धुविरोधेन
मातृपक्षसहायाभावात् दीना पुत्रेणैव समाहिता
भवति । अतस्तदर्थमपि गन्तव्यमित्यर्थः । किञ्च ।
विवाहप्रभृतिमनःपरितोषाभावात् जाते पुत्रे
पित्रादयः मानयेरन् । तस्मिन्नपि गते चिन्तया
आतुरा अपि भविष्यतीत्याह आतुरेति । आतुरो
ज्वरी । विवेकेन सर्वसमाधानं भविष्यतीतिः ज्ञेत् ।
तत्र दृष्टान्तमाह गौरिवेति । वत्साभावे यथा

गोः । तस्या हि न क्वापि ममता, सर्वा ममता
वत्स एव भवति । अन्येषां तु विभक्ता ममता
भवति । अतो गौर्दृष्टान्तोक्तिर्यते सर्वत्र । इयं च
सर्वतो ममतामाकृष्य त्वय्येव स्थापितवतीति
गोतुल्या भवति । एवं निरूपणमात्रेण कार्यं न
सिध्यतीति । एवं प्रमाष्य विद्यामपि ददौ । स्त्री-
दत्ताया विद्यायाः तद्वै सिद्धिः । प्रद्युम्नो हि
विद्याग्रहणयोग्यः, नाम्नेव प्रसिद्धत्वात् । महात्मन
इति विद्या फलिष्यतीति सूचितम् । सा विद्या
स्वस्मिन्नागता मायैवेति ज्ञापयितुं मायावती-
त्युक्तम् । दैत्यादीनामिव माया साधारणी भवि-
ष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह महामायामिति । इयं
हि सर्वानेव भगवदंशान् व्यामोहयितुं प्रवृत्ता
महामाया । ननु दैत्यानां भगवानेव माया भव-
तीति कथमस्या महामायात्वम्, तत्राह सर्वमाया-
विनाशिनीमिति । तत्र हि स्वल्पाभिष्यक्तिः स्व-
धेत्यादाविव, परव्यामोहार्थं तद्रूपो भूत्वा पाल-
यति । न तु तेषां मोक्षं प्रयच्छति । अतो बावकेषु
जीवचैतन्यमिव तदपि तिरोभूतमिति सर्वमाया-
विनाशित्वम् ॥१५-१६॥

व्याख्यार्थ— निश्चय से माता दया का पात्र है, अतः उसके दुःख को मिटाने के लिए इसको मारना ही चाहिये, यह भाव है । यहाँ माता शब्द सामान्य रूप से कहा है, अतः तुम्हारी माता का इक्षिमणीय वा वैदर्भीयन भी शोक को मिटा नहीं सकता है यद्यपि स्वम भ्राता के सर्व संबंध से सम्पत्ति

स्वामी की है किन्तु वह सम्पत्ति भी इस शोक को निवृत्त नहीं कर सकेगी तथा वंदनीयन में यह भक्ति प्रधान है जिससे शोक की सम्भावना नहीं होनी चाहिये किन्तु यह पुत्र शोक ऐसा है जिसको यह भक्ति भी भेट नहीं सकती है, कारण कि कोई इसका पुत्र ले गया है जितका शोक है अतः उसका विवेक चला गया है जिससे टिटिहरी की तरह शोक करती है। रात्रि के समय शोक करती है इस कारण उसको नींद भी नहीं आती है, प्रजा चली जाय, किन्तु फिर लौट आजायेगी तो ऐसा शोक न हो किन्तु तुम्हारे लौट आने की भी उसको आशा नहीं है, फिर प्रजा कम्पा नहीं है किन्तु पुत्र रूप प्रजा है वह केवल अन्तःकरण में शोक उत्पन्न नहीं करती हैं लेकिन समस्त देह इन्द्रिय आदि की सर्व क्रिया शक्ति नष्ट कर देती है, अतः तुम्हारी माता पुत्र स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो रही है, पुत्र का स्नेह असीम व्याकुलता उत्पन्न करता है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है, विरोध के कारण पिता आता से त्यागी हुई है। उनके विरोध के कारण माता के पक्ष जाने भी सहायता नहीं करते हैं अर्थात् आश्वासन भी नहीं देते हैं जिससे वह तुम्हारी माता दीन है ऐसी अवस्था में पुत्र ही उसका सहारा होता है अतः उसके लिए भी तुमको इसको मारने के लिए जाना चाहिये, इस प्रकार कहने का तात्पर्य है, मन की प्रसन्नता के कारण विवाह आदि न होने पर भी, पुत्र उत्पन्न होता है तो पिता आदि मान देते हैं, यदि उत्पन्न हुआ पुत्र भी गुम हो जावे तो माता चिन्ता से आतुर भी होगी अतः तेरी माता भी आतुर है, आतुर की दशा वह होती है जैसे ज्वर वाले की होती है। विवेक से उसकी आतुरता का समाधान हो जायेगा, यदि यों कहो तो, यों भी समाधान न होगा, जिसमें दृष्टान्त देकर उसको सिद्ध करती है 'गौरिव' बछड़े के जाने पर गौ आतुर हो जाती है, क्योंकि गौ की ममता का स्थान केवल जैसे वत्स ही है, दूसरों की ममता तो बांटी हुई होती है किन्तु गौ की बांटी हुई नहीं होती है, इसलिए गौ का दृष्टान्त दिया है, तुम्हारी माता ने भी सबसे ममता को निकाल कर सम्पूर्ण ममता तुम में ही स्थापित की है। इसलिए गौ के समान होने से उसकी भाँति ही आतुर व्याकुल है, मायावती ने इतना कहकर सोचा कि केवल यों समझने से कार्य की सिद्धि नहीं होगी, अतः यों कह कर विद्या भी दी, स्त्री की दी हुई विद्या की सिद्धि तब होती है जब देने का समय होता है, मायावती ने सोचा कि अब इसको इस विद्या की आवश्यकता है, इस विद्या के सिवाय शत्रु मरेगा नहीं अतः देने का समय समझ विद्या दी, सर्व सुहृदों में स्त्री उत्तम है, और पति की अर्द्धांगिनी है, अतः उसकी दी हुई विद्या दान समय में देने पर सिद्धि होती है, लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि स्त्रियों का कहना शीघ्र ही हृदय में बैठ जाता है, प्रद्युम्न भी विद्या ग्रहण करने के योग्य है, नाम से ही प्रसिद्ध होने से, विद्या फली भूत होगी इसलिए 'महात्मनः' विशेषण दिया है, रति का नाम मायावती इसलिए ही हुआ कि वह माया विद्या इसमें आ गई है जैसे दंत्यों के पास साधारण माया है वैसे यह भी होगी। इस संशय को मिटाने के लिए कहा है कि यह 'महामाया' है, यह 'महामाया' इसलिये कही जाती है कि सर्व भगवदंशों को मोहित करने के लिए प्रवृत्त हुई है, जब दंत्यों की माया भगवान् ही है तब यह महामाया कैसे? इसके उत्तर में कहा है कि 'सर्व माया विनाशित्मी' समस्त मायाओं को नाश करने वाली है अतः 'महामाया' है, जब 'स्वभा' कहकर जो पितरों को अन्न आदि दिया जाता है तब जैसे भगवान् पितृरूप होकर उस पुत्र की पालना करते हैं। नहीं कि प्रकट होकर तावता पुत्रों को मोक्ष देते हैं वा संघात में जो आत्म बुद्धि है उसको नाश करते हैं, इस प्रकार अन्य को मोहित करने के लिए भगवान् मायारूप बनकर भक्त की भी पालना करते हैं, नहीं कि उनको मोक्ष देते हैं, अतः दंत्यों में विद्यमान भी जीव में स्थित भगवदंश रूप चैतन्य विरोहित है जिससे वे केवल अपने जीवन का ही कार्य करते हैं, कर्मज्ञान आदि कुछ नहीं करते हैं इसी कारण से जीवत्व तुल्य होते भी दंत्यों

इसके अपशब्द कलह को उत्पन्न करने वाले है, मैं प्रद्युम्न काम रूप हूँ तू मेरा शत्रु है इसलिये तुझे मारूँगा इत्यादि अपमान सूचक वाक्य कहने लगा ॥१७॥

आभास—ततो युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह सोऽधिक्षिप्त इति ।

आभासार्य—अनन्तर युद्ध के लिये प्रवृत्त हुआ जिसका वर्णन 'सोऽधिक्षिप्तो' श्लोक में कहा जाता है ।

श्लोक—सोऽधिक्षिप्तो दुर्गचोभिः पादाहत इवोरगः ।

निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ॥१८॥

श्लोकार्थ—दुर्गचनों से तिरस्कृत वह शम्बरसुर जैसे पीर की ठोकर लगाने से सर्प फुँकारता है, वैसे ही क्रोध से लाल लोचन, गदा हाथ में लेकर बाहर निकला ॥१८॥

सुबोधिनो—यथा तस्मिन् स्नेहः, एवं द्वेषोऽतीति कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य आक्षेपस्य दुष्टत्वमाह दुर्गचोभिरिति । दुर्गचोभिराक्षिप्तः पितापि पुत्रं मारयतीति कृत्रिमत्वे जाते कथं न प्रवर्ततेत्यर्थः । ननु मृत्युरयमिति विशेषेण समागत इति भयात् कथं न निवृत्तः, तत्राह पादाहत इवोरग इति । दोषरोषः सर्पः मरणमप्यङ्गीकरोति, न तु

निवर्तत इति । तस्य हि क्रोध एव परिपाल्यः, नत्वन्ये । तत एकेन सह एकेनैव युद्धं कर्तव्यमिति गदापाणिरैव निर्गतः । नापि बद्धकवचः, नापि ससहायः । तथा निर्गमने हेतुरमर्षात्ताम्रलोचन इति । क्रोधवशात् किञ्चिज्जातवान् । दृष्टारपि ताम्रं इति दृष्टापि न ज्ञातवान् ॥१८॥

ध्याख्यार्थ - जैसे उस बाल प्रद्युम्न में शम्बर का स्नेह था, वैसे ही द्वेष भी हुआ, इसलिये युद्ध के वस्ते कैसे प्रवृत्ति हुई ? जिसके उत्तर में कहा जाता है, कि निन्दा की दुष्टता कहते हैं, दुर्गचनों से यदि पिता का अपमान किया जावे, तो पिता भी पुत्र को मारता है यह पिता तो कृत्रिम (बनावटी) है वह मारने के लिये क्यों न प्रवृत्त होवे, शम्बर को यह ज्ञात हो गया, कि यह मृत्यु है इसलिये विशेष रूप से आया है, तब भय से क्यों न निवृत्त हुआ ? इस परं कहा कि 'पादाहत इव उरगः' जैसे पाद से आहत सर्प विशेष क्रोध ने आकर फुत्कार करता है, मरना कबूल करता है, किन्तु यहाँ से निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि उसको क्रोध की ही रक्षा करनी है न कि दूसरों की, इसलिये एक के साथ एक को ही युद्ध करना चाहिये इस कारण से हाथ में गदा लेकर अकेला ही बाहर निकला, न कवच धारण किया तथा न अपने साथ किसी सहायक को लिया था, बाहर आने में कारण, दुर्गचनों से क्रोध आ गया था जिससे उसके नेत्र लाल हो रहे थे, क्रोध के वश हो जाने से कुछ भी जान न सका, दृष्टि लाल हो जाने से देख कर भी जान नहीं सका ॥१८॥

आभास—ततः प्रथमत एव स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह गदामाविध्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् स्वयं शम्बर ही प्रथम मारने के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'गदामाविध्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने ।

प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिर्घोषनिष्ठुरम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—उस दैत्य ने बहुत शीघ्रता से गदा को फिराकर महात्मा प्रद्युम्न के ऊपर फेंककर वज्र के गिरने के समय जो भारी घोष होता है, वैसी ध्वनि की ॥१६॥

सुबोधिनी - क्रोधवशान्महतीमपि गदामुत्तोत्य । दत् । मूर्च्छितस्य तेन नादेन सुतरां मरणं भवतीति
 आरामित्वा वा । तरसा यावन्न सावधानो ज्ञापयितुं विशिनष्टि वज्रनिर्घोषनिष्ठुरमिति ।
 भवति । अनेन अपराधादपि तस्य पराजय एवेति वज्रस्य नितरां घोषः पातसमयशब्दः । ततोऽपि
 सूचितम् । महात्मन इति । तस्य पलायनाद्यभावः निष्ठुरमिति ॥१६॥
 सूचितः । प्रक्षेपमात्रेणैव मारित इति मत्वा ध्यन-

व्याख्यार्थ—क्रोध वश होने से भारी गदा को ऊपर उठाकर अथवा धुमा कर, बहुत शीघ्र जब तक वह सावधान न हो जावे, उसके ऊपर उसका प्रहार किया, इस तरह अपराध करने से भी उसका पराजय ही सूचित हुआ । प्रद्युम्न को 'महात्मा' का विशेषण देकर यह बताया कि वह महती आत्मा है इसलिये पलायन भी न करेगा उस (शम्बर, ने समझा कि प्रहार मात्र से ही मैंने इसको मारा डाला, इसलिये जोर से ध्वनी करने लगा, वैसे नाद से मूर्च्छित का बहुत शीघ्र मरण हो जाता है, यह जताने के लिये, उस नाद के स्वरूप की दृष्टान्त से बखान करते हैं कि वज्र गिरने के समय जैसा भारी घोष होता है उससे भी यह नाद कठोर है ॥१६॥

आभास—एतादृशोऽप्युद्यमः व्यर्थो जातः (इति) प्रद्युम्नस्य पराक्रमेणोत्त्याह
 तामापतन्तीमिति ।

आभासार्थ—प्रद्युम्न के पराक्रम से ऐसा भी शम्बर का पराक्रम व्यर्थ गया जिसका वर्णन 'तामापतन्ती' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तामापतन्तीं भगवान्प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।

अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत्स्वगदां नदन् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् प्रद्युम्न ने उस आती हुई गदा को अपनी गदा से दूर कर क्रोधित हो नाद करता हुआ अपनी गदा से शत्रु पर प्रहार किया ॥२०॥

सुबोधिनी - स्वगदया तां गदामपास्य आग-
च्छन्तीं दूरादेव मारयित्वा. ततः क्रुद्धः सन् तद्ग-
त्स्वयमपि नदन् । शत्रुमारिणोय एवेति, अन्यथा । मारयिष्यतीति वा स्वगदां प्राहिणोत् । भगवानि-
त्येतत्सामर्थ्यहेतुः । भगवत्कार्यत्वादावेशित्वाद्वा ।
भगवान् ॥२०॥

व्याख्यानार्थ - प्रद्युम्न ने अपनी गदा से उस गदा को दूर से ही तोड़कर, अनन्तर क्रोधित हो के, उसकी भाँति आपने भी, शत्रु को मारना ही चाहिये नहीं तो वह मार डालेगा, यों नाद करता हुआ अपनी गदा का शत्रु पर प्रहार किया, भगवान् विशेषण इसके सामर्थ्य का कारण है, अथवा भगवान् के कार्य होने से वा प्रद्युम्न में भगवान् का आवेश है इसलिये भगवान् कहा है ॥२०॥

आभास—ततो लौकिकेन जयाभावमाशङ्क्य मायया भगवद्रूपया युद्धं करिष्यामीति प्रवृत्त इत्याह स च मायामिति ।

आभासाय—‘स च मायां’ श्लोक में कहते हैं कि शम्बर लौकिक प्रकार प्रपनी जीत न होगी, यों समझ, भगवद्रूप माया से युद्ध कर जीतूँगा इस विचार से युद्ध में प्रवृत्त हुआ ।

श्लोक—स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् ।

मुमुक्षेऽस्त्रमयं वर्ष काष्णो वैहायसोऽसुरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—वह शम्बर मय दैत्य की सिखाई हुई दैत्यों की माया का आश्रय लेकर आकाश में स्थित हो प्रद्युम्न पर अस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥२१॥

सुबोधिनी - दंतेषीत्यनेन भगवत्त्वमुक्तम् । समूहं काष्णो प्रद्युम्ने स्वयं विहायसि आकाश
सम्यगाश्रयणं मनःपूर्वकं भक्त्या । मयदर्शिता-
मिति । सिद्धदुपदेशः सफलो भवतीति ज्ञाप-
नार्थः । ततः ग्रहश्यः सन् अस्त्रमयमाणेयाच्छ-
एव स्थितः वैहायसः । असुराणामन्तरिक्षेऽपि
गतिरस्तोति सूचयितुं तथोक्तम् ॥२१॥

व्याख्यानार्थ - ‘दैतेषी’ पद से बताया कि यह माया दैत्यों के लिये भगवान् है, अच्छे प्रकार आश्रय का भाव है, कि मनःपूर्वक भक्ति से उसका सहारा लिया है, यह विद्या मय की सिद्ध की हुई है, जिसके उपदेश की, की हुई है अतः सफल होगी, यह जानने के लिये मयदर्शिताम् पद दिया है, अनन्तर ग्रहश्य हो आकाश में स्थित होते हुए प्रद्युम्न पर आग्नेय आदि अस्त्र समूह की वर्षा करने लगा, आकाश में स्थित कहने से यह बताया कि असुरों की अन्तरिक्ष में भी गति हो सकती है ॥२१॥

आभास—ततो मायाया भगवत्त्वात् काचित्पीडा जातेत्याह बाध्यमानोऽस्त्र-
वर्षणेति ।

आभासाय—‘बाध्यमानो’ श्लोक में बताते हैं कि दैत्यों के लिये माया भगवान् है, अतः माया से बताये गये अस्त्रों से रुक्मिणी के पुत्र को कुछ पीड़ा हुई ।

श्लोक—बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिण्यो महारथः ।

सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमदिनीम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—अस्त्रों की वर्षा से पीड़ित महारथी हविमणी के पुत्र ने सत्त्वमय सर्व माया की नाश करने वाली महाविद्या का प्रयोग किया ॥२२॥

सुबोधिनी—हीनत्वं सम्पादयितुं रौक्मिण्येव इत्युक्तम् । नहि कृष्णपुत्रे बाधा सम्भवतीति । तथापि महारथः क्षत्रियजातित्वेन प्राप्तसामर्थ्यं सत्त्वात्मिकां प्रतिस्पर्धिनीं विद्यारूपां तथा साक्षादुपदिष्टां समाश्रित्य स्वयमप्यलमयं वर्षं मुमुचे इति सम्बन्धः ॥२२॥

व्याख्यान—प्रद्युम्न को कार्णव्य^१ न कह कर रौक्मिण्ये^२ कहा जिसका आशय उनकी यहाँ हीनता दिखाना है यदि कृष्ण का पुत्र कहे तो कृष्ण के पुत्र को कोई बाधा नहीं होती किन्तु बाधा इसलिए हुई कि हविमणी से भी पुत्रत्व सम्बन्ध होने से इतनी हीनता है जो कुछ बाधा हुई, बाधा होने पर भी महारथी तथा क्षत्रिय जातिपन से सामर्थ्य प्राप्त किया था जिससे सत्त्वरूप, सकल माया को बचाने की इच्छा वाली विद्या रूप माया जिसका मायावती ने साक्षात् उपदेश किया है, अतः मंत्र आदि पढ़ने के सिवाय वह माया साक्षात् स्वयं आ गई है उसका आश्रय कर स्वयं प्रद्युम्न भी अस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥२२॥

आभास—ततस्तेनापि बह्व्यो मायाः प्रदर्शिता इत्याह तत इति ।

आभासायं—“ततो गौह्यक” श्लोक में कहते हैं कि प्रद्युम्न की इस प्रकार वर्षा करने के अनन्तर उसने भी अनेक प्रकार मायाएं दिखाई ।

श्लोक—ततो गौह्यकगान्धर्वपंशाचोरगराक्षसीः ।

प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्णव्यव्यधमयत्स ताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् दैत्य ने गुह्यकों की, गन्धर्वों की, पिशाचों की, उरगों की, राक्षसों की; इस प्रकार अनेक मायाओं का प्रयोग किया ॥२३॥

सुबोधिनी—पञ्चता अङ्गमायाः, तेन हि साङ्गो भगवान् सेवित इति विज्ञायते । गन्धर्वा अपि दैत्यपक्षपातिनः । तेषामवान्तरभेदाः सन्ती-
त्याह प्रायुङ्क्त शतश इति । सर्वासामपि सकृदेव निराकरणं कृतवानित्याह । कार्णव्यः सः पूर्वप्राप्त-
मायः ता व्यधमयत् ॥२३॥

व्याख्यायं—ये पांच ही ग्रंथ मायाएं हैं इससे जाना जाता है कि इसने ग्रंथ सहित मायाहून, भगवान् की आराधना की है, गन्धर्व मी दैत्यों के पक्षपाती हैं, उनके अवान्तर भेद भी हैं, इसलिये कहा है कि सैकड़ों प्रकार से प्रयोग किये उन सकलों का भी प्रद्युम्न ने एक बार ही निराकरण कर दिया, वह कृष्ण के पुत्र हैं, पहले ही माया प्राप्त करली है, जिससे उसकी समस्त मायाओं को दबा दिया अथवा नष्ट कर दिया ॥२३॥

आभास—ततः पीरुषद्वयेऽपि नष्टं तं मारितवानित्याह निशातामति ।

आभासार्थं—पश्चात् प्रद्युम्न ने देखा कि दो बार किया हुआ उद्यम सफल न हुआ अतः उसको ही मारने लगा जिसका वर्णन 'निशातमसि' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ।

शम्बरस्य शिरः कायात्तान्मश्वश्र्वोजसाहर्त् ॥२४॥

श्लोकार्थं—फिर तीक्ष्ण खड्ग लेकर किरीट और कुण्डल सहित उसके सिर को लालश्मश्रुवाले ने पराक्रम पूर्वक धड़ से अलग कर दिया ॥२४॥

सुबोधिनी • यथा श्येने दृष्टे पक्षिणो लीयन्ते, | सहितं परित उपरि च शोभायुक्तमधोऽपि दुर्धर्षं
तथा तस्मिन् दृष्टे शम्बरो लीनो जात इति । | तान्मश्वश्रुः श्रोजसा अहर्त् । छित्त्वा नीतवानि-
निष्प्रभं तं स्वेच्छया असिमुद्यम्य किरीटकण्डल- | त्यर्थः ॥२४॥

व्याख्यायं—जैसे बाज को देख कर पक्षी छिप जाते हैं, वैसे ही प्रद्युम्न को देख कर शम्बर छिप गया, जिससे जाना गया कि अद इसकी प्रभा नष्ट हो गई है, वैसे उसको अपनी इच्छा से पराक्रम पूर्वक खड्ग को लेकर लालश्मश्रुवाले प्रद्युम्न ने किरीट तथा कुण्डल सहित नोचे और ऊपर चारों तरफ शोभायुक्त एवं दुर्धर्ष शिर को धड़ से अलग कर दिया ॥२४॥

आभास— एतत्कर्म न विगीतमिति विज्ञापयितुं देवानां सम्माननामाह प्राकीर्य-
माण इति ।

आभासार्थं—यह कर्म निन्दनीय नहीं है, यह जताने के लिये देवों का सम्मान करने का वर्णन 'प्राकीर्यमाणो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—प्राकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ।

मायंयाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ॥२५॥

श्लोकार्थं—तब देवताओं ने स्तुति की और चारों तरफ फूल बरसाये अनन्तर

आकाश में भी जिसकी गति है, ऐसी मायावती आकाशमार्ग से प्रद्युम्न को द्वारका ले गई और वहाँ उसने अन्तःपुर में पहुँचाया ॥२५॥

सुबोधिनो—आकीरणं सर्वत्र वृष्टिः । कायिके वाचनिके चोक्ते । अर्थात्मानसिकमुक्तमिति सर्वथा देवानामादर उक्तः । ततो मायावत्या अम्बरचारिण्या विहायसा आकाशमार्गेण प्रद्यु-
म्नो द्वारकां नीतः । आदौ भगवद्गृहे पुत्रत्वे सिद्धे पश्चादन्यत्र पुत्रत्वं सिध्यति । पुरशब्देन अन्तःपुरमप्युच्यते । कृष्णान्तःपुरं नीतवती प्रद्यु-
म्नस्य परिज्ञापनार्थम् ॥२५॥

व्याख्यान—'आकीरण' शब्द से यह बताया है कि चारों तरफ फूलों की वृष्टि की, कायिक और वाचनिक कहे अब सर्वथा देवों की चारों तरफ पुष्प वृष्टि से आदर करने से मानसिक आदर भी कहा, अनन्तर आकाश में फिर सकने वाली मायावती आकाश मार्ग से प्रद्युम्न को द्वारका ले गई, पहले इसका भगवद्गृह में पुत्रत्व सिद्ध हुआ था, पश्चात् दूसरे स्थान पर सिद्ध हो जाय, इसलिये उसको अन्तःपुर में ले गई, 'पुर' शब्द से अन्तःपुर भी कहा जाता है, प्रद्युम्न को जान कराने के लिये ही श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में ले गई ॥२५॥

श्लोक—अन्तःपुरवरं राजन्ललनाशतसंकुलम् ।

विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वह श्रीकृष्ण का श्रेष्ठ अन्तःपुर अनेक स्त्रियों से व्याप्त था; जैसे बिजली के साथ बादल आते हैं, वैसे इसने भी पत्नी के साथ आकाशमार्ग से अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥२६॥

सुबोधिनो—अन्तःपुरेषु वरम् । ललनाशतः संकुलम् । विद्युतेव बलाहक इति शोभा दोषाभावश्चोक्तः । आकाशमार्गेण प्रवेशे विचारोऽपि न जातः । आधिदैविकास्तु जानन्तीति न विरोधं कुर्वन्ति । पत्न्या सह प्रवेशात् लौकिकोऽपि न दोषः ॥२६॥

व्याख्यान—अन्तःपुर में उत्तम, अनेक स्त्रियों से भरा हुआ, जैसे बिजली के साथ बादल आते हैं वैसे आए, यों कह कर शोभा तथा दोषों का अभाव दिखाया, आकाश मार्ग पर आने पर किसी प्रकार का वहाँ स्थितों को विचार अथवा मन में शंका भी न हुई, कारण कि आधिदैविक तो इस रहस्य को जानते हैं इसलिये विरोध भी न किया, पत्नी के साथ प्रवेश करने से लौकिक दोष भी नहीं है ॥२६॥

आभास—ततोऽन्तःपुरं प्रविष्टस्य विचारमाह तं दृष्टेत्यष्टभिः ।

आभासार्थ—'तं दृष्ट्वा' इमं श्लोक से आठ श्लोकों में अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए प्रद्युम्न के स्वरूप को देख कर जिसका जो कुछ विचार हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतक्रीशेपवासम् ।

प्रलम्बबाहुं तान्न क्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥२७॥

अलकृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकादिभिः ।

कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्योता निलित्युस्तत्र तत्र ह ॥२८॥

अवधार्यं ज्ञानेरीषद्वैलक्षणेन योषितः ।

उपजन्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः ॥२९॥

श्लोकार्थ— भेष के समान श्यामवर्ण, पंला पीताम्बर बांधे, लम्बी भुजा वाला, अरुण सम नेत्र वाला, सुन्दर मन्द हास्य युक्त, सुन्दर मुखारविन्द वाला, नील और वक्र आदि से अलंकृत मुख - कमल वाला; उसका स्वरूप देख उसको कृष्ण समझने लगी, जिससे कृष्ण की स्त्रियां जहाँ-तहाँ छिपने लगीं, धीरे-धीरे फिर उसके स्वरूप को श्रीकृष्ण से विलक्षणता पहचान कर बसन्न हुई कृष्ण की स्त्रियां पवित्र हास वाली होकर स्त्रीरत्न सहित आए हुए प्रद्युम्न के पास आने लगीं ॥२७-२९॥

सुबोधिनो—सर्वासां त्रिभिविचारः, रुक्मिण्याः पञ्चभिः । साधारणीनां विचारे हेतुं वक्तुं प्रथमतो मोहमाह । अन्तःपुरे यावन्ता जनाः, सुतरां स्त्रियः तं प्रद्युम्नं भगवत्सदृशं दृष्ट्वा, कृष्णं मत्वा, प्रथमतः ह्योताः लज्जिताः सत्यः कृष्णस्य स्त्रियो निलित्युः । ता हि स्वच्छन्दं क्रीडमानाः स्थिताः अतो भगवान् दृष्टवानिति लज्जा । भगवत्समानतां वक्तुं विशेषणान्याह जलदश्याममित्यादिना । भगवान् षड्गुणसहितः, स्वयमयमपि सप्तधा समान इति । श्रीवत्सकौस्तुभौ विना अन्य-स्थोपलक्षणं वर्णनम् । जलदश्याममिति रूपतुल्यता । आकृतिस्तु पुत्रत्वादेव समाना भवति । पीतपट्टाम्बरमिति पीच्छदतुल्यता । प्रलम्बबाहु-मिति स्त्रीणां सम्यक् ज्ञातावयवतुल्यता । तान्न-क्षमिति अनौचित्यात् क्रुद्ध इव स ज्ञातः । इदं

वैलक्ष्यमग्रे वक्ष्यति । सुस्मितमिति । तासां भाव्यो धर्मः । रुचिरमाननमिति सर्वोत्कृष्टशोभा । अलङ्कृतं मुखाम्भोज यस्य । नीलवक्रालकादिभिः, आदिशब्देन कुण्डलकिरीटादिभिः, क्रि-बहुना भगवदीया सर्वा सामग्री ग्राह्या । मुख हि सर्वेषां भेदजनकम् । तदेव तुल्यं जातमिति भ्रमो युक्तः । यत्र नवचिह्नीना इति निलीय दर्शनं सम्भवतीति निरूपितम् । ततो जिज्ञासायां भगवतः किञ्चिदाधिक्यं श्रोवत्सादिकं च दृष्ट्वा ईष-द्वैलक्षणेन साक्षाद्भगवानयं न भवतीति निश्चि-त्य, तत्तुल्यत्वेन तदीयत्वं च निश्चित्य, पुत्र एवायं भविष्यतीति प्रमुदिताः सत्यः स्त्रीरत्नसहितं तं द्रष्टुं सर्वा एव योषितः समागताः । शुचि स्मितां यासामिति तासां भावान्तरं निवारितम् ॥२७-२९॥

व्याख्यानार्थ—सकल स्त्रियों का विचार तीन श्लोकों से और रुक्मिणी का पांच श्लोकों से कहते हैं—साधारण स्त्रियों के विचार में हेतु को कहने के लिये प्रथम मोह को कहते हैं, अन्तःपुर में जितने जन हैं, बहुत कर स्त्रियां, वे, उस प्रद्युम्न को भगवान् के समान देखकर कृष्ण मानने लगीं जिससे प हने लज्जित हो के छिपने लगी, क्योंकि वे उस समय स्वच्छन्द क्रीड़ा कर रही थीं, जिस क्रीड़ा को

अचानक अकर भगवान् कृष्ण ने देख लिया, इमलिये लज्जित हो गई, वह भगवान् जैसा ही है इसकी पुष्टि में उसके विशेषण कहे जाते हैं, जैसे भगवान् षड्गुण सहित हैं, वैसे यह स्वयं भी सातों प्रकार समान दोखता है, श्रोवत्स तथा कौस्तुभ मणि के सिवाय अन्य उपलक्षणों का वर्णन करते हैं, १-मेघ के समान श्याम वर्ण है जिससे रूप की समानता बताई आकृत तो पुत्र होने से समान होती है २-पीला पीताम्बर धारण किया था जिससे वस्त्रों से समानता हुई ३-लम्बी भुजाएं थी, जिससे स्त्रियों के अच्छी तरह प्रवचन के ज्ञान होने की समानता कही ४-अरुण नेत्र है क्योंकि अयोग्य कार्य होने से वह क्रुद्ध है यह बताया, वह विलक्षणता आगे स्फुट कहेंगे ५-सुन्दर मुसक्यान है यह स्त्रियों को प्रसन्न करने वाला धर्म है ६-मनोहर मुखवाला कहने से उसकी शोभा सबसे विशेष है यह दिखाया है नीले रंग की टेढ़ी अलकों तथा किरौट कुण्डलों में अलकृत मुखाम्भोज है, विशेष क्या कहें, भगवान् की सब सामग्री से सुसज्जित है मुख तो समस्तों के चित्तका भेदन करने वाला है वह भी भगवत्समान था इसलिये यह अत्र हुआ, कि कृष्ण है, वह अत्र योग्य ही है, जहां कहां जो कुछ होता है वह लीला ही है इमलिये छिपकर देखने लगी, यों बन सकता है इसका निरूपण किया है, अनन्तर पूर्णतया जानने की ईच्छा होने से फिर ध्यान पूर्वक देखने लगी, तब ज्ञान हुआ कि भगवान् के स्वरूप में श्रीवत्स आदि चिन्ह विशेष है, वे इसमें नहीं है इस प्रकार थोड़ी विलक्षणता से समझ लिया कि यह साक्षात् भगवान् नहीं है, यों निश्चय कर उनके समान हैं जिससे उनका सम्बन्धी है ऐसा विश्वास कर यह भगवान् का पुत्र होगा, यों जानकर प्रसन्न हुई, हृषित होती हुई स्त्रीरत्नसहित उसकी देखने के लिये, सब स्त्रियां उसके पास आईं, उम समय पवित्र मुसक्यान वालियां सब थी, क्योंकि पहले जो कृष्ण होने से पतिभाव था वह बदल कर अब दूसरा भाव अर्थात् पुत्र भाव हो गया है । २७,२८,२९।

श्राभास—तत्र रुविमण्यपि समागता, तासां तस्याश्च पूर्वोक्ता धर्मास्तुत्याः ।
विशेष वक्तुं प्रक्रियान्तरमारभते अथेति ।

श्राभासायं - वहां रुविमणी भी आ गई. उनका और रुविमणी के पहले कहे हुए धर्म समान है, अब उसके विशेष धर्म कहने के लिये दूसरी प्रक्रिया 'अथ' से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्युभाषिणी ।

अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्तुतपयोधरा ॥३०॥

श्लोकायं—स्रोह से भर रहे स्तनों वाली, मधुर भाषिणी, श्यामकटाक्षवाली रुविमणी को खीये हुए पुत्र का स्मरण हो आया ॥३०॥

सुबोधिनी—भगवत्पुत्रो भवतीति सम्भावनाया
सिद्धम् । तासां त्वस्मत्पुत्रो न भवतीति निश्चयः ।
अस्यास्तु सन्देह इति भिन्नः प्रथमः । ननु पुत्रत्वे
निर्धारिणे पश्चात्स्वस्याः अन्यस्या वेति विचारो
युक्त इत्याशङ्क्य, भगवत्पुत्रत्वं निर्धारयितुं एक-

हेलया स्वस्या अपि प्रथमतः सादृश्यं ज्ञातवती-
त्याह । तत्र श्रीसमूहे अ'सितापाङ्गी शोभनदर्शना,
असिते कृष्णे वा अपाङ्गी यस्या इति, तेन ज्ञान-
दृष्टिरस्याः अन्यापेक्षया विलक्षणोति इत्येव साद-
श्येन पुत्रं स्मृतवती, यतो वैदर्भी अत्यन्तं भक्ता ।

अन्तःकरणदेहयोः उत्तमत्वमुक्त्वा मध्ये वाचो-
ऽप्युत्तमतामाह । अन्यथा कायवाङ्मनसां एकम-
तुल्यं स्यादिति । वल्गु भाषत इति वल्गुभाषिणी।
सादृश्येन संस्कार उद्बुद्ध इति स्वसुतं नष्टम-
स्मरत् । यद्यप्यत्यन्तशिशोः स्थूलस्यापि नावयवा-
दिसाधारण्यम्, तथापि तस्याः त्रिविधोऽप्युत्कर्ष

उक्त इति तादृशस्यैव वृद्धावयं भावो भवतीति
निश्चय स्वसुतं नष्टमस्मरत् । स्नेहेन स्नुतो
पयोधरी यस्या इति । आधिभौतिकस्य देहस्य
आधिदैविकस्यापि तत्सम्पादकस्य संवादा
निरूपितः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् का यह पुत्र है ऐसा सम्भावना से सिद्ध है, हृक्मणी के सिवाय अन्यो
को तो यह निश्चय हो गया था कि हमारा पुत्र नहीं है, इसको तो सन्देह हुआ, इसलिये यह कम
भ्रमण है यह भगवान् का पुत्र है ऐसा निर्णय होने के अनन्तर ही. अपना है या दूसरी का है जिसका
विचार करना उचित है ? इस प्रकार संशय होने पर पुत्रत्व के निर्धार करने के लिये एकटक ध्यान
करने से उसमें पहले अपनी सदृशता जानने लगी, उस स्त्री समूह में सुन्दर थी अथवा कृष्णकटाक्षों
वाली होने से इसकी ज्ञान दृष्टि अन्यो से विलक्षण है इसलिये इसके ही समानता के कारण पुत्र की
स्मृति आ गई कि मेरा नष्ट हुआ पुत्र यही है, ऐसा स्मरण हो आने का कारण यह है, कि वेदभी
परभक्त है, इस प्रकार अन्तःकरण और देह की उत्तमता कहकर मध्य में वाणी की भी उत्तमता
बताते हैं, यदि तीनों की उत्तमता न कही जाय, तो उनमें समानता न होवे, मधुर भाषण करने वाली
है, इस प्रकार तीनों की उत्तमता से एकता होने पर ही संस्कार जागृत हो गया, जिससे अपने खोये
हुए पुत्र का स्मरण होने लगा, यद्यपि छोटे बालक और बड़े के स्थूल अवयवों में साधारण समानता
नहीं दोखती है. तो भी उसके त्रिविध उतकर्ष के कारण वह समझ गई कि यह वही बालक है, बड़े
होने से इस प्रकार हुआ है यह निश्चय कर नष्ट हुए पुत्र की स्मृति होने लगी जिससे स्नेह बढ़ने के
कारण स्तनों से दूध बहने लगा, आधिभौतिक देह को आधिदैविक देह बनाने वाले संवाद का
निरूपण किया ॥३०॥

आभास—एतदोयाश्चत्वारो धर्मा निरूप्यन्ते । आन्तर एको, बाह्यास्त्रयः । आदौ
परिदृश्यमानं सम्भावयति को न्वयमिति ।

आभासार्थ— इसके चार धर्म निरूपण किये जाते हैं, एक आन्तर और तीन बाह्य के, पहले
प्रकट देखने में आने वाले का वर्णन 'को न्वयं' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक— को न्वयं नरचोद्भूयः कस्य वा कमलेक्षणः ।

धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥३१॥

श्लोकार्थ—कमल तुल्य नेत्रवाला, पुरुषों में श्रेष्ठ यह कौन है ? अथवा किसका
है ? इसको किसने अपने कुक्षि में धारण किया है ? और इसने यह कौन स्त्री प्राप्त
की है ? ॥३१॥

सुबोधिनो—नु इति वितर्कं । अयं कः, देवादिषु मध्ये क इत्ययं । वेद्व्यंमणिः श्यामपीतो भवति । अयं नीलमेघश्यामोऽपि तथा सहितस्तत्कान्त्या वेद्व्यंतुल्यो जातः । वेद्व्यंमणिश्चेत्, नरत्कारः सहज एवोत्पन्नो भवेत् । सोऽपि चेतनो भवेत् तदा प्रद्युम्नतुल्यः स्यादिति मत्वाह नर-वेद्व्यं इति । ननु कस्यचिद्देशे एतादृशा एवोत्पद्यन्ते यथा देशविशेषे पाषाणा ह्योरकरूपा भवन्ति, तस्मात्प्रःश्रयंमिति चेत्, तत्राह कस्य चेति । को

वा एतादृशः यस्यायं पुत्रो भवेत् । कमलेशण-त्वात्न स्यावरस्य । मित्रया अपि भावोऽस्मिन् दृश्यत इति न स्यावराज्जातः । नापि मानसः, नापि केवलात् पुरुषात् । अतः का वा तादृशपुरुषयोग्येति तां भावयति कया वा जठरे धृत इति । अस्तु वा इयं भार्या एतद्योग्या, कथमनेनोपलब्धेत्याह केयं लब्धेति । अनेनापि इयं का लब्धा । वेत्यानादरे । हविमणीहृदये सा न सम्यग्भातीति । पूर्वजन्मसम्बन्धनीति ॥३॥

व्याख्यायं—‘नु’ पद संदेह अर्थ में है यह देव आदि में कौन है ? वेद्व्यंमणि श्यामपीत होती है यह नील मेघवत् श्याम होते हुए भी मणि के संगम से वेद्व्यं मणि के संगम से वेद्व्यंमणि के समान हो गया है, यदि वेद्व्यंमणि सम हो तो पुरुषाकार इसका सहज ही उत्पन्न होना चाहिये, वह चेतन भी होना चाहिये अतः यह प्रद्युम्न के बराबर है यों समझ कर कहा कि नः वेद्व्यं’ ऐसे नर जहाँ-तहाँ उत्पन्न नहीं होते है किन्तु किसी वंश में ही वंश उत्पन्न हाते है जैसे विशेष देश में हीरकरूप पाषाण पैदा होते हैं, इसी से कोई अश्चर्य नहीं है कि यह किसी ऐसे विशेष वंश में उद्भूत हुआ है यदि यों है तो किसके यहां उत्पन्न हुआ है? वह वंश कौन सा है? जिसमें यह पुत्ररूप से प्रकट हुआ है, उस वंश में भी वह कौन सा पिता है जिसका यह पुत्र होके आया है । किसी स्थावर का भी नहीं है क्योंकि कमलनेत्र है, और यह भी दील रहा है, कि इसमें स्त्री भाव भी है अर्थात् केवल स्त्री वा पुरुष से उत्पन्न नहीं हुआ और न केवल मन से प्रकट हुआ है? ऐसे सुयोग को गर्भ में धारण करने वाली माता कौन है? जिसने अपनी कुक्षि में इसको धारण किया? अस्तु, इसके योग्य यह भार्या इसने कसे प्राप्त की है? अथवा ‘वा’ शब्द से अनादर प्रकट करती हुई कहती है कि यह इसने कौसी स्त्री प्राप्त की है? हविमणी के हृदय में वह अच्छी नहीं जचती है, कारण कि वह पूर्व जन्म की सम्बन्धिनी है इसका ज्ञान हविमणी को नहीं है ऐसा प्रतीत होता है ॥३१॥

आभास— एतद्दर्शनेन स्वपुत्रस्मरणात् सादृश्यमेव स्मारकमिति सादृश्यमुपपादयति ।

आभासार्थं— इसके देखने से पुत्र का स्मरण हो गया उस स्मृति का कारण सादृश्य है जिसका प्रतिपादन करती है ।

श्लोक—मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृह त् ।

एतत्तुल्यव्योहपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३२॥

श्लोकार्थ—मेरा पुत्र भी नष्ट हो गया था, जिसको कोई सूतिका गृह से हरण कर ले गया था, यदि वह कहीं जीता होगा तो उसकी इतनी ही आयु है और रूप भी ऐसा ही है ॥३२॥



सुबोधिनी—मम चापीति । यथा कस्याश्चि-
दयं पुत्रः, एवं ममापि पुत्रः एतादृशो भवतीति ।
आत्मज इति गर्भाज्जातः । भिन्नतया विद्यमानं
चारुदेहणमन्यं वा तुल्यतया निरूपयतीत्याशङ्क्य
व्यावर्तयति नष्ट इति । तर्हि मृतस्य कथं तुल्यते-
त्याशङ्काह नीत इति । अयं नाशः अदर्शनार्थः ।

सूतिकागृहादित्यनिर्देश एव केनचिन्नीतः । तर्हि
कथं रक्षसा घातकेनान्येन वा नीतः । तुल्यो भवि-
ष्यतीति चेत्, तत्राह यदि जीवति कुत्रचिदिति ।
तदा एतत्तुल्यं वयं रूपं च यस्य तादृशो भवेत् ।
एतावता स्वपुत्रस्य सम्भावनजीवितस्य एतत्तु-
ल्यता निरूपिता ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—जैसे यह किसी का भी खोया हुआ पुत्र यहाँ आ गया है वैसे मेरा भी खोया हुआ
पुत्र कहीं होगा ? 'आत्मज' शब्द से यह बताया कि वह मेरे गर्भ से उत्पन्न पुत्र नष्ट हो गया है
पृथक् रूप से विद्यमान इसकी सुन्दरता वा अग्यगुणों से तुल्यता निरूपण करती हुई कहती है कि वह
मर नहीं गया किन्तु खो गया था, वह भी जब उसके दस दिन भी नहीं बीते थे तब सूतिका गृह से
कोई हरण कर गया था, राक्षस वा किसी दूसरा घातक ले गया होगा तो वह मार दिया गया होगा
वा उनके पास होगा अतः इसकी उसके साथ समानता कैसे होगी? यदि यों कहें तो मेरा कहना है कि
यदि वह, कदाचित् जीवित है, तो इसके समान ही उसकी आयु है तथा रूप भी ऐसा ही है, यों कह-
कर यह बताया है, कि जिसके जीने की सम्भावना है वैसे अपने मेरे पुत्र की इससे समानता है ॥३२॥

ग्रामास—अतः परं भेदं निराकृत्य स एवायं भवितुं युक्त इति विशेषं निरूपयति
द्वाम्याम् ।

ग्रामासायं—इसके बाद यह वह नहीं है, वैसे भेद को दूर कर दो श्लोकों से विशेषणरूप से
निरूपण करती है कि वह ही यह होने के योग्य है ।

श्लोक—कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।

आकृत्यावयवंगत्या स्वरहासावलोकनं ॥३३॥

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे घृतोऽभंकः ।

अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥३४॥

श्लोकार्थ—इसने भगवान् के समान आकार, अवयव, चाल, स्वर, हास और
दृष्टि कैसे प्राप्त की है ? कदाचित् वही बालक तो यह नहीं है ? जिसको मैंने गर्भ में
धारण किया था; क्योंकि इसमें मेरा प्रेम अधिक हो रहा है, इसीलिए मेरी वाम
भुजा भी फड़क रही है ॥३३-३४॥

सुबोधिनी - कथं त्वनेनेति । अस्तु वा अय-
मुत्तमः । तथापि शार्ङ्गधन्वनः सारूप्यं तदपुत्रत्वे
कथमनेन संप्राप्तम् । शार्ङ्गधन्वन इत्यनेन ज्या-

घाताः भगवतो निरूपिताः । ते अस्मिन्नपि दृश्य-
न्त इति कायवाङ्मनोभिस्तुल्य इति । समानान्
षड्धर्मानाह आकृत्या अवयवः गत्येति । अवयवा-

व्यवकार्याणि तुल्यानि निरूपितानि । स्वरो वाचिकः, हासावलोकनं मानसं भावसूचकमिति । एतन्तु भेदे न घटत इति स एवायं वा भविष्यतीति संभावयति । नूनं निश्चयेन । यो भगवत्पुत्रः, तत्रापि यो मया गर्भे घृतः । ननु भगवाननेकपत्नीक इति द्वीपान्तरे देशान्तरे वा भगवतः सका-

शात्कस्याञ्जिजातो भवतु, ततः सर्वमुपपद्यत इति, कथं त्वया जठरे घृतो भविष्यतीत्याशङ्क्याह वामः स्फुरति मे भुज इति । वामभुजस्फुरणमत्यन्तप्रियस्य समालिङ्गनं सूचयति । येन परमानन्दो भवति, तादृशः पुत्र एव ॥३३३॥

व्य.व्याख्यं—भले यह उत्तम हो, तो भी यदि यह भगवान् का पुत्र नहीं है तो इसने उनकी स्वरूपता कैसे प्राप्त की ? 'शाङ्गधन्वन्' भगवान् के नाम कहने से यह बताया कि जैसे भगवान् की आकृति में धनुष की रस्ती के घात है वैसे इसके आकार में भी प्रतीत होते हैं यों कहने से बताया कि यह काया, वाणी और मन से भगवान् के समान है, भगवान् के समान ६ धर्मों का वर्णन करती है, आकृति, अवयव और गति समान हैं, अवयव और अवयविके कार्य तुल्य निरूपण किये हैं, स्वर, वाचिक है और हास से देखना मन के भावों का सूचक है, यह तो भेद होने पर नहीं बन सकता है, इसलिये वह ही यह है, जो भगवान् क पुत्र होने गर्भ में धारण किया था ऐसी निश्चय से सम्भावना है, यह तुम्हारा कहना कैसे निश्चित सत्य माना जाय, जब कि भगवान् की अनेक स्त्रियां हैं किसी दूसरे द्वीप वा देश में भगवान् द्वारा किसी स्त्री से उत्पन्न हुआ होवे ? यां मान लेने से सबकुछ बन सकता है तो तुमने गर्भ में इसको धारण किया यह माना जाय जिनके उत्तर में कहती हैं 'वाम स्फुरति मे भुजः' मेरी वाम भुजा फड़क रही है स्त्री का वाम भुजास्फुरण, अत्यन्त प्रिय के समालिङ्गन का सूचना देता है, जिससे परम आनन्द होता है, वैसा होने से यह मेरा पुत्र हा है ॥३३-३४॥

आभास—एवं तस्मिन् स्वपुत्रत्वं निश्चित्यापि सम्यक् लोकतोऽपरिज्ञाने तथा व्यवहारः कर्तुं न शक्यत इति सिद्धिदाना इव स्थिता । ततो भगवान् निश्चयार्था सर्वैः सह समागत इति वदति एवमिति ।

आभासाख्यं—इस प्रकार यह मेरा ही है पुत्र यह निश्चय करके भी लोक को अब पूर्ण परिज्ञान नहीं हुआ है अतः उससे पुत्र व्यवहार नहीं किया जा सकता है इस प्रकार संदेह करती हुई के समान खड़ी ही रही अनन्तर भगवान् इसका निश्चय कराने के लिये समस्तों के साथ पधारे यह 'एव' श्लोक से कहा जाता है ।

श्लोक—एवं मोमांसमानायां गौदभ्यां देवकोसुतः ।

देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोकं प्रागमत् ॥३५॥

श्लोकाख्यं—इस प्रकार हविमणी के विचार करते हुए, देवको और वसुदेवजी के साथ उत्तमकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आए ॥३५॥



सुबोधिनो—यतोऽयं देवकीसुतः भक्तहित-
कारी, सुतरां स्त्रीणाम्, रुक्मिणी च भक्ता, सा
च मोमांसमाना क्लेशैर्नवं स्थिता । अतस्तद्दुःख-
निराकरणार्थं पुत्रत्वेन स्वीकारे पित्रादयः प्रयो-
जका इति देवक्या आनकदुन्दुभिना च सहितः

समागतः । यतोऽयमुत्तमश्लोकः । अन्यथा वाच्यता
भवेदिति । अत्र भीतिवर्तितं अक्षरच्युतकालङ्कारं
बोधयति । यथा राक्षो रक्ताक्ष इति । अयं च
पुत्रः च्युत एव स्थानात्पुनः प्राप्त इति सूचयितुं
आ सर्वे सह अगमत् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—वयों पधारे ? जिसका परिज्ञान कराने आचार्य श्री कहते हैं कि देवकी के पुत्र भक्त
हितकारी है, सुतराम् स्त्रीभक्तों का, रुक्मिणी भक्त है वह तो अब तक विचार करती हुई क्लेश
से स्थित थी, अतः उसके दुःख का निवारण करने के लिये यदि उसको पुत्र समझ स्वीकार किया
जावे तो भी उसमें पिता-माता आदि की आज्ञा ही प्रेरक है, अतः भगवान् अकेले न पधारकर देवकी और
वसुदेव को भी पधरा कर आये, क्योंकि यह उत्तम श्लोक है, यों न किया जाय तो निन्दा होती, भय
से अक्षर न लिखे जाने पर उसको 'अक्षरच्युतकालङ्कार कहकर समझाया जाता है जैसे राक्षसों को
रक्ताक्ष कहा जाता है, और यह पुत्र भी स्थान से च्युत ही हुआ और फिर प्राप्त हुआ है, यों सूचित
करने के लिये 'अगमत्' पद में 'आ' उपसर्ग और 'अगमत्' गम घातु का भूतकाल में लकार है जिसका
अर्थ है सब के साथ आये । ३५॥

आभास—आगत्यापि स्वयं कथने बहिर्मुखाः लोभं संपादयेयुरिति तूष्णीं स्थित
इत्याह विज्ञातार्थोपेति ।

आभासार्थ—भगवान् आकर भी कुछ बोले नहीं चुप होकर खड़े रहे, क्योंकि भगवान् ने
समझा कि यदि मैं स्वयं बोलूंगा तो बहिर्मुख लोग कहेंगे कि भगवान् पुत्र लोभ कर रहे हैं नारद के
मुख से सारी कथा विज्ञातार्थोऽपि श्लोक के द्वारा कहलाई ।

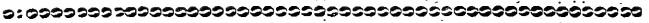
श्लोक— विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः ।
नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बरारहरणादिकम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—आप सब जानते थे तो भी चुप होकर बंठ गए । तब नारद ने, शम्बर
ने बालक का हरण किया, वहाँ से लेकर यहाँ लौटकर जैसे आया, वह सर्व वृत्तान्त
कह सुनाया ॥३६॥

सुबोधिनो—ज्ञाने भगवानिति हेतुः । तूष्णीं-
भावे जनार्दन इति । सहि जनानामविद्यामदंय-
तीति । निन्दायां तु तेषामविद्या न गमिष्यतीति ।
तदा भगवदिच्छया नारदः समागत्योक्तवानित्याह

नारदोऽकथयत्सर्वमिति । स्वकृतमेवेति दोषपरि-
हारोऽप्यनेन कृतः । शम्बरस्य आहरणमारभ्य
समाप्तमनवर्षन्तं सर्वमुक्तवान् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान में भगवान् हेतु हैं और मौन धारण में जनार्दन, वह मनुष्यों की अविद्या
को नाश करने वाले हैं, निन्दा करने पर तो उनकी अविद्या नष्ट नहीं होगी तब भगवान् की इच्छा से



नारद ने आकर सर्व समाचार कहा, अपना क्रिया हुआ ही कहा, यों कहते हुए अपने दोष का भी नारद ने परिहार किया अर्थात् अपना दोष मिटा दिया, शम्बर ने बालक का अपहरण किया वहाँ से लेकर यहाँ वह बालक स्त्री समेत आकर पहुँचा यह समस्त वृत्तान्त कहकर सुना दिया ॥३६॥

आभास—नारदवाक्यं हि सर्वेषामेव संमतम्, ततः सर्वैरङ्गीकृतं व्यमिति सापत्न्यात् कृष्णस्त्रियो रुक्मिणीव्यतिरिक्ताः प्रथममङ्गीकृतवत्य इत्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासायं—नागद का कहना सबको पसन्द आया, जिससे सबको अङ्गीकार योग्य है इसलिये पहले रुक्मिणी की जो सोतिन, श्रीकृष्ण की अन्य स्त्रियाँ थीं उन्होंने इस कहने को स्वीकार किया जिसका वर्णन 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा महाशय्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ।

अभ्यनन्दन्बहून्बदान्मृत्मृत्मिवागतम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—यह बड़े आश्चर्य की बात सुन, भगवान् के अन्तःपुर की स्त्रियाँ बहुत वर्षों के बाद मानो मर कर पीछा आया हो, जैसे प्रद्युम्न को आया हुआ मान बहुत आनन्दित हुईं ॥३४॥

सुबोधिनी - राजस्य एताः । महाशय्यं श्रुत्वेति । कथं मत्स्थभक्षितस्य जीवनम्, संपूर्णवयवत्वं च, कथं वा विशसने अक्षतत्त्वम्, समुद्रप्रलेपे वा अमरत्वमिति । तासामनङ्गीकारे बाधकमाह कृष्णान्तःपुरयोषित इति । स्वस्थाप्येवं पुत्रस्य नयने अन्या अप्यङ्गीकारं न कुर्युरिति भावः । अभ्यनन्दन् । अयं पुत्रो भवति अस्माकमिति । सापत्न्यभावेन दोषदर्शिन्यो न जाताः ।

किञ्च । परमस्नेहेन अमितः आनन्दयुक्ता अपि जाताः तत्र हेतुः । बहून्बदान् बहुवर्षपर्यन्तं नष्टमष्टमिति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । न केवलं चिरकालदर्शनमेव तत्र हेतुः, किन्तु मृतश्चेदायाति शीघ्रमेव, तदापि महानन्दो भवतीति, मृतं पञ्चास्वस्थमागतं यथा सादरं लोका अभिनन्दनं कुर्वन्ति । देहे विद्यमान एव जीवने अभिनन्दनम् ।

॥३७॥

व्याख्या— 'यै राजस्य' हे 'जे आनन्द' से सुना वह बहुत आश्चर्य का कारण था, 'जैसा कि, 'जिसके मत्स्य ने ख़ाया वह कैसे बच गया ? फिर विशेष अचम्भा तो यह है कि समस्त अवयव ज्यों के त्यों हैं अथवा खड्ग के क्षत होने पर भी अक्षत रहा है, समुद्र में फेंकने पर भी मरे नहीं, वे यदि इसको अङ्गीकार न करें तो इनके लिये यह बाधक था कि श्रीकृष्ण के अन्तःपुर की स्त्रियाँ थीं, वे विचारने लगी की यदि हमारा पुत्र भी यों हरण हो कर पीछे लौटे तो दूसरी भी उसको अङ्गीकार न करेंगी । अतः वह सोतिन होते हुए भी प्रसन्न हुईं, यह हमारा पुत्र है यों कहकर सोतिन के दोषवाले भाव दिखाये नहीं, किञ्च परम स्नेह से, पूर्णरीति से, आनन्द युक्त होने लगीं वैसे आनन्द होने में कारण वतलाते हैं कि बहुत वर्षों से जो खोया था, वह स्वस्थ अवस्था में आकर मिला है, केवल बहुत दिन से खोया हुआ मिला है यही प्रसन्नता में कारण नहीं है, किन्तु यदि मर गया हुआ जानने के बाद जल्दी

भी आ जावे तो भी हर्षोल्लास होता है, मर गया और फिर वह स्वस्थ आकर मिले तो उसका लोक आदर सहित अभिनन्दन करते हैं. देह में होते हुवे भी जीवन में अभिनन्दन होता है । ३७।

आभास— सात्त्विकानामभिनन्दनमाह देवकीति ।

आसाभास्यं—‘देवकी वसुदेवश्च’ श्लोक से सात्त्विकों का अभिनन्दन कहते हैं ।

श्लोक—देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ।

दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—देवकी, वसुदेव, राम, कृष्ण तथा स्त्रियों और रुक्मिणी; ये सब युगल को पाकर अथवा इससे मिलकर आनन्द को प्राप्त हुए ॥३८॥

सुबोधिनी तथा स्त्रियः सात्त्विक्यः तौ दम्पती । पण सर्वेषां यावत्सुखं तावदेकस्या एव जातमिति
मायावती प्रद्युम्नश्च परिष्वज्य पुत्रत्वात् पुत्रवधू- | ज्ञापनार्थम् ॥३९॥
त्वाच्च मुदं ययुः । रुक्मिणी धेति भिन्नतया निरू-

व्याख्यार्थ—देवकी, वसुदेव, राम और कृष्ण तथा सतोगुणी स्त्रियां मायावती (रति) और प्रद्युम्न से मिलकर ‘आलिंगन कर’ प्रसन्न हुए, क्योंकि एक पुत्र था दूसरी पुत्र वधु थी, रुक्मिणी का नाम पृथक् लेने का आशय यह है कि जितना आनन्द इन सबको को हुआ उतना आनन्द एक रुक्मिणी को ही हुआ ॥३९॥

आभास—साधारणानां तामसानां सम्मतिमाह नष्टं प्रद्युम्नमायातमिति ।

आभासार्थ—वहाँ जो साधारण तामस गुण वाले स्थित थे उनकी सम्मति ‘नष्टं प्रद्युम्न’ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ।

अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हान्बुवन् ॥३९॥

श्लोकार्थ—द्वारकावासी खीये हुए प्रद्युम्न का पीछा आना सुनकर कहने लगे कि मानो मर कर पीछा आया हो, वैसे यह बालक भी आ गया है, यह प्रसन्नता का विषय है, बहुत अच्छा हुआ ॥३९॥

सुबोधिनी—तेषां विपरीतभावनाभावाय | पायामश्लोचवचनं न दोषाय । हेत्याश्रयं । अहो
वचनमाह अहो मृत इवायात इति । लौकिकभा- | इति च । गमनागमनयोर्द्वयत्राश्रयंमाह ॥३९॥

व्याख्यान्यर्थ—उनको विपरीत भावना नहीं थी इसलिए कहा है कि 'ग्रहो मृत इवायत इति' मानो मरकर फिर जीवित होकर लौटे हैं, लौकिक भाषा में अश्लील वचन कहने का दोष नहीं गिना जाता है, हे प्रीर ग्रहो ये दोनों पद आश्चर्य बताते हैं, जाने प्रीर ग्रहो दोनों कार्य प्राश्चर्य कारक हैं ॥३६॥

श्राभास—कामस्य महता प्रयासेन देहग्रहणे फलं जातं नवेति सन्देहं निराकर्तुं माह य वै मुहुरिति ।

श्राभासार्थ—कामदेव ने बहुत प्रयास के अनन्तर देह ग्रहण की जिसका फल हुआ या नहीं ? इस सन्देह का 'य वै' श्लोक में निराकरण करते हैं ।

श्लोक—य वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावास्त-

श्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः ।

चित्रं न तत्सल्लु रमास्पदबिम्बबिम्बे

कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनायः ॥४०॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के सहस्र प्रद्युम्न का रूप देख, उसमें अपने स्वामी की भावना हो जाने से, उसकी माता रुक्मिणी आदि त्रे भी उससे प्रेम करने लगीं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, लक्ष्मी के निवास स्थान श्रीकृष्ण के पुत्र कामदेव का केवल स्मरण होते ही जब मन चलायमान हो जाता है, तब साक्षात् मूर्तिमान काम-रूप प्रद्युम्न के देखने से उनका मोहित होना कोई बड़ी अचम्बे की बात जब नहीं है, तो अन्य स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? ॥४०॥

सुबोधिनी—पितृसरूपतया पितुः समानं यद्रूपं तेन कृत्वा निजेशभावाः, कृष्ण एवायमिति बुद्धियुक्ताः । निजेशः कृष्णः । तस्य मातरोऽपि ऊढभावाः सत्यः तद्दर्शनेन उद्गतकामाः रहः एकात्मभजन् । निलीना जाताः । एतच्चित्रं न रमाया आस्पदरूपं यद्बिम्बं भगवान् श्रीनिवासः तस्य बिम्बं कार्यं प्रतिबिम्ब इति यावत् । बिम्ब-वदेव प्रतिबिम्बेऽपि बुद्धिर्भवतीति न कोऽपि दोषः । रमास्पदपद लक्ष्म्या अपि तत्र प्रत्यना-

थंम् । तेन लक्ष्मीश्चेत्तत्र, वयं कथं नेति तासां भ्रमे हेतुमुच्यते निरूपितः । किञ्च, कामे कामात् सर्वं सम्भवति । किञ्च । स्मरे अक्षविषये सति स्मृत एवानर्थं करोति । किमुत प्रत्यक्षविषयः । यत्र भगवत्स्त्रीणां मेर्वेषा व्यवस्था, तत्रान्यनारीणां कामोद्बोधः किं वक्तव्य इत्यर्थः । एवं कामस्य सर्वलोकेषु प्रतिष्ठितत्वमुक्तम् । स्त्रीषु प्रतिष्ठितः सुखहेतुर्भवति, न तु पुरुषेष्विति तथोक्तम् ॥४०॥

श्याख्यार्थ - प्रद्युम्न का पितृ समान रूप देख कर उसमें अपने पति का भाव हो जाने से, उसकी माताएं भी काम जागृत होने पर, एकान्त में उसका सेवन करने लगी, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, लक्ष्मी के आस्पद भगवान् का ही यह प्रतिबिम्ब है, प्रतिबिम्ब के समान ही बुद्धि होती है इस लिये कोई दोष नहीं है, वह लक्ष्मी का निवास स्थान है यों कहने से यह बताया है कि जब लक्ष्मी वृद्धा रहती है तो हम वहाँ क्यों न रहें ? इस प्रकार उनके भ्रम होने में यह मुख्य कारण बताया है, काम होने पर, काम से सर्व होना सम्भव है, जब काम अक्ष विषय होता है तब केवल याद करते ही अनर्थ करता है, तो फिर प्रत्यक्ष होवे तो क्या अनर्थ करेगा वह कहा नहीं जा सकता, जहाँ उसके दर्शन से भगवान् की स्त्रियों की यह दशा है वहाँ अन्य स्त्रियों में काम जागृत हो अनर्थ करे इसमें कहना ही क्या है ? इस प्रकार सर्व लोकों में काम की प्रतिष्ठा हुई यों कहा, स्त्रियों में प्रतिष्ठित काम सुखका कारण होता है न कि पुरुषों में स्थित होने से सुख का कारण होता है, यों वैसे कहा है ॥४०॥

इति श्रीमद्भगवत महापुराण वसन्त-स्कंध (उत्तरार्ध) ५२वें अध्याय की श्रीमद्बाल्मीकी-

वरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सांख्यिक प्रमेय

प्रवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी

भन्वाद् सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से श्रवणाहन करें

राग बिलावल

प्रद्युम्न जन्म सुभ घरी लीन्ही ।

काम श्रवतार लियो बदेत यह बात जग, ताहि सम तुल्य नहि रूप चोन्ही ॥
 पृथी पर असुर संबर भयो अति प्रबल, तिन उदधि माहि, तिहि डारि दीन्ही ।
 मच्छ लियो भच्छि सो मच्छ मच्छी गह्यो, असुरपति कौ सु लें भेट कोन्ही ॥
 मच्छ के उदर तें बाल परगट भयो, असुर मायावती हाथ दीन्ही ।
 कह्यो यह काम परिनाम तेरो पुरुष बचन, नारद सुमिरि रति सु लीन्ही ॥
 भयो जब तछन तब नारि तासौं कह्यो, हविमनी मात हरि तात तेरो ।
 नाम मम रति बिदित बात जानत जगत, काम तुम नाम पुनि पुरुष मेरो ॥
 असुर कौ मारि परिवार कौ देहि सुख, देखे विद्या तुम्हें मैं बताई ।
 विना विद्या ताहि जीति सकि है नहीं, भेद की बात सब कहि सुनाई ।
 प्रद्युम्न सकल विद्या समुक्ति नारि सौं, असुर सौं जुद्ध मांभ्यो प्रचारी ।
 काटि करवार लियो मारि ताको तुरत, सुरनि आकास जे धुनि उचारी ॥
 बहुदि आकास मग जाइ द्वारावती, मातु मन मोद अति ही बढायो ॥
 भयो जदुवंस अति रहस मनु जनम भयो, सूर जन मंगलाचार गायो ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वासपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्बल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार १६वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार १३वाँ अध्याय

राजस-साधन-अवान्तर-प्रकरण

“७वाँ अध्याय”

स्यमन्तकमणि की कथा, जाम्बवती और सत्यनामा के साथ
श्रीकृष्ण का विवाह

कारिका—सप्तमे कामतः प्रोक्तो विवाहस्तामसः परः ।
सात्त्विकश्च प्रसङ्गेन बलेशेनोभे निवारिते ॥१॥
बलेशापनोदनार्थाय चौर्यमत्र निरूप्यते ।
वाचिकं कायिकं चैव कायेन वचनेन च ॥२॥
सम्बन्धी च तथा भवतः स्वापराधापनुत्तये ।
सत्यनामा जाम्बवती ताभ्यां सम्यक् निरूपिते ॥३॥
गुणा एतास्ततोऽग्रे तु विद्यारूपा निरूपिताः ।
एवमष्टौ महिष्यो हि सात्त्विक्यस्तु ततः पराः ॥४॥
विवाहाः सप्त कामेन कृपया तु सहस्रशः ।
विधितस्त्वेक एवोक्तो द्वयोरत्र निरूप्यते ॥५॥

कारिकार्थ— सातवें अध्याय में जो विवाह कहे हैं, वे काम से किए हुए हैं, उनमें से जाम्बवती का विवाह तामस है और सत्यभामा का सात्त्विक है; इन दोनों के विवाह तामस सात्त्विक कहने से शेष रुक्मिणी का विवाह स्वतः राजस सिद्ध है, यद्यपि रुक्मिणी जाम्बवती को विवाह भगवत्परिग्रह होने से सात्त्विक कहे जा सकते हैं, किन्तु उनको सात्त्विक न कहने का कारण यह है कि वे दोनों भगवान् बलेशों से लाये हैं, अतः वे सात्त्विक विवाह नहीं है, सत्यभामा को पिता ने लाकर दान कर दी, जिससे उस विवाह में क्लेश न हुआ, जिससे वह सात्त्विक है, इसके विवाह में क्लेश न होने का कारण चौर्य प्रसङ्ग है, जिसका यहाँ वर्णन किया गया है, सत्राजित ने वाणी से झूठा कलङ्क लगाकर वाचिक और स्वयं गुफा में जाकर युद्ध किया, जिससे कायिक दोष किया, शतघनु के वचन से उस मिथ्या अभिशाप को मिटाया, ऐसे सत्राजित ने और भक्त जाम्बवान् ने अपने अपराध को मिटाने के लिए दोनों ने आकर सत्यभामा और जाम्बवती भगवान् को अर्पण की, सत्यभामा तथा जाम्बवती के विवाह का कारण वाचिक और कायिक मिथ्याभिशाप था, जिसका निरूपण किया। ये रुक्मिणी, जाम्बवती और सत्यभामा; रजो, तमो और सतो गुण रूप हैं, आगे तो विद्या रूप से इनका निरूपण हुआ है। इस प्रकार आठ महिषियाँ सात्त्विक गुण वालीयाँ हैं और सात काम से हैं, कृपा से तो सहस्रों किए हैं, विधि अनुसार तो एक ही कहा है। इस प्रसङ्ग में दोनों का विवाह चौर्य प्रकरण में निरूपण किया है ॥१-५॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

ग्रामास—रुक्मिण्या विवाहं पुत्रसम्पत्तिं चोक्त्वा, निमित्तवशात् सत्यभामाया विवाहमाह सत्राजित इति ।

ग्रामासार्थ—रुक्मिणी का विवाह और पुत्र सम्पत्ति को कहकर, कारणवश 'सत्राजितः' श्लोक से सत्यभामा के विवाह का वर्णन शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ।

स्यमन्तकेन मरिणा स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! सत्राजित् ने भगवान् का अपराध किया था, उस अपराध का दोष निवृत्त हो, इसलिए सत्राजित् ने स्वयं आकर श्यमन्तकमणि सहित अपनी कन्या भगवान् को अर्पण की ॥१॥

सुबोधिनो— सत्राजित्शब्दः तकारान्ता ।
 अकारान्तोऽपि । सत्रान् रक्षकसहितामपि जयती-
 त्यर्थे क्विप् । सत्राणां जितं यस्मादिति क्तान्तेन
 बहुव्रीहो भ्रदन्तता भवति । एतदधीन एव महता-
 मपि जय इति द्वितीयोर्थः । स्वतन्वयां स्वयमुद्यम्य
 दत्तवानिति । अत्राश्रितः अनभिप्रेतश्च । तथापि
 दाने हेतुः कृतकिल्बिष इति । कृतापराधः । तदप-
 राधदूरीकरणार्थं स्यमन्तकेन मरिणा सह । यत्कृते
 अपराधः तदपराधनिमित्तं दण्डार्थं कन्यां च दत्त-
 वान् । संक्षेपकथेयमिति केचित् । वस्तुतस्तु न

समाधिभाषा । नह्युदारलीलावतः अपकीर्त्यादिकं
 समाधिकार्यं भवति । भक्तिसाधकानामेव चरि-
 त्राणां वक्तव्यत्वात् । कृतकिल्बिष इति । यथा-
 कथञ्चिदपराधोऽपि सम्भवति । अतोऽनभिप्रेत-
 त्वेन कल्पांतरत्वेन वा अवचनम् । वस्तुतः सत्य-
 भामा सरस्वत्यंशा भूम्यंशा वेति तस्या विवाहार्थं
 तथोद्योगा भगवतैव कृतः । स्वीकारोऽत्र वक्तव्यो
 राजसानाम्, तदर्थं स्त्रीप्रकरणे सत्यभामादीनां
 परिग्रहमात्रमत्र वक्तव्यम् ॥१॥

व्याख्यार्थ - भगवान् ने सत्राजित से कन्या मांगी नहीं थी और न अभिप्रेत ही थी, तो भी सत्राजित ने स्वयं कन्या अर्पण की, जिसका कारण है कि सत्राजित ने भगवान् का अपराध किया था, जिसे मिटाने के लिये स्यमन्तकमणि लाकर दो और अपराध करने के दण्ड रूप में कन्या अर्पण की है, कोई कहते हैं कि यह कथा संक्षेप में कही गई है, वास्तविक रीति से तो यह कथा समाधि-भाषा नहीं है, क्योंकि, उदार लीला करने वालों की अपकीर्ति आदि समाधिभाषा का कार्य नहीं हो सकता है। समाधिभाषा में तो भक्ति साधक चरित्र ही वक्तव्य होते हैं, यहां केवल प्रथम श्लोक समाधिभाषा है, विस्तार जो है वह लौकिकी भाषा है, जैसे तेसे कभी अपराध भी होता है, अतः अभिप्रेत न होने से वा कल्पान्तर की कथा होने से नहीं कहा है, वस्तुतः सत्यभामा तो सरस्वती अथवा पृथ्वी की अंश रूपा है, इसलिये उसके विवाह के लिये भगवान् ने ही वैसा उद्योग किया है, यहां राजसों का स्वीकार वक्तव्य है, उसके लिये यहां स्त्री प्रकरण में सत्यभामादि का ही परिग्रह मात्र कहना चाहिये, मात्रा पद से यह सूचित किया है कि रुक्मिणी विवाह के प्रसंग में जो विस्तार किया है, वह समाधि भाषा नहीं है, किन्तु लौकिकी भाषा है, इसलिये ही आचार्य श्री ने टीका में मात्र पद दिया है ।

ग्रामास—नन्वाकाङ्क्षापूरणाभावात् संक्षेपपरत्वमेव कुतो न भवतीति चेत् ।
 मैवम् । मित्रविन्दाविवाहवद्यावदुक्तं नैव आकाङ्क्षानिवृत्तिसम्भवात् । विशेषं पृच्छति ।

ग्रामाभार्यं—यदि कही कि आकांक्षा पूर्ति के अभाव से संक्षेप पर है यों क्यों न कहा जावे तो कहते हैं कि इस प्रकार मत कही, मित्रविन्दा के विवाह की भांति सारा कहने से ही आकांक्षा निवृत्ति होती है अतः राजा पृच्छता है "सत्राजितः" श्लोक से ।

श्लोक— राजोवाच—सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन्कृष्णस्य किल्बिषम् ।

स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरेः ॥२॥

श्लोकार्थ— राजा ने कहा—हे ब्रह्मन् ! सत्राजित ने कृष्ण का कौन सा अपराध

किया ? स्यमन्तकमणि उसके पास कहीं से आई ? उसकी कन्या भगवान् को किस कारण से दी ? ॥२॥

सुबोधिनी—सत्राजित इति । ब्रह्मस्त्रिति ज्ञानार्थम् । कृष्णस्य सदानन्दस्य कथं वा कोऽप्य-पराधं कुर्यात् । तत्रापि पालकस्य । अपराध-निमित्तः स्यमन्तको वा भगवद्भक्तानां कुतः । देवतान्तरभजनात् तथात्वे कथं वा तस्य निरोधे सम्बन्ध इति प्रश्नाभिप्रायः । विरुद्धानामपकार-करणं युक्तम् । तथा सति तेषां सर्वस्वेन सह कन्यादानं चायुक्तम्, तस्मात् कथमयमुभयात्मक

इति । कस्माद्धेतोः सुतां दत्तवान् । कन्यापि सूर्यादेव प्राप्ता वरलब्धा, न तु तस्य श्रीरसी, भग-वान् नन्दपुत्र इव तस्यापि कन्येति पुराणान्तर-व्यवस्था । अत एव यादवानां विवाहदोषो न शङ्कनीया । अत्रापि 'श्रीरत्नं रत्नमेव चे'ति वाक्यात् देवादेव प्राप्तमिति लक्ष्यते । भगवानपि अक्लिष्टकर्मा सगोत्रापक्षे विवाहं न कुर्यात् ॥२॥

व्याख्यानार्थ - हे ब्रह्मन् ! संबोधन श्रीशुकदेवजी को इसलिये दिया है कि आप को सबका ज्ञान है, जिससे आप सब कुछ बता सकोगे, सदानन्द स्वरूप तथा पालक कृष्ण का कैसे कोई भी अपराध कर सके ? भगवद्भक्तों का स्यमन्तक अपराध का कारण कैसे हो सकता है ? अन्य देव के भजन से यों होते हुए, फिर उसका निरोध में सम्बन्ध कैसे ? यह प्रश्न करने का अभिप्राय है जो विरोध करते हैं उनका अपकार करना योग्य ही है, यों होने पर उनको सर्वस्व के साथ कन्यादान करना तो उचित नहीं है इस कारण से यहां दोनों बात कैसे ? किस कारण से कन्या दी, वह कन्या सूर्य देव के वर में प्राप्त हुई थी, उसकी ओर से पुत्री न थी जैसे भगवान् नन्द का पुत्र है वैसे यह कन्या इसकी पुत्री थी, अन्य पुराण का यह निरुप्य है, इस कारण से इससे विवाह करने में यादवों को दोष नहीं है, भागवत में भी श्री रत्न, रत्न ही है इस वाक्य से, देव से ही प्राप्त हुई जानी जाती है भगवान् भी अक्लिष्ट कर्मा है, जिससे सगोत्र का विवाह नहीं कर सकते ॥२॥

श्राभास—विस्तरेण वक्तुं कथामारभते आसीदिति ।

श्राभासार्थ—विस्तार से कहने के लिये 'आशोत्सत्राजितः' श्लोक से कथा प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—आसीत्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ।

श्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् ॥३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—सत्राजित भक्त का सूर्य स्वामी होते हुए भी परम मित्र था, जिससे सूर्य ने प्रसन्न होकर उसको स्यमन्तक मणि दी थी ॥३॥

सुबोधिनी—स्वतन्त्रकथेयमित्यप्यासीदित्यनेन सूचितम् । सत्राजित आसीदिति भिन्नं वाक्यम् । तस्य महत्त्वं रूपापयितुमाह । सूर्योऽपि भक्तस्य

परमः सखा आसीदिति । भक्तस्य सख्यं शीघ्रं प्रयच्छतीति सूर्यस्य स्वभावो वणितः । अनेन सूर्यः परमदयालुः, अल्पेऽपि भजने बहु प्रयच्छतीति

निरूपितम् । ततो यज्जातं तदाह प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादादिति । मणिः स्यमन्तकः । कुत्रत्यो मणिरित्याकाङ्क्षायामाह सूर्य इति । स हि मणिं सूते । सर्वमेव सूर्यात्प्रभूतमिति तस्य मणिंमात्रप्रसवे न दूषणम् । तदर्थमेव मणिंरुत्पादित इति लक्ष्यते ।

यतः प्रीतः, तस्य भक्त्या संतुष्टः, स्यमन्तकमुत्पादितवान् । उत्पाद्यापि ततोऽपि प्रीतः प्रकर्षणं दात् । तस्मिन् सामर्थ्यं स्थापयित्वा अदात् । प्रकर्षणेव दानात् भोगार्थं भोगसाधनसम्पादनार्थं च तज्जातमिति लक्ष्यते ॥३॥

व्याख्यानार्थं - "प्रासीत्" पद से यह भी-बताया है कि वह स्वतन्त्रक था है, "सत्राजित था" यह प्रथक् वाक्य है उसका महत्व प्रकट दिखाने के लिये कहा है कि, सूर्य देव स्वामी होते हुए भी भक्त का परम मित्र था, सूर्य का स्वभाव ही ऐसा है, जो भक्त का शीघ्र ही सखा बन जाता है इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य परम दयालु है, थोड़ा भी भजन करने से बहुत देता है यह निरूपण किया, उसके अनन्तर जो हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि सूर्य ने प्रसन्न होकर उसको मणि दी, मणि का नाम स्यमन्तक था, वह मणि सूर्य के पास कहां से आई ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है, कि सूर्य स्वयं मणि को उत्पन्न करता है, मणि को उत्पन्न करने में सूर्य के लिये किसी प्रकार का दोष नहीं है, क्योंकि जब सब सूर्य से पैदा हुआ है, तो मणिमात्र उत्पन्न करने में कौनसा दूषण उसको लगता है, यों जाना जाता है यह मणि इसके लिये पैदा की है क्योंकि इस पर भक्ति से प्रसन्न हुआ है जिससे मणि को पैदा किया है, न केवल पैदा ही की, किन्तु उससे भी विशेष प्रसन्न हो उसमें अपना सामर्थ्य स्थापित कर प्रसन्नता से मणि इसको दी, प्रसन्न हो के देने से वह मणि भोग और भोगके साधनों का साधक भी हुई यों जाना जाता है ॥३॥

आभास—अतस्तस्य प्रथमतो भोगमाह स तं विभ्रदिति ।

आभासार्थं—इसी कारण से "स तं विभ्रन्" श्लोक में पहले उसके भोग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स तं विभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ।

प्रविष्टो द्वारकां राजस्तेजसा नोपलक्षितः ॥४॥

श्लोकार्थं—वह सत्राजित कण्ठ में उस मणि को धारण करने से सूर्य के समान प्रकाशमान हो गया और द्वारका में प्रविष्ट हुआ तो उसके तेज से इसको किसी ने नहीं पहचाना ॥४॥

सुबोधिनी - स्वतेजस्तस्मिस्थापितमिति तद्धारणेन सूर्य एव घृतः । अत एव तत्प्रभावोऽयथा रविः, तथा भ्राजमानो जातः । स चेदन्वयत्र तिष्ठेत्, न काप्यनुपपत्तिर्भवेत् । सूर्यश्च रक्षको भवेत् । स पुनस्तदग्रहीत्वा द्वारकास्थितान् भक्तान् वञ्चय-

न्निव समागतः । ततः सूर्येण उपेक्षित इत्यभिप्रायं वक्तुं तस्य द्वारकाप्रवेशमाह प्रविष्टो द्वारकामिति । राजन्निति सम्बोधनमन्यविषये अर्थो रक्षानं करोतीति ज्ञापयितुम् । तस्य मनोरथा सिद्ध इत्याह तेजसा नोपलक्षित इति ॥४॥

व्याख्यानार्थं—सूर्य ने मणि में अपना तेज स्थापित किया था, जिसके धारण करने से म.नो

सत्राजित ने सूर्य को धारण किया है, इस कारण उसके प्रभाव से जैसा सूर्य है वैसा ही यह चमकने लगा। यदि दूसरे स्थान पर मणि धारण करके जाता ता किसी प्रकार हानि नहीं होती क्योंकि वहाँ सूर्य रक्षा कर सकते, किन्तु वह तो मणि ग्रहण कर, द्वारका में स्थित भगवद्भक्तों को ठगने के लिये प्राया, जिससे सूर्य ने प्रसन्न हो, इसकी उपेक्षा की, इसकी उपेक्षा की, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिये इसका द्वारका में प्रवेश का वर्णन किया है, राजन् यह सम्बोधन इस बातको जताने के लिये दिया है कि, दूसरों के कार्यों में कोई दूसरा रक्षा नहीं करता है उसका मनोरथ इतना ही था, कि मुझे कोई पहचाना न सके। वह सिद्ध हुआ, मणि के धारण करने से पहचानने में नहीं आया ॥४॥

आभास—तस्य प्रभावः सर्वजनीनो जात इति वक्तुं लोकानां भ्रममाह तं विलोक्येति ।

आभासार्थ—उसका प्रभाव सब मनुष्यों पर हुआ, यह बतलाने के लिये लोकों को भ्रम का वर्णन 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः ।

दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंगुः सूर्यशङ्कितः ॥५॥

श्लोकार्थ—लोक उसको दूर से देखकर, तेज से चकाचौंध दृष्टि हो गए, तब चौपड़ खेल रहे भगवान् के पास कोई आकर कहने लगा कि कदाचित् सूर्य आ रहा है ॥५॥

सुबोधिनी—निकटे ज्ञायेतापि । दूरादेव तत्रापि तेजसा मुष्टदृष्टयः । स्वस्वामिनः स्थाने महान्तोऽपि समायात्तीति संतोषात् भगवत्स्थाने समागताः । भगवानपि अन्यासक्तः नास्य सन्माननं करिष्यति, ततोऽयं अस्मान् विलम्बितः तेजसा पीडयिष्यतीति, सूर्यात् शङ्कितः लौकिक-

व्यसनरूपे द्यूते अक्षैर्दीव्यते भगवते शशंगुः । शतमसान् विजानातीति मध्येऽधिदेवन एव सम्भ्ये अक्षकोडेति विमर्शः । अन्यथा धर्मस्थापनार्थमवतीर्णः कथमक्षक्रीडां कुर्यात् । मुख्यं हि तदधर्म-स्थानमिति । सूर्यस्य समागमनं बाधित मत्वाह भगवत इति ॥५॥

व्याख्यानार्थ—निकट ही तो पहचान भी जाय, यह तो दूर थे और वहाँ से ही तेज के कारण नेत्रों की दृष्टि चकाचौंध हो गई अतः पहचान न सके। मन में समाधान किया, कि हमारे स्वामी के स्थान पर महान् आत्माएँ भी आती हैं यों संतोष कर भगवान् के स्थान पर गये, वहाँ देखा कि भगवान् तो अन्य कार्य में आसक्त हुवे हैं अतः इसका सम्मान प्रब नहीं करेगे, इस कारण से वह हम को बहुत समय तक पीड़ा करेगा, क्योंकि मन में शंका होने लगी थी कि यह सूर्य है, अतः लौकिक व्यसन रूप चौपड़ का खेल खेलत हुए भगवान् को कहने लगे, विशेष प्रकार से चौपड़ खेलने वाले राजा लोगों को अधिदेवन के दिन चौपड़ खेल खेलने में कोई दोष नहीं, यों करने से उनको निद्रा भी नहीं आती है यों न होता तो धर्म स्थापन के लिये अवतार लेने वाले चौपड़ कैसे खेले ? चौपड़ के

खेल का स्थान मुख्य प्रथम का स्थान है, "भगवते" पद से यह बताया कि यह आगमन सूर्य का नहीं है, केवल लोगों को आशंका हुई है ।५॥

आमास—सूर्यागमनेन स्वतोपि ज्ञातमहत्वाः स्तुत्वा भगवन्तं विज्ञापयन्ति नारायणोतित्रिभिः ।

आभातार्थं लोक स्वतः सूर्य के महत्व को जानते है अतः सूर्य का प्रागमन समझकर, भगवान् की पहले स्तुति करते हैं, अनन्तर प्रार्थना करते हैं कि सूर्य देव आ रहा है यह वर्णन "नारायण" इन तीनों श्लोकों से करते है ।

श्लोक—नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।

दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥६॥

एष प्रायाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ।

मुष्णन्गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूषि तिमगुः ॥७॥

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधेषामाः ।

ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥८॥

श्लोकार्थ—हे शङ्ख चक्र गदा धारण करने वाले नारायण ! हे दामोदर ! हे कमल नयन ! हे गोविन्द ! हे यदुनन्दन ! हे जगत् के पति ! यह तेज किरणों वाले, किरणों के समूह से मनुष्यों के नेत्रों की दृष्टि को हरण करते हुए, सूर्य नारायण आपको देखने (मिलने) के लिए आ रहे हैं । हे प्रभु ! त्रिलोकों में जो श्रेष्ठ देवता हैं, वे भी आपके मार्ग को ढूँढ़ने की इच्छा करते हैं, यादवों में गुप्त विराजमान आपको जानकर सूर्य नारायण दर्शन के लिए आज आ रहे हैं ॥६-८॥

सुबोधिनी—नारायणपदं सूर्यागमनेन नारायण इति तस्मिन्नागते अन्तर्यामिप्रेरणव्यतिरेकेण कार्यं न सिध्यतीति विज्ञापनार्थं सूर्यागमनं सम्भवतीति हेतुरुक्तः । अतस्ते नमः । नमस्कारमात्रं वा अस्मत्साध्यमिति । शङ्खचक्रगदाधरेति । शेषशायिनं नारायणं व्यावर्तयति । नारायणत्वं वा स्थापयन्ति । दामोदरेति भक्तकृपालुत्वम् । तादृशस्यात्रागमने हेतुरुक्तः । अरविन्दाक्षेति । समागतस्य तापापनोदनं कार्यमुक्तम् । गोविन्देति तथा-

करणे प्रावश्यकत्वम् । यतोऽयमिन्द्रो जातः । किञ्च, यदुनन्वेति तदर्थमेवावतीर्णः ।

अत एवात्र बहु कार्यं त्वास्तीति स्वत आगमनाभावात् स्वयमागत इत्याहुः एष प्रायातीति । आगतस्य विज्ञाप्यमस्तीत्याहुः सवितेति । प्रसवितायम् । सांप्रतं च भगवान् लीलया च तिष्ठतीति तदनुगुणप्रसवार्थं प्रष्टुमागत इत्यर्थः । प्रभस्तु दूतद्वारापि सम्भवतीति विशेषमाहुः त्वां दिदृ-

क्षुरिति । स्नेहाभावेऽपि दर्शनमावश्यकमित्यत्र हेतुमाहुः जगत्पत इति । स्वस्य निवेदने हेतुं वदन्त आहुः मुष्णन्गंभस्तिचक्रणेति । दूरे स्थितस्य गभस्तयोऽस्त्रीयांसः समाधास्ति, निवृत्ते तु गभस्तिचक्रणे पीडयति । नृणां भस्तिचक्रणं सुहृत्वा । तद्द्वयं दोषो निवारणीय इत्याशङ्क्य तस्य स्वाभाविकोऽयमित्याह नृणां चक्षूषि तिमगुरिति । ज्ञानप्रदो भगवान् अत्र समागतः । ज्ञानसाधनमेव दूरीकरोतीति प्रतिविधेयः ।

ननु तथापि भवन्तोत्तरज्ञाः, तान्निवारयः

तेति चेत्, तत्राह नन्वन्विच्छन्तीति । देवाः समागच्छन्तः कथं वारणीयाः, तत्रापि स्वप्रभुं द्रष्टुम्, तत्रापि विबुधर्षभाः । किञ्च । अद्य यदुषु गूढं ज्ञात्वा समागताः । तत्र यदि कश्चिन्निवारणं कुर्यात्, तदा अनेनैव प्रतीयत इति तमेव मारयेयुः । ननु तथापि सूर्यो नायास्यति, स हि सर्वदा व्यापृतः, तत्राह द्रष्टुं व्यायात्यज इति । ब्रह्मा वा द्रष्टुमायाति । भवतीर्णस्य रूपान्तरस्वीकरणान्यथात्वे पूर्वव्यवहारोऽनुचित इत्याशङ्क्याह प्रभो इति । हे सर्वसमर्थ ॥६-८॥

व्याख्यानार्थ— आप सूर्यान्तर्यामी नारायण है, उनके आने पर ही कार्य सिद्ध होता है क्योंकि अन्तर्यामी की प्रेरणा के सिवाय कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है, यों जताने के लिये सूर्य का आगमन बन सकता है, यह हेतुं कहा है, अतः आपको नमस्कार है, नमस्कार के सिवाय विशेष तो हम से हो नहीं सकता । शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला विशेषण देने से शेष नारायण से पृथक्ता दिखाई, अथवा नारायणत्व की स्थापना की है, 'दामोदर' नाम से यह बताया है कि आप सदैव भक्त पर कृपा करते हैं, भक्त कृपालुत्वही आपके यहां आने का कारण है, 'कमलनयन' नाम से बताया है, कि आप यहां पधार कर विरही भक्तों के ताप दूर करने का कार्य करते हैं 'गोविन्द' नाम से यह बताया है कि आपको यों करना आवश्यक है कारण कि आप इन्द्र बने हैं, विशेष में आप 'यदुनन्दन' हैं, जिससे आपने इसके लिये ही प्रवृत्त लिया है ॥६॥

आपको यहां बहुत कार्य हैं जिससे सूर्य ने समझा, कि आप का आगमन न हो सकेगा अतः स्वयं वह आया है, आये हुवे को कुछ जानने वा पूछकर कार्य करने की इच्छा है इसलिये 'सविता' नाम दिया है, इस समय भगवान् लीला कार्य करने में स्थित हैं अतः उसके अनुकूल कार्य करने आप से पूछने के वास्ते आया है, यदि पूछना है तो दूत द्वारा भी पुछा सकता है, फिर आया क्यों ? इसके उत्तर में कहा है, कि केवल पूछना नहीं है, किन्तु उसको आपके दर्शन की भी इच्छा थी इसलिये भी आया है, स्नेह होने पर भी आपका दर्शन करना आवश्यक है क्योंकि आप जगत् के स्वामी हैं, हम आपको इसलिये निवेदन करते हैं कि यह सूर्य तेज किरणों वाला है जिसके तेज से हमारे नेत्र चकाचौंध हो कर पीड़ित हो रहे हैं, दूर में स्थित की किरणों थोड़ी चकाचौंध करती है, हम मनुष्य अल्पबलवाते हैं, जिससे यह पीड़ा सहन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह इसके लिये स्वाभाविक है, जो मनुष्यों के नेत्रों का अपने तेज रश्मियों से चकाचौंध कर पीड़ित करे, यहां ज्ञान देने वाले भगवान् आये हैं, ज्ञान साधनों को दूर फेंक देते हैं अतः इनका समादर स्वागत करिये ।

हम क्यों करें, आप भी हमारे अन्तरंग है, आप ही इनका निवारण करो, यदि आपका उप प्रकार कहना हो, तो उसके लिये हमारा निवेदन है, कि देवता आपके यहां मिलने, दर्शन कः ने वा किसी कार्य के लिये आये उनको कैसे रोका वा लौटाया जाय ? आप उनके स्वामी हैं, स्वामी के दर्शन के लिये प्राते हैं और आने वाले देवों में श्रेष्ठ देव आते हैं और विशेषता तो यह है, कि आप यादवों

में गुप्त रूप से पधारे हैं, आज इस गोप्य को जान कर आये हैं, ऐसी स्थिति में कोई उनको रोके, तो वे समझेंगे, कि यह ही हम से प्रवंचना करता है यों समझ, उसको ही मारे, आप ज्यों समझते हैं कि सूर्य आ रहा है, यों नहीं है वह न आवेगा क्योंकि उसको बहुत काम है जिनमें रुका हुआ रहता है, यदि वह नहीं है, तो कदाचित् ब्रह्मा दर्शन के लिये आ रहा है, अवतार लेने पर दूसरा रूप धारण होता है, इसलिये उस अन्य रूप में पहलेसा व्यवहार करना उचित नहीं है, यदि यों कही तो वह बात असमर्थों के लिये है, आप तो 'प्रभु' होने से सर्व समर्थ हैं कोई रूप धारण करे, तो भी वे के वे ही हैं बदलते नहीं हो, अतः श्रेष्ठ देव आते ही रहते हैं ॥६-७-८॥

आभास—तदा भगवान् कर्म न परित्याज्यमिति स्वयं तथैव स्थितः प्रजानां मोहं दूरीकृतवानित्याह निशम्येति ।

आभासाय - ये वचन उन के सुनकर भी, प्रारम्भ किया हुआ कर्म नहीं छोड़ना चाहिये यों विचार कर आप वैसे ही बँठे रहे, और प्रजाओं के भ्रम को दूर कर दिया जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक से करते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः ।

प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मरिणा ज्वलन् ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कमल नेत्र भगवान् बालकों जैसे प्रजा के वचन सुनकर हँसे और उनका भ्रम मिटाने के लिए कहने लगे कि यह सत्राजित है, जो मरिण से प्रकाशित हो रहा है, सूर्य देव नहीं है ॥६॥

सुबोधिनो - बालानां प्रजानां वचनम् । ते हि स्वोत्कर्षमेव विचारयन्ति । नतु निमित्तम् । तथे-
तेऽपि स्वोत्कर्षत्वेन मनुत्कर्षमेव भावयन्ति । ततो यं कञ्चन समागच्छतं महत्त्वेन मत्सम्बन्धित्वेन च कल्पयन्ति । तस्मात् स्वोत्कर्षपरान् अज्ञानं दृष्ट्वा

प्रहस्य दृष्ट्यैव तेभ्यः सुखं दत्तवानित्याह अम्बु-
जलोचन इति । असौ देवरूपो रविर्न भवति, किन्तु रवेस्तेजो । रविभक्तश्चायं भवति, तेन देव-
पदं संगच्छते, किन्तु सत्राजिदयम् । कथमेवं जात इति चेत्, तत्राह मरिणा ज्वलति ॥६॥

व्याख्यानार्थ—बाल शब्द यहां 'प्रज्ञों' के लिये दिया है अपात् भगवान् अज्ञों के वचन सुनकर हँसने लगे, क्योंकि ये अपनी बड़ाई का ही विचार करते हैं किन्तु कारण का विचार नहीं करते है, वैसे ये भी अपने उत्कर्ष से मेरे उत्कर्ष की ही भावना करते है, वा मेरा उत्कर्ष ही बताते है इस कारण से जो कोई आता है, उसको मेरे सम्बन्धित्व के कारण महान् समझते हैं, और भगवान् कमल नेत्र हैं जिससे इन मुखों को अपने उत्कर्ष के परायण देख, हँस कर, दृष्टि से ही उनको सुख देने

लगे, एवं कहने लगे कि यह देवरूप सूर्य नहीं है किन्तु सूर्य का तेज है, यह जो आ रहा है वह सूर्य का भक्त सत्राजित है, भक्त होने के कारण देव कहा गया है, वह ऐसे कैसे हो गया ? इस पर कहते हैं कि मणि को कण्ठ में बांधा है इसलिये ऐसा प्रकाशित हो रहा है ॥६॥

आभास—मणिना तस्य भोगमुक्त्वा अर्थसम्पत्तिमाह सत्राजित्स्वगृहमिति ।

आभासायं—मणि से प्राप्त (भोग) कह कर 'सत्राजित्स्वगृह' श्लोक से अर्थ की सम्पत्ति कहते हैं ।

श्लोक—सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ।

प्रविश्य देवसदने मणि विप्रैः न्यवेशयत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—सत्राजित ने अपने घर में उत्सवार्थ माङ्गलिक करके प्रवेश किया, अनन्तर देव-मन्दिर में ब्राह्मणों द्वारा मणि की स्थापना कराई ॥१०॥

सुबोधिनी—भगवत्कृपया पूर्वमेव श्रीमत्कृतानि | तत्र भक्त्यतिशयात् देवसदने देवपूजागृहे देव्यानां कौतुकानि मङ्गलानि च यत्र । अनेन धर्मकामौ प्रवेशाभावाय विप्रैः सह मन्त्रपूर्वकं मणि न्यवेश- निरूपितौ । एवं स्वतःसिद्धत्रिवर्गं गृहं प्रविश्य | यत् । नितरां स्थापितवान् ॥१०॥

व्याख्यान—भगवान् की कृपा से, पहले ही मांगलिक कार्य हुवे हैं, जिससे धर्म और काम की सिद्धि का होना निरूपण किया, इस प्रकार जिस घर में धर्म अर्थ और काम तीन कार्य सिद्ध हुवे हैं वैसे घर में प्रवेश कर वहाँ देवों के पूजास्थान में जहाँ देव प्रवेश नहीं कर सकते हैं वहाँ ब्राह्मणों के साथ जाकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक मणि की स्थापना की ॥१०॥

आभास—स्थापितस्य फलमाह दिने दिने इति ।

आभासायं—शब्द 'दिने दिने' श्लोक में मणि के स्थापन करने से जो फल हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—दिने दिने स्वर्णमारानष्टौ स सृजति प्रभो ।

दुर्मिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिष्याद्योऽशुभाः ।

न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रारस्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥११॥

श्लोकार्थ—यह मणि प्रति दिन आठ भार अर्थात् ४० मन सुवर्ण देती थी, जहाँ मणि है, वहाँ अकाल, महामारी, अकल्याण, सर्प, आधि, व्याधि और दूसरे अशुभ भी नहीं होते तथा मायावी लोगों का रहना भी नहीं हो सकता ।

सुबोधिनी—पञ्चमणमात्रं भारः, चत्वारिंश-
द्वरणानि मण उच्यन्ते मानविशेषः । ते चाष्टौ ।
चत्वारिंशन्मणान् सुवर्णस्य प्रत्यहं सृजति । सविता
हि तस्य मूलम् । अतोऽयमपि प्रसविता । प्रभो
इति सम्बोधनं तदाकाङ्क्षाभावाद्य । न केवलमि-
ष्टसाधकत्वम्, किन्तुनिष्पन्निवारकत्वमपीत्याह

दुर्भिक्षेति । प्रनावृष्टिकृतं दुर्भिक्षम् । मारो शीत-
लादिदेवाधिष्ठितव्याधिमरणम् । अरिष्टान्यन्यानि
प्राधिग्याधिहेतुभूतानि । प्राधिग्याधयश्च । अशुमाः
स्वप्नादयोऽपि । मायिनो राक्षसाः पूतनादयः ।
यत्रायमभ्यर्चितो मणिस्तिष्ठति, तत्र नन्ते भव-
न्तीति मणोहंटादृष्टसामर्थ्यं निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यानार्थ—चालीस सेर का मन होता है, पांच मन का एक भार वजन होता है; वे आठ
भार प्रतिदिन मणि देतो थो अर्थात् मणि हरेक दिन ४० मन सोना देतो थो, मणि यों कैसे कर
सकती ? इस शंका का समाधान आचार्य श्री करते हैं, कि यह मणि सूर्य से उत्पन्न होने से, इसकी
जड़ सूर्य है अतः जैसे सूर्य पंदा कर सकता है वैसे ही यह भी पंदा कर सकती है, भगवान् को 'प्रभु'
सम्बोधन देकर यह बताया, कि आप सर्व समर्थ हो आपको ऐसे मणि को इच्छा हो नहीं सकती है ।
यह मणि केवल इच्छित पदार्थ ही नहीं देती है, किन्तु अनिष्टों का भी निवारण करती है, जैसे कि
अनावृष्टि से दुर्भिक्ष होता है उसके निवारण के लिये समयानुसार उचित वर्षा करती है, शीतला
प्रादि देव जिन रोगों के अधिष्ठाता हैं उन रोगों से जो मृत्यु प्रादि होती है उन रोग मृत्यु को होने
नहीं देती है, प्राधि व्याधि के हेतु जो अरिष्ट है उनको नाश करती है, अशुभ स्वप्न प्रादि तथा
पूतना प्रादि राक्षसों का यहां प्राना भी नहीं होता है, जहां यह मणि पूजी जाती है वहां ऊपर कहे
हुए अनिष्ट होते ही नहीं है यों मणि के दृष्ट तथा अदृष्ट सामर्थ्य का वर्णन किया है ॥११॥

आभास—अयोधे महान् धर्मो न युक्त इति विचार्य भगवान् अनेन मणिना सत्रा-
जितो नाशो भविष्यतीति, स्वपुरे च नाशो न युक्त इति, देवान्तराणामत्र सामर्थ्या-
भावात् तत्प्रसादोऽपि व्यर्थ इति, तस्य लोकद्वयेष्टसिद्धिर्च यद्वाद्द्रव्यं तत् उत्पद्यते,
तावद्ग्रामादिद्वारा तस्मै दापयित्वा, उग्रसेनाय मणिं दापयितुं सत्राजितं प्रति किञ्चि-
दुक्तवानित्याह स याचित इति ।

आभासार्थ—जों योग्य न हो उसमें बड़ा धर्म, वा वस्तु का होना योग्य नहीं है, भगवान् ने
विचारा कि यह सत्राजित इस मणि के योग्य नहीं है, अतः इस मणि के कारण इसका नाश होगा,
अपने नगर में इसका नाश हो यह भी उचित नहीं है, अन्य देवका यहां सामर्थ्य चल नहीं सकता है,
उसकी कृपा भी व्यर्थ है, इसलिये इसका दोनों लोकों में हित सिद्ध हो, तदर्थं जितना द्रव्य इससे होता
है, उतना ग्राम प्रादि द्वारा इसको दिला कर, यह मणि उग्रसेन को देने के लिये भगवान् सत्राजित
को कुछ 'स याचित' श्लोक से कहने लगे ।

श्लोक—स याचितो मणिं कापि यदुराजाय शौरिणा ।

नेवार्थकामुकः प्रादाद्याच्छामङ्गमतर्कयत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कुछ समय के लिए मणि को यदुराज उग्रसेन को देने के

वास्ते सत्राजित से मरिण मांगो, किन्तु पैसे के लोभी उसने यह मरिण नहीं दी और किसी तरह भी भगवान् की याचना का भङ्ग हो, वैसा विचार करने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी - क्वापीति । कियत्कालं प्रयच्छ । यावता मृत्युरपगच्छति ततः स्वयमेव ग्राह्यमिति भगवदभिप्रायो बोधितः । ननु तस्यैव मृत्युर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह यदुराजायेति । शीरिण्येति सामर्थ्यं दापने निरूपितम् । लौकिकपक्षपातश्च । तथापि न दत्तवानित्याह नैवायकामुक इति । स

ह्यर्थमेव कामयते सिद्धम्, न तु मृत्युनिराकरण-मपि, अतो न प्रादात् । यथैवायं न याचते, तथोपायं च विचारितवान् । सूर्यो वक्तव्यः, तद्द्वारा उपद्रवश्च कारणीयः, ततो न याचिष्यतीति याञ्चाभङ्गं तर्कितवान् ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—कुछ समय के लिये, यह मरिण उग्रसेन जो यादवों का राजा है उस को दे, जब तक तुम्हारा मृत्युकाल टल जावे पश्चात् स्वयं ही ले लेना इस प्रकार भगवान् ने अपना अभिप्राय बताया, यह शक नहीं करना कि उसकी ही मृत्यु होगी क्योंकि वह शूरकुल में उत्पन्न होने तथा यादवों का राजा होने से उनमें सामर्थ्य है जिससे मरिण के द्वारा उनकी मृत्यु न हो सकेगी, अथवा लौकिक पक्षपात के कारण भी भगवान् ने यों कहा है, भगवान् की ऐसी इच्छा होने पर भी, मरिण नहीं दी । क्योंकि अर्थ ही सिद्ध करना चाहता है, मृत्यु को टालना नहीं चाहता है । मरिण न देने के ये ही कारण हैं, सत्राजित उस उपाय का विचार करने लगा, जिससे भगवान् मरिण की याचना करे नहीं, सूर्य को कहा जाय और उसके द्वारा उपद्रव कराये जावें, यों होने से मांगेंगे नहीं, इस प्रकार याचना भंग कराने का विचार करने लगा ॥१२॥

आभास— एवं दोषद्वयं तस्य निरूपितम् । आज्ञोल्लङ्घनमपकारचिन्तनं चेति । तत्र स्वस्यैवापकारो जातः । आज्ञाभङ्गफलं मृत्युरपि जात इत्यध्यायद्वयेन निरूप्यते । एतादृशोऽपि मरिणः भगवद्भावरहितः अनर्थयवसायी जात इति निरूपयन् भगवदाज्ञोल्लङ्घनात् तदीयानां बुद्धिरेव दुष्टा जातेति, पूज्यमपि मरिण सत्राजिन्मात्रपरिधेयं च, भक्तस्यैव भगवद्दर्मा उपकारिण इति सामान्यं तं मरिण ज्ञात्वा प्रसेनोऽपि तत्प्रतिष्ठार्थं तद्भ्राता कण्ठे उन्मुच्य गत वानित्याह तमेकदेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार उसके दो दोषों का निरूपण किया १—आज्ञा का उल्लंघन और बुराई हो, ऐसा विचार कर, वहाँ उसकी ही बुराई हुई, आज्ञा भंग का फल मृत्यु भी हुआ, जिसका दो अध्यायों में निरूपण किया जाता है, यद्यपि मरिण, धन सम्पत्ति आदि देने वाली, रोगादि नाशक/है, तो भी भगवद्भाव रहित होने से, अनर्थ फल देने वालो हुई । भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन से तदीयों की बुद्धि ही दूषित हो गई, पूज्य ने भी मरिण केवल सत्राजित के ही धारण करने के लिये दी थी, भगवान् के धर्म, भक्त का ही हित करते हैं, मरिण को सामान्य मरिण समझ कर उसका भ्राता प्रसेन भी उसकी प्रतिष्ठा के लिये कण्ठ में डाल कर वन में गया, जिसका वर्णन "तमेकदा मरिण" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तपेकदा मरिण कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रमम् ।

प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद्वने ॥१३॥

श्लोकार्थ—एक दिन सत्राजित का छोटा भाई प्रसेन बड़ी प्रकाशमान उस मरिण को कण्ठ में बाँध घोड़े पर सवार होकर शिकार करने के लिए वन में गया ॥१३॥

सुबोधिनो कण्ठे मरिण प्रतिमुच्य एतत्प्रमया । एकाकी हयमारुह्य मृगयां कर्तुं व्यचरत् । मृगा
मृगा अन्धा भविष्यन्ति, ततो वर्तव्या इति, महा- यान्यस्यामिति मृगनाशिका राजलीला मृगया,
प्रभं सूर्यवत्प्रकाशमानम्, प्रसेनः प्रकृष्टसेनायुक्तोऽपि तामुद्दिश्य वने व्यचरत् ॥१३॥

व्याख्यानार्थ - प्रसेन ने कण्ठ में मरिण इसलिये धारण की थी कि इसकी तेज से मृग अन्धे हो जायेंगे, तो उनको पकड़ने में सुगमता होगी, यद्यपि प्रसेन के पास बहुत सेना थी, तो भी अकेला ही घोड़े पर चढ़कर शिकार खेलने के लिये वन में फरने लगा, शिकार, वह राजलीला है जिसमें मृगनाश किये जाते हैं अर्थात् जिस लीला में मृग नाश के मुख में जाते हैं, इसलिये इसको संस्कृत में 'मृगया' कहते हैं ॥१३॥

आभास—महाप्रभत्वात् असहिष्युः सिंहः तं हत्वा मरिण नीतवानित्याह प्रसेनमिति ।

आभासार्थ—उसकी महती प्रभा को न सहकर सिंह ने उसको मारकर मरिण लेली यह चरित्र "प्रसेन" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—प्रसेनं सह्यं हत्वा मरिणमाच्छिद्य केसरो ।

गिरिं विशङ्गाम्बवता निहतो मरिणमिच्छता ॥१४॥

श्लोकार्थ—एक सिंह वहाँ वन में घोड़े समेत प्रसेन को मारकर मरिण ले पर्वत की गुफा में जाता था, तो मरिण को चाहने वाले जाम्बवत् ने उसको मार डाला ॥१४॥

सुबोधिनो—अलौकिकेनोपायेन न मृगा हन्त- मरिणः केवरिणा गृहीतः । सोऽपि निकृष्टस्थाने
व्याः, भगवांस्तेषु नालौकिकं दत्तवानिति, मृग- मरिणं नयन् गिरिं विविक्षन् कन्दरां प्रविशन्
यैव तदर्था निमित्ता । तेषां वधं मरिणा चिन्तयन् जाम्बवता निहतः । ननु महान् सः, किमिति सिंह
तेनैव स्वमृत्युं प्राप्तवान् । स मरिणदेवरूप इति हतवान् तत्राह मरिणमिच्छतेति । अहतः सिंहो
क्रुद्धो मरिणयंत्रं स्थितः, तमेव घातयतीति पर- मरिणं न मुञ्चतीति ॥१४॥
म्परया बहूनां वध उच्यते । हयसहितं प्रसेनं हत्वा

व्याख्यानार्थ—मृग प्रयात् सिंह आदि पशु अलौकिक उपाय से मारे नहीं गते कारण कि भगवान्

ने उनको मार डालने की अलौकिक बुद्धि नहीं दी है, उनको मारने का उपाय शिकार ही बनाया है उनका वध मणि से होना ही विचारा हुआ था, उससे ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, वह मणि साधारण पत्थर की मणि नहीं थी, किन्तु देव रूप मणि थी, अतः क्रुद्ध हुई मणि जिसके पाम जातो है उसका ही वध करवाती हैं, यों परम्परा से बहुतों का वध कहा जा सकता है; घोड़े समेत प्रसेन को मार कर मणि सिंह ने ग्रहण की, वह भी अघम स्थान, पर्वत की गुफा में प्रविष्ट होते ही, जाम्बवान् ने उसे मार डाला, वह सिंह महान् है, उसको क्यों मारा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मणि इच्छताः' जाम्बवान् को मणि लेने की इच्छा थी इसलिये उसने सिंह को मारा, यदि मारते नहीं तो जीवित सिंह मणि को छोड़ता नहीं, इसलिये मारने के सिवाय अन्य कोई उपाय मणि लेने का नहीं था ॥१५॥

आभास—तस्य मणोः प्रयोजनमाह सोऽपि चक्र इति ।

आभासार्थ—“सोऽपि चक्रे” श्लोक में उस मणि के लेने का प्रयोजन बताते हैं ।

श्लोक—सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनक बिले ।

अपश्यन्भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पयतप्यत ॥१५॥

श्लोकार्थ—उसने भी मणि को लेकर बिल में अपने कुमार का खिलौना बना दिया, वहाँ प्रसेन का भ्राता सत्राजित अपने भ्राता को न देखकर शोक करने लगा ॥१५॥

सुबोधिनी—बिले स्वस्थ नविवरे कुमारस्या-
तिबालकस्य (स्थाने) क्रीडनकं क्रीडासाधनं
चक्रे । एतावदेकेनैव दिनेन निवृत्तम् । ततो
भ्रातुरन्वेषणार्थं सत्राजिता मनुष्याः प्रस्थापितः ।

ततो न ववाप्युपलब्धः । ततो भ्रातृस्नेहात् भ्रात-
रमपश्यन् सत्राजित्पयतप्यत । मणिरपि गतो,
भ्रातापि गत इति ॥१५॥

व्याख्यान—जाम्बवान् का छोटा बालक जिस स्थान पर रहता था, उस अपने स्थान के बिल में, मणि को उसने बालक का खिलौना बनाया, इससे यह समझा जाता है, कि यह कार्य एक ही दिन में पूरा हो गया, पश्चात् सत्राजित ने भ्राता की खोज करने के लिये मनुष्य भेजे, उसका कहीं भी पता न लगा, उससे भ्रातृस्नेह के कारण भ्राता को न देखने से, सत्राजित शोकानुर होने लगा, मणि भी गई और भ्राता भी गया इसलिये सन्तप्त हुआ ॥१५॥

आभास—ततः किं जातमिति विचारे भ्रातुरिवास्यापि दुर्बुद्धिरुत्पन्नो त्याह प्रायः
कृष्णोनेति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर, भ्राता की तरह इसकी बुद्धि भी दुर्बुद्धि हो गई जिसका वर्णन 'प्रायः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— प्रायः कृष्णेन निहतो मणिश्रीवो वनं गतः ।

भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णं कर्णोऽजपञ्जनः ॥१६॥

श्लोकार्थ— गले में मणि बांध वन में गए हुए मेरे भाई को बहुतकर कृष्ण ने मार डाला, यह सुनकर नगर के लोग आपस में कहने लगे कि सत्राजित के भाई को मार कर कृष्ण मणि ले आए हैं ॥१६॥

सुबोधिनो— अयमपि गतः । भगवान् स्वतोऽप्येन वा स्वयमपि मृगयां गतो मारितवानिति । प्राय इत्युक्तं कोटिः । कृष्ण एव समर्थो मणिगुणान् दूरीकर्तुम् । हेतुश्चाप्यस्ति । मणिः पूर्णं याचित इति, वने च मारणे न कोऽपि ज्ञास्यतीति । एवं निश्चित्य भगवति क्लिष्टमारोपितवान् । ननु केनापि नोच्यते, कथं स्वं कल्पयसी-

त्याशङ्क्याह भ्राता ममेति । मम तु प्रिय इत्यहं ब्रवीमि, अन्यः किमर्थं वक्ष्यतीति भावः । तद्गृहे उक्तं भार्यादिस्थाने, पश्चात्कर्णं कर्णं समागतमजपत् । मन्त्रवत् शनैः भगवत्कीर्तिमुक्तवान् । यतो जना, नह्यल्पेन दोषेण जन्ममरणादिकं प्राप्नोति ॥१६॥

व्याख्यार्थ— सत्राजित ने कहा कि जैसे मेरा भाई वन में गया वैसे यह भी गए । भगवान् स्वतः गये अथवा दूसरों को भी ले गये, वहां जाकर मेरे भाई को स्वयं ने मारा अथवा दूसरों से मरवाया, बहुत कर तो स्वयं ने ही मारा है, यह विशेष कोटि है, क्योंकि कृष्ण ही समर्थ हैं और मणि के गुणों को जानते हैं अथवा उनको दूर भी कर सकते हैं, यों करने में कारण भी हैं, जो पहले मुझ से उग्रसेन के लिये "भ्राता ममेति" कहते थे, "वनं" मन्त्रकर्मभारते "कर्णोऽजपञ्जनः" इति श्लोक का विचार कर निश्चय किया कि कृष्ण ने ही मारा है और यह दोष कृष्ण पर आरोप किया । यह तो केवल तुम्हें कहता है दूसरा कोई भाई नहीं कहता । तुम यह कल्पना कैसे करते हो ! इसके उत्तर में कहता है, कि मेरा भाई है, जिससे मुझे प्यारा है, इसलिये मैं कहता हूँ दूसरे को क्या प्रयोजन है जो कहे । यह समस्त वर्णन अपने अन्तःपुर में किया, पश्चात् प्रत्येक काल कान में कहने लगा । मन्त्र की भांति धीरे धीरे भगवत्कीर्ति को कहने लगे क्योंकि मनुष्य है वह थोड़े दोष से जन्म मरण आदि को प्राप्त नहीं होता है ॥१६॥

आभास— पूर्वा भगवान् विदितवृत्तान्तोऽपि लोकन्यायेनैव व्यवहरन् स्वयमपि श्रुत्वा आसमुखात् तत्प्रतीकारार्थं यत्नं कृतवानित्याह भगवानिति ।

आभासार्थं— यद्यपि भगवान् ने पहले ही सर्व वृत्तान्त जान लिया था, तो भी, लौकिक व्यवहार दिखाने से लिये मनुष्यों के मुख से जब स्वयं ने सुना, तब उसके प्रतिकार के लिये यत्न करने लगे, जिसका वर्णन "भगवांस्तदु" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनः ।

माधुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने को वह कलङ्क लगा सुनकर, उसको मिटाने के लिए अपने साथ कुछ नगर निवासियों को लेकर जहाँ से प्रसेन गया था, उस रास्ते से उसको ढूँढ़ने के लिए गए ॥१७॥

सुबोधिनी—तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा आप्तमुखात् । षामात्मा स्वयमिति तद्दोषे कस्यापि मुक्तिं भवेत् । अतो युक्तमेव तन्निराकरणम् । तल्लोक-न्यायेनैव कर्तव्यमिति प्रसेनपदवीं नागरैः पदमार्गभिर्ज्ञैः तद्गतमार्गमन्वपद्यत । तेनैव मार्गेण स्वयं नागरैः सह गतः । अन्यथा लोकः कृत्रिमं जानीयात् ॥१७॥

व्याख्यान—वह सत्य वृत्तान्त आप (सत्य जानने वाले व कहने वाले) पुरुषों से भ्रमवा भ्रान्तक सुनकर, उपश्रुति सबको ही जनाती है, इस कारण से उसके प्रतीकार के लिए प्रवृत्त हुए, उसको मिटाने की क्या आवश्यकता थी ? जिसका कारण कहते हैं कि अपयश से लिप्त हो जाने से अर्थात् वैसी निन्दा होने लगी, जो लेप की भाँति सर्वत्र भासमान होने लगी, सारांश यह है कि जहाँ-तहाँ प्रत्येक मनुष्य भगवान् की निन्दा करते हुए कहने लगे कि भगवान् प्रसेन को मारकर मरिण ले आए हैं, अतः इस असत्य कलङ्क को मिटाने के लिए यदि भगवान् प्रयत्न न करते तो उस कलङ्क रूप दोष के कारण किसी की भी मुक्ति न हो सकती थी; क्योंकि सबकी आत्मा भगवान् ही है, भगवान् कलङ्क से दोषी हुए तो सब दोषी हुए, अतः उसका निराकरण करना योग्य ही है, वह निराकरण भी अलौकिक रीति से न कर, लौकिक प्रकार से ही करना चाहिए, इसलिए उन नागरिकों को साथ ले गए, जो पद-मार्ग को जानते थे, जिससे उसके जाने के मार्ग को पहचानकर वहाँ पहुँच गए, यों न करते तो लोक कृत्रिम (बनावटी) जानते ॥१७॥

आभास—ततस्तं दृष्टवानित्याह हतं प्रसेनमिति ।

आभासार्थ—'हत प्रसेन' श्लोक से कहते हैं कि अनन्तर उसको जाकर मरा हुआ देखा ।

श्लोक—हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने ।

तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—वन में प्रसेन और अश्व को सिंह से मरा हुआ देखा और उस सिंह को मनुष्यों ने पर्वत के ऊपर रीछ के हाथ से मरा हुआ देखा ॥१८॥

सुबोधिनी—केसरिनखानां चिह्नदशनात् । रेव केसरिमार्गमन्वगमत् । तं चापि अद्रिपृष्ठे पर्व-केसरिणैव हतं ज्ञातवन्तः । ततो मणिरप्यस्मी देय तोपरि निहतं ददृशुः सर्व एव जनाः । तथापि इति, यादवः स्वगोत्रजो मारित इति पदाभिज्ञै- ऋक्षेण ऋक्षपदचिह्नं स्तज्ज्ञानम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ - केसरी सिंह के नखों के चिन्ह प्रसेन के देह पर देख समझ लिया कि इसको सिंह ने मारा है, तब जान लिया कि मणि भी इसको मिली है, अपने गौत्र में उत्पन्न प्रसेन यादव मारा गया है, पाणियों के साथ ही सिंह के रास्ते से पीछे गए तो वहाँ मनुष्यों ने पर्वत के ऊपर देखा कि इस सिंह को किसी रोछ ने मार डाला है; क्योंकि वहाँ रोछ के पैरों के चिन्ह देखने में आ रहे थे ॥१८॥

ग्रामास - ऋक्षान्वेषणार्थं भगवान् प्रवृत्त इत्याह ऋक्षराजबिलमिति ।

ग्रामाभायं - 'ऋक्षराजबिलं' श्लोक से कहते हैं कि भगवान् रोछ को ढूँढ़ने में प्रवृत्त हुए ।

श्लोक - ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम् ।

एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः ॥१९॥

श्लोकार्थ - रीछों के राजा की गुफा बड़ी भयंकर और अन्धकार से व्याप्त थी, इसलिए प्रजा को बाहिर ही खड़ी रख आप अकेले प्रविष्ट हुए ॥१९॥

सुबोधिनी - यद्यपि भगवान् भक्तार्थमेव तत्र प्रविष्टः, तथापि लोके मण्यर्थं कष्टमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं तस्मिन्बिले प्रविष्टः । ननु ऋसः प्राकृतः पशुः, भगवांस्तत्र किमर्थं गत इत्याशङ्क्याह राजेति । ऋक्षाणां राजा महानेव भवति । तत्रान्यस्य प्रवेशाभावाय विशिनष्टि भीममन्धेन तमसावृतमिति । अन्तःकरणस्य इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यभावाय विशेषणद्वयम् । अन्वतमः कदापि सूर्यतेजोरहितम् । अनेन मणिनापि तत्र प्रकाशो

न कृत इति सूचितम् । अतो भगवान् अन्यान् स्थापयित्वा दयावशतमिवात्मानं ज्ञापयित्वा । साधारणत्वादसमर्थत्वादनियामकत्वाच्च ताभिर्भगवन्निवारणं न कृतमिति ज्ञापयितुं प्रजापदम् । साधारणास्तु ततो निवृत्ता इति ज्ञापयितुं प्रजानामेवावस्थापनमाह । प्रायश्चित्तमेकेनैव कर्तव्यमिति मर्यादां पालयन्नैव भगवानेक एव प्रविष्टः । यादवा अपि भगवदिच्छया अकीर्त्यापि शङ्कितान सङ्गे गताः ॥१९॥

व्याख्यार्थ - यद्यपि भगवान् बिल में भक्त के लिए गये थे, तो भी, लोक में यह जताने के लिये, कि भगवान् ने मणि की प्राप्ति के लिए कष्ट भी किया है । रोछ प्राकृत पशु है, जिसके लिए भगवान् प्रविष्ट हुए हैं, तब भी मणि की प्राप्ति के लिए कष्ट भी किया है, राजा महान् ही होता है, दूसरे किसी को क्यों नहीं भेजा ? इसके उत्तर में कहा है कि वहाँ दूसरा कोई जा नहीं सकता था, कारण कि गाढ़ अन्धकार से वह बिल व्याप्त था, जिससे अतःकरण तथा इन्द्रियों को वहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकती है, घोर अन्धकार है, कारण कि वहाँ कभी भी सूर्य का दर्शन नहीं होता है, जिससे सूर्य के प्रकाश से वह स्थान रहित है इस कारण से मणि ने भी वहाँ प्रकाश नहीं किया, यों सूचित किया, भगवान् अपनी दयालुता प्रकट करते हुए अन्धों को बाहर ही ठहरा कर स्वयं प्रविष्ट हुए, बाहर ठहरने वालों के लिये "प्रजा" पद देकर यह सूचित किया है कि वह साधारण असमर्थ और अनियामक थे इसलिये भगवान् को ऐसे स्थान पर जाने से रोका नहीं । जो साधारण थे वे तो लौट गये, इसलिये प्रजा को बाहर ही ठहराने का कहा है, किसी दोष हो जाने पर समुदाय

में से प्रायश्चित्त एक ही करता है यह नियम है, इस नियम के पालनार्थ भगवान् एक ही प्रविष्ट हुए, यादव भी भगवान् को इच्छा से प्रयत्न अर्पण से शक्ति हो भगवान् के साथ प्रविष्ट न हुए ॥ १६ ॥

आभास—तत्र प्रविष्टस्य मणिरदर्शनमाह तत्र दृष्टेति ।

आभासार्थ—"तत्र दृष्ट्वा" श्लोक से कहते हैं कि वहाँ प्रविष्ट हुए भगवान् ने मणि देखी—

श्लोक—तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् ।

हनुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽभंक्रान्तिके ॥२०॥

श्लोकार्थ—वहाँ बालक ने मणि को अपना खिलौना किया है, यह देख उसको लेने का विचार कर भगवान् बालक के पास खड़े हो गए ॥२०॥

सुबोधिनी—यद्यपि तत्र नागलोकमणयः अन्येऽपि दिव्याः सन्ति, ततः स्यमन्तकपरिज्ञानं कठिनम्, तथापि स्वत एवोत्तममिति लौकिकेनापि प्रकारेण ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापयितुं मणिश्रेष्ठमित्युक्तम् । तथापि मणिः गुप्त एव स्थाने स्थाप्यत इति भगवान् लौकिकप्रकारेण कथं दृष्टवान्, तथाह बालक्रीडनकमिति । बालस्य क्रीडार्थगुपरि निबद्धमित्यर्थः । पुराणान्तरे तु स्यमन्तकमणि-ज्ञापकं वाक्यमपि श्रुतवानित्युक्तम् । तत्र धात्री बालं लालयन्ती आह । 'सिंहः प्रसेनमवधोत् सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तक' इति । अतो लौकिकेनापि प्रकारेण

ज्ञात्वा अपकीर्तिनिराकरणार्थमिदं हतव्यमिति स्वाभाविकं चेतस्य न भवतीति, उपयोगश्च तथा नास्तीति, बालप्रबोधो वरुणमात्रेणापि भवतीति, पूजाभावात् घनप्रसवो नास्तीति, सुवर्णनाप्युपयोगाभाव इति, अखिलष्टकमपि पामरा न प्रष्टव्या इति स्वयमेव हनुं कृतमतिर्जातः । ततो मर्त्येव सर्वा सामग्री अखिलष्टकव्या सम्पादिनेः त्याह आदौ भगवान् अभंक्रान्तिके तूष्णीं कियत्कालमवतस्थे, न तु गृहीत्वा ततो निर्गतः । चौर्षादिना जीवन् अपथप्रवृत्तः महानपि भक्तोपि विषयासङ्गात् प्राकृतो जातः । अतस्त्वत्सम्भवात् तदीया अपि प्राकृता एव जाताः ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—श्लोक में "मणि श्रेष्ठ" पद देने का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि वहाँ नागलोक की दूसरी भी अनेक दिव्य मणियाँ थी जिससे स्यमन्तक मणि की पहचान कठिन थी तो भी यह स्वत ही उत्तम थी जिससे लौकिक प्रकार से भी यह पहचानी जा सकती थी इसलिये इसको "मणि श्रेष्ठ" कहा गया है, यों हैं, तो भी ऐसी मणि तो गुप्त स्थानों में रखी जाती है तो भगवान् ने लौकिक रीति से कैसे देख ली ? इसके उत्तर में कहा है, कि "बालक्रीडनकं" बालकों के क्रीड़ा के लिये ऊपर बांध रखी थी, अन्य पुराणों में तो ऐसी कथा है कि जब भगवान् वहाँ पधारे तब धात्री बालक को ललन करती हुई कहती थी 'सिंहः प्रसेनमवधोत्, सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः' सिंह ने प्रसेन को मारा, फिर जाम्बवान् ने सिंह को मार डाला, हे सुन्दर कुमार ! तू रो मत यह स्यमन्तक तेरी है, ये शब्द सुन कद, लौकिक प्रकार से भी जान लिया अर्थात् अपकीर्ति को निराकरण करने के लिए यह मणि हरण

करनी चाहिये, ऐसा स्वभाव तो इनका नहीं हो सकता है, और उसका उपयोग भी करना नहीं है। बालक को तो शब्द मात्र से प्रसन्न किया जा सकता है, मणि से धन की प्राप्ति तब हो जब उसको पूजा की जाए। पूजा के अभाव से धन भी उत्पन्न नहीं होता है सुवर्ण से भी उपभोग का अभाव है, आप प्रविलष्टकर्मों में इसलिये पामरों से पूछने की आवश्यकता नहीं थी, इसलिये स्वयं ही मणि के हरण का विचार करने लगे, यों विचार करने के बाद परिश्रम न हो इसलिये सब सामग्री तैयार करला, पहले भगवान् बालक के पाम मोन धारण कर कितने समय खड़े रहे किन्तु वहाँ से मणि लेकर नहीं निकले, चोरी से जीवन बुरे मार्ग पर जाता है, जिससे महान् हो, चाहे भक्त हो, वह विषयों में आसक्त होने से प्राकृत हुवा, अतः उसके सम्बन्ध से तदीय भी प्राकृत हो गये ॥ २० ॥

ग्रामास—अतो भगवन्तं दृष्ट्वा सदबुद्धयभावात् विषयाभिनवेशाच्च विचारमकृत्वापि आक्रोशं कृतवतीत्याह तमपूर्वमिति ।

ग्रामासाथं—भगवान् को देखकर, वह दाई जो बालक को रक्षा कर रही थी उसमें सदबुद्धि न होने के कारण और इस काम में प्राप्र होने से बिना विचार आक्रोश करने लगी, जिसका वर्णन 'तमपूर्व' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा घात्रो चुक्रोश भीतवत् ।

तच्छ्रुत्वाभ्यद्ववत्क्रुद्धो जाम्बवान्बलिनो वरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—दाई ने उस अपूर्व नर को देख डरे हुए के समान चिल्लाया, वह चिल्लाना सुनकर बलवानों में श्रेष्ठ, क्रोधित जाम्बवान् भगवान् के निकट आया ॥२१॥

सुबोधिनो—देवादीनामन्यतरश्चेद्वाकृस्तम्भनाशिकमपि कुर्वीदिति । तदभावात् भगवतो विलष्टकर्मत्वं ज्ञात्वा नगोऽर्शमिति ज्ञातवती । अकृतिवचनो वा नरशब्दः । स्वस्थस्याप्याक्रोशो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पुत्रं वा मारयिष्यतीति बुद्ध्या जाम्बवानपि महानिति तथा भयाभावात् भीतवत् चुक्रोश । यतो घात्रो बालकरक्षापरा ।

ततोऽन्तःकार्यान्तरव्याप्तोऽपि तद्वाक्यं श्रुत्वा समागत इत्याह तच्छ्रुत्वेति । मदायतनेऽपि मण्यर्थं कः समागत इति क्रोधः । जाम्बवानिति नाम्ना प्रसिद्धो रामायणे बुद्धिविशेषे, तादृशोऽप्यविचार्य समागतः । तत्र हेतुबलाभिमान इति अभिप्रायेणाह बलिनो वर इति । बलिभिरपि वरणीय इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—देव आदि में से कोई एक होवे, तो वाणी का स्तम्भन भी करदे, किन्तु भगवान् ने ऐसा किया नहीं, भगवान् का विलष्ट कर्म जान कर समझने लगी कि यह कोई मनुष्य है, अथवा यह नर शब्द प्राकृतिक के कारण कहा गया है, सुखी भी कभी चिल्लाहट करता है यह चिल्लाना वैसा नहीं था, किन्तु यह प्राया हुआ, पुत्र को मारेगा, इस विचार से यद्यपि जाम्बवान् महान् होने से

निर्भय था, तो भी डरे हुये के समान चिल्लाने जगा, कारण कि दाई बालक की रक्षा कर रही थी, यद्यपि स्वयं भीतरी अन्य कार्यों में रुका हुआ था तो भी दाई का वचन सुनकर भगवान् के पास आ गया। वाक्य सुनते ही इसको क्रोध उत्पन्न हुआ क्योंकि यह विचार होने लगा, मेरे घर में रखी हुई मणियाँ को लेने के लिए यह कौन है ? जो मेरे घर के भीतर आ गया है, जाम्बवान् के लिये रामायण में प्रसिद्ध हैं, कि बड़ा बुद्धिमान है, वंसा बुद्धिमान होकर भी, बिना विचार किये आ गया, यों आने का कारण बल का अभिमान था, इसलिये श्लोक में 'बलिनांवर' बलवानों में श्रेष्ठ कहा है, बली भी इसका वरण करते हैं ॥ २१ ॥

आभास—एतादृशोऽपि कालादिवशादज्ञो भूत्वा भगवता सह युद्धं कृतवानित्याह स वा इति ।

आभासार्थ—ऐसा समझदार होते हुए भी कालादि के वश हो जाने से अज्ञ बन गया जिससे भगवान् के साथ युद्ध करने लगा, जिसका वर्णन 'स वं भगवता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स वं भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः ।

पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ॥२२॥

श्लोकार्थ—वह जाम्बवान् निश्चय से, उनके प्रभाव को न समझ प्राकृत मनुष्य मानकर, अपने स्वामी उन भगवान् से युद्ध करने लगा ॥२२॥

सुबोधिनी—स्वयमपि प्रसिद्धः, तथा कुर्वन् लोके अपकीर्तिमपि प्राप्स्यतीति सूचितम् । तत्रापि वं निश्चयेन । शारीरेण जीवस्थाराधयो भगवान् । तत्राप्यात्मना स्वामिना स्वस्यैवोपास्यरूपेण । तत्कथमित्याकाङ्क्षायामाह तेनेति । रघुनाथेन । कृष्ण एव रघुनाथः, तामेव सर्वां सामग्रीं गृहीत्वा समागत इति । स एव लक्ष्मणो बलः । संव सीता हविमणौ । ते वानरा यादवाः, संवायोध्या द्वारका, संव सरयूगोमतीति । तर्हि कथं युयुधे तत्राह पुरुषमिति । प्राकृतं पुरुषं मत्वा प्रकृत्याधिष्ठाताम् न तु पुरुषोत्तमम् ननु महतः कथमेतादृशमज्ञानमिति चेत्, तत्राह कुपितो नानुभावविति । दृष्ट्वा क्रोधवशात् अलौकिकत्वं न ज्ञातवान् । पूर्वं तु कृतो गोवर्धन-दरेणुभावो न श्रुतः सत्सङ्गाभावात् बिलेशयत्वाच्च । अतः अनुभावानभिज्ञत्वात् कोपावेशाच्च स्वामिन्वेनाज्ञात्वा युयुधे ।

अबिलष्टकर्मा च भगवान् । अनुक्तेव स्वयं युद्धं कृतवान् । भगवत उत्तरार्धलीलायां प्रकृतिः कालादयश्चासहमाना जाताः । तेषां षोडशार्थं, पुरुषं परित्यज्य सप्तविंशति तत्त्वानि, यथा काठिन्यं जहति, तथा मुष्टिप्रहारैः सेवककृतैः चलने पादाविव कोमलानि कृतानीत्येके । चिरकालं मल्ल-युद्धाकाङ्क्षया तथा कृतमित्यन्ये । रामभगतारे हि तस्मै वरो दत्तो रामेण 'ध्वदाराघनां गृहीष्यामी'ति । पुनस्तेन विज्ञापनायां कृतायां बल मदीयं व्यर्थं जायत इति । ततो भगवान् बुद्धिमिदानीं प्रकटीकुरु, बलं पश्चात्प्रकटीकरिष्यसीत्याह । नहि कश्चिज्जीवस्त्वत्पराक्रमं सोढुं शक्त इति । अतस्तत्र स्थापितो ज्ञानशक्ति पूर्ववतारे गृहीत्वा इदानीं बलशक्तमपि गृह्णन् पूजां गृहीत्वा त मुक्तं करिष्यतीति तथा भगवदुद्योगः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवान् स्वयं प्रसिद्ध था, अतः इस प्रकार भगवान् से युद्ध करने से अपकीर्ति को प्राप्त होगा, यह सूचित किया, यह सूचना साधारण नहीं है, किन्तु निश्चयपूर्वक है, जीव को भगवान् वी आराधना शरीर से करनी चाहिये, उसमें भी अपने स्वामी उपास्य रूप की तो करनी ही चाहिये 'तेन' पद से यह दिखाया है, जाम्बवान् का उपास्य जो रघुनाथ है, वे कृष्ण ही हैं अतः उसी सकल सामग्री को लेकर यहाँ आये हैं जैसे वही लक्ष्मण बलराम है, वही सीता हविमणी है, वे बन्दर यादव हैं, वह ही अयोध्या अब द्वारकापुरी है वह सरयू गोमती है, जब यों है, तब जाम्बवान् अपने उपास्य से कैसे लड़े ? इस पर कहते हैं कि प्रकृति के अघिष्ठाता को प्राकृत समझा, न कि पुरुषोत्तम जाना । वह जाम्बवान् महान् बुद्धिमान है उसको ऐसा अज्ञान कैसे हुआ ? क्रोध ऐसी वस्तु है जो ज्ञानी को अज्ञानी बना देता है, यह भी क्रूर था, अतः क्रोध के कारण प्रभाव को न जान सका, अलौकिक को पहचान न हो सकी, भगवान् ने जो गोवधन धारण कर अपना प्रभाव दिखाया था, वह इसने न देखा और न सुना था क्योंकि एक तो सत्संग का अभाव था, अर्थात् सत्संग नहीं किया था तथा दूसरा बिल में भी रहता था जिससे माहात्म्य जान न सका था अतः माहात्म्य का ज्ञान न होने से, कोप के आवेश से और यह मेरा स्वामी है इस अज्ञान से लड़ाई करने लगा । भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, अर्थात् भगवान् को किसी भी कार्य करने में परिश्रम तो होता ही नहीं है, इसलिये कुछ न कहकर ही स्वयं युद्ध करने लगे । भगवान् की उत्तराध की लीला को प्रकृत^१ तथा काल^२ आदि^३ सहन न कर सके, उनकी^४ पीड़ा के लिए, जैसे पुरुष को छोड़ सत्ताईस तत्व कठिनता का त्याग करते हैं, वैसे ही सेवकों के किये हुवे मुष्टि प्रहारों से चलने में पैरों की तरह कोमल किये, यों कोई एक कहते हैं । दूसरे कहते हैं कि बहुत समय से मल्लयुद्ध लड़ने की चाहना थी इसलिये यों किया । रामावतार में श्री रामचन्द्रजी ने इसको बरदान दिया था, तेरी सेवा ग्रहण करूँगा तब जाम्बवान् ने फिर प्रार्थना की कि मेरा बल तो व्यर्थ ही चला जायेगा । तब भगवान् राम ने कहा, बुद्धि अब प्रकट कर, अर्थात् बुद्धि से सेवा अब कर, उसको अब स्वीकार करूँगा, शेष बल पीछे प्रकट करना, अर्थात् बल की सेवा की स्वीकृति कृष्णावतार में करूँगा, क्योंकि तेरा ऐसा उत्कृष्ट पराक्रम है, जो कोई भी जीव सहन न कर सकेगा, अतः उसमें स्थापित ज्ञान शक्ति को रामावतार में ग्रहण कर अब बल शक्ति द्वारा पूजा ग्रहण कर उसकी मुक्ति करेँगे इसलिये ही भगवान् का यह उद्यम है ॥ २२ ॥

ग्रामोस—ग्रहादिवशाञ्जयो न जायत इति कदाचित्तस्य शङ्का स्यात्, अतस्तन्निरा-
करणार्थं सर्वेष्वेव नक्षत्रेषु युद्धं निरन्तरं कृतवानित्याह द्वन्द्वयुद्धमिति ।

आभासार्थं—ग्रह आदि के वश से जीत नहीं होती है, इसलिये किसी को शंका होती हो, तो

१—प्रकृत शब्द का तात्पर्य है लोक धर्म का अनुसरण करना ।

२—सत्ताईस नक्षत्रों को यहाँ काल कहा है ।

३—आदि पद से कर्म और स्वभाव समझने चाहिए ।

४—भगवान् ने जो सेवक पर मुष्टि प्रहार किये, तत्वों के पीड़ा के लिए युद्ध किया है, जिसका कारण सत्ताईस तत्वों की कठिनता छुड़ाना है ।

ये। इस युद्ध करने की विधि क्या है? जिसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा दिया है, जैसे मांस के लिये बाज पक्षी लड़ते हैं, वे जब तक मांस अपने को न मिला है, तब तक लड़ते हैं वैसे ही यहाँ जब तक मणि की प्राप्ति न हो जाय, तब तक लड़ते रहना, कृष्णा मांस बाज पक्षियों को जीवन के लिये अवश्य अपेक्षित है, वैसे ही भगवान् को अपना कलंक मिटाने के लिये मणि की आवश्यकता अपेक्षित है। कलंक मिटकर सत्यरूप शोभा तब बढ़ेगी, जब यह मणि विजय से प्राप्त की जायेगी। इस प्रकार के मोह के कारण ही भगवान् को मणि अपेक्षित है। बाज जाति और शृगाल को क्षुधा से पीड़ा नहीं होती है अथवा क्षुधा और पीड़ा नहीं होती है। इस प्रकार बहून अर्थों की समानता देखकर श्येनीः दृष्टान्त दिया है ॥ २३ ॥

श्रामास— एवं युद्धस्य कालमाह श्रासीत्तदष्टाविंशतिम् ।

श्रासाभार्थ— “श्रासीन्तदष्टा” श्लोक से युद्ध कितने दिन चला सो बताते हैं—

श्लोक— श्रासीत्तदष्टाविंशतिम् ।

वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहनिशम् ॥२४॥

श्लोकार्थ— वज्र के प्रहार से भी कठोर मुकों से विश्राम लिए बिना दिन-रात अठ्ठाईस दिन तक परस्पर दोनों लड़ते रहे ॥२४॥

सुबोधिनी— अष्टाविंशे दिवसे ज्ञानं जातमिति तदपि दिनं फलरूपं युद्धमध्ये गृहीतम् । इतरेतर-मुष्टिभिः वज्रनिष्पेषादपि परुषैस्तद्बद्ध मध्ये विश्रामरहितम् । अहनिशमिति ऐहिकावश्यककालकृतोऽपि विश्रामो नास्तीति सूचयति । भगवांस्तावत् प्रहारं करोति, यावत्स करोति, सोऽपि बलरूपो भवतीति वज्रनिष्पेषादपि तत्प्रहारः पक्षः । अतस्तुल्यत्वात् न विरमणम्, नाप्येकस्य

पराजयः । भक्तत्वाद्भगवतो न मारणीयः । भगवांस्त्वशक्य एव । अत्र काचिद्विद्वेदा कथा । महा-मायोपस्थानस्याग्रे निरूपितत्वात् तेन विरोधादु-पेक्षणीया । कल्पान्तरीयेत्यन्ये समादधुः ततः कालकृतं तस्य बलमिति सप्रविशात्मके काले अतीते । प्राकृतबलपक्षेऽपि अष्टाविंशतिप्रकारं तद्बलमिति ॥२४॥

व्याख्यार्थ— अठ्ठाईसवें दिन, जाम्बवान् को ज्ञान हुआ, कि यह तो मेरे उपास्य स्वरूप है, वह दिन भी फलरूप होने से, युद्ध में गिना गया है, वास्तव में उसी दिन लड़ाई नहीं हुई है, वज्र के प्रहार से भी कठोर मुकों से जो इतने दिन लड़ाई बिना विश्राम के दिन रात चली, वह तुमूल भारी लड़ाई हुई, काल ने रात्रि विश्राम के लिये बनाई है, किन्तु वह कालकृत विश्राम भी न लेकर लड़ते रहे, जब तक वह प्रहार करे, उससे पहले भगवान् कर देते, वह भगवान् का प्रहार बलरूप हो जाने से वज्र गिरने से भी कठोर होता था, वे दोनों तुल्य होने से, विश्राम नहीं लेना चाहते थे, यों होते हुवे भी एक का भी पराजय न हो सका जिसका कारण यह था, कि जाम्बवान् भक्त था इसलिये भगवान् उसको मारना नहीं चाहते थे, भगवान् का तो अशक्य ही है, अतः दोनों वैसे ही रहे और लड़ते रहे। इस विषय में एक विद्वद् कथा हरिवंश में कही गई है कि ‘भगवान् ने जब जाम्बवान् के बिल में प्रवेश किया तब वसुदेव आदि लोट कर द्वारका आ गये वहाँ कहने लगे कि कृष्ण मर गये

है। यह कथा महामाया के उपस्थान से आगे कही गई है इससे यह विरुद्ध होने से उपेक्षा करने योग्य है दूसरे इस प्रकार समाधान करते हैं कि कथा दूसरे किभी कल्प की है, सप्तविंशत्काल काल पूरे होने पर उसका काल कृत बल भी पूरा हो गया, प्राकृत बल के पक्ष में भी अठारह प्रकार का उसका बल था ॥ २४ ॥

आभास—यदेव पुरुषप्रकारः समागतः, तदेव तस्य विवेक उत्पन्न इत्याह कृष्णमुष्टीति ।

आभासायं - प्रकृति बाल आदि का प्रकार गया और जब पुरुष प्रकार आया तब ही उसको विवेक आया जिसका वर्णन 'कृष्णमुष्टि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः ।

क्षीणसत्त्वः रिचन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के घूँसों के प्रहार से उसके अङ्गों के सब बन्धस्थल शिथिल हो गए और बल शक्ति क्षीण हो गई, शरीर पसीने से भर गया, तब जाम्बवान् अचम्भे में आ उनसे कहने लगा ॥२५॥

सुबोधिनी—तस्य क्षीणेऽपि बले भगवतो बलं न क्षीणमिति । पञ्चादल्पप्रहारैरपि निष्पिष्टाङ्गः । अङ्गानां चोरुबन्धनानि यस्य । विशीर्णसर्वावयवो जात इत्यर्थः । हस्तगदादयो भग्नाः । ततः अशक्तः जिज्ञासायां प्रवृत्त इति वक्तुं बाह्याभ्यन्तराशक्ति-माह क्षीणसत्त्वः रिचन्नगात्र इति । अन्तःकरणे विवेकघर्षे क्षीणे, गात्रेषु प्रस्वेदेन शरीरमपि

क्षीणम्, निष्पीडितमिवाभूत् । ततो विस्मितो जातः । विचारे क्रियमाणे समागमनादिभिः प्राकृतघर्षेर्जीवत्वे जाते स्वसमानबलतैव कस्यापि नास्ति । ततोऽधिकबलः कथं जात इत्याश्चर्यम् । भगवत्त्वे वा कथमेवंरूपेणागत इति उभयत्र विरोधादतीव विस्मितो जातः ॥२५॥

व्याख्यायं—जाम्बवान् का बल क्षीण हो गया किन्तु भगवान् का बल क्षीण न हुआ, अनन्तर छोड़े भी प्रहार से उसके अङ्गों के बन्धन ढीले पड़े गये जिससे सर्व अवयव शिथिल हुए, हाथ, पैर टूट गये, पश्चात् अशक्त हो यह कौन है ? इस प्रकार जानने की इच्छा की, बाहर तथा भीतर की शक्ति जाने से निबल हो गया, जिससे समग्र शरीर पसीने से व्याप्त हो गया । विवेक-घर्ष सहित अन्तःकरण क्षीण हुआ, अङ्गों में पसीना आ जाने से शरीर भी कमजोर हो गया, वैसी स्थिति आ जाने से विशेष प्रकार से अचम्भे में पड़े गया विचार करने पर देखा कि इससे मिलाप आदि किया है तो यह प्राकृत घर्षों से जीव जाना जाता है, किन्तु कोई भी जीव मेरे समान भी बलवाला नहीं है, यह तो मुझसे भी अधिक बलवाला कैसे हुआ ? यह अचम्भे है, यदि भगवान् है तो इस प्राकृत रूप से बंसे आए ? दोनों परस्पर विरुद्ध देख बहुत ही अचम्भे में पड़े गया ॥२५॥

आभास - ततो विरोधपरिहारे विचार्यमाणे लीलयापि प्राकृतवक्षेष्टा भवतीति॥

निश्चित्य बलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च भगवानेवायमिति ज्ञात्वा स्वस्य पराजयः नातोव

न इत एतन्मैत्र्याः प्रतीतिः साधनः साधनः इति मन्त्र-वडि। किरिता। त ज्ञानयन् भगवत् तत्तात ज्ञान

विचार करने पर ध्यान में आया कि भगवान् कृती है। यह निश्चय कर लिया; क्योंकि उन ही है, यों जानकर इससे पराजय होना मन भगवान् की स्तुति 'जाने त्वां' से तीन श्लोकों

सहो बलम् ।

श्वरम् ॥२६॥

पि यच्च सत् ।

यात्मनाम् ॥२७॥

वि-

मोऽभिः ।

रज्जु

रेषुक्षतानि ॥२८॥

प्राणियों के प्राण, ओज, सह और और सर्व के नियन्ता काल रूप भो हैं, न करने वाले हैं, जो रचे हुए सत् के भो काल रूप आप है, आत्मा के त क्रोत्र भरे कटाक्षो के पात से समुद्र मुद्र ने मार्ग दिया, अनन्तर समुद्र में या, बाणों से राक्षसों के सिर पृथ्वी

मनैगुणैः ।

नान्यथा ॥१॥

आभासार्थ - पश्चात् विरोध कैसे मिटे ? इसका की लीला करने के समय प्रकृतों की भाँति चेष्टा हो स का विशेष बल तो प्रत्यक्ष देख लिया, अतः यह भगवान् को विशेष धोड़ा नहीं करने वाली है, यों जताते हुए म द्वारा करता है ।

श्लोक — जाने त्वां सर्वं भूतानां प्राण ओज

विष्णुं पुराणं पुरुषं प्रमविष्णुमधी

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानाम

कालः कलयतामोशः पर आत्मा त

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोर्क्षर्वत्स

शक्तुभितनकतिमिङ्ग

सेतुः कृतः स्वयशसोज्ज्वलिता च त

रक्षःशिरांसि भुवि पेतु

श्लोकार्थ— मैं आपको जानता हूँ, आप सब बल हैं तथा विष्णु, पुराण पुरुष, उद्भवकर्ता आप विश्व की रचना करने वालों के भी सृज पदार्थ हैं, वे भी आप ही हैं, नाश करने वालों परमात्मा भो आप हैं । जिनके स्वल्प ही उद्घोष के नक्र और मगर जब क्षोभित हो गए, तब स पुल बाँधी, अपने यश से लंका को प्रकाशित कि पर गिराये, वे रामचन्द्र प्रभु आप है ॥२६-२८॥

कारिका— राजसंः सात्त्विकंश्चैव तामसैस्त

सम्पूर्णैः सहितो विष्णुर्भगवानेव

कारिकार्थ—राजम, सात्त्विक और तामस; इन तीन सम्पूर्ण गुणों के प्रकाश से युक्त यह भगवान् विष्णु ही हैं दूसरा कोई नहीं है ॥१॥

सुबोधिनी—कथं निवृत्त इत्याकाङ्क्षायां ज्ञात्वा निवृत्त इत्याह जान इति । ज्ञानमार्गानुसारेणापि ज्ञानं सम्भवतोत्यत आह त्वामिति । त्वामहं जाने । तत्र प्रकारानाह सबभूतानां प्राण भोजः सहो बलमिति । प्राण आसन्धः, तस्य कार्यभोजः इन्द्रियशक्तिः । सहोऽन्तकरणस्य । बल शरीरस्य । एवं सर्वप्राणिषु बलात्मा कार्यकारणभेदेन विभक्तवीर्यं आसन्धस्त्वमेव । एव नरोत्तमत्वमुक्त्वा पुण्योत्तमत्वमाह विष्णुमिति । विष्णुरधिकार्यपि भवतीति तावन्मात्रतां निराकृतुं विशेषमाह पुराणपुरुषमिति । पुरुषोत्तमम् । किञ्च । तादृशोऽपि प्रभविष्णुः । लोकरुमुद्गावयति । प्रकर्षेण भावयति वा । किञ्च । अघोश्चरं सर्वनियन्तारं कालरूपम् । पूर्वं क्रियाशक्तिरिहूपिता चतुर्धा रूपभेदेन । इदानीं ज्ञानशक्तिरिहूप्यते चतुर्धा, ज्ञानं च त्रतुर्विधम् । नियामकमेकम्, इष्टसाधनतां ज्ञापयित्वा प्रवर्तकं द्वितीयम्, ततः फलदातृत्वेन स्थितं तृतीयम् । ततो निर्वाहकसंस्कारं चतुर्थम् । तद्विष्णुपदेन प्रत्यवरोहकमेण अन्यैः पदैश्च निरूपितम् ॥२६॥

एवं पूर्णक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेन भगवन्तं निरूप्य तस्य जगज्जन्मादिमोक्षान्तकार्यार्थेण चत्वारि निरूपयति त्वं हीति । श्रुतयः सम्प्रत्यर्थः गृहीताः विश्वभूत्रां सत्त्वानामपि त्वं स्रष्टा । सृज्यानामपि घटादीनां सत्स्वरूपं भवानेव । अनेन स्थितिस्तथा । कलघतां कालमहादेवयमादीनामपि त्व काल उपसंहारकर्ता । एवं सृष्टिस्थितिप्रलयानुक्त्वा शोक्षदातृत्वमाह परमात्मेति । आत्मनां सर्वेषामेव जोवानां परमात्मा फलरूपः । सायुज्यस्थानमिति यावत् ! तथात्मनां वा परमात्मत्वेन सेवमानानां परमात्मा मोक्षदाता । अथवा । भगवतः सर्वैस्व वक्तुं सदस्योत्पत्त्यादिजनकत्वेन स्वरूपं भगवानित्युक्त्वा, चिदंशमपि भगवानेवात्मेति वदन्, आत्मत्वेनैवरूपता सिद्धेति तन्नियामकान्तर्धा-

निरूपत्वेन भगवन्तं निरूपयति परेति ॥२७॥

एवं मूलकार्यरूपे निरूप्य एव रामो मम स्वामी, स एव भगवानिति वक्तुं रामावतारपीरुषमाह यस्येषदिति । ईषदुष्कलितः पुष्पप्रायः क्रोधः, तत्रापि ऊर्ध्वं कलिकामात्रं जातः, सोऽपि मनस्येवेत्याह कटाक्षमोक्षोरिति । अल्पीयसि क्रोधे मनसि जाते दृष्टिस्तादृशी जाता । सापि न संपूर्णा, किन्तु कटाक्षरूपा, ते च पुनः दृष्ट्यवयवा । मोक्षरूपा इति ज्ञापयितुं कटाक्षाणां मोक्षा निरूपिताः । अल्पजीवाश्चेतनाः तर्भिता भविष्यन्तीति किं वक्तव्यम् । ततः अन्धिरपि वामं प्रादिशत् । मनुपरि मार्गं कृत्वा गच्छन्तिवत्युक्तवान् । ननु देय एव मार्गः, कथमुपायमुपदिष्टवानित्याह क्षुभितनकतिमिङ्गल इति । नकाराणां तिमिङ्गलानां च क्षोभं दृष्ट्वा तथोक्तवानित्यर्थः । अन्धिरश्च प्रापो धीयन्ते अस्मिन्निति तासां निरन्तरमुत्सर्जित्वा घिता स्यात् । अतो मर्यादारक्षार्थं मपि तथोक्तवान् । अस्त्वभावः भगवत्कृतः । तेनान्यथाकृतुं न शक्यत इति मार्गं एव कर्तव्य इति भगवानेव प्रायितः । अन्तरिक्षेणापि गमनेन गत्वा मारयितुं शक्यम् । तथा सति राक्षसैस्तुल्यता भविष्यतीति अलौकिके कर्तव्ये प्रस्तराणामेव समुद्रे प्लवनं निरूपितम्, न वानराणामिति भगवता सेतुः कृत इत्याह । क्रमेण चरित्रत्रयं निरूप्यते । सेतुवन्वो राजसः, दाहः सात्त्विकः, रक्षसां वधश्च शिष्ट इति । जलाग्न्यासन्धानां निमित्तत्वात् सत्त्वादिक्रमो वा । स्वयंशसा लङ्का उज्ज्वलितेति । ऊर्ध्वं ज्वलिता ज्वलिता उज्ज्वलीकृता वा अनेनैतत् ज्ञापितम् । रघुनाथेनैव लङ्का प्रकाशितेति । अन्यथा लङ्कां को जानीयात् । नह्यन्याग्नि राक्षसन्धानानि लोके प्रसिद्धानि । इषुमि क्षत्रानि स्वयमेव भूमौ पेतुः । क्षतमात्रेणैव भगवत्सामर्थ्यादेव पतितः नि ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—जाम्बवान् युद्ध से कैसे निवृत्त हुआ ? इसके उत्तर में कहा है कि प्रभु के स्वरूप को जब जान गया; तब निवृत्त हुआ, ज्ञान मार्ग के अनुसार भी जान होता है। अतः कहता है, मैं आपको जानता हूँ कि आप सकल प्राणियों के आसन्य प्राण हैं, उसका कार्य अोज अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति भी आप हैं, अन्तःकरण का बल और शरीर का बल भी आप हैं, इस प्रकार सर्व प्राणियों में बलात्मा, कार्य कारण से जिसका वीर्य बाँटा हुआ है वह आसन्य आप ही हैं, इस तरह नरों में उत्तम कहकर अब कहता है कि पुरुषोत्तम भी आप है; क्योंकि पुराण पुरुष विष्णु हो, यों तो केवल विष्णु कहने से अधिकारी विष्णु समझा जाता, वैसा होते हुए भी लोक को प्रकट करने वाले तथा प्रकर्ष से भावित करने वाले होने से प्रभु विष्णु भी आप ही हैं, सबको नियम में रखने वाले कालरूप भी आप हैं। पहले रूप भेद से चार प्रकार की क्रिया शक्ति का निरूपण किया अब चार प्रकार से ज्ञान शक्ति निरूपण की जाती है, ज्ञान चार प्रकार का है, एक नियामक, दृष्ट की साधनता जताकर प्रवृत्त करने वाला, दूसरा फलदातापन से स्थित तीसरा निर्वाह करने वाला सर्व रूप, चौथा है वह ज्ञान रूप अव-रोह क्रम से और अन्य पदों से निरूपित है ॥ २६ ॥

इस प्रकार भगवान् के पूर्ण ज्ञान क्रिया शक्ति वाले स्वरूप का निरूपण कर, अब उनके जगत् के जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त चारों कार्यों का निरूपण करता है, कि विश्व की रचना करने वाले तत्वों का सृष्टा आप ही हैं, बने हुए कार्यरूप घट आदि का सत् स्वरूप आप ही हैं, यों कहने से स्थिति बताई, नाश करने वाले काल महादेव और यम आदि के भी कालरूप आप ही हैं, इस प्रकार सृष्टि स्थिति प्रलय कर्ता स्वरूपों को कहकर, मोक्ष दाता होने से परमात्मा आप ही हैं, अर्थात् समस्त जीवों की परम आत्मा होने से फलरूप आप हैं। सारांश यह है कि सायुज्य स्थान आप हैं, आपकी परमात्मा रूप से सेवा करने वाले जीवों को मोक्ष देने वाले परम आत्मरूप आप मोक्ष दाता हैं अथवा सर्व भगवान् हैं यों कहने के लिये सदर्श से उत्पत्ति आदि करने वाले स्वरूप होने से, भी आप भगवान् हैं, चिदर्श जीव का आप भगवान् ही आत्मा हैं, यों कहते हुए आत्मापन से ही सबकी स्वरूपता सिद्ध हो गई उनका नियामक अन्तर्गामी रूप भी आप भगवान् हैं यों निरूपण करने के लिये कहता है, कि 'पर' रूप आप ही हैं, अर्थात् आप से उत्तम वा 'पर' कोई नहीं है इस विषय में सम्प्रति के लिये श्रुतियां ली हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार मूल स्वरूप के कार्यों का रूप वर्णन कर, जो ही राम मेरा स्वामी वही आप है, यों कहने के लिये, रामावतार के पराक्रमों का वर्णन करता है। अल्प ही उमरा हुआ फूल सम क्रोध, वह भी बड़ा हुआ कली जैसा हो गया। वह भी मन में ही उत्पन्न हो रहा था, थोड़ा भी क्रोध मनमें उत्पन्न होता है, तो दृष्टि भी वैसी हो जाती है। अर्थात् दृष्टि बदल जाती है। जिससे यह ज्ञान होता है, कि इसको क्रोध उत्पन्न हुआ है श्री राम की दृष्टि पूर्ण क्रोध से युक्त न थी, अतः कटाक्ष रूप ही थी, फिर वे दृष्टि के अवयव मोक्ष रूप थे यों जताने के लिये कटाक्षों के मोक्ष का निरूपण किया है। अर्थात् राम ऐसी स्थिति में अपनी दृष्टि के कटाक्षों को समुद्र पर फेंका जिससे डर कर समुद्र ने ही जब मार्ग दे दिया, तो चेतन जीव उनसे डरे उसमें कहना ही क्या है ? समुद्र ने डर से, भगवान् रामजी को कहा, कि यह मार्ग है, मेरे ऊपर मार्ग बनाकर आप निःसंकोच हर्ष से पधारिये। समुद्र को जाने का मार्ग दे देना चाहिये था ? उपाय क्यों बताया ? जिसके उत्तर में कहा है, कि समुद्र ने सोचा कि यदि रास्ता दूंगा, तो मेरे भीतर जो नक मगर आदि भयंकर जीव हैं, वे उनको कष्ट देंगे। अतः

मार्ग बता दिया अथवा समुद्र को संस्कृत में "अग्नि" नाम भी दिया है, वह इस लिये दिया है, कि इसमें निरन्तर पानी पैदा होता ही रहता है, यदि वहाँ से रास्ता दिया जाता तो पानी की उत्पत्ति में रुकावट हो जाती, अतः रास्ता न देकर ऊपर पुत्र बान्धने का उपाय बता दिया जिससे मर्यादा की भी रक्षा की गई इस प्रकार उत्पत्ति होने में जल का स्वभाव भगवान् ने बनाया है, इस तरह अन्य प्रकार से कर नहीं सकते, इसलिए भगवान् को ऊपर मार्ग बनाने की प्राथना की है, अन्तरिक्ष से भी जाकर मारा जा सकता था, इस प्रकार मारने से राक्षसों से समानता हो जाती, इसलिये कुछ अलौकिक भी दिखाना इस विचार से पाषाणों को ही समुद्र में स्नान कराते तैराना योग्य ही है। यह निश्चय कर पत्थरों से पुल बनवाई यों निरूपण किया है। यह पुल वानरों ने नहीं किन्तु भगवान् ने सिद्ध किया है, भगवान् ने तीन प्रकार में चरित्र किया है। १-पुत्र बान्धना यह राजस चरित्र है। २-रावण की पुरी का वा रावण का दाह यह सात्त्विक चरित्र है, शेष राक्षसों का वध यह तामस चरित्र है, अथवा जलकार्यं सर्व, अग्नि कार्यं राजस आसन्न्य कार्यं तामस है, इन कार्यों के निमित्त होने से तीन गुणों का क्रम है, श्री राम ने अपने यश से लंका प्रकाशित करदी वा जलाई इससे यह बताया कि रघुनाथ ने ही लंका को जगत में प्रसिद्ध किया नहीं तो लंका को कौन पहचानता था। जैसे अन्य राक्षस-स्थान, लोक में प्रसिद्ध नहीं वैसे वह भी नहीं होती, बाणों से क्षत हो राक्षसों के सिर स्वयं पृथ्वी पर गिर जाते, क्षत होते ही गिरने का कारण भगवान् का सामर्थ्य ही है ॥२८॥

आज्ञास—एवं कृते स्तोत्रे भग्नसर्वाङ्गं यथापूर्वं कृत्वा भगवानुवाचेत्याह इतीति ।

श्राभासाय—जाम्बवान् ने जब इस प्रकार स्तुति की तब भगवान् ने उसके टूटे हुये अंगों को पहले जैसे सिद्ध कर दिये और उसको "इति" श्लोक से कहने लगे ।

श्लोक— इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः ।

व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस प्रकार जिस रीछों के राजा को विशेष ज्ञान हो गया है, उसको देवकी के पुत्र अच्युत भगवान् स्पष्ट कहने लगे ॥२९॥

सुबोधिनी—विशेषेण ज्ञातं विशेषज्ञानं यस्य, स्वभावतोऽपि महान्तमृक्षराजानम, अच्युतः सर्वतः धर्मा अपि तस्य तथेति । एतत्प्रयोजनमुत्तरश्लोके वक्तव्यम् । तत्कृतपीडाभावाय वा । व्याजहार स्पष्टमुक्तवाहं । निन्दितत्वात् कदाचित् व्याजेनापि वदेत् । अत एतदुक्तम् । महाराजेति संबोधनं

सेवकापराधापरिगणनज्ञापनार्थम् । ननु कथं स्पष्टं वचनं कथं वा नाज्ञापितवानित्याह भगवानिति । सर्वसमर्थः । तादृशोऽपि देवकीसुतो भक्तकृपालुः । अतो युक्तमेवास्य स्पष्टवचनमिति भावः ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—जिसको विशेष ज्ञान हुआ है, और जो स्वभाव से भी महान् है, क्योंकि रीछों का राजा है, अतः उस महान् ऋक्षराज को स्पष्ट कहने लगे इस का प्रयोजन उत्तर श्लोक में कहा जावेगा अथवा उसको जो पीड़ा हुई उस पीड़ा को मिटा देने के लिये स्पष्ट कहने लगे, भगवान् जो स्पष्ट कहने

लगे, वह स्पष्ट कहना छन से भी हो सकता है, क्योंकि रीछ ने ऐसे कार्य किये हैं, जो निन्दा के योग्य हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुवे परीक्षित् को महाराज सम्बोधन देकर, इस शंका का निवारण करते हैं कि सेवक के अपराधों की गणना नहीं की जाती है, आप राजा हैं इस बात को जानते हो हैं, स्पष्ट वचन क्यों कहे? आज्ञा क्यों न दी, इसका उत्तर देते हैं कि आप अच्युत एवं भगवान् हैं, अच्युत होनेसे सब समर्थ हैं अर्थात् आज्ञा करें वा स्पष्ट वचन कहें, उनकी जैसी इच्छा हो त्यों करें किंव देवकी के पुत्र हैं, वह स्वरूप तो भक्तों पर कृपा ही करता है, अतः इनका स्पष्ट वचन कहना उचित ही है ॥२६॥

आभास—वचनात्पूर्वमेव तस्य हितं च कृतवानित्याह अभिमृश्येति ।

आसाभासं—स्पष्ट कहने से पहले ही उसका कल्याण किया जिसका वर्णन 'अभिमृश्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अभिमृश्यारविन्दाक्ष. पाणिना शंकरेण तम् ।

कृपया परया भक्तं मेघगम्भीरया गिरा ॥३०॥

श्लोकार्थ—कमल नेत्र भगवान् ने परम कृपा से उस भक्त पर अपना कल्याण करने वाला हाथ फेरा और मेघ की गरज के समान गम्भीर आनन्द देने वाली वाणी से कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—तस्याभिमर्शोऽपि सकृत् कृतो नित्यं तिष्ठति । सामान्यस्यैव वाभिमर्शः सुखकरो भवति तत्क्षणम्, किं वक्तव्यमानन्दमयस्य । तत्रापि यस्मिन् क्षणे स निष्पादितः, ततः प्रभृति तथैवानुवर्तत इति पूर्ववस्थां ततोऽप्यधिकां वा प्राप्तवान् । मानसीं व्यथां दूरीकृतुं माह अरविन्दाक्ष इति । दृष्ट्यां व सर्वसुखदायी । शंकरेण पाणिनेति । तस्मिन्नतिशयाधानमप्युक्तम् । येनाग्रे

सद्बुद्धिरप्युत्पद्यत इति । एवं कायेन मनसा च सान्त्वनं कृत्वा वचसापि सान्त्वनमाह मेघगम्भीरयेति । मेघा हि शब्दत एव भाविवृष्टिं सूचयन्तः चिन्तादिसर्वतापहारका भवन्ति । तथाप्यनुचितं कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह कृपया परयेति । अनेन वा मानसं सान्त्वनम् । तमिति तथा स्तोत्रकर्तारं सान्त्वनोचितम् । त्रिविधसान्त्वनेऽपि हेतुर्भक्तमिति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—उनका इस प्रकार एक बार भी हाथ फिराना नित्य रहता है । सामान्य मनुष्य भी यदि यों हाथ फिरावे तो वह भी उस समय ही देता है, तो आनन्द मय का हस्त फिरे, तो उससे जो सुख होगा, वह कहा नहीं जा सकता है, उसमें भी जिस क्षण में वह कल्याणकारी हस्त धरा उस समय से लेकर, वह सुख वंसा हो बढ़ता रहता है यों उसकी जो पहले अवस्था थी उससे भी अब विशेष सुन्दर अवस्था हो गई अर्थात् भगवात् का शरीर पर हाथ का स्पर्श होने से उसके दूटे हुए अंग तो जुड़ गये किन्तु पूर्व से सुन्दर भी हो गये थे, न केवल अंग सुन्दर हुए किन्तु मन की व्यथा भी मिट गई क्योंकि भगवान् अरविन्दाक्ष हैं, जैसे कमल से ताप मिटता है, वैसे भगवान् भी अपने कमल समान नेत्रों से भक्त के भीतरी व्यथा, यानि ताप को शान्त कर, सर्व प्रकार सुख देते हैं, कल्याण कर हस्त धरने से आश्रय भी दिया, जिससे आगे सद्बुद्धि भी उत्पन्न होती रहे । इस प्रकार काया तथा मन से सान्त्वन।

देकर अब बचन से भी सान्त्वना करते हैं। मेघ सम गम्भीर वाणी से सान्त्वना दी। जिसका भावार्थ यह है, कि जैसे मेघ गर्जना कर बताते हैं कि हम वर्षा करेंगे, सुभिक्ष होगा चिन्ता मत करो, यह गर्जना सुन प्रजा का सुन-का-ताप मिट जाता है, वैसे ही भगवान् की वाणी से इसके ताप मिट गये। आज्ञा न कर स्पष्ट कहा, यह उचित सा नहीं था यों क्यों कहा? इसका समाधान करने के लिये 'परया कृपया' पद दिया है जिसका आशय है, कि परम कृपा के कारण यों किया है। कृपा से जो किया जाता है, वह उचित ही है उसमें भा यहाँ परम कृपा है जिसके लिये क्या कहा जाय? इससे मानस सान्त्वना भी कहा समझा जा सकता है, 'तं' शब्द से यह बताया है कि जिसने स्तुति की है, उसकी सान्त्वना करना उचित ही है, तीन प्रकार की सान्त्वना बहने का कारण यह है कि वह 'भक्त' है ॥ ३० ॥

आभास—वाक्यमाह माणहेतोरिति ।

आभासार्थ—"मणित्तोः" श्लोक से वह स्पष्ट वाक्य कहते है —

श्लोक—मणित्तोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् ।

मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे रीछों के पति ! हम यहाँ बिल में मणि के लिए आए हैं; क्योंकि हम पर जो भूठा कलंक लगाया गया है, वह इस मणि से मिटाया जाएगा ॥३१॥

सुबोधिनी—अत्रागमने मणिरैव हेतुः । मणि नेतुमागताः । बहुवचनं पूर्वदृष्टसर्वसाहित्यं सूचयति । हेतुशब्दो वा निमित्तवाची । मणिनिमित्तं वयं समागता इत्यर्थः । ऋक्षपतं इति । ज्ञात्वावागमनं निरूपितम् । अन्यथा बिले समागमनं न स्यात् । मणेरपि प्रयोजनमाह मिथ्याभिशापं प्रमृजन्ति । एतद्विस्तरेणोक्तमिति लक्ष्यते । मिथ्याभिशापः अकृतापकीतिकीर्तनम् । लोकाः

अत एवद्विदं इति । दृष्टियेव मन्यन्त इति । अमुना मणिना अभिशापं प्रमृजन् इहागत इति सम्बन्धः । यद्यपि अग्रे मिथ्याभिशापापगमः, तथापि क्रिया प्रारब्धेति वर्तमानप्रयोग एव युक्तः । एकवचनं तु मिथ्याभिशापं एकस्यैवेति । आत्मन इत्यावश्यकता अन्यथा भक्तेद्वारो न सम्भवतीति भावः ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—यहाँ आने में मणि कारण है, मणि लेने के लिये हम यहाँ आये हैं बहुवचन इस लिये कहा, कि पहले अपने साथ जो सब आये थे उनकी सूचना दी, हेतु शब्द निमित्त वाची है, अर्थात् मणि के निमित्त हम आये हैं हे ऋक्षपति! यहाँ मणि है यह जानकर ही हम यहाँ आये हैं, यह कारण नहीं होता तो हमारा इस बिल में आना नहीं होता, मणि लेने का भी प्रयोजन बताते हैं। यों भी आप न समझना कि मणि इतना सोना देती है इस लोभ से आये हैं वह प्रयोजन नहीं है, धन आदि की लालसा हमको बिलकुल नहीं है, किन्तु हम पर मणि ले जाने का भूठा कलंक लगाया गया है कि मैंने सत्राजित के आता प्रसेन को पारकर मणि लेली है। इस नहीं किये हुवे कार्य का आरोपण भूठा कलंक लगाया गया है, यह अपकीर्ति सर्वत्र हो रही है लोक तो सत्य को जानते नहीं हैं, देखे हुवे

को प्रमाण मानते हैं, अतः यह मणि ले जा कर सारी कहानी सुना के अपना कलंक मिटाऊंगा, इस लिये ही हमारा आना हुआ है। यद्यपि आगे भूठी निन्दा मिट जाती, तो भी कार्य प्रारम्भ किया है इसलिये वर्तमान प्रयोग करना ही योग्य है। एक वचन इसलिये दिया है कि भूठी निन्दा एक की हुई है: "आत्मनः" पद आवश्यक था क्योंकि मेरी ही निन्दा हो गयी है, नहीं तो भक्त का उद्धार ही न हो सकता यों भी है ॥ ३१ ॥

आभास—एवं स्वाभिप्राये निरुक्ते वथं देयमिति विचार्य तावन्मात्रे दत्ते स्वस्य सेवकत्वं न सिद्ध्यति, याचितं सर्व एव प्रयच्छतीति स्वकन्यां च दत्तवानित्याह इत्युक्त इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार जब भगवन् ने अग्रना अभिप्राय स्पष्ट कह दिया, तब जाम्बवान् ने विचार किया कि इनको मणि किस प्रकार दूँ ? केवल मणि देने से तो मेरा सेवकपन सिद्ध न होगा, अतः माँगने वाले को सब ही देना चाहिये यह निश्चय कर, मणि तथा अपनी कन्या भी दी, यह "इत्युक्त" श्लोक में शुकदेवजी वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्यु तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा ।

अर्हणार्थं स मणिना कृष्णाद्योपजहार ह ॥३२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—भगवान् ने जब यों कहा, तब जाम्बवान् ने प्रसन्नता से अपनी जाम्बवती कन्या को लाकर कृष्ण के पास स्थापित की और पूजार्थ मणि भी दी ॥३२॥

सुबोधिनी—जाम्बवतः अपत्यं जाम्बवती, अनेन पालिता कन्या न भवतीति सूचितम् । ऋक्षाणां विधानान्तराभावात् दानमेव कृतवान् । सापि ततः पूर्वं कन्या अदत्तव स्थिता । मुदेति भाग्यं जातमिति । भगवानपि पूजितः, कन्यायाः

वरोऽपि प्राप्त इति । ततस्तस्या एव कन्यायाः दानपमये अर्हणार्थं मणिमपि दत्तवान् । एतद्द्वयमपि न कुशोदकपूर्वकं प्रादात्, किन्तु उपजहार समीपे आनीय स्थापितधानित्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—जाम्बवान् की सन्तति जाम्बवती इस प्रकार नाम होने से यह कन्या जाम्बवान् की केवल पाली हुई नहीं है, किन्तु उत्पन्न की हुई है। रीछों के लिये कन्या का विवाह कराने का कार्य विधान नहीं है। अतः दान ही की, वह कन्या पहले कहीं दी हुई नहीं थी। अग्रसन्न होकर नहीं दी किन्तु देने से प्रसन्न ही हुआ। कारण कि, समझने लगा कि मेरा सौभाग्य है, जिससे कन्या को ऐसा श्रेष्ठ वर मिल गया और मैंने भी भगवान् का पूजन किया। अनन्तर जब कन्या का दान भगवान् को देने लगा तब पूजन के निमित्त मणि भी भगवान् को अर्पण की, ये दोनों हाथ में कुश और जल लेकर भगवान् को नहीं दी थी किन्तु भगवान् के समीप आकर बैठ की भौंति धर दी ॥ ३२ ॥

आभास—एवमन्तःस्थितिमुक्त्वा बहिःस्थितिमाह अट्टा निगममिति त्रिभिः ।

आसाभार्थ—इसी भाँति भीतर की दशा को कहकर, अब बाहर की हालत का वर्णन "अट्टा" से लेकर तीन श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—अट्टा निगमं शीरेः प्रविष्टस्य विलं जनाः ।

प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥ ३३ ॥

निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः ।

सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन्बिलाःकृष्णमनिगमम् ॥ ३४ ॥

सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकीकसः ।

उपतस्थुमंहामायां दुर्गा कृष्णोपलब्धये ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के संग गए हुए मनुष्य गुफा में न जाकर बाहर खड़े थे, भगवान् अकेले ही भीतर गए, संगी मनुष्य भगवान् के लौट आने की प्रतीक्षा में बाहर खड़े रहे। जब १२ दिन तक भगवान् बाहर नहीं आए, तब दुःखी हो अपने पुर को लौट गए। उन्होंने जाकर भगवान् का बाहर न आने का समाचार सबको सुनाया। वसुदेव, देवकीदेवी, रुक्मिणी, मित्र और बान्धव; कृष्ण का बिल से बाहर न आना सुन शोक करने लगे। वे दुःखी हुए द्वारकावासी सत्राजित को शाप देने लगे, इस प्रकार उसको गाली-गलोच करते हुए कृष्ण की प्राप्ति के लिए महामाया दुर्गा के पास गए ॥ ३३-३५ ॥

सुबोधिनी—प्रविष्टो हि तस्मिन्नेव दिवसे समायास्यतीति तत्रत्या बहिःस्थिताः निरन्तरा-काङ्क्षया भोजनादिरहिताः द्वादशदिवसपर्यन्तं स्थित्वा द्वादशाङ्गेष्वपि क्षीणेषु जना विवेक-रहिताः भगवानपि शौरिरिति विशेषतस्तत्प्रमा-दानभिज्ञाः दुःखिताः सन्तः द्वादशाहानि प्रतीक्ष्य स्वपुरं ययुः । 'संवत्सरप्रतिमा वै द्वादशरात्रय' इति । ततो येषु नागताः, तेषु द्वारकायां स्थिताः भगवन्निरगमाभावं श्रुत्वा दुःखिता जाता इत्याह निशम्येति । स्त्रीणामविवेको भूयानिति । तत्रापि पुत्रस्नेहो महानिति देवक्यादिक्रम उक्तः त्रयो मुखः । अन्वेष्येति सुहृदः सम्बन्धिनः ज्ञातयो

गोत्रिणश्च बिलादनिर्गतं कृष्णं श्रुत्वा अशोचन् । वस्तुतश्चानभिज्ञाः । कृष्णो हि भक्तहितार्थमेवा-वतीर्णः । कथं विलम्बं कृतवानिति । एवं सर्वेषां शोकं राजसं दुःखमुक्त्वा तामसं सात्त्विकं चाह सत्राजितं शपन्तस्त इति । दुरात्मायं सत्राजित्, प्रसेनवन्निग्रयतामिति । एवं शापे हेतुः दुःखिता इति । दुःखेऽपि विशिष्टो हेतुः द्वारकीकस इति । मथुरां परित्यज्य देशप्रान्ते द्वारकायां स्थिताः कृष्णैकशरणाः भगवत्यनागते दुःखिता भवन्तीति युक्तमित्यर्थः । द्वारकावासित्वेन तेषां शापोऽपि सत्राजिति फलित्यतीति सूचितम् । सात्त्विकं दुःखमाह उपतस्थुमंहामायांमिति । माया हि

भगवदुद्गमे प्रतिबन्धिका भवति . भगवांश्च तस्यै न्तरभजनापेक्षया भगवदाविर्भावार्थं दुर्गावानु-
वरं दत्तवान् 'अचिष्यन्ती'ति । अतो भगवता सन्धेया ॥३३-३५॥
दत्तो वरः अर्चयं तैर्नैव सत्यः कर्तव्य इति देवता-

ध्याह्वयार्थं— द्वारकावासी जो बाहर खड़े हो गये थे उन्होंने सोचा था कि भगवान् उसी दिन ही लौट आयेंगे, किन्तु भगवान् जब उस दिन नहीं लौटे तो दूसरे दिन सोचा कि कल नहीं आए तो आज तो आ ही जाए गे यों निरन्तर आकांक्षा करते हुए उनको वहाँ बिना भोजन के बारह दिन बीत गये, इतने दिन निराहार रहने से उनके १२ अंग शिथिल हो गये, जिससे उनका विवेक जाता रहा, भगवान् भी झरवंश में उत्पन्न हुवे हैं इसलिये उनके स्वभाव को न जान सके थे जिससे दुःखी हो १२ दिन उनकी राह देखकर अनन्तर अपने पुर अर्थात् द्वारका चले गये "संवत्सरप्रतिभावं द्वादश रात्रय" इस वाक्यानुसार १२ रात्रियाँ भोजन के बिना संवत्सर के समान है ।

जो साथ नहीं आये थे और द्वारका में ही स्थित थे वे भी भगवान् का बिल से बाहर न घाना सुन कर दुःखी हुए, जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक में हुआ है—

पुरुषों से स्त्रियों में अविवेक विशेष होता है, उसमें भी फिर पुत्र का स्नेह अधिक अविवेक करता है, इसलिये पहले देवकी से प्रारम्भ किया है, सम्बन्ध में तीन मुख्य होते हैं, माता, पिता और स्त्री । दूसरे भी सुहृद्, मित्र, सम्बन्धी, ज्ञाति वाले और गोत्र वालों से भी सम्बन्ध होता है, अतः वे सब भी कृष्ण का बिल से बाहर न घाना सुन कर शोक करने लगे । शोक करने का कारण यह था, कि वे वस्तु के तत्वों को नहीं समझते थे । श्रीकृष्ण तो भक्तों के हित के लिये ही प्रकटे थे, अतः कैसे विलम्ब किया है ?

इस प्रकार सर्व का राजस शोक और दुःख कहकर अब तामस और सात्विक कहते है—

यह सत्राजित दुरात्मा है, जैसे प्रसेन मरा वंसे यह भी मरे तो अच्छा, इस प्रकार शाप देने लगे, शाप देने का कारण है, श्रीकृष्ण के बाहर न आने से दुःखी होना, दुःख में इससे भी विशेष कारण, यह भी था कि द्वारका वासी थे । मथुरा छोड़ कर देश के एक कोने में द्वारका है उसमें जाके रहे थे, वहाँ इनके रक्षक कृष्ण ही है उनके न घाने से दुःखी होना उचित ही है । द्वारकावासी होने से, यह भी सूचना दी है, कि इन्होंने जो सत्राजित को शाप दिया है वह सफल होगा । सात्विक दुःख कहते हैं, कि माया ही भगवान् के प्रकट होने में बाधा डालती है, भगवान् ने उसको वर दिया है, कि तूमे सब पूजे गे अतः भगवान् ने जो वर दिया है, वह वर उनको ही सत्य करना है, इसलिए अन्य देव की पूजा की अपेक्षा भगवान् के आविर्भाव के लिए दुर्गा की पूजा करनी चाहिये ॥ ३३, ३४, ३५ ॥

आभास—एवं भक्तानां त्रिविधं दुःखं दृष्ट्वा स्वयमाविर्भावं कुर्वन्नेव कृतकार्यः अर्ध-
मासव्रते कृत एवमविर्भूतः, स्ववाक्यमपि सत्यं कृतवानित्याह तेषां तु देव्युप-
स्थानादिति ।

आभासाय— इसी तरह भक्तों के तीन प्रकार के दुःख देख कृतकार्य भगवान् अपना आविर्भाव करने लगे, द्वारकावासियों के १५ दिन का व्रत पूर्ण होते ही स्वयं प्रकट हुए, अपना वाक्य भी सत्य किया जिसका वर्णन 'तेषां तु' श्लोक में करते है—

श्लोक—तेषां तु देव्युपस्थानात्प्रत्यादिष्टाशिषासवः ।

प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन्हरिः ॥३६॥

श्लोकार्थ— देवी के उपस्थान करने से ज्यों देवी ने प्रसन्न हो आशीर्वाद दिया, त्यों ही कार्य सिद्ध कर स्त्री को भी संग ले हरि भगवान् सबको आनन्दित करते हुए प्रकट हो गए ॥३६॥

सुबोधिनी - प्रत्यादिष्टाः आशिषा सह असवो येन तादृशो भगवान् स्वयमेव समागतः । असु-शब्दात् समासान्ता अचप्रत्ययः । आशिषेत्यलुक् तृतीयायाः । प्रत्यादिष्टमुपदिष्टम् । प्रतिरानुगुण्ये । देव्युपस्थानात् या आशीः तया सह भगवान् प्राणानपि दत्तवानिति । अथवा । देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा कृत्वा दुर्गाया आशीर्वादेन सवो गजरूपः प्रादुर्भूतः । प्रत्यादिष्टाशिषां सवेति पाठ-

श्रिन्यः । राजानं प्रति वा । वो युष्माकं भक्तानां स कार्यकर्ता सिद्धार्थः सन् प्रादुर्भूत इति । दुर्गाया वा आशीर्वादाकृत्य प्रत्यादिष्टाशिषा कृत्वा स्वयमेव सर्वकामपूरको यज्ञः प्रादुर्भूतः । सिद्धार्थः स्यमन्तकसहितः । सदारः स्त्रीसहितोऽपि । हर्षयन् हरिरिति । हृष्टः सर्वाभरणभूषितः । भोजनादिना च पुष्टो, नतु ग्लानियुक्तः । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता ॥३६॥

व्याख्यार्थ— जिसने आशीर्वाद के साथ प्राण भी दिये वह भगवान् स्वयं ही आ गये, देवी के उपस्थान से जो आशीर्वाद मिला उसके साथ भगवान् ने प्राण भी दिये, अथवा देवी के उपस्थान से प्राप्त आशीर्वाद से यज्ञरूप भगवान् प्रादुर्भूत हुए, "किसी पुस्तक की प्रति में "प्रत्यादिष्टाशिषां सवेः" पाठ है, वह विचारणीय है वा राजा के प्रति कहता है कि आप भक्तों के वह कार्य करने वाले भगवान् अपना कार्य पूर्णकर प्रकट हुए हैं अथवा दुर्गा के आशीर्वाद का निराकरण करके दी हुई आशीर्वाद से सर्व के कामनाओं के पूर्ण करने वाले यज्ञ रूप आप ही प्रकट हुए हैं, स्यमन्तक मणि को ले आने से अपना अर्थ सिद्ध किया है हर्ष उत्पन्न करते थे क्योंकि केवल मणि नहीं ले आये किन्तु साथ में स्त्री भी ले आये है और सर्व आभरणों से अलंकृत थे एवं भोजनमादि से पुष्ट हो कर आये थे, ग्लानि युक्त नहीं थे, कारण कि सर्व दुःख हर्ता हरि है ॥ ३६ ॥

आभास— ततः परमानन्दो जात इत्याह उपलभ्येति ।

आभासाय— "उपलभ्य" इस श्लोक में कहते है कि भगवान् की प्राप्ति से परम आनन्द हुआ—

श्लोक— उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवात्सम् ।

सहपत्न्या मणिश्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—मानों मर कर पीछे आए हो, ऐसे श्रीकृष्ण को कण्ठ में मरिण धारण किए हुए तथा स्त्री को संग में लेकर आने को पाकर सब लोग बड़े आनन्द मग्न हो गए ॥३७॥

सुबोधिनी—असम्यो दृष्टान्तो लौकिकभाषायां समागमने अरकीर्त्यभावः, किन्तु निरोधोऽप्यनेन न दोषाय । अशुरेणैव स मरिणः कण्ठे निबद्धः । जात इत्याह सर्वे जातमहोत्सवा इति । हृषीकेश-प्रतस्तदनुरोधेन मरिणः स्वकीय एवेति ज्ञापयन् त्वात्तथैव तेषु प्रेरितवान् ॥३७॥
प्रतस्तदनुरोधेन मरिणः स्वकीय एवेति ज्ञापयन् स्त्रोत्सहितो मरिणप्रोवः स्वयमागतः । न केवलं

व्याख्यानार्थ—लौकिक भाषा में यदि असम्यक् दृष्टान्त भी दिया जावे तो दोष नहीं है, समुद्र ने ही वह मरिण कण्ठ में बांधी थी अतः उसके ही आग्रह से यह मरिण अपनी ही दे यों जांति हुए स्त्री संहित मरिणप्रोव होकर आप स्वतः आ गये, आने में केवल अपयश का मिटं जाना नहीं है; किन्तु इससे सम्बन्धी तथा भक्तों का आपसे निरोध भी हुआ है, जिससे सब अत्यन्त प्रसन्न हो उत्सव मनाते हुए आनन्द मग्न हो गये भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं इसलिये उनको वैसी ही प्रेरणा की ॥ ३७ ॥

आभास—एवमपि प्राप्य उपक्रमबलीयस्त्वार्थी समानयनार्थं प्रक्रान्त इति सत्रा-जितायैव दत्तवानित्याह सत्राजितमिति ।

आभासार्थ—भगवान् इस प्रकार मरिण को प्राप्त कर भी, उपक्रम बलवान् होने के कारण, मरिण ले आने के लिये उद्यम करने लगे इस लिये वह लाई हुई मरिण सत्राजित को ही दे दी जिसका वर्णन 'सत्राजितं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सत्राजितं समाहूय समायां राजसंनिधौ ।

प्राप्तिं चाहयाय भगवान्मरिणं तस्मै न्यवेदयत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने सत्राजित को राजा के समीप सभा में बुलाकर मरिण कैसे लाए हैं, वह सब समाचार सुनाकर मरिण उसको दे दी ॥३८॥

सुबोधिनी—यदादौ भगवान् विचारयति, एवाग्नेऽपि न ग्रहीष्यति । निबन्धे त्वन्योऽपि हेतु-तदेव करोति । आदौ च तस्य स्यमन्तक इति रुक्तः ।
प्रवृत्तः । न केनाप्युपायेन स्वकीयं मन्यते । अतः

व्याख्यानार्थ—भगवान् पहले ही जो विचार कर लेते हैं, वह ही करते हैं, यह स्यमन्तक मरिण सत्राजित की है जिससे उसको किसी भी भांति अपनी नहीं मानते है. इस कारण से मिलने पर भी आप ग्रहण नहीं करेंगे निबन्ध में तो दूसरा ही हेतु कहा है ।

कारिका—सर्वात्मनान्यहृदयं न गृह्णाति हरिः स्वयम् ।

सर्वात्मनाऽप्रपन्नं च नाशयेव सुबोधनम् ॥१॥ इति ।

कारिकार्थ—भगवान् आप जिसमें दूसरे का चित्त आसक्त है, वह वस्तु बिलकुल किसी प्रकार भी स्वतः नहीं लेते हैं, जो सर्वात्मभाव से शरण नहीं आया है, उसका तो दुर्योधन की भाँति नाश ही होता है ॥१॥

सुबोधिनो—सभायामाह्वानम् । पश्चाद्दुरा-
त्मा अन्वया वक्ष्यतीति, लज्जां च जनयितुम्, | सम्यगुक्त्वा तत्सत्तां दूरीकृत्य भ्रमिण तस्मै न्यवेदे-
यत् । यतो भगवान् स्वेच्छो, मारयितुं वा, न
तत्रापि राजसन्निधौ निर्भयम् । यथा राजापि न | कोऽपि ज्ञातवान् किमर्थं दत्तवानिति । निवेदनं
ग्रहं ध्यतीत्याज्ञापयितुं वा । प्राप्त्युपायं प्रकारं वा | 'तवेदमानीतं गृह्यो'ति ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—सत्राजित को सभा में बुलाया, वड़ दुरात्मा है, लज्जा आने से दूसरी तरह कहने लगेगा, उसमें भी राजा के सम्मुख निर्भय हो कर कहेगा जैसे राजा भी न ग्रहण करेंगे और आज्ञा भी न करेंगे । प्राप्ति का उपाय स्पष्ट रीति से बताया जिससे मणि पर उसकी सत्ता नहीं है यह सिद्ध कर दिया, फिर भी मणि उसको दे दी, यद्यपि भगवान् अपनी इच्छा वाले हैं मार भी सकते हैं, किन्तु मारें नहीं किन्तु मणि निवेदन की अर्थात् कहा कि यह मणि तुम्हारी है तुम लेलो, इस प्रकार देने के गुप्त भावार्थ को किसी ने भी समझा नहीं ॥ ३८ ॥

प्राप्तास—ततस्तस्य कृत्यमाह स चातिव्रीडित इति पञ्चभिः ।

प्राप्तासायं—अनन्तर उसका कृत्य "स चातिव्रीडित" श्लोक से पांच श्लोकों में बहते हैं—

श्लोक—स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः ।

अनुतप्यमानो भवनमगमत्स्वेन पाप्मना ॥३९॥

श्लोकार्थ—अनन्तर वह अति लज्जित हो नीचे मुख कर मणि ले, अपने अपराध के कारण सन्तप्त होता हुआ घर को गया ॥३९॥

सुबोधिनो—लोमाहृणभयाच्च गृहीत्वा लज्जितो | कोऽपि तस्य बन्धुरिति कमप्यपृष्ट्वा स्वभवनमेवाग-
जातः । लोके अपकीर्तितमुत्पादितवानिति श्रवाङ्-
मुखो जातः । ततः पूर्वोक्तादेव हेतोः अपकीर्ति-
जननात् । अनुतापोऽपि तत एव । अतोऽस्य प्राय-
श्चित्तो परलोकशुद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । न | मत् । ननु रत्नं प्राप्य संतोषे कर्तव्ये कथमनुताप
इति चेत्, तत्राह स्वेन पाप्मनेति । देवान्तरप्रसा-
दापेक्षया भगवदपराधो महानिति ॥३९॥

व्याख्यानार्थ—उसको मणि लेने में लज्जा आने लगी, किन्तु लोभ से अथवा दण्ड के भय से मणि

ली, मैंने लोक में भगवान् की वृथा निन्दा करवाई, जिससे मुख नीचा कर दिया पहले कहे हुए अप-कीर्ति कराने वाले हेतु से पश्चात्ताप भी करने लगा, अतः इस प्रकार किये हुए पाप कर्म का प्राय-श्चित रूप पश्चात्ताप करने पर परलोक की शुद्धि होगी, यह जनाया है वहाँ उसका कोई भी बन्धु नहीं था, इमलिये किसीसे भी पूछे बिना अपने ही घर गया, मरण प्राप्त होने से तो संतोष होना चाहिये प्रयुक्त इसने पश्चात्ताप कैसे किया ? इसके उत्तर में कहा कि अपने किये हुए भगवद् अपराध के स्मरण से पश्चात्ताप हुआ अन्य देव की प्रसन्नता को अपेक्षा भगवदपराध महान् है ॥ ३९ ॥

आभास - बलवता विग्रहे आकुलः सन् तमेवार्थमनुध्यायन् जात इत्याह सोऽनुध्यायन्ति ।

आभासार्थ—बलवान् से विग्रह करने से व्याकुल हो, उसही कर्म का ध्यान करने लगा, जिसका वर्णन "सोऽनुध्यायन्स्" श्लोक में करते हैं—

श्लोक— सोऽनुध्यायन्स्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः ।

कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः कथम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—बलवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ-विग्रह हो जाने से व्याकुल सत्राजित अपने किए अपराध का विचार करते हुए सोचने लगा कि यह अपना पाप कैसे दूर करूँगा और अच्युत मुझ पर प्रसन्न हो, इसका अब क्या उपाय है ॥४०॥

सुबोधिनो—अयत्नेनापि स एवार्थः ध्यातो भवति यद्यपि विग्रहः स्वयं न कृतः, नापि करिष्यति, भगवानपि न करोति, तथापि भगवदीयः बलवद्भिः सह विग्रहः संभविष्यति तथाकुलता । अयं दोषस्तदारगच्छेत्, यदि भगवान् प्रसन्नो भवेत् । तदेव विचारयति कथं मृजामीति । स हि

देवोपासक इति तस्य प्रायश्चित्तो मतिः । रजः पापम् । अच्युतस्य सर्वथा नित्यधर्मस्य अवश्यं भाविनरके हेतुभूतापराधस्य कृतत्वात् तत्प्रसन्न एव तदपगम इति प्रसीदेद्वाच्युतः कथमिति विचारयति ॥४०॥

ध्यास्यायं—यद्यपि वह यत्न नहीं करता था तब भी वही बात ध्यान में आजाती, जो कि विग्रह स्वयं नहीं किया है, और न करेगा, भगवान् भी नहीं करते हैं तो भी जो बलवान् भगवद् य हैं उनसे साथ विग्रह होगा, इसलिये घबराहट हो रही थी, यह दोष तब मिटेगा जब भगवान् प्रसन्न होंगे उसक ही विचार करता है कि कैसे इस पाप को भेदूँगा; वह उपासना करने वाला है, इसलिये उसकी बुद्धि प्रयत्नित में हुई है यहाँ "रथ" शब्द का अर्थ है "पाप" जिसका कोई भी घम कभी भी कम नहीं होता है अर्थात् जिसके सर्वधर्म नित्य ही हैं, उसके अपराध से अवश्य नरक की प्राप्ति होने वाली है, जिसकी निवृत्ति उस प्रभु की कृपा से ही हो सकती है किन्तु वे प्रभु प्रसन्न कैसे हों ? इसका विचार कर रहा है ॥ ४० ॥

आभास—यथा वाङ्मयेन अपकीर्तिर्जाता । अघुना क्रियया कथं कीर्तिर्भविष्यतीति तदाह किं कृत्वेति ।

आभासाथं—जैसे वाक्य कहने से अपकीर्ति हो गई, वैसे अब क्रिया से यज्ञ कैसे होगा ? वह "किं कृत्वा" श्लोक में कहता है—

श्लोक—किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा ।

अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥४१॥

श्लोकाथं—मैं क्या करूँ ? जिससे मेरा भला हो और अदूरदर्शी क्षुद्र, मूढ और द्रव्य लोभी को लोग शाप न देवे ॥४१॥

सुबोधिनी—मास्तु वा कीर्तिः, जनो लोकः यथा न शपेत् । शपे हेतुर्वाशेष एव मम, न त्वन्यदिति । स्वदोषाननुवदति अदीर्घदर्शनमिति । स्पमन्तकेन वचनेन वा इष्टमनिष्टं वा भविष्यतीति दीर्घदर्शनं कर्तव्यम्, तत्र कृतमिति सात्त्विको

दोषः । तत्रापि हेतुः क्षुद्रमिति । अत्पोऽहं राजसः । महान्तो हि गम्भीरा भवन्ति । किञ्च । प्रथम-वाक्योल्लङ्घनमेव मम दोषः पतितः । तत्र हेतुः द्रविणलोलुपमिति ॥४१॥

व्याख्यायं मेरी कीर्ति चाहे न हो, किन्तु लोक जैसे शाप न देवें । शाप देने में मेरी वाणी का दोष ही कारण है न कि दूसरा अपने दोष दिखाता है, मैं अदीर्घदर्शी हूँ, स्पमन्तक मणि भगवान् ले गये इस वाक्य के कहने से लाभ होगा या हानि होगी, यह विचार न किया, यह दूरदर्शिता करनी योग्य थी इसलिए मैं अदूरदर्शी हूँ, इसमें भी कारण यह है कि मैं क्षुद्र हूँ अर्थात् अल्प व नीच राजस हूँ, महान् पुरुष गम्भीर होते हैं, विशेष यह है, कि मैंने भगवान् की पहली आज्ञा न मानी, यह दोष मुझ पर पड़ा उसके न मानने का कारण यह था कि मैं धन का लोभी हूँ ॥ ४१ ॥

आभास—एवं दोषत्रये कः प्रतीकार इति चिन्तायां क्रियमाणायां निमित्तभूतो मणिरिव देय इति स्वस्य स्फुरितः । तदा सूर्यः । न मणिरर्देयः, अपि तु देयत्वात् कन्यैव देयेति । तद्दुभयं देयम्, तथा सति भगवानपि संतुष्टो, लोका अपि न वाच्यं वदिष्यन्ति इति निश्चित्य, स्वाध्यवसायमाह बास्ये दुहितरमिति ।

आभासाथं—इस प्रकार मेरे तीन दोष हैं इसका प्रतिकार क्या है ? इस का विचार करते हुए इसके ध्यान में आया कि इन दोषों के होने का मूल निमित्त मणि है, वह मणि ही दे देनी चाहिये, मणि दी जाएगी तो सूर्य कहेंगे कि मणि मत दो, दोषों के मार्जन के लिये यदि देना है तो दान योग्य कन्या ही दो, अतः एक के देने से दोनों ही दी जाय तो अच्छा होगा भगवान् भी सन्तुष्ट होंगे और लोक भी निन्दा न करेंगे, यह निश्चय किया, उस निश्चय को "दास्ये" श्लोक में कहता है—

श्लोक—दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ।

उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥४२॥

श्लोकार्थ—उनको कन्या दूंगा, केवल कन्यारूप स्त्री रत्न नहीं, किन्तु मणि रत्न भी दूंगा, यह उपाय उत्तम है, इससे इनकी शान्ति होगी, अन्य प्रकार से शान्त न होंगे ॥४२॥

सुबोधिनी—तस्मै प्रसिद्धाय । सर्वथा ग्रहीष्यतीत्यत्र हेतुः स्त्रीरत्नमिति । यथा जाम्बवान् कायिकमपराधं कृत्वापि मणिं दुहितरं च दत्त्वा कृतार्थो जातः एवमहमपि भविष्यामीत्यभिप्रायेणाह रत्नमेव चेति । नन्वन्यः भक्तिमार्गानुसारो

उपायः कथं न क्रियते, तत्राह उपायोऽयं समीचीन इति । व्यवहारे अस्मिन्नर्थे अयमेवोपायः समीचीनः, अन्यथा तस्य शान्तिर्न भविष्यतीति । स्वस्थार्षदुर्बुद्धिः, भवेदेवं यदि भगवान् (न) मणिं गृह्णीयात्, सर्वथा प्रपन्नता च न कृतेति ॥४२॥

ध्याहार्य—कृष्ण नाम न देकर "तस्मै" पद देने का भावार्थ यह है कि लोक वेद में प्रसिद्ध जो पुरुषोत्तम हैं, वह यह ही हैं जो क्या कन्या को वे लेंगे ? इसके उत्तर में कहता है, कि सर्वथा ग्रहण करेंगे, क्योंकि स्त्री रत्न रूप है, जैसे जाम्बवान् कायिक अपराध कर भी मणि तथा कन्या देने से कृतार्थ हो गया वैसे ही मैं भी हो जाऊंगा, इस अभिप्राय से कहा कि कन्या के साथ मणि भी दूंगा इस उपाय से भी दूसरा कोई भी, भक्ति मार्गीय उपाय क्यों नहीं करते हो ? इसके उत्तर में कहता है, कि यह उपाय सुन्दर है, कारण कि यह व्यवहार का लौकिक कार्य है । लौकिक में लौकिक उपाय चाहिये जिससे यह उपाय उत्तम है । दूसरे उपाय से उनकी शान्ति न होगी, जो भगवान् मणि न ग्रहण करें तो अपनी आधी बुद्धि दुष्ट है यों मानूंगा और पूर्ण शरणागति नहीं हुई है ॥ ४२ ॥

आभास—न केवलमेवं विचारितवान्, किन्तु कृतवानित्याह एवं व्यवसित इति ।

आभासार्थ—केवल यों विचार ही नहीं किया, किन्तु वैसा किया भी, वह "एवं व्यवसितो" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजितस्वसुतां शुभाम् ।

मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥४३॥

श्लोकार्थ—सत्राजित अपनी बुद्धि से ऐसा निश्चय कर अपनी सुन्दर कन्या तथा मणि स्वयं लेकर कृष्ण के पास आ उनको अर्पण की ॥४३॥

सुबोधिनी—बुद्धर्चव, न तु कश्चित्पृष्टः । गृहे नीत्वा दोषपरिहाराय कृष्णाय सदानन्दरूपाय शुभां बोधनरूपां । विवाहे समलङ्कृतां स्वयं उपजहार । हेत्याश्रयं, कथमेवं कृतवानिति ॥४३॥

व्याख्यान्यर्थ—अपनी बुद्धि से ही यह निश्चय किया, किसी दूसरे से पूछा भी नहीं, विवाह समय में जैसे समलंकृत की जाती है वैसे अलंकृत कर सुन्दर कन्या आप घर में ले जाकर दोषों के परिहार के लिये सदानन्द कृष्ण को अर्पण को “ह” पद आश्चर्य में है कि ऐसा कार्य सत्राजित ने कैसे किया ॥ ४३ ॥

प्राभास—ततो भगवानेकं गृहीतवान् एकं नेत्याह द्वाभ्याम् ।

प्राभासार्थ—भगवान् ने दो में से एक ही ग्रहण की, जिसका वर्णन दो श्लोकों में किया है—

श्लोक—तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।

बहुभिर्याचितं शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—सत्तचरित्र, सुन्दररूपा तथा उदारता आदि गुणों से युक्त बहुतों से माँगी हुई, उस सत्यभामा से भगवान् ने शास्त्रविधि अनुसार विवाह किया ॥४४॥

सुबोधिनी—तां सत्यभामामिति । सत्येनैव भासत इति सत्यरूपा कान्तिरूपा च । यद्यपि तेन निवेदनमेव कृतम्, तथापि स्वयं यथाविधि उपयेमे । अन्यथा अन्यस्मै देया पतिष्यतीति । तत्र हेतुः बहुभिर्याचितामिति । सा हि पूर्वमन्यस्मै सन्दिग्धा प्रतिश्रुता । अतो विवादास्पदेति यथा-

विष्येव विवाहः कर्तुं मुचितः । किञ्च । गुणा अपि तस्यां सन्तीत्याह शीलेति । शीलमन्तःकरणधर्म इन्द्रियाणां वा क्रियारूपम् । रूपं शरीरस्य । औदार्यमन्तःकरणस्य । एवमुत्कृष्टगुणोरन्विताम् ॥४४॥

व्याख्यान्यर्थ—सत्य से ही जो प्रकाशित हो रही है, इस लिये सत्यरूपा कान्तिरूपा होने से, सत्य भामा नाम से प्रख्यात थी यद्यपि सत्राजित ने निवेदन ही की थी, तो भी भगवान् ने शास्त्र विधि अनुसार उससे विवाह किया, यदि भगवान् यों न करते तो अचानक दूसरे किसी को दे दे तो, क्योंकि पहले इसकी मंगनी बहुतों ने की थी जिससे अनिश्चित रूप से देने का विचार दिखाया भी था अतः यह कार्य विवाद का विषय था इसलिए विधिप्रनुसार ही विवाह करना उचित था और कन्या में योग्य गुण भी हैं स्वभाव सुन्दर या जो अन्तःकरण का धर्म है अथवा इन्द्रियों का क्रिया रूप है, रूप शरीर का धर्म है, वह भी सुधील तथा श्रेष्ठ था उदारता थी वह भी अन्तःकरण का धर्म है । इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त कन्या जान, भगवान् ने उससे विधिपूर्वक विवाह कर विवाद को नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

प्राभास—एकं गृहीत्वा द्वितीयं प्रत्याचष्टे भगवानाहेति ।

प्राभासार्थ—एक का ग्रहण कर दूसरी को लेने का “भगवानाह” श्लोक में निषेध किया—

श्लोक— भगवानाह न मरिण प्रतीच्छामो वयं नृप ।

तवास्तु देवभक्तस्य द्य च फलभागिनः ॥४५॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! भगवान् कहने लगे कि हम मरिण की इच्छा वाले नहीं है, आप सूर्य देव के भक्त हैं, अतः यह आपके पास ही रहे; हम तो फल के भोक्ता हैं ॥४५॥

सुबोधिनी—ईश्वरत्वान्नात्र संनियोगशिष्ट-
न्यायो वक्तुं शक्यः । न मरिण प्रतीच्छाम इति ।
विवाहे तु ग्रहमेव प्रयोजकः । मरिणो तु सर्वसम्प-
तिरपेक्षयत इति । अत एव वयमिति बहुवचनम् ।
नृपेति परीक्षितसंबोधनं भगवानाहेति वाक्ये संव-
ध्यते, न तु भगवदुक्ते । राजानो हि तथा वद-
न्तीति ज्ञापनाय । किञ्च । द्वयं समपितम् । तत्रैकं
ममास्तु, एकं च तवास्तिवत्याह तवास्तिवति । तत्र
हेतु देवभक्तस्येति । अन्यथा सूर्यः क्रोधं करिष्य-

तीति भावः । तथापि निवेदितं कथं त्यज्यत
इत्याशङ्क्याह वयं च फलभागिन इति । मरिण-
फलमस्माकमपि भविष्यति । अशुरस्य धनसम्पत्ती
जामातव भोक्ता भवतीति । चकारात् कश्चित्समु-
द्भितः । सत्राजितस्तु स्वात्मानं समुच्चिनोतीति
प्रत्ययः । भगवदभिप्रायस्त्वक्करः । तस्मै पूर्वं तेन
कन्या प्रतिश्रुता । उभयग्रहणे तस्य दुःखं भवि-
ष्यतीति भक्तहितं भक्तिमार्गं च सत्यं कर्तुं तयो-
क्तवानित्यर्थः ॥४५॥

व्याख्यानार्थं श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, इसलिए यहाँ 'संनियोगशिष्टन्याय' लागू नहीं होता है, हम मरिण की इच्छा नहीं करते हैं, विवाह करने में (मैं) हम ही प्रयोजक है, मरिण लेने में सबको सम्पत्ति की अपेक्षा है इस कारण से ही "वयं" बहुवचन दिया है, नृप यह परीक्षित के लिये जो संबोधन दिया है वह भगवान् 'आह' इस वाक्य से सम्बन्ध है, अर्थात् शुकदेवजी राजा परिक्षित को सम्बोधन कर कहते हैं कि भगवान् न सत्राजित को यों कहा राजा लोग इस प्रकार कहते हैं यह जताने के लिये आपने जो दो वस्तु एक कन्या और एक मरिण उनमें से एक वस्तु (कन्या) मेरी हो और एक (मरिण) तुम्हारी हो, क्योंकि तुम सूर्य देव के भक्त हो जो मरिण अपने पास न रखोगे तो सूर्य देव क्रोध करेगा । मैंने तो निवेदन कर दो है, उसका आप त्याग कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि हम फल के भोक्ता है मरिण का फल हमको भी मिलेगा क्योंकि ससुर की धन सम्पत्ति का लाभ जवाईं लेता है, "च" पद से कोई इकट्ठा किया हुआ पदार्थ, सत्राजित तो अपने को वा अपने की आत्मा को इकट्ठा करता है प्रत्यय दिया है, भगवान् का अभिप्राय तो कोमल है उसने पहले उनको कन्या देने की प्रतिज्ञा की है दोनों ही ग्रहण करने से उनको दुःख होगा इसलिये भक्त का हित और भक्ति मार्ग को सत्य करने के लिये भगवान् न वैसा ही किया है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५१वें अध्याय की श्रीमद्भक्तभावाय-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

प्रधान्तर प्रकरण का सातवां अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लोला का निम्न पद से श्रवणाह्न करे

जाम्बवती और सत्यभामा का विवाह

राग सारंग

हरि दर्शन सत्राजित आयो ।
 लोगनि जान्यो आदित आवत, हरि सो जाइ मुनायो ॥
 हरि कह्यो आयो है सत्राजित, मनि हे ताके पास ।
 रवि प्रसन्न हूँ दीन्ही ताको, यह ताको परकास ॥
 आइ गयो सोऊ तिहिँ अबसर, हरि तिहिँ कह्यो मुनाइ ।
 यह मनि प्रति अनुपम है, सो मुनि दे न सव्यो ललवाई ॥
 इक दिन तामु अनुज ली सो मनि, गयो अश्लोक काज ।
 ताको मारि सिंह मनि ली गयो, सिंह हृत्यो रिद्धराज ॥
 रिद्धराज वह मनि तासो ली, जाम्बवती को दीन्ही ।
 जब प्रसेन को बिलंब भई, तब सत्राजित मुधि लीन्ही ॥
 जहाँ तहाँ को लोग पठाए, काहुँ खोज नहि पायो ।
 तब लोगनि सो कहन लाग्यो, जदुराइ ताहि मरवायो ॥
 हरि यह सुनत गए ता बन में, सो प्रसेन मृत देख्यो ।
 सिंह खोज बहुरी तहँ पायो, सिंह बहुरि मृत देख्यो ॥
 बहुरी जांबवंत पग देख्यो, तहाँ जाइ जदुराई ।
 द्वादस दिवस अवधि आवन कहि, बिल में पेठे पाई ॥
 जामवंत दिन बीस चारि लो, जुद्ध कियो तब जान्यो ।
 हाथ जोरि करि अस्तुति कीन्ही, में तुमको न पिछायो ॥
 दिहँसि कहुँ जादवपति तासो, मनि कारन में आयो ।
 जांबवती समेत मनि दे, पुनि अपनी दोष छमायो ॥
 संग के लोग अवधि के बीते, कह्यो नगर में जाइ ।
 मातु पिता व्याकूल हूँ घाए, मग में ब्रेठे आइ ॥
 मनि सत्राजित को प्रभु दीन्ही, रह्यो सु सीस नवाई ।
 सतभामा समेत ली आयो, मनि को हरि सिर नाइ ॥
 श्रीर बहुत दायज दीन्हे उन, करि विवाह व्योहार ।
 भयो परम आनन्द दुहँ, दिसि मंगलचार अवार ॥
 मनि ताको ताको फिर दीन्ही, सुजस जगत में छायो ।
 श्री गुरु चरन प्रताप चरित, यह सूरदास जन गायो ॥